भक्तिवर्त्मवर्तिविघ्नध्वान्तविदारकभगवद्वदनानलावतार
महाप्रभु-श्रीमद्-वल्लभाचार्यचरण-प्रकटितः

तत्त्वार्थदीपनिबन्धः

भागवतार्थप्रकरणम्

(पञ्चमस्कन्धादारभ्य समाप्ति यावद्)

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतया
योजनाख्यया व्याख्यया
सहितः

तृतीयो भागः

अन्यैश्चापि विविधैः ग्रन्थैः
विभूषितः

ग्रन्थप्राप्तिस्थल :

प्रस्तुत द्वितीय संस्करणके प्रकाशनमें सहयोगी महानुभावों तथा संस्थाओं की सूची :

(१) गोस्वामितिलकायित श्रीगोविन्दरायजी महाराज
नाथद्वारा, राजस्थान-३१३ ३०१.

(२) तृतीयपीठाधीश गोस्वामी श्रीव्रजेशकुमार
तृतीयपीठ, कांकरोली, राजस्थान-३१३ ३२४.

(३) चतुर्थपीठाधीश गोस्वामी श्रीदेवकीनन्दनाचार्य
द्वारा श्रीपार्वती बहुजी ए. ट्रस्ट, चतुर्थपीठ, गोकुल, मथुरा, उत्तर प्रदेश-२८१ ३०३.

(४) पंचमपीठाधीशात्मज गोस्वामी श्रीगिरधर गोविन्दरायजी
पंचमपीठ, कामां, भरतपुर, राजस्थान-३२१ ०२२.

(५) गोस्वामी श्रीरघुनाथलाल महाराज
मनुभवन, भगतसिंह मार्ग, पार्ले, बम्बई-४०० ०५६.

(६) गोस्वामी श्रीराजकुमार गोपीनाथजी महाराज
बड़ा मन्दिर, श्रीजीवनजी महाराज लेन, भुलेश्वर, बम्बई-२

(७) गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजी महाराज बड़ा मन्दिर ट्रस्ट
श्रीजीवनजी महाराज लेन, भुलेश्वर, बम्बई-४०० ००२.

(८) श्रीवल्लभविद्यापीठ—श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण आ. हो. ट्रस्ट
वैभव को-ओपरेटिव हाउसिंग सोसायटी, पूना-बेंगलोर रोड, कोल्हापुर-४१६ ००१.

(९) "पुष्टि प्रकाशन" अडैल, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य मार्ग, नयाशहर, किशनगढ, अजमेर-३०५ ८०२.

प्रथम संस्करण : वि. सं. १९९१
प्रस्तुत द्वितीय संस्करण : वि. सं. २०४०

वी. वरदराजन
एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिंटर्स
५०५ तारदेव, आर्थर रोड,
बम्बई-४०० ०३४.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

आमुख

यद्दर्शनं निगमआत्मरहःप्रकाशं मुह्यन्ति यत्र कवयोजपरा यतन्तः ।
तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलं वन्दे महापुरुषमात्मनि गूढबोधम् ॥

यद्दर्शनं निगमआत्मरहःप्रकाशम्

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" जैसे उपनिषद्वचनोंमें श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप उपायोंद्वारा जिस वेदैकवेद्य आत्मरहस्यका दर्शन या प्रकाशन अभीष्ट है, वह पौरुष प्रयासको दृष्टिगत करके विहित हुआ है. यदि जीवात्माके प्रयासोंद्वारा किसी उपलब्धिकी बात करनी हो तो कहना पड़ेगा कि ज्ञानमार्गीय साधककेलिए वेदान्तवचनोंका श्रवण-मनन-निदिध्यासन अनिवार्य कर्तव्य है. इसी तरह भक्तिमार्गीय साधककेलिए भी भागवतादि ग्रन्थोंमें वर्णित भगवल्लीलाओंका श्रवण-कीर्तन-स्मरण आवश्यक है.

ज्ञानमार्गमें ब्रह्मसाक्षात्कारहेतु जैसे ज्ञानमार्गीय उपायोंकी कुछ मर्यादा हैं, उसी तरह भक्तिमार्गमें भी भगवत्प्राकट्यहेतु कुछ भक्तिमार्गीय उपायोंकी भी मर्यादा हैं ही. साधक ज्ञानमार्गीय हो या भक्तिमार्गीय पुरुषोपायोंके द्वारा ब्रह्मके जिज्ञास्यरूपका अथवा भजनीयरूपका प्राकट्य संभव है. यह शास्त्रीय सिद्धान्त है. अतः साधनोपदेश करनेवाले शास्त्र तत्तन्मार्गीय उपायोंका पुरुषार्थत्वेन विधान करते हैं. कर्ममीमांसाकी भाषामें कहें तो शास्त्र तत्तन्मार्गीय नित्य-नैमित्तिक-काम्य उपायोंमें पुरुषकी प्रवृत्तिके हेतु विधि अथवा अनुपायोंसे निवृत्तिके हेतु निषेध करते हैं.

यद्यपि ज्ञान एवम् स्नेह दोनों ही कर्मकी तरह पुरुषतन्त्र न होकर वस्तुतन्त्र या स्वतन्त्र ही होते हैं. फिरभी ज्ञानजननानुकूल व्यापारमें जिज्ञासु पुरुषकी

प्रवृत्ति एवम् तत्प्रतिकूल व्यापारसे जिज्ञासु पुरुषकी निवृत्ति के हेतु जैसे ज्ञानमार्गीय विधि-निषेधोंकी सार्थकता है, वैसे ही भक्तिजननानुकूल एवम् तत्प्रतिकूल व्यापारोंमें भावुक पुरुषकी प्रवृत्ति-निवृत्तिके हेतु भक्तिमार्गीय विधि-निषेधोंकी भी सार्थकता है. अतएव ज्ञानमार्गीय साधकको जैसे तन्मार्गीय विधि-निषेध बन्धनकारी होते हैं, वैसेही भक्तिमार्गीय साधकको भी भक्तिमार्गीय विधि-निषेध बन्धनकारी होते हैं.

तत्तन्मार्गीय साधकको जैसे तत्तन्मार्गीय विधि-निषेध बन्धनकारी होते हैं, क्या उस तरह तत्तन्मार्गानुसारी परमेश्वरके जिज्ञास्यरूप या भजनीयरूप केलिए भी तत्तन्मार्गीय विधि-निषेधोंके बन्धन अनिवार्य माने जा सकते हैं? साधारण साधकको तरह परमेश्वर भी यदि तत्तन्मार्गीय शास्त्रोंके विधि-निषेधोंके बन्धनसे परे न हो तो उसे 'परमेश्वर' कहना ही निरर्थक हो जाता है. यदि शास्त्रीय विधि-निषेधोंके बन्धन आत्मकृत बन्धन हैं, अतः वे परमेश्वरके निरंकुश ऐश्वर्यके विपरीत नहीं हैं, ऐसा कहा जाता है तो वह केवल वाग्विलास ही है, अर्थात् यह बन्धन है ऐसा स्वीकारते हुए भी बन्धन नहीं भी है ऐसे स्वीकारना है. वास्तविकता यही है कि शास्त्रीय बन्धन अनीश पुरुषकेलिए ही बन्धन होते हैं. परमेश्वर पुरुषोत्तमकेलिए नहीं. अतएव निजप्राकटचके जो शास्त्रविहित उपाय हैं अथवा शास्त्रनिषिद्ध जो अनुपाय या दुरुपाय हैं, उनकी परवाह किये बिना ही परमेश्वर स्वेच्छया सर्वजनगम्य या विशेषानुग्रहभाजनगम्य होकर प्रकट हो सकता है.

ज्ञान एवम् भक्ति जैसे परमात्मप्राकटचके पुरुषोपाय हैं उसी तरह इच्छा एवम् अनुग्रह स्वप्राकटचकेलिए पुरुषोत्तमोपाय हैं. काम क्रोध भय द्वेष सौहृद सम्बन्ध स्नेह ज्ञान आदि वृत्तिवाले सभी तरहके अधिकारियोंके समक्ष न केवल भगवान् प्रकट हुए अपितु उन्हें मुक्ति या भक्ति का भी दान दिया ऐसा वर्णन भागवतमें मिलता है. अतएव परमानन्ददासजी ऐसी भगवल्लीलाका यशोगान करते हैं: "कौन रस गोपिन लीनों घूंट? परमानन्द वेदसागरकी मर्यादा गई तूट!"

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण भी अतएव कहते हैं कि श्रीकृष्ण अद्भुतकर्मा हैं. ऐसे कि असाधनको भी साधन बना लेते हैं-"असाधनमपि साधनं करोति".

यही कारण है कि जो श्रुतियाँ-"स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्" या "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" कहती हैं, उन्हें ही यह भी कहना पडता है कि "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्". नाम-रूप-कर्मात्मक अंशभूत जगत्में अप्रकट अंशी सच्चिदानन्दको प्रकट करनेके जितने यथार्थ उपाय ज्ञानमार्ग एवम् भक्तिमार्ग हैं उतना ही यथार्थ एक तीसरा उपाय पुष्टिमार्ग भी है. ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग पुरुषोपाय हैं तथा पुष्टिमार्ग पुरुषोत्तमोपाय है. इनमेंसे किसी भी एक उपायके बारेमें अत्याकारिताकी मनोवृत्तिका अतएव कुछ भी शास्त्रीय औचित्य नहीं है. वेदस्तुति (भाग. १०) में श्रुतियोंका यह निवेदन वर्णित हुआ है कि प्राण-मन-इन्द्रियोंको निरुद्ध कर निजहृदयमें मुनिजन जिसकी उपासना करते हैं, उसी परमेश्वरको द्वेषपूर्वक स्मरणद्वारा उसके शत्रु भी प्राप्त कर लेते हैं. जिन भगवान्के कमनीय भुजदण्डोंको कामभावसे निरखनेवाली स्त्रीजन पा लेती हैं, उन्हीं भगवान्के चरणकमलोंमें रहे मकरन्दके आस्वाद हेतु लालायित श्रुतिगण भी समदर्शी भगवान्केलिए समान ही होनी चाहिये!

ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्ग रूप पुरुषोपाय जीवात्माको परमात्माके ज्ञेयरूप या भजनीयरूप के अभिमुख बनाते हैं, परन्तु जबतक परमात्मा किसी जीवात्माका ज्ञातृत्वेन या भक्तत्वेन वरण नहीं करता, तब तक उस परमात्माके ज्ञेयरूप या भजनीयरूप का विवरण उसके संमुख नहीं हो पाता. यह ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्ग की औत्सर्गिकी मर्यादा है. और जब वह परमात्मा किसी जीवात्माके सम्मुख ज्ञेयात्मना या भजनीयात्मना प्रकट होना चाहता है तो बस वह पहले प्रकट हो ही जाता है. उसके ज्ञेयात्मना प्रकट हो जानेपर जीवात्मा बादमें कभी ज्ञाता बन जाती है. अथवा उसके भजनीयात्मना प्रकट हो

जानेपर बादमें कभी जीवात्मा भक्त बन जाती है. यह आपवादिकी रीति पुष्टिमार्ग है.

इस आपवादिकी पुष्टिरीतिके कारण जब परमात्मा द्वेष्यात्मना किसी जीवात्माके सम्मुख प्रकट हो जाता है तो वह जीवात्मा अपने चित्तकी द्वेषमयी एकाग्रताके कारण भी मुक्त हो जाती है. यही गति उन जीवात्माओंकी भी होती है जिनके समक्ष परमात्मा भयंकर शान्त अथवा कान्तके रूपमें प्रकट हो जाता है.

चित्तकी तीन (राग, द्वेष या उदासीन) तरह की अवस्थाओंके अनुरूप सर्वप्रथम रागके बारेमें कुछ जान लेना उपयुक्त होगा. रागात्मिका वृत्ति हमारी अप्रतिषिद्ध तथा प्रतिषिद्ध भी हो सकती है. शास्त्रतः या लोकतः अप्रतिषिद्ध रागात्मिका वृत्तिको हम संसारमें सर्वजनसहज भी मान सकते हैं. प्रतिषिद्ध रागात्मिका वृत्ति सर्वजनसहज नहीं होती. वे अविवेकपूर्ण तथा आवेशातिरेकवश असहज विकृतिके रूपमें हमारे भीतर पनप जाती हैं. माता-पिता-सन्तती, बन्धु-बान्धव पति-पत्नी या स्वामि-सेवक आदि सम्बन्धोंमें अप्रतिषिद्ध रागात्मिका वृत्तिके उदाहरण खोजें जा सकते हैं. इसी तरह परधन, परपत्नी या परपति आदिमें रागात्मिका वृत्ति लोकतः तथा शास्त्रतः प्रतिषिद्ध होनेपर भी आवेशातिरेकवश यदा-कदा हमारे भीतर एक विकृतिके रूपमें प्रकट होती देखी जाती है.

भागवतवर्णित भगवल्लीलाओंका सूक्ष्मेक्षिकया अवलोकन करनेपर यह स्पष्ट होता है कि सहज रागात्मिका वृत्तियोंवाली जीवात्माओंके बीच प्रकट भगवान्ने निजमाहात्म्यके शनैःशनैः ज्ञापनद्वारा तथा उन-उन वृत्तियोंके अनुरूप अपने स्वरूप तथा लीलाओं द्वारा उन वृत्तियोंका वात्सल्यभावात्मिका सख्यभावात्मिका माधुर्यभावात्मिका या दास्यभावात्मिका भक्तिमें उदात्तीकरण किया था.

जबकि द्वेषभावात्मिका और औदासीन्यभावात्मिका वृत्तिओंकी तरह प्रतिषिद्ध रागात्मिका वृत्तिओंको मुक्तिमें पर्यवसित कर दिया था.

किसी भी स्थितिमें इतना तो स्पष्ट ही है कि स्वेच्छया प्रकट हो जानेपर शास्त्रोंके कर्मज्ञानभक्तिमार्गीय विधिनिषेधोंकी मर्यादाओंके सेतुको परमेश्वर मदमत्त गजराजकी तरह छिन्नभिन्न कर देता है. "वही हमसे साधु कर्म करवाता है जब हमें ऊपर उठाना चाहता है और वही हमसे असाधु कर्म करवाता है जब हमें नीचे धकेलना चाहता है" (कौ. उ. ३/९) यह उत्सर्ग या मर्यादा है शास्त्रवर्णित, परन्तु इसके अपवादकी पुष्टि भगवान्की लीलामें प्रदर्शित हुई है. कभी भगवान्से द्वेषभाव रखनेवालेको असाधु कर्मोंके फलरूपेण मुक्तिदानद्वारा ऊपर उठाया गया है और कभी नहीं भी ! कभी साधुकर्मरूप यम-नियम-स्वाध्याय-तप-व्रतादिमें तत्पर किसी साधकको उत्तम फलसे वंचित भी रखा गया है.

वस्तुतः तो विधि-निषेधके बन्धन खड़े करना या उन्हें तोडना ये दोनों ही भगवान्की लीलायें हैं. एक शास्त्रप्रमाणसे सिद्ध तथा दूसरी शास्त्रप्रमेयरूप स्वयम् परमेश्वरके संकल्प तथा सामर्थ्य द्वारा साधित. भगवान्के भूतलपर सर्वजनगम्यतया प्रकट हुए विना, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" तथा "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" जैसे परस्पर विरोधाभासी निगमवचनोंमें छिपा हुआ गूढ रहस्य, किसे समझमें आ सकता है ! अतएव कहा गया है कि "यद्दर्शनं निगमआत्मरहःप्रकाशम्".

परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णद्वारा तत्तद् अधिकारियोंके तत्तद् रसभावोंके आलंबनविभावात्मना प्रकट तत्तद्रूपोंका वर्णन भागवत (१०।४३।१७) में बहुत सुन्दर उपलब्ध होता है :

"जब अपने अग्रज बलरामके साथ भगवान् कंसके दरबारी रंगमंचकी ओर आगे बढने लगे तो वहाँ उपस्थित मल्लोंको प्रतीत हुआ कि बिजली-सी अब उनपर गिरनेवाली है, साधारण मनुष्योंको लगा कि कोई श्रेष्ठ नर उनके सम्मुख आ रहा है, स्त्रियोंको प्रतीत हुआ कि साक्षात् मूर्तिमान् कामदेव ही उनके समक्ष प्रकट हो गया है, गोपगण तो भगवान्को अपना स्वजन ही समझ

रहे थे, दुष्टराजाओंके किन्तु लगा कि यह उनके शासनार्थ कोई चक्रवर्ती सम्राट आगया है, वसुदेवदेवकी तो उन्हें अपना शिशु मान कर कुशलक्षेमकी चिन्तासे ग्रस्त हो गये, कंसको लगा कि कृष्ण नहीं किन्तु साक्षात् मृत्यु ही उसके प्राण हरनेको आ रही है, अज्ञानियोंको किन्तु रक्तरंजित वस्त्रोंको धारण करनेवाले कृष्ण सुन्दर नहीं लगे, योगिजन जो वहाँ उपस्थित थे उन्हें तो अपनी योग-साधनाके सिद्धिरूपेण परतत्त्वका ही साक्षात्कार कृष्णदर्शनरूपेण हुआ और वृष्णिओंको लगा कि कोई देवाधिदेव आज उन्हें दर्शन देने आया है."

परस्पर कितने विरुद्ध रूप तथा शील, एक ही स्थलपर एक ही कालमें उपस्थित अनेक दर्शकोंके भावोंके आलम्बन बनकर, भगवान्ने प्रकट किये !

श्रुति कहती है कि "बहुत सारे तो ऐसे स्वरूपकी बात सुन ही नहीं पाते और जो सुन पाते हैं वे सुनकर भी समझ नहीं पाते, जो इस तत्त्वकी बातें करता है वह भी उसे समझकर नहीं किन्तु विस्मिततया ही कुछ कहता रहता है, कुशल तो वही है जो इसे पा लेता है" (कठो. २।७). अन्यथा 'अजपर' विद्वानोंके भीतर परमेश्वरके दर्शन करनेपर ज्ञानके बजाय मोह ही क्यों उत्पन्न होता ?"

मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपराः यतन्तः

श्रुतिमें इस प्रश्नका अद्भुत समाधान उपलब्ध होता है. वहाँ (तै. आ. ३।१३।३) कहा गया है कि "वह परमात्मा अजायमान होनेपर भी बहुधा जन्मग्रहण करता रहता है. इसका रहस्य (कोरे पाण्डित्यसे नहीं किन्तु) धीर पुरुष ही भलीभाँति समझ पाते हैं." स्वयमेव भगवान्को भी अतएव गीतामें यह खुलासा देना पडा है कि वे अज अविनाशी आत्मा तथा सकल लोकके परमेश्वर हैं, फिरभी अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठित रहते हुए आत्ममायासे जन्मग्रहण करते हैं. देहदृष्टिसे जन्ममृत्युके चक्रमें ग्रस्त होनेपर भी आत्मदृष्टिसे तो हम भी अज-अविनाशी हैं. और उतना ही माहात्म्य यदि परमेश्वरका भी हो तो ईश्वर-ईशितव्यमें कोई तारतम्य नहीं रह जाता है. परन्तु हमारे जन्मग्रहणकी प्रक्रियाका परमेश्वरके दिव्य जन्म-कर्मोंसे यह अन्तर है कि हमारे

जन्म-कर्म परमेश्वरकी मायाके अधीनतया होते हैं तथा परमेश्वरके जन्म-कर्म उस मायाको स्वाधीन रखते हुए संपन्न होते हैं (द्रष्टव्य गीता ४।६-९ तथा ९।७-१०).

अतः आत्मदृष्टिसे हमारा अज होना एक सहज तथ्य है और अतएव शाश्वत आत्मामें जन्ममृत्युका आभास एक मायिक घटना है. परमेश्वरकेलिए जैसे अज होना उसका सहज स्वभाव है वैसेही दशरथात्मज या नन्दात्मज होना भी उसका सहज सामर्थ्य है. इसी 'सहज सामर्थ्य' को 'आत्ममाया' कहा गया है. आत्ममाया आत्मतन्त्र होती है आत्मा मायातन्त्र नहीं. बस ! इतनेमें सारी कथा भागवतकी कही जा सकती है. परन्तु देहकी मायिक क्षणभंगुरतासे भयभीत साधक जब आत्माके अमायिक अजत्व-अविनाशित्वका अवलम्बन अधीरतया करता है, तब परमात्माके दिव्य जन्म-कर्मोंको भी अपनी कूपमण्डूकता-वश अपने जन्म-कर्मकी तरह मायिक तथा अजत्व-अविनाशित्वको अपने अजत्व-अविनाशित्वकी तरह मायोपहित मान लेता है. मायाके अधीन जन्मकर्म तथा मायाको स्वाधीन रखकर जन्मकर्म के बीच रहे अन्तरको वह पहचान नहीं पाता. हमारा यह जन्म हमारे प्राक्तन कर्मोंके दुःखद फलभोगके बन्धनतया होता है, जबकि भगवज्जन्म माया-काल-कर्म-स्वभावादि सभी शक्तियोंको स्ववशमें रखकर दिव्य लीलाकी इच्छाके कारण ही होता है. परन्तु अधीर अजपर विद्वान् इस अन्तरको समझ न पानेसे मुग्ध हो जाते हैं. अतएव कहा "मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपराः यतन्तः"

भगवान्का अज होना या नन्दात्मज होना, दोनों ही दिव्य तथ्य हैं. परन्तु अत्याकारितासे अजपर होना निगमवर्णित आत्मरहस्यके प्रकाशनमें व्यवधान उत्पन्न करता है.

तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलम्

ब्रह्म तो उभयरूप होता है (दृष्टव्य बृहद् २।३।१ तथा तै. आर. ३।१४।२) मूर्त-अमूर्त मर्त्य-अमृत चल-अचल, प्रकट-अप्रकट, क्षर-अक्षर तथा अज-नन्दात्मज

आदि. इन दो तरहके रूपोंमेंसे किसी भी एकको अत्याकारितया स्वीकार कर अपर रूपका प्रत्याख्यान सत्य (सत्+त्यत्) ब्रह्मकी सत्यताको इन्कारना है. ऐसी संकीर्ण दृष्टि रखनेका श्रुति निषेध करती है "नेति नेति" कह कर. ब्रह्म मूर्तामूर्तरूपादि विरुद्ध धर्मोंकी समष्टी ही केवल नहीं अपितु अविरुद्ध आश्रय भी है. वह, अतएव, "सत्यस्य सत्यम्" है. महाप्रभु कहते हैं कि ब्रह्म सर्ववादानवसर तथा नानावादानुरोधी है (दृष्टव्य भाग ६।९।३६ तथा १०।१६।४३). ब्रह्मवादके अनुसार, अतः अन्य जितने भी वाद (नामतः, मायावाद प्रकृतिवाद परमाणुवाद कर्मवाद स्वभाववाद कालवाद या अभाववाद आदि) हैं उन्हें अत्याकारवश प्रस्तावित न किया जाये तो वे अन्धहस्ती-न्यायके अनुसार प्रामाणिक हैं. यही ब्रह्मकी नानावादानुरोधिता है. अर्थात् नाना वादोंद्वारा प्रतिपाद्य माया प्रकृति परमाणु कर्म स्वभाव काल आदि रूप धारण करनेकी क्षमता है. श्रुतिमें भी तो कहा गया है कि "तं यथा यथोपसते तथैव भवति" (मुद्गलो. ३।३) इसी तरह गीता (४।११) में भी कहा गया है कि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्". ब्रह्मकी इस नानावादानुरोधिताका ही निरूपण महाप्रभुने सिद्धान्तमुक्तावली (का. ३-५) में इन शब्दोंमें किया है : "सच्चिदानन्द ब्रह्मके नामरूपकर्मात्मक इस जगत्की व्याख्या विभिन्न वादी विविधतया करते हैं. कोई इसे मायिक, कोई प्राकृत, कोई परमाणु-आरब्ध कोई स्वतन्त्र, यों अनेकधा व्याख्या करते हैं. वास्तविकता परन्तु यह है कि एक वही ब्रह्म इन सारे रूपोंमें प्रकट होता है. श्रुतिका तो यही मत है," भागवतमें भी यही बात निरूपित हुई है–"तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलम्" द्वारा.

इस 'सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलम्'के दोनों ही अर्थ शक्य हैं. एक तो यह कि जितने भी वाद हैं उनके प्रतिपाद्य-विषयों (माया-प्रकृति आदि) के अनुरूप ब्रह्म अपना शील-स्वभाव प्रकट करता है. दूसरा अर्थ यह भी सम्भव है कि ब्रह्मवादके अलावा सभी वादोंके विषयोंके विपरीत भी ब्रह्मके रूप तथा स्वभाव हैं. कोई भी वाद ब्रह्मतत्त्वका पूर्णतया निरूपण नहीं कर पाता. फिर भी सभी वाद ब्रह्मतत्त्वके ही विभिन्न रूपोंका अपर्णतया निरूपण करते हैं.

श्रीशंकराचार्यको अभिमत मायावादके अनुसार द्वैतघटित सभी गुण-धर्म-रूप, चाहे दिव्य हों या अन्यथा, जहाँ जिस ब्रह्ममें वे भासित होते हैं वहीं उनका अभाव भी होता है. इसे ही "स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेध-प्रतियोगित्वम्" कहा जाता है.

उदाहरणतया भगवान् श्रीकृष्णके ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य आदि गुण, श्यामल रूप तथा मनोहारिणी आकृति आदि ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें भासित भी होते हैं तथा उनका वहीं अभाव भी है. माखनचोरीकी लीलामें वैराग्य गुणका अभाव है तथा व्रजको त्याग कर मथुरा-द्वारका जा बसनेमें वैराग्य गुणका भास भी होता है. अतः वैराग्य गुण 'स्वप्रतिपन्नोपाधिमें निषेधप्रतियोगी' है.

इस भगवत्स्वरूपवर्णनकी शैलीका भलीभाँति अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि मायिक गुणधर्मरूपाकृतिकी तरह माया भी स्वप्रतिपन्नोपाधि-रूप ब्रह्ममें स्वनिषेधकी प्रतियोगी है. ऐसी स्थितिमें मायाप्रतिपादक वाद भी निरूप्य-निरूपकभावरूप सम्बन्धवश ब्रह्ममें भासित होता है तथा उसका वहाँ अभाव भी है. इसी तरह अन्यवादोंकी भी गति है. अतः ब्रह्मनिरूपणार्थ ये सारेके सारे मायावादादि वाद मिथ्या वाद सिद्ध होते हैं. क्योंकि ब्रह्म सर्व-वादानवसर है. यह निषेधात्मक दृष्टिकोण है.

महाप्रभु इसे अस्वीकार नहीं करते किन्तु इसमें इतना और जोडते हैं कि वही ब्रह्म नानावादानुरोधी भी बन जाता है. यह विधानात्मक दृष्टिकोण है. यही है प्रतिपाद्य सभी उपनिषदोंका गीताका ब्रह्मसूत्रका तथा भागवतका भी. इसे ही हम भी भागवतके आद्योपदेशरूप चतुश्लोकीके विमर्शसे प्रारम्भ करेंगे.

भागवतका आद्योपदेश

सर्वप्रथम सर्गादिमें भगवान् नारायणके मुखसे ब्रह्माजीको जो उपदेश प्राप्त हुआ; वह अति सूत्रात्मक था. केवल चार श्लोकोंमें निबद्ध. पश्चात् ब्रह्माजीने अपने पुत्र नारदजीको वह उपदेश कुछ विस्तारपूर्वक दिया. यह द्वितीयोपदेश करीब एकसौ पच्चीस श्लोकोंमें निबद्ध हुआ है. तृतीयोपदेशमें

ब्रह्माजीकी आज्ञानुसार नारदजीने विपुल विस्तार किया. भगवद्ज्ञानावतार वेदव्यासजीने उस विस्तीर्ण भगवल्लीलाकथाको अपनी समाधिमें साक्षात्कार द्वारा संवादित भी किया. यहाँ आकर वह कथा अठारह हजार श्लोकपरिमित विस्तीर्ण हो गई. चतुर्थोपदेशके रूपमें अपने पिता वेदव्यासजीसे सीखकर पंचमोपदेशके रूपमें श्रीशुकमुनिने परीक्षितराजाको यह कथा सुनाई. इस तरह उपदेशपरम्परा आगे बढ़ती चली गई है, जो इस लेखनका विषय नहीं है प्रकृत प्रसंगमें भागवतके आद्योपदेशके चार श्लोक यों हैं :

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत्सदसत्परम्
पश्चादहं यदेतच्च योवशिष्येत सोस्म्यहम् ॥ १ ॥
ऋतेर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः ॥ २ ॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु-
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥ ३ ॥
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा ॥ ४ ॥

यहाँ बहुत सुस्पष्ट शब्दोंमें तीन-चार बातें कही गई हैं.

(१) सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व, उसके उत्पन्न होनेके बाद; तथा उपसंहारके बाद भी एकमेवाद्वितीय तत्त्व केवल ब्रह्म ही था है और रहेगा. अर्थात् माया प्रकृति परमाणु कर्म स्वभाव काल आदि कुछ भी नहीं. अतएव वह ब्रह्म ही केवल था. अर्थात् सदसद्विलक्षणमायोपहित या सूक्ष्मचिदचिदवस्था-रूपा-प्रकृतिविशिष्ट आदि कुछ भी नहीं था. अतएव कहा गया "अहमेव आसमेव". क्योंकि तब ब्रह्मसे अतिरिक्त न कुछ सत् था न असत् और न सदसद्विलक्षण ही (नान्यद् यत्सदसत्परम्), सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद भी यह जो कुछ दिखलाई दे रहा है वह भी शुद्ध ब्रह्म (अहमेव अस्मि) ही है. अर्थात् स्वेतर सदसद्विलक्षण मायासे कल्पित या स्वेतर स्थूलचिदचिद्विशिष्ट नहीं. इसी तरह सृष्टिके प्रलयके बाद भी जो कुछ बचा रहेगा वह ब्रह्म

ही (योवशिष्येत सोस्म्यहम्) होगा. अर्थात् विक्षेपरहित आवरणरूप मिथ्या माया अथवा सूक्ष्मचिदचिद्रूपा प्रकृति आदि कुछ भी नहीं.

(२) सच्चिदानन्द ब्रह्ममेंसे नामरूपकर्मात्मिका सदंशभूता अर्थसृष्टि तथा नामरूपरहिता चिदंशभूता आत्मसृष्टि में क्रमशः चिदंश तथा आनन्दांश के निगूहनके कारण बाह्यार्थ तथा अन्तरात्मा की ब्रह्मात्मकता-सच्चिदानन्दता ग्रहीत नहीं होती. यद्यपि परमात्मासे भिन्न, किसी कारणसे बाह्यार्थ या अन्तरात्मा न तो प्रकट हो सकते हैं न हैं और न किसी अन्य तत्त्वमें लीन ही हो पायेंगे. यह प्रथम कारिकामें वर्णित हुआ है. फिर भी बाह्यार्थ तथा अन्तरात्मा रूप उभयविध विषयोंकी ब्रह्मात्मकता ग्रहीत नहीं होती तथा उनमें ब्रह्मभिन्नताका आभास होता है. इनमें सदसद्विलक्षणता-मायिकता प्रतिक्षण परिणामिता-प्राकृतता प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव परमाणुसमवेतता देश-काल-स्वरूपकृतपरिच्छिन्नता दुःखरूपता आदि धर्मोका जो भास होता है वह भगवान्‌की बारह शक्तिओंमेंसे एक अविद्याशक्ति तथा दूसरी व्यामोहिका माया-शक्तिके कारण होता है (दृष्टव्य भाग. १०।३९।५५ तथा गीता ७।१४). ब्रह्मात्मकताके आवरणको तथा ब्रह्मधर्मोंसे अन्यथाभूत मिथ्याधर्मोंके भासको सदसद्विलक्षण नहीं किन्तु असत् ही समझना चाहिए. जैसे प्रकाशके तिरोधानवश वस्तुपर नीले अन्धकाररूप आवरण या पारमार्थिक बिम्बकी सन्निधिमें पारमार्थिक दर्पणके कारण प्रतिबिंबका मिथ्याभास होता है. इसे विषयसृष्टि नहीं किन्तु विषयतासृष्टि समझनी चाहिए.

(३) जैसे आकाश आदि अमूर्त विभु द्रव्य, मूर्त उच्चावच द्रव्योंके भीतर अनुप्रविष्ट भी होते हैं तथा अप्रविष्ट भी. इसी तरह सच्चिदानन्द ब्रह्म विषय-सृष्टिमें सदंश-चिदंशरूपेण अनुप्रविष्ट होनेपर भी आनन्दांशरूपेण अप्रविष्ट रहता है. इसी तरह विषयसृष्टिमें अनुप्रविष्ट रहनेपर भी विषयतासृष्टिमें सदंशरूपेण भी सर्वथा अप्रविष्ट रहता है.

(४) अतएव जो तत्त्वजिज्ञासु हैं उन्हें उस ब्रह्मको ही जाननेका प्रयास करना चाहिये जो अन्वय-व्यतिरेक अर्थात् अनुप्रविष्टतया तथा अप्रविष्टतया सर्वत्र-सर्वदा विद्यमान रहता है.

महाप्रभुके अनुसार बाह्यार्थसृष्टि तथा अन्तरात्मसृष्टि सर्वभवनसमर्थ अबाधितज्ञान तथा सत्यसंकल्पोत्थ-अनन्तमूर्ति रूप (सत्यं, ज्ञानम्, अनन्तं) ब्रह्मके भीतर ही प्रकट होती हैं. अतः सर्वप्रथम अबाधितज्ञान-विषयत्वेन सृष्टि पारमार्थिक है. ब्रह्मके सर्वभवनसामर्थ्यवश प्रकट हुई होनेसे भी उभयविध सृष्टि पारमार्थिक है. तथा अनन्त नाम-रूप-कर्म उस सत्यसंकल्प परमेश्वरके वैसे संकल्पके कारण प्रकट हुए हैं इसलिए भी पारमार्थिक हैं.

इस जडजीवात्मक जगत्में जीव, भगवान्की अविद्याशक्ति तथा माया-शक्तिके वशीभूत होकर, स्वबहिर्भूत बाह्यार्थोंको जैसे वे ब्रह्मात्मक हैं उस रूपमें उन्हें पहचान नहीं पाता है. ब्रह्म सर्वज्ञ है तथा उसका ज्ञान अबाधित ज्ञान है. परिणामतः जीवको अनुभूत होती आवरणरूपा विषयताका तथा अन्यथाप्रतीतिरूपा विषयताका अनुव्यवसाय तो सर्वज्ञतया ब्रह्मको होता है. परन्तु अबाधित ज्ञानरूपतया ब्रह्मको उक्त विषयताओंका व्यवसायात्मक भान नहीं होता है. महाप्रभु अतएव इन्हें 'विषय' न कह कर 'विषयता' कहते हैं. और साथ ही साथ यह भी स्पष्ट करते हैं कि विषय भगवान् है परन्तु विषयता मायाजन्या है. यह व्यामोहिका माया भी भगवान्की अन्यतमा शक्ति होनेसे उतनी ही पारमार्थिक है जितने स्वयम् भगवान्. अतः उक्त विषयता मायो-पादानक नहीं, जैसे प्रतिबिम्ब दर्पणोपादानक नहीं केवल दर्पणहेतुक होता है. इसी तरह विषयता मायाहेतुक है. इस अर्थमें उसे 'मायिक' कहा जाता है. पाश्चात्य दर्शनकी भाषामें कहें तो विषय "द थिंग एज़ इट इज़" है तथा विषयता "द थिंग एज़ इट ॲपीअर्स" है.

श्वेताश्वतरोपनिषद्में यह आता है कि मायाशक्तियुक्त मायी महेश्वर इस चिदचिदात्मक जगत्का सृजन करता है. और वहाँ विषयरूप सदंश विश्वमें चिदंशरूप जीव महेश्वरकी बारहमेंसे एक व्यामोहिका मायाशक्तिद्वारा प्रदर्शित विषयताओंके कारण विषयितया बंध जाता है.

इस सन्दर्भमें यह ज्ञातव्य है कि बाह्यार्थ तथा अन्तरात्मा रूप विषयसृष्टिक प्राकट्यसे पूर्व तथा इनके ब्रह्ममें लीन हो जानेके बाद इनका ब्रह्मसे केवल

अन्वयात्मक सम्बन्ध ही रहता है और स्थितिकालमें अन्वयव्यतिरेकरूप उभ-यात्मक. जबकि विषयतासृष्टिके साथ सदंशेन भी अप्रविष्ट होनेसे ब्रह्मका केवल व्यतिरेकात्मक सम्बन्ध ही होता है. इसी तरह ब्रह्मज्ञानीको जागतिक सभी नामरूपकर्मोंमें ब्रह्मका केवल अन्वय ही अनुभूत होता है व्यतिरेक नहीं (ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि रूपाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत् त्रयं सद् एकमय-मात्मा आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्. दृष्टव्य : बृहद्. १।६।१-३). यह भी ब्रह्मकी विद्याशक्तिका ही प्रभाव है. क्योंकि अन्यथा ब्रह्मका तो इस सृष्टिके साथ अद्भुत अन्वयव्यतिरेकात्मक सम्बन्ध है. न आत्यन्तिक एकत्वघटित और न आत्यन्तिक अनेकत्वघटित. वह सम्बन्ध "त्रयं सद् एकम्" और "एकः सन् त्रयम्" के रूपमें परिभाषित हुआ है. ब्रह्मज्ञानीको, अतएव ब्रह्मके स्वरूप या स्वभावमें अनुगत एकत्वकी ही विद्याशक्तिद्वारा अनुभूति होती है. अज्ञानीको ब्रह्मके सामर्थ्यवश प्रकट नामरूपकर्मानुगत अनेकत्वकी ही प्रतीति अविद्या-शक्ति द्वारा होती है. परन्तु भगवद्भक्तको भगवान्की पुष्टिशक्तिके कारण स्वभावानुपाति-एकत्व तथा सामर्थ्यानुपाति-अनेकत्व दोनोंकी अनुभूति होती है. अन्वयव्यतिरेक दोनों जब समझमें आयें तभी भगवल्लीलाका बोध सम्भव है अन्यथा नहीं.

भक्तिका पूर्वांग ब्रह्मके माहात्म्यका ज्ञान है, जिसके कारण भक्तको भगवान् सर्वत्र-सर्वदा अनुप्रविष्टतया अनुभूत होते हैं. भक्तिका उत्तरांग भगवान्में सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह होता है, जिसके कारण भक्त जागतिक नाम-रूप-कर्ममें अनुप्रविष्ट भगवान्को जान लेनेके बाद भी, उनके अप्रविष्ट परमानन्द-स्वरूपकी विरहानुभूति करता रहता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं कि जड़-जीव-रूप जगत्को ब्रह्मके सच्चिदंश होनेके कारण ब्रह्मतया बुद्धिद्वारा जानना चाहिए, किन्तु सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्ण अपने क्षरा-क्षरातीत पुरुषोत्तम स्वरूपमें इस जगत्में तिरोहित या अप्रविष्ट भी हैं, अतः चाहना तो हृदयमें पुरुषोत्तमकी ही रखनी चाहिए.

इससे समझा जा सकता है कि ब्रह्मके सर्वत्र-सर्वदा अन्वयव्यतिरेकात्मक सम्बन्धका उपदेश भक्तिमार्गीय उपदेशमें कितना प्राणभूत तत्त्व या तथ्य है.

शांकर सम्प्रदायकी व्याख्यारीतिके अनुसार यहां जगत्का मिथ्यात्व प्रतिपादित हुआ है. वाल्लभ वेदान्तकी व्याख्यारीतिके अनुसार यहाँ ब्रह्म और जड़-जीवके बीच तादात्म्य प्रतिपादित हुआ है. तादात्म्य न आत्यन्तिक एकत्व है और न आत्यन्तिक अनेकत्व. वह तत्त्वदृष्ट्या एकका अनेकत्वानुभाव है तथा बोधदृष्ट्या अनेकतामें एकत्वानुदर्शन है. एकत्वानुदर्शनमें अनेकताका, शुक्तिमें रजतके बाधकी तरह, बाध नहीं होता. जैसे अर्जुनको दिव्यदृष्टिके लाभ होनेपर विराट् पुरुषमें विश्वकी बाधितानुवृत्ति नहीं प्रत्युत तत्त्वानुभूति हुई थी. ब्रह्म और जगत् के तादात्म्यकी अनधिगत अबाधित अनुभूति ही हुई थी.

शांकर सम्प्रदायकी व्याख्यारीतिके अनुसार ब्रह्ममें सृष्टिप्राक् तथा प्रलयानन्तर अविद्यमान सृष्टिका बीचमें मायिक भास, स्वप्रतिष्ठोपाधिमें त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगिताका द्योतक है. जैसे शयनसे पूर्व तथा पश्चात् जाग्रदवस्थामें अविद्यमान वस्तुओंका स्वप्नमें मिथ्याभास होता है. वाल्लभ वेदान्तकी व्याख्यारीतिके अनुसार बाह्यार्थ जडसृष्टि न तो अन्तरात्माकी अविद्यासे कल्पित है और न हमारी अन्तरात्मरूप साक्षिचेतनामें त्रिकालवर्ती असंख्य वस्तुओंकी ज्ञाततया अथवा अज्ञाततया कल्पना ही पैदा होनी भी सम्भव है !

जहाँ तक "प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि वह दिखलाई देता है. जैसे स्वप्न दिखलाई देनेपर भी मिथ्या है. जैसे जाग्रदवस्थामें स्वप्नकी अनुवृत्ति नहीं होती, वैसे ही प्रलयकालीन ब्रह्मचेतनामें जगत्की भी अनुवृत्ति नहीं होती" जैसी युक्तियोंका प्रश्न है तो स्वयं श्रीशंकराचार्यने ही ऐसी युक्तियोंका अकाट्य प्रत्याख्यान "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" (ब्र. भा. २।२।२९) सूत्रके भाष्यमें किया है.

वे कहते हैं :

"स्वप्नदृष्ट वस्तु मिथ्या होनेपर भी दिखलाई तो देती है, इसी तरह जागरितोपलब्ध वस्तु भी दिखलाई देनेके बावजूद मिथ्या ही है, ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है. क्योंकि स्वप्नोपलब्ध वस्तुका जागरणमें बाध होता है जबकि जागरितोपलब्ध वस्तुका कभी भी बाध नहीं होता. यह तो सभी लोग

जानते हैं. अतः इस तथ्यका अपलाप कोई बुद्धिमान व्यक्ति कर नहीं सकता. दूसरी एक महत्वपूर्ण बात यह भी है, जागरितोपलब्ध वस्तुको स्वतएव तो मिथ्या सिद्ध किया नहीं जा सकता, अतः स्वप्नके सादृश्यका बहाना खोजना पड़ता है. परन्तु केवल सादृश्यका ही विचार करें तो अग्निको भी, वह जलकी तरह दिखलाई देती है ऐसे सादृश्यके आधारपर, शीतल मान लेना चाहिये !"

इस विचारशैलीके बारेमें महाप्रभु तथा श्रीशंकराचार्य के बीच पूर्ण मतैक्य स्वीकारा जा सकता है. स्वप्नसादृश्यके आधारपर जाग्रदनुभूतिको निरालम्बन या मायिक विषयावलम्बन नहीं माना जा सकता. अन्तरात्म-चेतनामें प्रतीयमान स्वाप्निक वस्तुओंको, वहाँ स्वप्नके देशकालमें अविद्यमान होनेके कारण मिथ्या मानना पड़ता है. परन्तु परमात्मचेतनाके भीतर स्वप्नकी तरह प्रतीयमान जड़-जीवरूपा विषयसृष्टिको केवल अबहिर्भूतताके सादृश्यवश मिथ्या नहीं माना जा सकता. क्योंकि वे (क) अबाधितज्ञान-विषयतया (ख) सत्यसंकल्पोत्थितया, तथा (ग) सर्वभवनसामर्थ्यवशात् परमात्मचेतनामें परमार्थतः प्रकट हुए होते हैं. प्रलयकालमें ये विषय अपने विषयी ज्ञानमें परमार्थतः लीन भी हो जाते हैं. जैसे सागरोत्थ मेघजलके बिन्दु बरस जानेपर पुनः सागरजलमें विलीन हो जाते हैं. अथवा जैसे ध्रुवप्रदेशके समीप सागरजलके जम जानेपर हिमखण्ड प्रकट होते हैं और पिघल जानेपर पुनः वे सागरजलमें लीन हो जाते हैं.

अतः उत्पत्तिसे पूर्व तथा प्रलयके पश्चात्, जो उनकी निषेध-प्रतियोगिता है वह त्रैकालिकी नहीं है. सागरजलमें हिमखण्डके जमने-पिघलनेकी दुहाई देकर उसकी स्थितिको इन्कारा नहीं जा सकता है. इसी तरह असर्वज्ञ अन्तरात्माके बाधयोग्य ज्ञानमें भासित स्वप्नदृष्ट वस्तुओंके सादृश्यकी दुहाई देकर, सर्वज्ञ परमात्माके सर्वथा बाधानर्ह ज्ञानमें स्वेच्छा-समुद्भूत स्वप्नवत् अन्तःप्रतीयमान जड़जीव-विषयको त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगी नहीं माना जा सकता है. श्रीशंकराचार्यके – "नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते" उद्गार नितान्त मननीय तथा महाप्रभुको सर्वथा मान्य ही हैं. लयकी और बाधकी कथायें एक ही नहीं होती.

शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंपर जो जगत्की स्वप्नोपमता वर्णित हुई है, वह उसके मिथ्यात्वके निरूपणार्थ नहीं है. परमात्माके अबाधित तथा देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न ज्ञानके भीतर ज्ञानविषयत्वेन जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-लयके निरूपणार्थ ही स्वप्नका दृष्टान्त दिया गया है. अतएव ब्रह्म-भिन्नतया उन्हें 'असत्' भी कहा गया है. यह सब किन्तु जगत्की ब्रह्मात्मकताको समझानेकेलिए ही है.

इस तरह भागवतके आद्योपदेशरूप चार श्लोकोंके विमर्शके बाद अब द्वितीयोपदेश तथा तृतीय-चतुर्थोपदेश के चिन्तनार्थ हमें क्रमशः प्रवृत्त होना है. इनका विमर्श हम पूर्वोक्त चतुश्लोकीकी सूत्रवृत्ति तथा सूत्रभाष्य के रूपमें ही करना चाहेंगे. तदनुसार सर्वप्रथम कुछ सूत्रोंको पृथक्-पृथक् दृष्टिगत करना उचित होगा. यथा—

(१) अहमेव आसमेव अग्रे नान्यद् यत्सदसत्परम्
(२) पश्चादहम् यद् एतत् च
(३) यो अवशिष्येत सो अस्मि अहमेव
(४) ऋतेर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत च, आत्मनि
तद् विद्याद् आत्मनो मायां, यथाभासो यथा तमः
(५) एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा.

इसमें तृतीय श्लोकको समाविष्ट नहीं किया गया है. उसका हेतु केवल यही है कि वह चतुर्थ श्लोकमें विवक्षित अन्वयव्यतिरेकको समझानेकेलिए ही कही गई बात है. अस्तु.

द्वितीयोपदेशमें इन पांच सूत्रोंकी वृत्ति

द्वितीयोपदेशमें ब्रह्माजीने इन चार सूत्रात्मक श्लोकोंकी करीब सवा सौ श्लोकोंमें विवृत्ति की.

(१) इस उपदेशके प्रारम्भमें ब्रह्माजीने भगवान्की स्वयंप्रकाशरूपता तथा विश्वप्रकाशरूपता का वर्णन, भगवान्की मायातीतताका वर्णन, मायाशक्ति की व्यामोहकताका वर्णन; तथा द्रव्य कर्म काल स्वभाव या जीव न तो भगवान् वासुदेवसे श्रेष्ठ और न तत्त्वतः भिन्न अर्थ हो सकते हैं, यह दिखलाया है (भाग. २।५।११-१४ तक की कारिकाओंमें). इस "तत्त्वतः भिन्न अर्थ" होनेके निषेधके गर्भमें ही "ये रूपतः ही केवल भिन्न अर्थ हैं" यह विधान निहित है.

इसके बाद प्रमाण प्रमेय साधन तथा फल सभीकी नारायणपरता— "नारायणपरा वेदाः (प्रमाण) देवा नारायणाङ्गजा नारायणपरा लोकाः (प्रमेय) नारायणपरामखाः नारायणपरो योगः नारायणपरं तपः नारायणपरं ज्ञानं (यज्ञयोगतपोज्ञानादिसाधन) नारायणपरा गतिः (फल)" का ब्रह्माजीने वर्णन किया है.

इस वर्णनके बाद पूर्वोक्त "अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत्सदसत्परम्" सूत्रकी विवृत्ति करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं: "उस द्रष्टा ईश्वर कूटस्थ अखिलात्मा द्वारा मेरा सृजन हुआ है और उसके ईक्षणमात्रसे प्रेरित होकर मैंने सभी सृज्य वस्तुओंका सृजन किया है. उस विभु निर्गुण तत्त्वने जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-निरोधकेलिए मायाद्वारा रजस्सत्त्वतमोगुणोंका ग्रहण किया है. ये गुण द्रव्याश्रित होनेपर कार्य अथवा विषय के रूपमें, ज्ञानाश्रित होनेपर कारणके रूपमें; तथा क्रियाश्रित होनेपर कर्ताके रूपमें मायाके अधीश्वर नित्यमुक्त पुरुषको बांध लेते हैं. अर्थात् वह पुरुष स्वेच्छया लीलार्थ इन गुणोंसे बंध जाता है. क्योंकि बंधनेवाला पुरुष अन्य कोई नहीं किन्तु ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य युक्त स्वयं भगवान् हैं. ब्रह्मादि सकल चेतनाचेतनवस्तुके अधीश्वर वे भगवान् इस तरह अपने स्वरूपका निगूहन कर लेते हैं. एकमेवाद्वितीय होनेपर भी लीलया मायाद्वारा काल-कर्म-स्वभावरूप धारण कर लेते हैं (२।५।१७-२१).

इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह सृष्टि, मायाके अधीन या मायाविवश तत्त्व या पुरुष से नहीं, किन्तु मायाके अधीश्वरद्वारा हुई है. स्पष्ट है कि यह माया मायेश भगवान्से भिन्न नहीं हो सकती. क्योंकि सूत्रमें ही स्पष्टतया "नान्यद्

यत् सदसत्परम्" अंशद्वारा सत्त्वेन असत्त्वेन अथवा सदसद्विलक्षणत्वेन ब्रह्म-भिन्न प्रत्येक वस्तुका व्यावर्तन कर दिया गया है.

(२) "पश्चाद् अहं यद् एतत्" सूत्रकी विवृति ब्रह्माजीने बड़ी विस्तीर्ण की है (भाग २।५।२२ से भाग २।७।३७ तक). सृष्टिके प्रकट होनेपर बाह्यार्थ तथा अन्तरात्मा रूप उभयविध विषयसृष्टिके साथ ब्रह्मका अनुप्रवेश-अप्रवेशरूप अन्वय-व्यतिरेकात्मक सम्बन्ध भी ब्रह्माजीने क्रमशः दिखाया है. अन्वयलीलाका (भाग २।५।२२–भाग २।६।४४) में, तथा व्यतिरेकलीलाका (भाग २।६।४५–भाग २।७।३७) में वर्णन किया है.

प्रारम्भमें कालसे गुणव्यतिकर, स्वभावसे परिणाम तथा कर्मसे पुरुषा-धिष्ठित महत् तत्त्वके प्राकटयका वर्णन किया. पश्चाद् ज्ञानशक्ति, क्रिया-शक्ति, द्रव्यशक्ति रूप त्रिविध अहंकारका प्राकटय, फिर पंच महाभूत पंच-तन्मात्रा, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रियके क्रमसे सप्तलोक चातुर्वर्ण्य-नियामक अधिदेव आदि अनेक रूपोंका वर्णन हुआ है. इनका वर्णन करते हुए ब्रह्माजी 'यद् एतद्' अंशकी विवृत्ति "अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः सुरासुरनराः नागाः खगा मृगसरीसृपाः गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितः स्तनयित्नवः" द्वारा करते हैं. पश्चात् '(तद्) अहम्' की विवृत्ति "सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्" वचनद्वारा करते हैं. यह अन्वय दिखलाकर यहीं किञ्चित् व्यतिरेक भी दिखलाया है "तेनेद-मावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति" अंश द्वारा.

ब्रह्माजी स्पष्ट शब्दोंमें यह स्वीकारते हैं कि सृष्टिनिर्माणमें काममें लायी गयी सामग्री उस परमपुरुषके अवयवोंसे प्राप्त की गई है– "पुरुषावयवैरेते संभारा संभृता मया इति संभृतसंभारः पुरुषावयवैरहम् तमेवं पुरुषं यज्ञं तेनै-वायजमीश्वरम्" (भाग २।६।२६-२७).

यहीं (२।६।३०) ब्रह्माजीने यह खुलासा भी दिया है कि यह सम्पूर्ण विश्व भगवान् नारायणमें आहित है जो निर्गुण भगवान् सर्गादिमें मायाके

विविध गुणोंको स्वतएव स्वीकारते हैं. अतएव वे अजन्मा भगवान् आद्य पुरुषरूपतया स्वयमेव स्वयम्में स्वयम्का सृजन पालन तथा संहरण एकके बाद दूसरे कल्पमें करते रहते हैं. भगवान् केवल विशुद्ध (स्वेतरमायोपाधिरहित) सर्वान्तिर्यामी प्रत्यक् तथा सम्यक् अवस्थित होते हैं. वे सत्य पूर्ण अनादि-अनन्त निर्गुण (स्वेतरगुणरहित) नित्य अद्वय रूप होते हैं. ऐसे भूमा पर-ब्रह्मके आद्य अवताररूप पुरुष काल स्वभाव सदसत् मन द्रव्य विकार गुण इन्द्रियां विराट् स्वराट् चल अचल आदि सभी कुछ होते हैं.

इस तरह जडाजड़ सृष्टिमें भगवान्के स्वरूपतः अन्वय दिखलानेके बाद धर्मतः अन्वय दिखलानेकेलिए ब्रह्माजी कहते हैं–"जगत्में जितनी भी वस्तुएं ऐश्वर्य तेज इन्द्रियबल मनोबल, शरीरबल या क्षमा आदिसे युक्त हैं अथवा जो भी विशेष सौन्दर्य लज्जा, वैभव आदिसे युक्त रूपवान या अरूप तत्त्व हैं वे सभी परमात्मस्वरूप हैं.

इस तरह 'यद् एतद् तद् अहम्' सूत्रकी अन्वयविधिसे विवृत्ति हुई. इसके बाद प्रायः सम्पूर्ण सातवां अध्याय भगवान्के भूतलपर वाराहादि विविध लीलावतारोंके वर्णनपरक है. यह व्यतिरेकविधिसे "यद् एतद् तद् अहम्" सूत्रकी विवृत्ति है.

जब जगत्के प्रत्येक पदार्थ भगवान्के ही विविध नाम-रूप हैं तब लीला-वतारोंका असाधारण वैशिष्टय दुर्निरूप्य हो जाता है, यदि जागतिक नाम-रूप-कर्ममें हम भगवान्का केवल अन्वय ही माने तो. परन्तु अन्वयके साथ व्यतिरेक भी स्वीकारनेपर उस व्यतिरिक्त अंशसे पुनः लीलावतारत्वेन दिव्य नाम-रूप-कर्मधारणका वैशिष्टय समझनेमें कोई कठिनता नहीं रह जाती.

अतएव इस तत्त्वार्थदीपनिबन्धके मंगलाचरणमें महाप्रभुने अद्भुतकर्मा भगवान्की त्रिविध क्रीडाओंका वर्णन किया है.

(क) **यः क्रीडति** (अपने सच्चिदानन्द स्वभावको अंशतः भी तिरोहित किये बिना क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तमकी मूलरूपेण या लीलावतार-रूपेण क्रीडा).

(ख) **यः (विषयरूपं) जगद् भूत्वा क्रीडति** (जड़ वस्तुमें सदंशेन अनुप्रविष्ट परन्तु चिदानन्दांशेन अप्रविष्ट, जीवात्मामें चिदंशेन प्रविष्ट किन्तु आनन्दांशेन अप्रविष्ट भगवान्की क्रीडा).

(ग) **यतो (विषयतारूपं) जगत् क्रीडति** (सर्वांशेन अप्रविष्ट भगवान्की स्वशक्ति व्यामोहिका मायाद्वारा प्रदर्शित क्रीडा).

इस क्रीडाभेदको भलीभांति समझ लेनेपर अन्वयानुविधायिनी क्रीडा तथा व्यतिरेकानुविधायिनी क्रीडा के भेदको समझनेमें काठिन्य नहीं रह जाता.

'यः क्रीडति' के कल्पमें प्रकट हुए नाम रूप तथा कर्म तीनों ही दिव्य आनन्दात्मक ही होते हैं. अतः उनमें भगवान्का व्यतिरेक नहीं होता. केवल अन्वय रहता है.

"यः जगद् भूत्वा क्रीडति" कल्पमें आनन्दांश एवम् चिदंश के तिरोधानद्वारा अन्वय-व्यतिरेक दोनों ही घटित हो जाते हैं.

"यतो जगत् क्रीडति" कल्पमें मिथ्या आवरणपूर्वक मिथ्याभास व्यामोहिका मायाद्वारा प्रदर्शित होता है. अतः अन्वयरहित केवल व्यतिरेक ही होता है.

(३) इसी सातवें अध्यायके सैंतीसवे श्लोकसे ब्रह्माजीने "योवशिष्येत सोस्म्यहम्" सूत्रकी विवृत्ति की है. इसमें कल्कि-अवतारसे प्रलयलीलाका वर्णन प्रारंभ कर, भगवान्के अचिन्त्य अनन्त अपरिमेय गुणोंका वर्णन करते हुए अन्त (भाग. २।७।४७-४९) में प्रलयशेष भगवद्रूपका वर्णन किया गया है—"शश्वत्प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वं शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना, तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो ब्रह्मेति यद् विदुरजस्रसुखं विशोकम्...व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यतेऽजः".

इस प्रसंगमें यह कदापि भूल नहीं जाना चाहिये कि आगामी कल्पमें इसी रूपमें इसी रूपद्वारा पुनः स्वरूपात्मिका ही सृष्टि प्रकट होनेवाली है. और

यहाँ यदि माया बच नहीं जाती तो फिर सर्गादिमें पुनःवह आती कहाँसे है ? यदि इस अमायोपहित स्वरूपमें सृष्टिके अभिन्ननिमित्तोपादान बननेकी आत्मसामर्थ्यरूपा माया न स्वीकारें तो.

(४) चतुर्थ सूत्रके बारेमें अधिक विवेच्य न होनेसे पिष्टपेषण निरुपयोगी है.

(५) पंचम सूत्र "एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा" की विवृत्ति ब्रह्माजीने—"इस तरह विश्वभावन भगवान्के वर्णनरूपेण यह भागवत मैंने तुम्हें सुनायी. जो कुछ है वह हरिसे भिन्न नहीं है. न हरिके अलावा अन्य किसी कारणसे कुछ है. चाहे वह सत् हो या असत्. भगवान्की विभूतिका यह समासशैलीमें वर्णन है. अब तुम इसे विस्तारसे कहना. ऐसी तरह कि अखिलाधार सर्वात्मा भगवान् हरिमें मनुष्योंकी भक्ति प्रकट हो जाये." इन शब्दोंमें की है.

इस विवृत्तिसे सिद्ध होता है कि सूत्रवाक्योक्त तत्त्वजिज्ञासा भक्त्यर्थ है.

इस तरह द्वितीयोपदेशके बाद अब तृतीय-चतुर्थोपदेशके विमर्शकी ओर हमें अग्रसर होना पड़ेगा.

तृतीयोपदेशमें इन पाँच सूत्रोंका भाष्य

तृतीयोपदेश अथवा चतुर्थोपदेश के बाद आगेके उपदेशोंमें फिर अधिक विचारणीय नहीं रह जाता. ब्रह्माजीसे भागवतोपदेश ग्रहण करनेके बाद नारदजीने उसका भाष्य भगवान्की दशविध लीलाके रूपमें किया. जगत्में भगवद्भक्तिकी अभिवृद्धिकेलिए और उसे श्रीवेदव्यासको सुनाया. श्रीवेदव्यासने अठ्ठारह हजार श्लोकपरिमित समग्र भागवतकी रचना नारदोपदिष्ट दशविध लीलाओंके निजसमाधिमें दर्शनसंवादद्वारा की. इन दशविध लीलाओंके नाम तथा लक्षण एवम् पूर्वोत्तरभावसंगतिके विमर्शके बाद इनके सूत्रभाष्यभावपर विचार करना अधिक उपयुक्त होगा.

नामतः

(१) सर्ग, (२) विसर्ग, (३) स्थान, (४) पोषण, (५) ऊति, (६)

मन्वन्तर, (७) ईशानुकथा, (८) निरोध, (९) मुक्ति, (१०) आश्रय.

लक्षणतः तथा पूर्वोत्तरभावसंगतितः

(१) अशरीर विष्णुका पुरुषशरीर-स्वीकार सर्ग लीला है.
(२) पुरुषसे ब्रह्मादिकी सृष्टि विसर्ग लीला है.
(३) उत्पन्न रूपोंका तत्तत् मर्यादाके अनुसार पालन स्थान लीला है.
(४) स्थित रूपोंकी अभिवृद्धि पोषण लीला है.
(५) पुष्ट रूपोंका आचार ऊति लीला है.
(६) उनमें भी सदाचार मन्वन्तर लीला है.
(७) सदाचारमें भी विष्णुभक्ति ईशानुकथा लीला है.
(८) भक्तोंकी प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति निरोध लीला है.
(९) निष्प्रपञ्च भक्तोंको होता स्वरूपलाभ मुक्ति लीला है.
(१०) मुक्तोंका ब्रह्मस्वरूपमें अवस्थान आश्रय लीला है.

(सुबोधिनीके अनुसार)

मूलवचनतः

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् ।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ।।

भूतमात्रेन्द्रयधियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद् विसर्गः पौरुषः स्मृतः ।।

स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः ।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः ।।

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम् ।
पुंसामीशकथा प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ।।

निरोधोस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।।

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते ।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्दते ।।

योध्यात्मिकोयं पुरुषः सोसावेवाधिदैविकः ।
यस्तत्रोभयविच्छेदः स स्मृतोह्याधिभौतिकः ।।

एकमेकतराभावाद् यदा नोपलभामहे ।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ।।

(भाग. २।१०।२-९)

उपनिषद्में—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" वचनमें प्रतिपादित जन्म, जीवन, मुक्ति तथा प्रलय के उल्लेखसे ब्रह्मका लक्षण दिया गया है. तदनुसार भागवतमें भी तृतीय-चतुर्थस्कन्धोक्त लीला जन्मवर्णनपरक है. पंचम-षष्ठ-सप्तम-अष्टम-नवम-दशम-स्कन्धोक्त लीला जीवनवर्णनपरक है. एकादश-स्कन्धोक्त लीला मुक्तिवर्णनपरक है. इन नवविध लक्षणोंसे लक्षित आश्रय तत्त्व स्वयं अक्षरब्रह्म द्वादशस्कन्धोक्त प्रलयलीलाका अधिष्ठान है. यह नव-विध लीलाका लक्ष्य है. द्वादशस्कन्धमें वर्ण्य अक्षरब्रह्म पुरुषोत्तमका धामभूत भी है. अतः अक्षरब्रह्मात्मक व्यापिवैकुण्ठ लोकमें उसके काल-कर्म-स्वभाव-मायातीत होनेसे सभी कुछ अक्षरात्मक ही केवल होता है. अतः क्षर जगत्की अपेक्षासे उपादानकारण होनेके कारण अक्षरब्रह्म, क्षर जगत्की उत्पत्ति-स्थितिकी तरह प्रलयका भी अधिष्ठान माना जाता है. जैसे घट न केवल मृत्तिकामें उत्पन्न एवं स्थित ही होता है अपितु लीन भी वहीं होता है. क्षर जगत्का प्रलया-धिष्ठानभूत अक्षरब्रह्म पुरुषोत्तमका धर्मरूप होता है. जैसे सूर्यका धर्मरूप उसके चारों और फैला प्रभामण्डल होता है. पुरुषोत्तम साकार है और उसकी अपरिच्छिन्नता अक्षरब्रह्म है. अक्षरब्रह्म देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न है और उसकी साकारता पुरुषोत्तम है. अतएव द्वितीय स्कन्ध (भाग. २।९।१-१७)में वर्णित सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व ब्रह्माजीको दिखलाये गये भगवद्धाममें चलती सारी लीला अक्षरात्मिका नित्यलीला है. इस अर्थमें अक्षरब्रह्म भी

पुरुषोत्तमकी एक लीला है. और इसलिए दशविध लीलारूप लक्षणोंसे लक्षित पुरुषोत्तम समग्र भागवतका शास्त्रार्थ है. दशविध स्कन्धार्थ उस पुरुषोत्तमकी दशविध लीलायें हैं.

इन्हें ही ब्रह्मोपदेशके अवसरपर भगवान्ने (१) **अहमेवासमेव** . . . (२) **पश्चादहं यदेतद्** (३) **योवशिष्येत सोस्म्यहम्** सूत्रोंद्वारा प्रतिपादित किया था. "दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्" कह कर "योवशिष्येत सोस्म्यहम्" तथा "एतावदेव जिज्ञास्यं . . ." सूत्रोंका भी भाष्य यहाँ किया गया है. उपनिषद्के वचनमें जैसे 'प्रयन्ति' तथा 'अभिसंविशन्ति' पदोंकेद्वारा मुक्ति तथा प्रलय का वर्णन अभिप्रेत है, वैसे ही भागवतमें भी एकादश स्कन्धमें मुक्ति (आत्यन्तिक लय) का तथा द्वादश स्कन्धमें नैमित्तिक तथा प्राकृतिक प्रलयका वर्णन अभिप्रेत है .

यद्यपि यथोपलब्ध वर्णनके अनुसार आत्यन्तिक लय तथा प्राकृत प्रलयके बीच अन्तर बहुत दुर्बोध है . परन्तु शास्त्रप्रामाण्यवादिओंको यथाशास्त्र कुछ भेद स्वीकारना ही पड़ेगा. क्योंकि "अन्यथारूपके त्यागपूर्वक स्वरूपेण अवस्थान" मुक्ति हो तो उत्तरदल–'स्वरूपेण अवस्थान' अंशमें 'स्वरूप'का अर्थ आश्रयस्वरूप लेना कि नहीं यह विचारणीय है. पूर्वदल– 'अन्यथारूपत्याग' को तो लक्षणकोटीमें निविष्ट माना जा सकता है. परन्तु स्वरूपेण अवस्थान भी यदि लक्षणकोटीमें निविष्ट हो तो लक्ष्यकोटीमें उसके अतिरिक्त और क्या आ सकता है यह भी विचारणीय है.

प्राकृत प्रलयके अधिष्ठानरूप या आश्रयभूत परब्रह्मसे ही पुनः आगामी कल्पमें सृष्टिकी उत्पत्ति स्वीकारनी पड़ेगी. अतः उस समय माया प्रकृति परमाणु काल कर्म स्वभाव आदि किसी भी तत्त्वके सहयोग या साचिव्य सहित ब्रह्मसे सृष्टिकी उत्पत्ति स्वीकारनेपर वही उसका अबाधित–पारमार्थिक स्वरूप सिद्ध हो जायेगा . उसे यदि सूत्रमें "अहमेव आसमेव नान्यद् यत् सदसत्परम्" कहा गया है तो तदनुरोधसे उसे आश्रयस्वरूपान्तःपाती भी मानना पड़ेगा. इस तथ्यको कदापि विस्मृत नहीं करना चाहिए.

यों दशविध लीला अर्थात् आश्रयलीला भी ब्रह्माजीकी आज्ञाके अनुसार श्रीनारदजी-व्यासजी-शुकदेवजीने जगत्में भगवद्भक्तिकी अभिवृद्धिकेलिए कही हैं . न तो मुक्तिकेलिए और न आश्रयतत्त्वकी भक्तिरहित शुष्क अनुभूतिकेलिए ही. यह भी भूलना नहीं चाहिए.

इस खुलासाके बाद अब हम यह सरलतया समझ सकते हैं कि ये दशविध लीलाकथायें उल्लिखित पांच सूत्रोंकी ही भाष्यरूपा हैं.

प्रथम सूत्रका भाष्य

(१) "**अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत्सदसत्परम्**" सूत्रके भाष्यकी अवतरणिकारूप व्याख्या तृतीयादि उपदेशमें सर्ग-विसर्गलीलाके वर्णनसे भी पहले मिलनी शुरू हो जाती है.

द्वितीय स्कन्धके अष्टमाध्यायके प्रथम श्लोकसे छब्बीसवें श्लोक तक : सृष्टिसे पूर्वकालिक ब्रह्मके स्वरूप, सृष्टयुत्पत्तिरीति, स्थिति, बन्धमोक्ष-व्यवस्था एवम् प्रलय आदि अनेक विषयोंकी जिज्ञासा भगवद्भक्तिकी अभिवृद्धिकेलिए परीक्षितद्वारा की गई वाणत हुई है . अन्तमें "ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो विष्णुरातेन संसदि प्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसंमितम्, ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं ब्राह्मकल्प उपागते" वचनद्वारा भाष्यारंभ हुआ है.

श्रीशुक अग्रिम नवमाध्यायके प्रारंभमें यह कहते हैं कि स्वप्नद्रष्टा अन्तरात्मा तथा बाह्यार्थतया दृष्ट स्वप्नदृष्ट पदार्थोंके बीच आत्यन्तिक द्वैतघटित विषय-विषयीभाव नहीं होता. अतः स्वप्नदृष्ट अर्थका स्वप्नद्रष्टा आत्माके साथ सम्बन्ध आत्ममायाघटित ही स्वीकारना पड़ता है. उसी तरह स्वयंप्रकाश अनुभवात्मा परब्रह्मका स्वप्रकाश्य जड़जीवरूप विषयके साथ सम्बन्ध भी स्वकीय सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाके बिना उपपन्न नहीं हो सकता है. बहुरूपा मायाके साथ क्रीडामें रत होनेपर वह अद्वय एकरूप परमतत्त्व भी अनेकरूपों जैसा लगता है . इन अनेक माया-परिग्रहीत रूपोंको 'मम' कहा जाये तथा सहजसिद्ध अद्वयैक-स्वरूपको 'अहम्' कहा जाये इतना भेद दोनोंके बीच होता नहीं, फिरभी वह स्वयमेव ऐसा भेद मानकर ही क्रीडामें प्रवृत्त होता

है. फलतः भेद घटित हो जाता है. क्योंकि वह सत्यसंकल्प है. परन्तु जब स्वमहिमा अर्थात् स्वधाममें, जो काल तथा माया से परे है, वह रमण करना चाहता है तब वह काल-मायाके साथ रमणके मोहका त्याग कर इन दोनों शक्तियोंका प्रयोग भी रमणमें स्थगित कर देता है.

ब्रह्माजीके निष्कपट व्रतका आदर करनेवाले भगवान्ने अपने इस कालमायातीत स्वरूपात्मक धामका दर्शन ब्रह्माजीको सृष्टिसे पहले दिया था (भाग. २।९।१-४).

इसके बाद श्लोक (९) से प्रारम्भ कर श्लोक (१६) तक उस काल-मायातीत दिव्य आनन्दात्मक भगवद्धामका वर्णन है. जिसका दर्शन पाकर ब्रह्माजीने सृष्टिकी रचना की. इस भगवद्धामका वर्णन न तो विक्षेपरहित आवरण अथवा न आवरणरहित विक्षेपके रूपमें हुआ है. न यह भगवद्धाम ब्रह्माजीकी द्वैतघटित भक्तिमयी उपासनावाली आहार्यबुद्धिके रूपमें वर्णित हुआ है और न ब्रह्माजीको भगवान् द्वारा दिखाये गये किसी जादुई तमाशेके रूपमें ही वर्णित हुआ है. यह वर्णन लौकिक काव्योंकी रूपकादि अलंकारोंवाली भाषा जैसी भाषामें भी वर्णित नहीं हुआ है. बावजूद इसके इस स्वधामके वर्णनमें भगवान्के दिव्य रूप-रंग-आकृति-गुण-धर्म-कर्म-वस्त्र-आभूषण-पत्नी-पार्षद-भक्त-सिंहासनादिका वर्णन हुआ है. वहाँ भी भगवान्को प्रकृति-पुरुष-महद्-अहंकार-एकादशेन्द्रिय-पंचतन्मात्रा-पंचमहाभूतरूपा पंचविंशतिसंख्याक शक्तिओंसे आवृत भी ब्रह्माजीने पाया. और इतने सारे रूपगत द्वैतोंके बावजूद उस दिव्य धामको काल-मायातीत भी पाया !

यह स्पष्ट है कि इन सभी द्वैतघटित रूपोंमें भगवान्के व्यतिरेकरहित केवल अन्वयात्मक सम्बन्धको माने बिना कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता. महाप्रभुके अनुसार यह सच्चिदानन्द परब्रह्मकी, अपने सदंश चिदंश या आनन्दांश मेंसे किसी भी अंशके तिरोधान बिना सम्पन्न होती, नित्य आत्मक्रीडा है. इस तरह **"यः क्रीडति"** का कल्प यहाँ वर्णित हुआ है. ऐसी क्रीडाके दर्शन ब्रह्माजीको आत्मतत्त्वकी विशुद्धिके हेतु कराया गया था यह–"आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं यदाह

भगवानृतं ब्रह्मणे दर्शयन रूपम्" (भाग. २।९।४) वचनमें वर्णित हुआ है.

अतः 'आत्मतत्त्वशुद्धि' या 'दशम आश्रयतत्त्वकी शुद्धि' कहो दोनोंका अर्थ एक ही रहता है. "अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्" का भाष्य आत्मतत्वविशुद्धि' पद द्वारा हुआ है. तथा "योऽवशिष्येत सोस्म्यहम्" का, भाष्य "दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्" वचनद्वारा हुआ है. अर्थतः अतः एक ही रूप उभयत्र वर्णित हुआ है. और हम देख सकते हैं कि इस आत्मतत्त्वकी विशुद्धिके बाद ब्रह्माजी न तो सृष्टिव्यापारसे विरत हुए और न भगवद्भक्तिसे ही. यह–"तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो हृष्यत्तनुः प्रेमभराश्रुलोचनः ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसृग्यत्पारमहंस्येन पथाधिगम्यते" (२।९।१७) तथा "तं प्रीयमाणं समुपस्थितं तदा प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणम्" (वहीं २।९।१८) इन दो वचनोंद्वारा सिद्ध होता है. अतः आश्रयशुद्धि नैष्कर्म्योपदेशार्थ नहीं अपितु भगवत्कर्मोपदेशार्थ है .

अतः "दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्" भाष्य, ब्रह्मोपदिष्ट "इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितं संग्रहोयं विभूतीनां त्वमेद्विपुलीकुरु यथा हरो भगवति नृणां भक्तिः भविष्यति" वचनरूपा वृत्तिके; तथा भगवदुपदिष्ट "योवशिष्येत सोस्म्यहम्" तथा "एतावदेव जिज्ञास्यं तत्वजिज्ञासुनात्मनः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा" इन दोनों सूत्रोंके सर्वथा अनुरूप ही है.

इस एकवाक्यताको अच्छी तरह समझ लेनेपर तृतीय स्कन्धके प्रारम्भमें आते सर्गादिकालीन परमात्माके वर्णनके बारेमें अधिक कुछ विवेच्य नहीं रह जाता. फिरभी संवादार्थ पांच-छह श्लोक उद्धृत करनेका लोभसंवरण नही हो पा रहा है.

यथा–

अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः ।
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्थाः वर्णयाम्यनुपूर्वशः ।।

भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः ।
आत्मेच्छानुगतावात्मानानामत्युपलक्षणः ।।

स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट् ।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ।।

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।
माया नाम महाभागा ययेदं निर्ममे विभुः ।।

कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः ।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ।।

ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात्कालचोदितात् ।
विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः ।।

यहाँ दृश्यनिरपेक्ष द्रष्टा एवम् दृक्शक्ति की विद्यमानता, दृश्यकी अनुपस्थिति, दृश्योपस्थापिका शक्तिके सुप्त होनेका उल्लेख, सुप्तावस्थावाली शक्ति तथा शक्तिमान आत्मा का तादात्म्य, सदसदात्मिका मायाका द्रष्टाकी शक्तिके रूपमें उल्लेख, जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-लयमें उसकी करणता इत्यादि सभी निरूपण पूर्ववर्णित तथ्योंसे सुसंगत ही हैं. अतः दृष्टि तथा दृश्य के साथ परमात्माका प्रारम्भमें केवल अन्वय ही था यह सिद्ध होता है.

द्वितीय सूत्रका भाष्य

(२) **"पश्चादहं यदेतत्"** सूत्रको थोडा सरल बनाना हो तो **"यद् एतद् तद् अहम्"** में रूपान्तरित किया जा सकता है.

यह सूत्रवाक्य विभिन्न सम्प्रदायोंमें विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त होता है.

यथा–

केवलाद्वैतवाद = यद् एतद् तदधिष्ठानोहम्
विशिष्टाद्वैतवाद = यद् एतद् तद्विशिष्टोहम्
केवलद्वैतवाद = यद् एतद् तत्कर्ता/तन्नियामकः/तदाधारो अहम्

महाप्रभुकी वेदान्तव्याख्यारीतिके अनुसार "एतद् = अहम्" पदोंका सामानाधिकरण्य एक नहीं अनेकरूपोंमें सम्भव है. यथा—द्रष्टृ-दृश्यभाव कर्तृ-कार्यभाव द्रव्य-नामरूपभाव उपादान-उपादेयभाव आधार-आधेयभाव

अन्तर्यामि-शरीरभाव नियामक—नियम्यभाव भोक्तृ-भोग्यभाव व्यापक-व्याप्यभाव प्रकाश-प्रकाश्यभाव आदि अनेक रूपोंमें सामानाधिकरण्य न केवल सम्भव है अपितु उपनिषदादि शास्त्रोंमें तत्तत् स्थलोंमें प्रतिपादित भी है ही.

उपनिषदोंका तो यह प्राणभूत उपदेश है. अतः कुछ उपनिषद्वचनोंको मूलरूपेण देख लेना यहाँ उचित होगा. कभी सन्देहनिराकरणार्थ अपेक्षित अनुवाद भी संक्षेपमें देनेका प्रयास करेंगे.

'यदेतत्तदहम्' उपनिषदमें

तैत्तिरीयारण्यक (१।२३।९) में– "विधाय लोकान् विधाय भूतानि विधाय सर्वाः प्रदिशो दिशश्च. प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य *आत्मनात्मानम्* अभिसंविवेश."

तैत्तिरीयोपनिषद् (३।६) में– "सोऽकामयत. वहुस्यां प्रजायेयेति. स तपोऽतप्यत. स तपस्तप्त्वा. इदं सर्वमसृजत. यदिदं किंच तत्सृष्ट्वा **तदेवानुप्राविशत्** तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्, निरुक्तं चानिरुक्तं च, **निलयनं** चानिलयनं च, विज्ञानं चाविज्ञानं च, सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्. यदिदं किंच तत् सत्यम्".

छान्दोग्योपनिषद् (३।१४।१) में– "सर्वं खलु इदं ब्रह्म"

वहीं (६।१।४) "यथा सोम्यैकेन मृत्पिडेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्. वाचारंभणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इति एव सत्यम्. अर्थ : **जैसे** एक मृत्पिण्डको जान लेनेपर सारेके सारे मृण्मयों (मयट्, विकारार्थक है अतः मृद्विकारों)का ज्ञान हो जाता है. क्योंकि मिट्टीके घडेको 'मृद्विकार' **कहना तो** कहने भरकी बात है. मिट्टीके घडेका सच्चा नाम तो 'मृत्तिका' (**'इति'** पद शब्दस्वरूपवाचक) ही है. अर्थात् इसी तरह 'एतद्' का **सच्चा नाम** 'अहम्' ही है.

वहीं (६।२।१–२) में– "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्. **तद्धैक** आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत. कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति कथमसतः सज्जायेतेति. सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-

द्वितीयम्. तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति" अर्थ : "यह पहले भी सत् ही था एकमेव अद्वितीय. कुछ लोग कहते हैं कि यह पहले असत् था और असत्से फिर सत् बन गया. परन्तु असत्से सत् कैसे बना जा सकता है. अतः कहना पडेगा कि पहले भी यह सत् ही था. एकमेव अद्वितीय. उसने चाहा कि वह अनेक बन जाये" इससे स्पष्ट है कि जगत् न केवल स्थितिकालमें अपितु उत्पत्तिसे प्राक्कालमें भी सत् ही था. यह जो जगत् दिखलाई देता है वह ब्रह्म था एकमेव अद्वितीय, है भी और रहेगा भी. स्थितिकालमें सत्ताका विधान अधिगतार्थका उपदेश होनेसे शांकर मतमें अप्रमाण माना जा सकता है. परन्तु उत्पत्तिसे प्राक्कालमें भी जगत्के सत् होनेका उपदेश तो सर्वथा अनधिगतार्थका ही उपदेश है, प्रमाणरूप.

वहीं (६।८।७)में–"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि". अर्थात् यह दृश्यमान बाह्यार्थ तथा द्रष्टा अन्तरात्मा दोनों ही समानरूपेण ब्रह्मात्मक हैं. एक बाधार्थसामानाधिकरण्यवश तथा अन्य वास्तविकतया ऐसा भेद श्रौत नहीं है.

बृहदारण्यकोपनिषद् (१।६।१-३)में–"त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म..... ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि...कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयमात्मा आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्".

वहीं (७।१।१) में–"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते. पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" अर्थात् जैसे वह ब्रह्म है ऐसे यह दृश्यमान भी ब्रह्म है. ब्रह्मसे ब्रह्मका प्रादुर्भाव होता है. ब्रह्ममें ब्रह्मात्मक-जगत्के लीन हो जानेपर ब्रह्म ही बचा रहता है.

श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।१२) में–"एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचिद् भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्."

ऐसे अनेक श्रुतिवचनोंके आधारपर (श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा) "**यद् एतद् तद्अहम्**" सूत्रकी महत्ता समझी जा सकती है.

इस तृतीयोपदेशमें स्थानलीला पोषणलीला ऊतिलीला मन्वन्तरलीला ईशानुकथालीला तथा निरोधलीलाओं का वर्णन इसी "यद् एतद् तद् अहम्" का सुरुचिर भाष्य है. एक ऐसा भाष्यकी जिसे सुननेके सच्चे अधिकारी कभी विषयासक्ति या मुक्ति की झंझटमें फसना नहीं चाहते. भागवत (१०।८७।२१) में यह कहा गया है कि दुर्बोध्य आत्मतत्वके ज्ञापनार्थ जब भगवान् भक्तमनोहर विग्रह धारण कर भूतलपर प्रकट होते हैं; तथा भक्तके हृदयमें अपनी लीला-कथाओंका सागर छलका देते हैं, तब लौकिक विषयोंमें आसक्तिको छोड़ देनेवाले कुछ विरले परमहंस मुक्तिका मोह भी तोड़ कर, उसी लीलाकथामृतके महार्णवमें तैरते रहना चाहते हैं !

बस यही तो भागवतोपदेशका परम एव चरम तात्पर्य है. यही दशम तत्त्व आश्रयकी परम विशुद्धि है. अन्य शुद्धिके प्रकार अप्रमाणिक नहीं किन्तु सच्चे भक्तको अनभीष्ट हैं; सभी भागवतोपदेष्टा सर्वश्री भगवान् नारायण, ब्रह्मा, व्यास, शुक, मैत्रेय या सूत आदिके तात्पर्यसे बहिर्भूत भी हैं.

भागवत भक्त्यर्थ है तथा भक्ति ही भागवतार्थ है. भक्तिरसकी अनुभूतिके लिए ब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण बन गया. भक्तिरसकी अनुभूतिकेलिए ब्रह्ममेंसे जीवात्मा व्युच्चरित होती है. अतएव भागवतके प्रारम्भ (१।८।२०) में कहा गया है कि "भगवान्का भूतलपर प्राकट्य भक्तियोगविधानार्थ है. भागवत उन लीलावतारोंकी कथाओंके गानार्थ मुख्यतया प्रवृत्त हुई है. उस लीलागानमें उपयोगी जगद्ब्रह्मतादात्म्य-विज्ञानके तथा तन्मूलक विषयवैराग्यके आनुषंगिक उपदेश भी भागवतमें भगवल्लीलाकथाओंके अंगतया अन्यान्य कथाओंद्वारा दिये गये हैं (द्रष्टव्य भाग. १२।३।१४). मुख्यता तो किन्तु भगवल्लीलाकथाओंकी ही है.

भागवतका श्रवण-कीर्तन-चिन्तन करनेवाले किसी भी व्यक्तिकेलिए यह अतिरोहित है कि भागवतके भीतर दशमस्कन्धवर्णित निरोधलीलाका महत्त्व कितना अधिक है. इस महत्त्वानुरोधवश थोडा-कुछ निरोधलीलाका विमर्श भी प्रासंगिक ही होगा.

निरोधलीला

"दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्" विधानके कारण व्याख्याकारोंमें परस्पर प्रचुर वैमत्य हो गया है.

विभिन्न व्याख्याकारोंके मतमें 'निरोध' का अर्थ, दुष्टदमन, असुरसंहार, भूभारहरण, योगनिद्रा तथा प्रलय यों विभिन्न रीतिसे किया गया है.

भक्तियोगविधानार्थ अवतीर्ण भगवान्द्वारा दुष्टदमन भूभारहरण या असुरसंहार या तो धर्मसंस्थापनार्थ या भुक्तिवितरणार्थ माने गये हैं. वह सभी स्कन्धोंमें भगवान्के सभी लीलावतारोंकी कथा है. तब निरोधलीलाकथाकी कोई अपूर्वता नहीं आती.

जहाँ तक 'निरोध' का योगनिद्रा या प्रलय अर्थ किया जाता है तो उसका दशमस्कन्धमें कहीं वर्णन ही उपलब्ध नहीं होता ! अतएव घबराकर कुछ लोग दशमस्कन्धमें निरोधलीलाका वर्णन न मानकर आश्रयलीलाका वर्णन स्वीकारते हैं; तथा निरोधलीलाको बारहवें स्कन्धका विषय मान लेते हैं. यह गडबड़ हुई है "निरोधोस्यानुशयनम् आत्मनः सह शक्तिभिः" लक्षणमें 'अस्य आत्मनः' तथा 'अनुशयनम्' पदोंके स्पष्ट स्वारस्यपर दुर्लक्ष्य करनेसे.

यदि 'अस्य आत्मनः' का अर्थ जीवात्मा लेते हैं तो जीवात्माकी योगनिद्राका कहीं वर्णन नहीं हुआ है. दशमस्कन्धमें जीवात्माकी देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण रूप शक्तियोंका अनुशयन, जिन्हें सायुज्य-मुक्तिका दान दिया गया है उनके बारेमें, तो स्वीकारा जा सकता है. परन्तु जिन व्रजभक्तोंकी या मथुरास्थित द्वारकास्थित और अन्यत्र स्थित भक्तोंकी भी मुक्तिका वर्णन नहीं हुआ है, उनका वर्णन दशमस्कन्धमें या तो आनुषंगिक या अर्थहीन मानना पड़ेगा. अतः 'अस्य आत्मनः' का अर्थ प्रकृतपरामर्शितया सर्गादि-लीलाकारी परमात्माके रूपमें ही लेना उचित है. 'अनुशयन' का अर्थ भी योगनिद्रा मुक्ति या प्रलय करनेपर आगामी एकादश द्वादश स्कन्धोंकी लीलाका वर्णन प्रयोजनहीन बन जाता है. अतः 'अनुशयन' के अर्थको समझनेकेलिए श्वेताश्वरोपनिषद् (४।५) के

"अजो ह्येको जुषमाणोनुशेते" प्रयोगपर ध्यान देना आवश्यक है. यहाँ संसारी जीवकी सुषुप्ति या मुक्ति का वर्णन नहीं किन्तु प्राकृत विषयोंके उपभोगके अनुकूल स्थितिका वर्णन ही अभिप्रेत लगता है.

भगवान्ने भी दिव्यरूपेण जन्मग्रहण करके भी पुनः उस दिव्य चतुर्भुज रूपको उपसंहृत कर प्राकृत शिशु जैसा वपु धारण किया ऐसा वर्णन जन्मप्रकरणमें उपलब्ध होता है (द्रष्टव्य भाग. १०।३।४६). प्राकृत वपु धारण कर प्राकृत जनोंके बीच प्राकृत विषयोंके उपभोगानुकूल भगवान्ने व्रजमथुरा एवम् द्वारका आदि स्थानोंपर लीला की. यह लीला किन्तु अपनी द्वादशविध आत्मशक्तियों को साथ रखते हुए की. इसे ही 'अनुशयन' कहा गया है. उन्हें तिरोहित कर नहीं. अतएव यह कहा गया (भाग.२।७।३१) है कि दिनमें अपना-अपना कार्य कर रातमें थककर सो जानेवाले गोकुलवासियोंके बीच भगवान्ने अपना वैकुण्ठ प्रकट कर दिया था. अतः उक्त लक्षणका सच्चा अनुवाद यों करना चाहिये "इस सर्गादि लीलाके करनेवाले भगवान्का आत्मशक्तियोंके साथ भूतलपर प्रकट होकर प्राकृत पुरुषकी तरह प्राकृत विषयोंके उपभोगानुकूलतया स्थित होना निरोध है."

आप्तकामका माखन चोरी करना निरोध है. आत्मारामका व्रजगोपिकाओंके साथ रमण करना निरोध है. रागद्वेषादिरहित सर्वात्मा भगवान्का वृन्दावनमें अपने सखाओंकी रक्षाकेलिए असुरोंका संहार करना निरोध है. यह 'निरोध' पदका अर्थ "श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा" है. क्योंकि भगवान्ने स्वीकारा है– "समोहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्" (गीता. ९।२९) भक्त भगवान्केलिए जन्म लेते हैं भगवान् भक्तकेलिए !

परमात्मा अपनी आत्मरति आप्तकामत अधोक्षजता आदि मर्यादाओंको तोड़कर जीवात्माओंके बीच उनकी ही तरह, अपनी समग्र दिव्य शक्तियोंके साथ प्रकट हो जायें तो, वह भगवान्का भक्तमें निरोध है. इसे 'साधननिरोध' कहते हैं. ऐसे प्रकट भगवान्के दिव्य रूप-गुण-आकृति-कृति आदिके दर्शन पा कर

भक्त जब प्रपंचासक्तिसे छुटकारा पाकर अनन्यतया भगवदासक्तिका लाभ पाता है तो उसे 'फलनिरोध' कहा जाता है. इस फलकी सिद्धि भूतलपर प्रकट भगवान्के लीलाव्यापारसे होती है. अतः भूतलपर भगवान्की लीलाको 'व्यापारनिरोध' कहा जाता है. "शय्यासनाटनालापस्नानक्रीडाशनादिषु न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः" (भाग. १०।१०।४६) तथा "तन्मस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः" (भाग. १०।३१।४३) इन वचनोंमें फलात्मक मुख्य निरोधका वर्णन हुआ है.

नवमस्कन्धमें भक्तोंका वर्णन हुआ है. अतः पूर्वोत्तरकथासंगतिके विचारसे भक्तोंका निरोध मुख्य निरोध है. फलतः भगवदासक्तिसाधिका लीला मुख्य निरोधरूपा लीला है. परन्तु आनुषंगिकतया मुक्तिसाधिका लीला भी निरोध लीला हो सकती है. प्रभुने भूतलपर जन्मग्रहणसे पूर्व ही ऐसे आनुषंगिक निरोध (प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवद्भीतिप्रयुक्त चित्तकी भगवदेकतानता) को सिद्ध किया था ऐसा वर्णन "आसीनः संविशन् तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम् चिन्तयानो हृषीकेशम् अपश्यत् तन्मयं जगत्" (भाग. १०।२।२४) वचनमें हुआ है. कंसको भक्ति न देकर मुक्ति दी गई थी. अतः यह भगवान्की गौण निरोधलीला है.

"यद् एतद् तद् अहम्" के तादात्म्यकी अनुभूति केवल ज्ञानसे ही नहीं अपितु काम क्रोध भय द्वेष सौहृद सम्बन्ध स्नेह आदि सभी तरहकी वृत्तियोंसे संभव है, यह दिखलाकर भागवतमें औपनिषद उपदेशका कितना अद्भुत लीलाकथात्मक भाष्य हुआ है ! यह हम इस वचनमें देख सकते हैं : "कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते" (भाग. १०।२९।१५). यह पुरुषोपायतया नहीं किन्तु पुरुषोत्तमोपायतया वर्णित हुआ है.

तृतीय सूत्रका भाष्य :

(३) **"योऽवशिष्येत सोस्म्यहम्"** सूत्रका भाष्य मुक्तिलीला तथा आश्रयलीला के रूपमें हुआ है.

हमने देखा कि सृष्टि दो तरहकी प्रकट हुई है : जड बाह्यार्थ तथा चेतन-अन्तरात्मा. मुक्तिलीला जड़रूपके साथ नहीं किन्तु जीवरूपके साथ भगवान् करते हैं. जीवात्माका प्राकट्य आनन्दांशके तिरोधानद्वारा सम्पन्न किया गया है. उस जीवात्मामें आनन्दांशका प्राकट्य होते ही अन्यथारूप उसका छूट जाता है. जीव पुनः स्वरूपस्थ सच्चिदानन्दात्मक हो जाता है. "मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" मुक्तिके भागवताभिमत पांच प्रकार हैं.

(१) सालोक्य
(२) सार्ष्टि
(३) सामीप्य
(४) सारूप्य
(५) सायुज्य-एकत्व.

परमात्मामेंसे व्युच्चरित होनेपर एकत्वका तिरोधान तथा द्वित्वका आविर्भाव होता है. व्युच्चरित अंशमें किन्तु जब तक आनन्दांशका तिरोधान नहीं होता तब तक उस अंशमें दिव्य आनन्दाकारका सारूप्य रहता है. आनन्दांशके तिरोधानसे सारूप्य तिरोहित हो जाता है. फिरभी जब तक जीव भगवत्सामीप्यसे वंचित नहीं होता तब तक अविद्या उसे प्रभावित नहीं कर पाती. अतः सामीप्यके तिरोधानके बाद उसमें भगवान्के ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य गुण भी तिरोहित हो जाते हैं. परिणामरूपेण अविद्याका प्रभाव जीवपर पड़ता है. तब वह दिव्य भगवद्धामसे प्राकृत जगतमें जन्मग्रहण करता है.

इसीके व्युत्क्रमशः सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य तथा अन्तमें सायुज्य या एकत्व के लाभ रूप पंचविध क्रमिक मुक्तियोंका वर्णन हुआ है. यह "यत्प्रयन्ति" में वर्णित प्रकार है. भगवद्धाममें सालोक्यादि मुक्ति आनन्दांश के प्राकट्यद्वारा सम्पन्न हुई होनेसे इन विविध रूपोंके साथ भगवान्का व्यतिरेकरहित नित्य अन्वयरूप सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है. यह हमने पहले भी कई बार समझा दिया है. इसे 'आत्यन्तिक लय' कहते हैं. यह एक प्रकार है "योवशिष्येत सोस्म्यहम्" का.

नैमित्तिक तथा प्राकृतिक प्रलय द्वादश-स्कन्धीय लीला है. वह दूसरा प्रकार है "योवशिष्येत सोस्म्यहम्" का. इस विषयमें पुनः कुछ विस्तृत विमर्शकी अपेक्षा है. नित्यलयको तथा नैमित्तिकलयको प्रकृत प्रसंगमें अनावश्यक होनेसे हम छोड़ देना चाहेंगे.

आश्रयलक्षणमें आश्रय तत्त्वको दो तरहसे परिभाषित किया गया है :

(१) विषयतासृष्टिके विवर्तोपादानत्वेन या अधिष्ठानत्वेन

(२) विषयसृष्टिके परिणाम्युपादानत्वेन या अंशित्वेन.

(१) पूर्ववर्णित आवरण तथा अन्यथाप्रतीति रूप विषयताका आभास जिस ब्रह्मरूप अधिष्ठानपर, जिन भगवान्‌की व्यामोहिका मायाके कारण होता है; तथा जिस ब्रह्मके ज्ञानसे वह विषयता निरुद्ध हो जाती है, वह परब्रह्म परमात्मा ही आश्रय है : "आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते". ब्रह्मज्ञानीको ब्रह्मका अभान या अन्यथाभान नहीं होता.

किन्हीं व्याख्याकारोंको साम्प्रदायिक अत्याकारितावश इस लक्षणमें प्रयुक्त 'आभास' पदका अर्थ नवविध लीलायें लगती हैं. ऐसी स्थितिमें 'निरोध' दशमस्कन्धीय लीलाका वाचक नहीं रह जायेगा. उस स्थितिमें जब नवविध लीलाके साथ समभिव्याहृत 'निरोध' पद दशमस्कन्धीय लीलाका वाचक न हो तो, असमभिव्याहृत 'आभास' पदको इन नवविध लीलाओंके वाचक माननेमें भी कोई विनिगमना नहीं रह जाती. यदि दशमस्कन्धीय लीलाको 'आभास' पदसे विवक्षित न माना जाये तो वह मिथ्या-मायिक भास नहीं रह जायेगी. श्रीमधुसूदन सरस्वती प्रभृति कुछ विद्वान् भगवद्रूपको तो 'सच्चिन्मयी नीलिमा' मान लेते हैं, परन्तु व्रज-व्रजभक्त-व्रजलीलाको या इसी तरह मथुरा आदि स्थल-भक्त-लीलाओंको अमायिक नहीं मानते, अर्ध-जरतीय वृत्तिसे. अतः असमंजस हो जाता है. कृष्णलीलाको आभाससे पृथक् अर्थात् आभासका निरोध मान लेनेपर, इतर लीलावतारोंमें वैषम्यबुद्धिका भी कोई नियामक सामने आता नहीं है.

(२) अक्षरब्रह्म आश्रय है, विषयसृष्टिके परिणाम्युपादानत्वेन; क्योंकि परिणाम्युपादानमें उपादेय कार्य प्रकट होता है, स्थित होता है तथा लीन भी होता है. विवर्तोपादान या निमित्तकारण में नहीं. द्वैतवादी वेदान्तिओंकी तटस्थ आधारकारणकी कल्पनामें द्वैत अपरिहार्य होनेसे अद्वैत प्रसंगमें उसकी चर्चा अनावश्यक है.

इस विषयसृष्टिके दो भेद बाह्यार्थ तथा अन्तरात्मा दिखलाये गये हैं. अन्तरात्मामें दैवी सृष्टि मुक्तिकी अधिकारी होती है. अतः इन्हें बाह्यार्थ सृष्टिके प्रलयसे पहले भी मुक्तिलीलाद्वारा आश्रयोपलब्धि होती है, भक्ति-द्वारा अथवा ज्ञानद्वारा. भक्तोंको भगवत्प्रपत्तिकी क्रियाद्वारा 'तवाहम्' या 'मम त्वम्' भावके अनुसार सालोक्यादि चतुर्विध मुक्तिद्वारा भजनानन्दात्मिका आश्रयभावापत्ति सिद्ध होती है. ज्ञानीको ज्ञानके 'सोहम्' भावके अनुरूप अक्षर-सायुज्यरूपा मुक्तिद्वारा ब्रह्मानन्दात्मिका आश्रयभावापत्ति सिद्ध होती है.

परन्तु जो आसुरी सृष्टिके जीव मुक्तिके अनधिकारी हैं उनको तथा जड़ सृष्टिके अन्तर्गत प्रकृति तथा प्राकृत तत्त्वोंको, प्राकृतिक लयके समय आश्रय-भावापत्ति सिद्ध हो जाती है.

इसीका वर्णन करते हुए यह कहा गया कि जो आध्यात्मिक पुरुष है वह आधिदैविक पुरुष ही तो है. फिरभी इन दोनोंमें आधिभौतिक पुरुष विच्छेद कर देता है. श्वेताश्वतरोपनिषद्‌की भाषामें कहें तो आधिभौतिक पुरुष भोग्य है, आध्यात्मिक पुरुष भोक्ता है तथा आधिदैविक पुरुष प्रेरिता है (सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्).

एकादश स्कन्धमें प्रतिपाद्य आत्यन्तिक लयरूप विदेहमुक्तिके सालोक्य आदि प्रकारोंमेंसे किसी भी एक प्रकारसे भगवद्धाम अथवा सायुज्यके लाभ होनेपर मुक्तात्मामें आध्यात्मिक भोक्तृभाव तिरोहित हो जाता है, फलतः आधिभौतिक भोग्य देहादि पदार्थोंकी उपलब्धि होनी भी बन्द हो जाती है (यदा एकतराभावे एकं न उपलभामहे). इसी तरह द्वादश स्कन्धमें प्रति-पाद्य प्राकृतिक लय अर्थात् पांचभौतिक तत्त्वोंसे प्रारम्भ कर त्रिगुणात्मिका

प्रकृति पर्यन्त सभी आधिभौतिक भोग्य पदार्थोंके अक्षरब्रह्ममें प्रलीन हो जानेपर सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशोंमें आधिभौतिक भोग्यभाव तिरोहित हो जाता है, फलतः अमुक्त आध्यात्मिक भोक्ता जीवात्माओंकी भी तब उपलब्धि होनी बन्द हो जाती है. क्योंकि वे भी भोग्य न रहनेसे भोक्तृभाव त्यागकर पहले समष्टि पुरुषमें तथा तद्द्वारा अक्षरब्रह्ममें लीन हो जाते हैं (यदा एकतराभावाद् एकं न उपलभामहे). ऐसी अवस्थामें कि जब त्रिविध जड जीव या अन्तर्यामी रूप पृथक्तया न रह कर स्वयम्में लीन हो जाते हैं तब भी अर्थात् उनकी ऐसी प्रलीनताकी अवस्थामें (तत्र) भी स्वाश्रयाश्रयरूप परमात्मामें तीनों रूपोंका ज्ञान रहता ही है (त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः). प्रलयकालमें इस ज्ञानके अभावमें परमात्मा आगामी कल्पमें सृष्टिकर्ता बन नही पायेगा.

इस तरह इस "एकमेकतराभावाद् यदा नोपलभामहे त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रय" (भाग. २।१०।९) के स्फुट अभिहितार्थके विमर्श करनेपर मुक्तोपसृप्य तथा प्रलयशेष परमात्माके आश्रयरूपको सरलतासे समझा जा सकता है. फिरभी कुछ विद्वान श्रुत '(दोमेंसे)एकतर' पदके स्थानपर अश्रुत '(तीनमेंसे)एकतम' पदकी भावनासे अभिभूत होकर व्यर्थ ही इस कारिकाका दुरूह व्याख्यान करते हैं कि "तीनमेंसे एक भी न रहनेपर तीनों ही नहीं रह जाते. अतः जडजीवेश्वरका द्वैतप्रपञ्च केवल मिथ्या प्रतिभास है. परमात्मा तो इस मिथ्या प्रतिभासका निर्विकार साक्षी शुद्ध चैतन्य मात्र है".

इनका गणित (३−१=०) के समीकरणका विचित्र उदाहरण है !

परन्तु महाप्रभुकी व्याख्यारीति इस प्रसंगमें बडी सावधानीसे विचारणीय है. महाप्रभु गीतोक्त "नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः" सिद्धान्तके अनुसार सत्यसंकल्प सर्वभवनसमर्थ तथा बाधानर्हज्ञान रूप परमात्मामें प्रकट हुए जड जीव तथा ईश्वर रूपोंकी स्थितिकालमें सत्ताके अनुरोधवश प्रलय कालमें भी इनका अभाव न मानकर केवल तिरोभाव ही स्वीकारते हैं. और अतएव तथाकथित अभावकी साधिका अनुपलब्धिको भी स्वतंत्र प्रमाणके रूपमें मान्य नहीं करते हैं. अतएव "एकतराभावे एकानुपलब्धि"की महाप्रभुको अभिप्रेत व्याख्याको समझनेका प्रयास अब हमें करना है :

परत्मामाको केवल मुक्तोपसृप्य या प्रलयशेष होनेसे ही आश्रय नहीं मान लिया जाता है. अपितु स्थितिकालमें भी सकल नामरूपोंके उपादानभूत द्रव्यतया तथा भूत-भवद्-भव्य वस्तुमात्रके ..समें स्वयंप्रकाशतया भासित होते ज्ञानके आश्रयतया भी परमात्माको आश्रय मानना चाहिये. "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुंडक. २।२।११). अतः जड जीव और व्यष्टि-अन्तर्यामी, जो सच्चिदानन्द परमात्माके क्रमशः सदंश चिदंश एवम् आनन्दांश हैं, इनमेंसे किसीमें भी अपनी संपूर्ण त्रिपुटीका अहन्तया भान नहीं रहता. व्यष्टि-अन्तर्यामी भी निजव्यापारमें अभिनिवेशकी लीलाद्वारा स्वेतर जड एवम् जीव का स्वयम्में अहन्तया ज्ञान नहीं रखता. तब सदंश जडमें या चिदंश जीवमें तो सम्भावना ही नहीं हो पाती. अतः त्रिपुटीमेंसे किसी भी एकको स्वव्यतिरिक्त अवशिष्ट दोमेंसे एकतरके अभाववश अन्यतरकी उपलब्धि नहीं होती. किन्तु परस्पर सापेक्ष होनेसे एकतरके भाववश ही अन्यतरकी उपलब्धि होती है. फलतः त्रिपुटीमेंसे कोई भी एक न्यूनतम केवल स्वयंको जान पाता है. अथवा अधिकतम, अवशिष्ट दोमें एकवद्भाव मान कर दूसरेको जान पाता है. जडजीवान्तर्यामीके त्रैतका भान तो इन्हें स्वयम्में प्रकट करनेवाले परमात्माको ही हो पाता है, सर्वोपादान सर्वान्तिर्यामी सर्वात्मा सर्वाश्रय तथा सर्वलयशेष होनेसे. यह निगूढ रहस्य महाप्रभुने तात्पर्यावगाहनके रूपमें प्रकट किया है.

अतएव द्वादशस्कन्ध (१२।४।१-२१) में यह वर्णित हुआ है कि प्राकृतिक प्रलयमें जब पंचमहाभूतादि तत्त्व स्वस्वकारणमें लीन होते हैं तब अन्तमें त्रिगुणात्मिका अव्यक्त प्रकृति तथा पुरुषकी शक्तियाँ भी कालद्वारा उपसंहृत हो जाती हैं. शेष तब रह जाता है अक्षरब्रह्म. बुद्धि इन्द्रिय अर्थ-विषय तथा अपार्थ-विषयता सभी रूपोंमें तब केवल अक्षरब्रह्मका भान बचा रहा जाता है. इन बुद्धि इन्द्रिय अर्थ-विषय तथा अपार्थ-विषयता के साथ सर्वत्र अक्षरान्वय ही रह जाता है. कहीं भी ब्रह्मव्यतिरेक रह नहीं जाता. अतः अक्षरचेतनामें दृश्य तथा अव्यतिरिक्त होनेसे बुद्धि-इन्द्रिय-अर्थ-अपार्थ सभी कुछ अक्षरात्मक बन जाते हैं (तदा बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण यत् (च) आद्यन्तवद् अवस्तु (तद्दृश्य-

णापि) दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्याम् आश्रयं ज्ञानं भाति).

एक ही तैजस द्रव्य, जैसे, दीप चक्षु तथा रूप की विविधताके साथ प्रकट होता है; उसी तरह बुद्धि इन्द्रिय तथा रूपादि तन्मात्राके रूपमें ऋत ही प्रकट हुआ है. अतः ये ऋतसे भिन्न अनृत नहीं हैं.

एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्यका उद्घाटन यहाँ भागवतने कर दिया है. वह यह है कि, यत्र-तत्र जो "यह मायामात्र-असत् है" ऐसा विधान किया जाता है, वहाँ सावधानतया यह समझ लेना चाहिये कि बाह्यार्थ मिथ्या नहीं, इन्द्रियाँ मिथ्या नहीं, बुद्धि मिथ्या नहीं और न आत्मा ही मिथ्या हो सकती है. फिर भी इन चारोंके मिश्रणसे बना ब्रह्माज्ञानप्रयुक्त योग अपार्थ मिथ्या होता है. अतः देहमें आत्मबुद्धि अथवा आत्मामें देहबुद्धि भ्रान्ति है. अन्यथा न देह मिथ्या है और न आत्मा (द्रष्टव्य भाग. १२।४।२३-२७). जैसे लोकमें न रज्जु और न सर्प ही मिथ्या होते हैं. फिर भी रज्जुमें प्रतीयमान सर्प तथा सर्पमें प्रतीयमान रज्जु अपार्थ होते हैं, दोनोंमें ब्रह्मात्मकता अनुभूत न होनेपर.

एक और महत्वपूर्ण रहस्योद्घाटन इस आश्रय तत्त्वके निरूपणमें भागवतकार करते हैं. वह यह कि सौर तेजोद्रव्यसे निर्मित नेत्रोंकेलिए सौर रश्मिसे निर्मित मेघ ही सूर्यदर्शनमें प्रतिबन्धक बनते हैं. इसी तरह अहंकारादि प्राकृत द्रव्य भी ब्रह्मोपादानक-ब्रह्मात्मक हैं. तथा अन्तरात्मा भी ब्रह्मांशभूत है. फिर भी अधिदेव ब्रह्म तथा आध्यात्मिक ब्रह्मांशभूत जीवके बीच ब्रह्मात्मक आधिभौतिक बुद्धि-अहंकारादि द्रव्य विच्छेद उत्पन्न करते हैं.

अतः आश्रय तत्त्वका विशुद्धबोध यदि हमें प्राप्त करना हो तो सर्वत्र-सर्वदा-सर्वथा शुद्ध ब्रह्मकी लीला ही स्वीकारनी पड़ेगी कि–

ब्रह्म बन्धो ब्रह्म मुक्तिः ब्रह्म बद्धस्तथेतरः ।
ज्ञानाज्ञानेपि ब्रह्मैव करणे मोक्षबन्धयोः ।।

ब्रह्मणा ब्रह्मणो मुक्तिः ब्रह्मण्येव यथा मता ।
ब्रह्मणा ब्रह्मणो बन्धो ब्रह्मण्येव तथोच्यते ।।

अवशिष्ट सूत्रोंके भाष्यमें विशेष कुछ कथनीय न होनेसे हम यहीं विषयका उपसंहार करते हैं.

प्रस्तुत भागवतार्थनिबन्ध तथा उसके साथ प्रकाशित हो रहे अन्य भी अनेक ग्रन्थोंके आद्य सम्पादक-प्रकाशक महानुभावोंके प्रति इस पुनःसंस्करणके प्रकाशनके समय हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं. इस संस्करणके नेगेटिव संशोधन आदि कार्यमें हमारे सहयोगी श्रीरसिकभाई तथा श्रीतिलकभाई एवम् चि. मिनेश के भी हम कृतज्ञ हैं.

अन्तमें–

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान् ।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ।।

श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः ।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीता[illegible]ं सदा ।।

पदवाक्यप्रमाणपथिषु पदविन्यासविवेकवर्जितं माम् ।
अनयत सकरावलम्बं तस्मै नतिरस्तु धर्मदेवाय ।।

वागर्थरूपौ राजेते ग्रन्थकृष्णौ हि यन्मुखे ।
वक्तारं तं विभुं वन्दे तद्वागर्थोपलब्धये ।।

३० श्रावण
श्रीवल्लभाब्द ५०६.

गोस्वामी श्याम मनोहर

तत्त्वार्थदीपनिबन्धः

तृतीयभागमें संकलित ग्रन्थोंकी

अनुक्रमणिका

ग्रन्थशः		पृष्ठशः
१.	आद्य सम्पादकलिखित द्वितीयभागस्य निवेदनम् ..	१–२
२.	आद्यसम्पादकलिखित श्रीभागवतामृतार्णवसोपान ..	१–८
३.	**भागवतार्थ प्रकरण (५–१२)**	
	पञ्चम स्कन्ध (२१ अध्यायतः समाप्तिपर्यन्त) ..	९–३२
	षष्ठ स्कन्ध	३३–६४
	सप्त स्कन्ध	६५–८५
	अष्टम स्कन्ध	८६–१०६
	नवम स्कन्ध	१०७–१४२
	दशम स्कन्ध	१४३–२२६
	एकादश स्कन्ध	२२७–२५८
	द्वादश स्कन्ध	२५९–२७८
४.	**परिशिष्ट (१) अध्याय-त्रय-प्रक्षिप्तता-समर्थनवाद-संग्रह**	
	सुबोधिनी–टिप्पणी–प्रकाशाः ..	१–२
	गो. श्रीगोपेश्वर-विरचितवादः	१–३
	गो. श्रीगिरधर-विरचित-वादः	३–१४
	भट्ट-श्रीगंगाधर-कृता-जपमाला	१५–२०
५.	**परिशिष्ट (२) भागवत-प्रामाण्य-वाद-संग्रहः**	
	गो. श्रीपुरुषोत्तम-विरचित-श्रीमद्भागवतस्वरूप-विषयकशंकानिरासवादः	१–६
	अज्ञातकर्तृक-श्रीमद्भागवत-प्रमाण-भास्कर ..	७–१२
	भट्ट-श्रीगंगाधरकृता-दुर्जनमुखचपेटिका-प्रहस्तिकोपेता	१३–२६
	श्रीदामोदर-विरचित-श्रीमद्भागवत-निर्णय-सिद्धान्तः ..	२७–३२
	भट्ट-श्रीरामकृष्णकृत-श्रीमद्भागवत-विजयवादः ..	३३–७६
	श्रीरामचन्द्राश्रम-विरचिता-दुर्जनमुखचपेटिका ..	७७–७९
६.	**परिशिष्ट (३) दशमस्कन्धानुक्रमणिका**	१–८४

॥ श्रीबालकृष्णो विजयते ॥

द्वितीयभागस्य निवेदनम्।

श्रीमद्गोकुलनाथकृपयास्मिन्नेव हायनेऽन्नकूटोत्सवावसरे श्रीमद्भागवतार्थनिबन्धस्य प्रकाशावरणभङ्गालङ्कृताङ्गः पूर्वभागः श्रीमद्भागवतस्वारस्यबुभुत्सूनां करकमले आसीन्निवेदित इति विदितचरमेव मनीषिणां भवताम्। तस्यैवायमपरो भागः पञ्चमस्कन्धशेषादारभ्य द्वादशस्कन्धान्तः कारिकातद्योजनाभ्यां विभूषितस्तत्कठिनांशविवेचनेन प्रसाधितश्च साम्प्रतं भवतां पुरतो निवेद्यते। अतः खलु द्वादशस्कन्धपूर्त्याऽखण्डानन्दाकारद्वादशाङ्गपूर्णपुरुषोत्तम इव सर्वोद्धृतिकरणार्थं रासोत्सवे प्रादुर्भवति श्रीभागवततत्त्वार्थप्रदीपः सपरिकरः।

प्रथमभागाविष्कृतौ बहवः प्रत्यूहा उदपद्यन्त। अस्मिन्नपरभागसंस्कृतौ श्रीवैश्वानरवाक्पतीनामनुकम्पावशात् सर्वत आनुकूल्यमाप्नवम्।

श्रीमद्वल्लभवाङ्मयप्रचारोत्कमनोभिर्गो०श्री ६ श्रीव्रजरत्नलालजीमहाराजचरणैर्मदीयकार्यान्तरातिपातान् दूरीकृत्यैतदर्थमेव नियुक्तोहं येनानन्यवृत्तिसापेक्षसंशोधनमेकतानेन विधातुमपारयम्। मङ्क्षु प्राकट्ये इदं प्रधानं कारणम्। एवञ्च विद्याविलासिनो गोस्वामिचरणाः श्री ६ श्रीवल्लभलालजीमहाराजचरणाः पञ्चमशेषादारभ्य द्वादशस्कन्धान्तां कारिकातद्योजनायाः प्रतिकृतिं (प्रेसकोपीं) कृपयाऽददुः। झटिति प्राकट्ये ते भवन्तोपि हेतुः, कारिकापेक्षया योजनायाः प्रतिकृतिस्तु शुद्धतरासीदतो भवतामुपकारं वारं वारं स्मरामि। एवञ्च निबन्धकठिनांशविवेचनस्य प्रथमद्वितीयस्कन्धस्थविभागो भगवदीयतेलीवालामहाशयैः प्रकाशित आसीदेव। तदग्रे प्रथमभागे तन्निवेशनार्थं गवेषितमपि तन्नाप्नवम्। परन्तु कलिते प्रथमभागे मोहमयीस्थमङ्गलदासजीभगवदीयः सोत्साहं स्वयमिदं विवेचनमालिख्य प्राहिणोत्। अतः सर्वथा धन्यवादार्हः स भावुको भागवतः। यत्परिश्रमेण कठिनांशक्लेशमन्तरेण अध्येष्यते जनः।

शोधनादिकर्मणि "प. भ. ईश्वरलाल मग्नलाल शाह" "मञ्जुलालभाईमास्तर" इत्यभिधेयाः सुहृदो मम परिश्रमं लघूकुर्वन्ति स्म इति दिष्ट्या तेपि धन्याः। श्रीगोपीजनवल्लभ-चरणसेवननिरतेन चीमनलालभगवदीयेन मुद्रणव्ययप्रदानरूपां पितृप्रतिज्ञापूर्तिं सम्पाद्य महान् उत्साहोऽदार्शि। दैवसम्पत्तेरिदमेव लक्षणं यत्तस्या विनियोगोऽलौकिकभगवत्कार्ये एव स्यात्।

निवेदनेनैक आन्तरनिर्वेदो मां मुखरीकरोति, कोटिपरिमितवैष्णवसङ्ख्याकेस्मिन् सम्प्रदाये मुद्रितसंस्कृतग्रन्थानां व्यवस्थितप्रचारो न भवति। विना मूल्यं वितरणं तु प्रति पुस्तकं कुर्म एव, तत्र बहूनि पुस्तकानि व्ययीभवन्ति। अवशिष्टानां बहुकालं रक्षणं कर्तुमपि न पारयते। क्वापि तद्दोषः कीटादिभिर्न विनश्येदितीतस्ततः सूक्ष्मेक्षिकया कोभीक्ष्णं पश्येत्।

श्रीमद्भागवतार्थनिबन्धस्यारादुपकारकाश्चतुःपञ्चग्रन्थाः प्रकाशनयोग्या वर्तन्ते। अध्यायार्थः, भक्तिचिन्तामणिः, श्रीलालुभट्टानां गो. श्रीकल्याणरायाणाञ्च लेखौ, प्रक्षिप्ताध्याय-समर्थनं निबन्धसार इति। भागवतप्रकरणविभागस्तु गो.श्री ६ श्रीव्रजरत्नलालजीमहाराज-चरणैर्मुद्रयित्वा प्राकाश्यं नीतः। निबन्धः खलु प्रकृत्या गभीरहार्दोस्ति, नहि टीकामन्तरेण प्रेक्षावन्तोप्यवगन्तुं प्रभवन्तीति प्राक्तनमैतिह्यं मनसिकृत्य यावत्समासाद्यसाहित्यं प्रकटी-कर्तुमीहन्ते न्यायकोविदा गो.श्री.६ श्रीव्रजरत्नलालजीमहाराजचरणाः। श्रीकल्याणरायाणां श्रीमती टिप्पणी विस्तृता सती रसिकजनानन्दजनयित्री श्रीमदाचार्यवाचां विशयनिरसन-पूर्वकतद्धार्दबोधकर्त्री विराजते। सा सपदि स्वतन्त्रतयाविर्भावमर्हति।

प्रकरणाध्यायार्थसङ्कलना सारल्येनेदमित्थतयावगता भवेदतो नूतनप्रणाड्या भागवतार्थामृतार्णवस्य सोपानस्वरूपाणि कोष्टकानि निर्मायात्र निवेद्यते पुरतो भवतां प्रेक्षावताम्।

क्षमन्तु यच्छोधितमन्यथा मया स्वदृष्टिदोषादनभिज्ञभावात्।
कृपालवो भागवताः सदा मां फलं हि 'कृष्णेस्तु' निवेदितं तत्॥

रासोत्सवः
सं. १९९१

श्रीवल्लभपादपद्मपरागरञ्जितो
भवदीयः
चीमनलालशास्त्री

श्रीकृष्णः।

श्रीभागवतार्थामृतार्णवस्य सोपानानि

प्रथमस्कन्धे-अधिकारिनिरूपणम्-श्रोता-वक्ता

- हीनाधिकारी — अ० १-२-३
- मध्यमाधिकारी — अ० ४-५-६
- उत्तमाधिकारी — अ० ७-४-१९

हीनाधिकारी-प्रकरणम्-१

- अ० १ — श्रोता— जिज्ञासुत्वम्; वक्ता— श्रुतभागवतत्वम्
- अ० २ — मात्सर्यरहितत्वम्; चातुर्यवत्त्वम्
- अ० ३ — श्रवणे प्रीतिः; गुह्यज्ञानवत्त्वम्

मध्यमाधिकारी-प्रकरणम्-२

- अ० ४ — श्रोता— भगवत्कृपा; वक्ता— ,,
- अ० ५ — भगवदीयत्वम्; ,,
- अ० ६ — भगवदेकत्वम्; ,,

उत्तमाधिकारी-प्रकरणम्-३

पादौ-हस्तौ-सक्थौ-बाहू-स्तनौ-हृदयं-शिर इति श्रीपुरुषोत्तमस्य द्वादशाङ्गानि, अङ्गी श्रीपुरुषोत्तमश्च

अध्यायाः — ७×१९

द्वितीयस्कन्धे-साधननिरूपणम्

- तत्त्वध्यानम् (प्र० १)
- हृत्प्रासादः (प्र० २)
- मननम् (प्र० ३)

प्रथमं साधनं—तत्त्वध्यानं–प्रकरणम्–१

- स्थूलध्यानम् — अ०–१
- सूक्ष्मध्यानम् (स्वरूपध्यानम्) — अ०–२

द्वितीयसाधनं – हृत्प्रासादः प्रकरणम्–२

- अ० ३ — श्रोतुः हृत्प्रासादः
- अ० ४ — वक्तुः हृत्प्रासादः

तृतीयसाधनं–मननम्–प्रकरणम् - ३

- उत्पत्तिः अ० ५–६–७
  - अनित्ये जननम्
  - परिच्छिन्ने समागमः
  - नित्ये- अपरिच्छिन्ने प्राकट्यम्
    - आवेशी
    - अवतारः
- उपपत्तिः अ० ८–९–१०
  - आशंका
  - उत्तरम्
  - फलम्

तृतीयस्कन्धे-लौकिक-अलौकिकसर्गनिरूपणम्-अ० ३३

- बन्धसृष्टिः (अ० १×१९)
- मुक्तसृष्टिः (अ० २०×३३)

बन्धसृष्टिः

- गुणातीता — प्र० १ — (अ. १×६)
- सगुणसृष्टिः — प्र० २ — (अ. ७–८–९)
- कालसृष्टिः तत्त्वसृष्टिः — प्र० ३ — (अ. १०–११)
- मुक्तजीवसृष्टिः — प्र० ४ — (अ. १२)
- मुक्तजीवसृष्टि; (उपोद्घातः) — प्र० ५ — (अ. १३×१९)

मुक्तसृष्टिः

- प्र० ६ — तत्त्वमुक्तिः — अ २०×२४
- प्र० ७ — कालमुक्तिः — अ २५
- [illegible] ८ — गुणातीतमुक्तिः — अ. २६–२७
- प्र० ९ — सगुणमुक्तिः — अ. २८
- प्र० १० — जीवमुक्तिः — अ. २९–३३

तृतीयस्कंधे मैत्रेयमतानुसारी प्रकरणविभागः

- प्र० १ — अधिकारनिरूपणम्
- प्र० २ — सर्गनिरूपणम्
  - गुणातीतः सगुणः कालः तत्त्वम् मुक्तः
  - उभयोः प्रकरणयोः अ० १×१२
- प्र० ३ — उपपत्तिः
  - मोक्षः — अ०१३
  - बन्धः — अ०१४×२०
- प्र० ४ — फलम्
  - भक्तिः
    - पुंमुक्तिः — अ०२१-२४
    - सफलामुक्तिः — अ०२५
  - सांख्यम् — अ०२६-२७
  - योगः
    - योगः — अ०२८–२९
    - वैराग्यम् सर्वनिर्धारः मुक्तिः — अ ३०-३३

चतुर्थस्कन्धे-विसर्गनिरूपणम्

- धर्मप्रकरणम् (अ० १×७)
- अर्थप्र० (अ० ८×१२)
- कामप्र० (अ० १३×२३)
- मोक्षप्र० (अ० २४×३१)

धर्मः

- अग्निष्टोमः
- उक्थ्यः
- षोडशी
- अतिरात्रः
- असः
- अर्यामः
- वाजपेयः

अ० १×७

अर्थः

- साधनतः — अ० ८
- साध्यतः — अ० ९
- मनूपदेशतः — अ० १०
- दोषनिवृत्तितः — अ० ११
- फलप्राप्तितः — अ० १२

कामः

- अवान्तरप्रकरणानि त्रीणि
  - पृष्ट्याविर्भावप्रकरणम्
  - सर्वकामप्रकरणम्
  - स्वकामप्रकरणम्
  - (अ० १३×२३)

मोक्षेवान्तरप्रकरणे द्वे

- ब्रह्मभावप्रकरणम् — अ० ५ — २४×२८
- सायुज्यप्रकरणम् — अ० ३ — २९×३१

पञ्चमस्कन्धे स्थानलीलानिरूपणम् ।

अध्यायसङ्ख्यायां स्थानस्य रूढार्थतः प्रथमपक्षः

स्थानम्

- प्र० १ — प्राकृतपदार्थजयः — अ० १×१४
- प्र० २ — आत्मनो जय.
  - जीवः — अ०२५
  - ब्रह्म — अ.–२६

अध्यायसंख्यायां यौगिकार्थतः द्वितीयः पक्षः

स्थानम्

- देशः
  - भूः
  - भुवः
  - स्वः
- कालः
  - (१२) मासाः
  - (५) ऋतवः
  - (३) लोकाः
  - (१) आदित्यः
- स्वम् (आत्मा)
  - जीवात्मा
  - परमात्मा

स्थानम्

- स्वरूपस्थितिः
  - प्र० १ — भगवतः — अ०१×६
  - प्र० २ — योगतः — अ०७×१४
  - प्र० ३ — ज्ञानतः — अ०१५
- देशस्थितिः
  - प्र० ४ — भूः — अ०१६×२०
  - प्र० ५ — भुवः — अ०२१×२३
  - प्र० ६ — स्वः — अ०२४×२६

षष्ठस्कन्धे-पुष्टिनिरूपणम् ।

- नाम — अ० ३
  - श्रवणम्
  - कीर्तनम्
  - स्मरणम्
- ध्यानम् — अ० १४
  - *रूपस्य [illegible]शगुणाः
- अर्चनम् — अ० २
  - बाह्यम्
  - आभ्यन्तरम्

*रूपेण मोक्षदः प्रोक्तः रसेनानन्ददायकः। गन्धेन भक्तिदः प्रोक्तः स्पर्शेनाखिलतापनुत् ॥
मनोहरस्तु नादेन योगमार्गप्रवेशदः । कालमोक्षप्रदो द्विष्टः स्वामी सर्वसुखप्रदः ॥
हीनभावाद्दुःखदश्च केवलः सकलार्थदः। मितो योगप्रदः प्रोक्तो भिन्नो मृत्युप्रदः स्मृतः॥
यथास्थितो ज्ञानदश्च स्नेहाद्वश्यो भवेद् ध्रुवम् ॥

स्कन्धार्थविचारे पुष्टिः कालादिबाधकरूपा

- कर्म
  - अधिष्ठानम्
  - कर्ता
  - करणम्
  - चेष्टा
  - दैवम्
- कालः
  - द्वादशमासाः
- स्वभावः
  - दैवः
  - आसुरः

सप्तमस्कन्धे-ऊतिः-कर्मवासनानिरूपणम्

- असद्वासनाः — अ० ५ — अविद्यायाः पञ्चपर्वाणि अथवा पञ्चाधिष्ठानादीनि
- सद्वासनाः — अ० ५ — अविद्यायाः पञ्चपर्वाणि अथवा पञ्चाधिष्ठानादीनि
- मिश्रवासनाः — अ० ५ — अविद्यायाः पञ्चपर्वाणि अथवा पञ्चाधिष्ठानादीनि

कर्म

- आध्यात्मिकम् — अ० ५ — अविद्यायाः पञ्चपर्वाणि अथवा पञ्चाधिष्ठानादीनि
- आधिदैविकम् — अ० ५ — अविद्यायाः पञ्चपर्वाणि अथवा पञ्चाधिष्ठानादीनि
- आधिभौतिकम् — अ० ५ — अविद्यायाः पञ्चपर्वाणि अथवा पञ्चाधिष्ठानादीनि

अष्टमस्कन्धे मन्वन्तर-सद्धर्मनिरूपणम्

- अ० ४ हरिसंस्मरणम्
  - धर्मः
  - अर्थः
  - कामः
  - मोक्षः
- अ० १० दानम्
- अ० ९ स्वोक्तनिर्वाहः
  - दानोक्तप्रथमतो नवप्रकाराः
- अ० १ मत्स्यचरितम्

सत्वसत्वम् सत्वरजः सत्वतमः रजस्सत्वम् रजोरजः रजस्तमः तमःसत्वम् तमोरजः तमस्तमः निर्गुणम्

नवमस्कन्धे ईशानुकथानिरूपणम्

कथा

- हरेः
- तदनुवर्तिनाम्

ईशानुकथायाः फलम्
अ० | २४

- दुःखनिवारणम्
  - सगुणतदनुवर्तिद्वारा अ. ९
  - ज्ञानि-तदनुवर्तिद्वारा अ. १
  - भगवच्चरित्रद्वारा
    - ज्ञानम् अ. १
    - कर्म अ० १
    - भक्तिः अ. १
- सुखप्रापणम्
  - तदनुवर्तिद्वारा अ० १०
  - भगवतः अ० १

ईशानुकथासु सूर्यवंशस्य द्वादशाध्यायाः चन्द्रवंशस्य द्वादशाध्यायाः। अथवा त्रयोदशैकादशाध्याया ज्ञेयाः।

दशमस्कन्धे निरोधनिरूपणम्

जन्मप्रकरणम् (१) तामसम् (२) राजसम् (३) सात्त्विकम् (४) गुणप्रकरणम् (५)

तामसम्				राजसम्				सात्त्विकम्		
प्रमाणम्	प्रमेयम्	साधनम्	फलम्	प्रमाणम्	प्रमेयम्	साधनम्	फलम्	प्रमेयम्	साधनम्	फलम्
* अ० ७	* अ० ७	* अ० ७	* अ० ७	*अ०७	*अ०७	*अ०७	*अ०७	*अ०७	*अ०७	*अ०७
(५×११)	(१२×१८)	(१९×२५)	(२६×३२)	(३३×३९)	(४०×४६)	(४७×५३)	(५४×६०)	(६१×६७)	(६८×७४)	(७५×८१)

- गुणप्रकरणम्: ऐश्वर्यम् ८२, वीर्यम् ८३, यशः ८४, श्रीः ८५, ज्ञानम् ८६, वैराग्यम् ८७

- जन्मप्रकरणम्:
  - अ० १ — व्यूहप्राकट्यम्-वासुदेवः — विषयः-हेतुता
  - अ० २ — संकर्षणः — उद्यमः
  - अ० ३ — प्रद्युम्नः — रूपान्तरस्वीकारः
  - अ० ४ — अनिरुद्धः — मायातो नाश्यम्

* सप्ताध्यायेषु ऐश्वर्यम् (१) वीर्यम् (२) यशः (३) श्रीः (४) ज्ञानम् (५) वैराग्यम् (६) धर्मो (७) इति सप्तसङ्ख्याक्रमो ज्ञेयः

(१) (२) (३) (४) (५)
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा। षड्भिर्विराजते योसौ पञ्चधा हृदये मम।

एकादशस्कन्धे मुक्तिनिरूपणम्

- मुक्तिः
  - जीवमुक्तिः
    - अविद्यानाशतः विद्याप्राप्तितश्च अधिकारी- जनकः (अध्यायाः १×५)
      - ब्रह्मभावमुक्तिः
        - ज्ञानतः
          - अ० १ — वैराग्यम्
          - अ० २ — सांख्यम्
          - अ० ३ — योगः
          - अ० ४ — तपः
          - अ० ५ — भक्तिः
    - तत्त्वातिक्रमणतः अधिकारी- उद्धवः अध्यायाः ६×२९
      - सायुज्यरूपामुक्तिः
        - भक्तितः
  - ब्रह्ममुक्तिः
    - अ० ३०
    - अ० ३१
      - ब्रह्मणः- अहन्ताममतारूपमनुष्यनाट्यस्य त्यागः। सच अहन्तानमतयोः नाशकः

द्वादशस्कन्ध आश्रयलीलानिरूपणम्

- आश्रयः
  - कृष्णाश्रयः अ० ३
  - जगदाश्रयः अ २॥
  - वेदाश्रयः अ० १॥
  - भक्तियोगाश्रयः अ० ३
  - भागवताश्रयः अ० ३

इति श्रीनिबन्धानुसारी प्रकरणाध्यायार्थविभागः

निबन्धटीकासरणिं विदित्वा पीयूषपानं रसिकाः प्रकुर्युः।
सोपानपन्था विहितः प्रवेष्टुं लीलार्णवे भागवते निजेन॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितमूर्त्तिर्विजयते।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटिततत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गतं तृतीयं

श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणम्।

(श्रीगो० श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतयोजनाव्याख्यासमेतम्)

(निबन्धकठिनांशविवेचनसंयुतश्च)

अथ पञ्चमस्कन्धनिबन्धस्य

एकविंशाध्यायः।

अतः प्रसङ्गिनं प्राह मानतो ह्यतिदेशतः।
अन्ते सुसन्धितं मध्ये शून्यमेवंविधं तु तत् ॥१३६॥

श्रीबालकृष्णो विजयते।

श्रीदशदिगन्तविजयिश्रीगो.श्री ६ श्रीपुरुषोत्तमचरणविरचिता
पञ्चमस्कन्धनिबन्धस्य योजना।

निजकृतिपरिपाकव्याकुलीभूतबुद्धिः
क इह खलु विभूनामाशयं वेत्तुमीष्टे।
तदपि करुणयाऽस्मन्नाथ नः खेदहारि-
स्वपदनखविधुं दृक्पानपात्रीकुरुष्व ॥ ? ॥
तत्किरणैर्निजसरणिं दर्शय हार्दं च कर्षय ध्वान्तम्।
योजय देव निबन्धं जाने येनार्थसम्बन्धम् ॥ २ ॥

दिवो मण्डलस्य मानं निरूपयन्ति—मानतो ह्यतिदेशात इति। मूले 'दिवो मण्डलमि'त्यनेन स्वर्लोक उच्यते, 'उरःस्थलं ज्योतिरनी-

स्वरादिलोकसंस्था तु पातालादेरिवेरिता।
राशिमध्यगता भूमिर्न्यूनाधिक्येन वर्त्तते ॥१३७॥
ज्योतिश्चक्रस्य तु गतिः सूर्येणेति निरूप्यते।
ब्रह्मकल्पे तथेत्येके मानसादेस्तु सम्भवात् ॥१३८॥

कमस्ये'ति 'दिवो मूर्द्धनी'त्यादिकथनात्। अन्तरिक्षन्तु नाभिसरोरूपं नभस्तलं स एव भुवर्लोकः, 'भुवर्लोकस्य नाभित' इति द्वितीये वाक्यात्। तद्धि मानतः पञ्चाशत्कोटियोजनसङ्ख्यातमेव। गद्ये 'यथा द्विदलयोर्निष्पावादीनामि'त्यतिदेशादित्यर्थः। स्वरूपमाहु–अन्त इत्यादि। 'ते अन्तरेणान्तरिक्षं तदुभयसन्धितमि'ति गद्ये कथनात्। गद्ये 'तदुभयसन्धितमि'ति तयोर्भूर्लोकस्वर्लोकयोर्द्यावापृथिव्योः सन्धितं सम्बद्धम्। तथा च तस्य भूर्लोकनिकटभागस्तत्स्थितानां भोग्यो द्युलोकनिकटतत्स्थानाम्, तद्वक्ष्यति चतुर्विंशे 'अधस्तात्सवितुरि'त्यादिभिः। एवं सति पक्षिप्रचारयोग्यो भागः शतयोजनात्मको भूर्लोकवासिभोग्य उपरितनः सिद्धादिभवनमारभ्य द्युलोकस्थभोग्यः शेषः सप्तषष्टिसाहस्रमितोऽन्तरिक्षनामा भुवर्लोकवासियक्षादिभोग्यस्तेन भूर्लोकाच्चन्द्रचारपर्यन्तो द्विलक्षयोजनात्मको भुवर्लोकः पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्ण इति सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ १३६ ॥

नन्वत्र भूमण्डलायामसन्निवेशादिकं राज्ञः प्रश्नानुरोधेन विराड्ध्यानार्थमुच्यते। अतः स्वर्लोकादिसंस्थानमप्यवश्यं वक्तव्यमेवेति तत्कुतो नोच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः–स्वरादीत्यादि।

तुः शङ्कानिरासे, पातालादिविवरेष्वयुतयोजनान्तरस्यायामविस्तारस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तेनैव सा कथिता। तथा च तेषां दूरनैकट्यविभागो निबिडभागो मार्गभागश्च तत एव ज्ञातुं शक्य इति विराड्ध्यानस्य तावतैव सिद्धिरित्यतो नोच्यत इत्यर्थः। ननु 'स एष उदगयने'त्यादिग्रन्थस्य किं प्रयोजनं, राज्ञाऽपृष्टत्वात्। न च 'कालस्याऽनुगतिर्या तु लक्ष्यतेऽण्वी बृहत्यपी'तिद्वितीयस्कन्धे प्रश्नात्तदुत्तरत्वेनेदमितिवाच्यम्, 'स कालः परमाणुर्वै' इत्यादिना तृतीयस्कन्ध एव तस्योत्तरितत्वादित्यत आहुः–राशीत्यादि। तुरप्यर्थे, अस्मिन्नध्याये निरूप्यमाणेन सूर्येण, एतदुभयं निरूप्यत इत्यर्थः। मतान्तरेण तत्प्रयोजनमाहुः–ब्रह्मेत्यादि। तुः प्रयोजनशङ्कानिरासे। द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मकल्पो राजसन्देहनिरासायोक्त इति मानसोत्तरादिकं च सर्वं प्रियव्रतादिकृतं तत्रैवेति प्रसङ्गतस्तत्रत्यमिदमप्युच्यत इत्यर्थः ॥१३८॥

सूर्यस्य तु पृथग्ज्ञानमेवमत्र विचारितम्।
कालसूत्रमिहैकं हि [illegible]युग्मे यथोचितम् ॥१३९॥
सूक्ष्म एव स्थितः सूर्यः स्थूलस्यापि प्रवर्त्तकः।
सारथिस्त्वविशेषेण मूर्त्तिभेदेन वा तथा ॥१४०॥

सिद्धान्तेनाहुः–सूर्यस्येत्यादि। तुः पूर्वोक्तपक्षनिरासे 'पाद्मं कल्पमथो शृण्वि'ति मध्ये उक्तत्वात्तस्यापि वक्तुमुचितता। तथा च तृतीयेऽहोरात्रादीनामुक्तत्वेऽपि पक्षस्य पञ्चदशदिनात्मकत्वेन कथनात्तदादिवृद्धिह्रासहेतुज्ञानाभावे प्रत्यक्षविरोधेन पुनः सन्देहः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं तद्धेतुभूतदिवसरात्रिवृद्धिह्रासज्ञापनाय, यत्रैते राशयस्तस्य ज्योतिश्चक्रस्यापि पूर्वाध्याये श्लो. ३० 'यदुपरिष्टात्सूर्यरथस्य मेरुं परिभ्रमतः संवत्सरात्मकं चक्रं देवानामहोरात्राभ्यां परिभ्रमती'त्यनेनोक्ताया गतेर्ज्ञापनाय च तदुक्तिरिति सूर्यस्य पृथगेव ज्ञानमत्र विवक्षितमिति तदेवात्र मुख्यतया विचारितमित्यर्थः। अत्र 'स एष' इति गद्यविवरणरूपं 'यदा मेष'त्यादिग्रन्थम्। तस्य सङ्ग्रहो 'यावद्दक्षिणायनमि'त्यादीति ज्ञेयम्। राशिमध्यगतभूमेर्न्यूनाधिकत्वं सूर्यभोग्यनक्षत्राक्रान्तदिवससङ्ख्याभिर्ज्ञेयम्। ज्योतिश्चक्रगतेर्भेदस्त्वग्रिमाध्याये मूल एवानुमानेन बोधनीय इति न कोऽपि शङ्कालेशः। ननु पूर्वाध्याये सूर्यरथस्य सम्वत्सरात्मकं चक्रं मानसोत्तरोपरि भ्रमतीत्युक्तम्, स तु गिरियुतोच्छ्रायो लक्षोच्छ्रायान्मेरोरतिनीचैस्ततस्तदुपरि भ्रमन् रविरथोऽपि सहस्रोच्छ्रायो द्विगुणो वा भवेत्, न त्वधिकस्तथा सति तस्यापि नीचैस्त्वान्मेरूपरि कथं दिनरात्रिव्यवस्था। किञ्च, तस्य गत्याऽस्मदादिदिनरात्र्योर्यथा न्यूनाधिकभावस्तथाऽहोरात्रस्य नास्तीति कथं वैषम्यम्, गतेरैक्यादित्याशङ्कायां द्विविधगतिं तत्प्रयोजकस्य कालोपाधित्वं चोपपादयन्ति सार्द्धः षड्भिः–कालेत्यादि। कालस्य सूत्रत्वं तृतीये वक्तव्यम्। 'अव्यक्तरंहसा भगवता कालेन भ्राम्यमाणानामि'त्यनेन। सूर्यस्य हि स्थूलं सूक्ष्मं चेति रथद्वयमेकैकचक्रम्। इहास्मिन् रथयुग्मे। हि यतो हेतोः। कालसूत्रं कालात्मकं सूत्रम्, यथोचितं यादृग्गत्यर्थं यथापेक्षितं तदर्थं तत्र तथास्थितमेकम् अत उभयोरपि कालोपधित्वम्। हिरग्रेऽपि सम्बद्ध्यते। यतो हेतोः सूक्ष्म एव रथे स्थितः सूर्यः स्थूलस्यापि रथस्य नियामकतया प्रवर्त्तकः। तु पुनः सारथिररुणोऽविशेषेणैकरूपेण मूर्त्तिभेदेन वा तथा प्रेरकतया प्रवर्त्तकः। ॥ १३९ ॥ १४० ॥

सूक्ष्मरूपरथा ये तु त ऊर्ध्वं मण्डले स्थिताः।
रहटे घटिका यद्वत आरोहणादिकम् ॥१४१॥
आरोहणे मन्दगतिरवरोहे तु शीघ्रता।
समे मध्यमभावश्च ज्योतिश्चक्रगतिः समा ॥१४२॥
राश्यादिभावमापन्नाश्चक्रस्याशा निरूपिताः।
मेषे तुलायां च तथा अत ऊर्ध्वं व्यवस्थया ॥१४३॥

तु पुनः ये राह्वादिसप्तर्ष्यन्ताः सूक्ष्मरूपा एकैके रथा येषां ते मण्डले स्थूले चक्रे यद्वद्रहटे घटिकास्तिष्ठन्ति तद्वदूर्ध्वं स्थिताः। (ते विष्णुपुराणे द्वितीयेऽंशे द्वादशाध्याये 'रथस्त्रिचक्रे सोमस्ये'त्यादिना निरूपितास्ततोऽवगन्तव्याः। यद्यपि सप्तर्षीणां रथा नोक्तास्तथापि तेषां गमनदर्शनात्कल्पनीया विमानानि वा)* गतिस्थानभूतानि मण्डलानि तु मध्यममण्डलस्योभयतो दिशङ्क्रमेण ह्रसन्ति। तेष्वारोहणे मन्दा गतिरवरोहणे शीघ्रा प्रत्यहं मण्डलभेदाद्भिद्यते, वायुवशाच्च। समे ज्योतिश्चक्रतुल्ये मध्यममण्डले गतेर्मध्यमता, अत आरोहणादौ तथा तथा गतिरस्तीति गतिभेदाद्दिनरात्र्योर्न्यूनाधिकसमभावो ज्योतिश्चक्रगतिः समा। अतः परमाण्वाद्यहोरात्रान्तानां सर्वदैकरूप्यमिति गतिद्वयाद्गतिस्थानभूतमार्गभेदाच्च सर्वदैकरूप्यमिति गतिद्वयाद्गतिस्थानभूतमार्गभेदाच्च सर्वं समञ्जसमित्यर्थः ॥१४१॥१४२॥

स्थूलचक्रोर्ध्वभागस्य त्रिविधत्वे प्रमाणमाहुः- राश्यादीति। तथेति समानभूमित्वम्। अत ऊर्ध्वं व्यवस्थयेति। मेषतुलोभयप्रदेशे यथा यत्र युक्ता तत्र तथेति। अयमर्थः, ज्योतिश्चक्रं तावत्कुलालचक्रवदुत्तानं मानसोत्तरोपरिसमानयैव गत्या भ्रमति, तस्य चक्रस्य स्थितिस्तु यथा पटहस्योर्ध्वमुखतया स्थापितस्य, परं त्वयं गोलाकृतिः, तत्र च मेरोर्लक्षयोजनसमुन्नाहत्वे षोडशसहस्रं भूम्यन्तः प्रविष्टत्वात् मानसोत्तरमस्तकाच्चतुःसप्ततिनवतिसहस्रयोजनोपरि मेरोर्मूर्द्धनि यो वक्ष्यमाणोऽक्षस्याधोभागस्तत्समानसूत्रे मेषस्तुला च चक्रस्योपरि, तत्र भूमिसाम्यम्। ततो मेषात्तिरश्चीनोच्चपृष्ठभागे वृषस्तत्समानसूत्रे तुलोपरि कन्या। वृषात्तिरश्चीनोच्चपृष्ठभागे मिथुनस्तत्समानदेशे कन्योपरि सिंहः। मिथुनसिंहयोस्तिरश्चीनोच्चपृष्ठभागे कर्कः सर्वोपरि, एवं सति मेषाच्चलितस्य कर्कमध्यपर्यन्तमारोहस्तत आरभ्य तुलारम्भपर्यन्तमवरोहः। एवं तुलानीचैस्तिरश्चीनाग्रभागे वृश्चिकस्तत्समानसूत्रे मेषान्नीचैर्मीनः पूर्ववद्वृश्चिकान्नी-

* ( ) चिन्हान्तर्गतं मूलपुस्तके नास्ति।

ज्योतिश्चक्रस्य गमनाद्गतिः सूर्यस्य सर्वदा।
यत्र राशौ भवेत्सूर्यः सभागेऽग्रे रथाङ्गके ॥१४४॥
तत्प्रातरुदयस्तत्र तदंशेऽपि गतिस्तथा।

चैर्धनुस्तत्समानसूत्रे मीनान्नीचैः कुम्भः। धनुःकुम्भयोस्तिरश्चीने सर्वतो नीचैर्मकरः। एवं तुलातो यावन्मकरारम्भमवरोहः, मकरमारभ्य मेषारम्भपर्यन्तमारोह इति। एवं च एषा राशिकक्षा उपवीतवत्तिष्ठति,(एतेषामुदगयनदक्षिणायनवैषुवतराशीनां त्रिभागाः परस्परं विभक्ताः, यत्रोदगयने आरोहस्तत्समाने दक्षिणायनेऽवरोह इत्येवं बोध्याः। कुतः मानसोत्तरोपर्येव सूर्यादिपरिभ्रमणस्योक्तत्वादिति)*। तत्र च राह्वादिसप्तर्ष्यन्ताः स्वस्वकक्षासूक्तरीतिकभूमावारोहन्तोऽवरोहन्तो गच्छन्ति। तत्रापि सूर्यगतिस्थले वायुरिति विषम इति प्रत्यहं गतिभेदः। तदुक्तं श्रीधरीये वायुपुराणवाक्यैः। अन्यथा दिनरात्र्योरेकस्य वृद्धिरपरस्य ह्रास इति न स्यात्। वृषभादिपञ्चके दिनवृद्धौ तुलायां साम्यं चाकस्मिकमापद्येत। एवं सति मूलग्रन्थे वर्द्धन्ते ह्रसतीत्यत्र समापेक्षया वर्द्धन्ते ह्रसतीत्यध्याहरणमर्थबलात्कार्यमिति सिद्ध्यति। एतेन देवाहोरात्रमपि साधितम्, देवानां मेष उदयः कर्के मध्याह्नस्तुलायां सायं मकरे निशीथमिति। एतावान् परं विशेषो यद्देवैर्दिवसे सूर्यो नवतिवारमुपर्युपरि परिक्रमन् तावद्वारमेवाऽधोऽधः परिक्रमन् दृश्यते। मेरूपत्यकादिवर्तिभिस्त्वस्मदादिवदेकदिवसे एकवारमेवाऽर्द्धं परिक्राम्यन्निति।१४३। तदेतदुत्साधयितु'मेवं नवकोटय' इत्यारभ्य'समामनन्ती'त्यस्य तात्पर्यमग्रे वदिष्यन्तः प्रत्यहं सूर्यदर्शन उपपत्तिमाहुः—ज्योतिरित्यादि। तद्गत्या प्रत्यहं दृश्यते न दृश्यते च मेरुव्यवधानादतो दिनरात्रिव्यवस्था भूमिष्ठानामित्यर्थः। प्रातःकालादावुपपत्तिमाहुः यत्रेत्यादि। एकैकस्य राशेः सामान्यतस्त्रिंशत्त्रिंशदंशाः स्थूला अहोरात्ररूपास्तस्यापि तावन्तो मुहूर्तरूपा एवं घटिकापलादिपरमाण्वन्ता ज्ञातव्याः। एवं सति रथाङ्गके ज्योतिश्चक्रे सभागे राश्यात्मकद्वादशभागवति राशौ च घटिकादिभागवति अग्रे प्रथमतो यत्र सूर्यो भवेत्तिष्ठति तत्प्रातः। तत्रापि हेतुः। उदयस्तत्रेति। दृग्गोचरता तस्मिन्नेव समये इति। तथा च यस्मिन् राशौ यस्मिन्नंशादौ प्रथमतः सूर्यदर्शनं तत्प्रातः। एवं तदंशे लग्नघट्यादिरूपेऽपि या सूर्यस्य गतिः सा तथा लग्नादिकालनियामिका ज्ञातव्येत्यर्थः। तत्राऽपि हेतुः—

* ( ) चिन्हान्तर्गतं मूलपुस्तके नास्ति.

समानगत्याऽपि तथा स्वांशकालायतिस्तथा ॥ १४५ ॥
साम्प्रतं तु न पक्षोऽयं मध्ये भूमिरियं यतः ।
भूमिगोलं परिक्रम्य जलादायाति गच्छति ॥१४६॥
मण्डलानां प्रवेशेन वायोराकर्षणात्तथा ।
वृद्धिक्षयप्रकारं हि प्राहुस्तत्रैव युज्यते ॥१४७॥
मासपञ्चकपर्यन्तमहोरात्रक्षयो भवेत् ।
वृद्धिर्वा न त्वहोरात्रे तथाऽर्द्धस्य भवेत्कचित् ॥१४८॥

समानगत्येत्यादि । यथा विषमगत्या राश्यंशादिकालभेदास्तथा समगत्याऽपि तदुदयादिभेदाः । तत्रापि हेतुः—**स्वांशेत्यादि** । ज्योतिश्चक्रांशभूता ये कालोपाधयस्तेऽपि यतो हेतोरुदयादिनियामका इत्यर्थः । तथा च नियतपरिमाणकालोपाधावहोरात्रादिरूपे ज्योतिश्चक्रगतिः प्रयोजिका, विषमपरिमाणकालोपाधौ राश्यादिरूपे ज्योतिश्चक्रगते देशे सूर्यगतिः प्रयोजिका, अनियतपरिमाणकालोपाधौ लग्नाद्युदयरूपे तूभयोर्गतिः प्रयोजिकेति भावः ॥ १४४ ॥ १४५ ॥

नन्वत्र सूर्यभ्रमणं तिर्यगुक्तं तत्प्रत्यक्षतो विरुद्ध्यते इति तन्निवृत्त्यर्थं द्वाभ्यामुपपत्तिमाहुः **साम्प्रतमित्यादि** । मध्य इति । जलमध्ये । जलादायाति गच्छतीति 'अद्भ्यो वा एष उदेति पुनरपः प्रविश्यती'ति श्रुतेः । 'सूर्यं चाद्भ्यः समुत्थित' इत्यादिवाक्यैश्च तथा । तथा च सा ब्राह्मादिकल्पीया व्यवस्थेतीदानीं (जलप्रवेशे तदभावात् प्रत्यक्षविरोधो न दोषावहोऽत इदानीमयं पक्षो ज्ञातव्य इत्यर्थः ॥१४६॥ कथमेवमित्याकाङ्क्षायामुपपत्तिमाहुः—**मण्डलेत्यादि** । मण्डलानां राहादिसप्तर्ष्यन्तस्थितिस्थानां जले प्रवेशेन ज्योतिश्चक्रमेव वायोराकर्षणादायाति गच्छति । तथा तेन पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण वृद्धिक्षयप्रकारं दिनरात्र्योर्हि यतो हेतोः प्राहुः, ज्योतिर्विद इति शेषः । तत्रैव ज्योतिःशास्त्रोक्ते तिर्यग्गोलपक्षे एव युज्यते साम्प्रतं पक्ष उपपद्यत इत्यर्थः॥१४७॥ पक्षद्वयसाधारण्येन सिद्धमाहुः—**मासेत्यादि** । तत्पूर्वमुपपादितं योजनायां चन्द्रगतेर्वैषम्यं मनसि कृत्वाहुः—**तथार्द्धस्य भवेत्कचिदिति**, यथाऽहरादिक्षयवृद्धी सूर्येण तथाऽर्द्धस्य मासार्द्धस्य क्षयो वृद्धिर्वा सा कचिच्चान्द्रेऽमावस्यया हि मासान सम्पश्यन्ति पूर्णमास्यया हि मासान सम्पश्यन्ती'ति श्रुत्युक्ते मासविशेषे भवेत् । अतश्चन्द्रगतिरपि ज्योतिश्चक्रे विषमा । तथा च तिथ्यादिन्यूनाधिकभावस्य प्रत्यक्षाभावेऽपि प्रत्यक्षाभ्यां पक्षाधिक्यन्यूनत्वाभ्यां तस्या अपि वैषम्यमनुमीयत इत्यर्थः ॥ १४८ ॥

राशिपर्यन्तगमनमेकोनत्रिंशता क्वचित् ।
तथैकत्रिंशता क्वापि गतिस्तेन समा न हि ॥१४९॥
स्थूलचक्रे यतः कीलं तथा तेनोच्यते परम् ।
स्थूलचक्रे भूमिभेदा न तु सूक्ष्मे कथञ्चन ॥१५०॥
अधुना भूप्रदेशाश्च ज्ञातव्या विनियामकाः ।
दर्शनस्य समानेन सूत्रेणाऽदर्शनं यतः ॥१५१॥
मकरादिषु वृद्धिर्हि तथा कर्कादिषु क्षयः ।

सूर्यगतिवैषम्येऽनुमापकमाहुः—**राशीत्यादि** । क्वचिदित्यनियमेन । तथा च तद्यदि **देशकृतं** स्यान्नियतघटिकापलकमेव स्यात्, न त्वनियतमतो गतिवैषम्यकृतं तदित्यर्थः ।१४९। **ननु** देश एव तथा कुतो न कल्प्यत इत्यत आहुः—**स्थूलेत्यादि** । यतो हेतोः **कीलं कालसूत्ररूपं** तथा सूर्यगतिसाम्यापादकम्, तेन हेतुना परं द्वितीयं वैषम्यकारणमुच्यत **इत्यर्थः** । कालमिति पाठेऽप्ययमेवार्थः । ननु स्थूलचक्र इव सूक्ष्मचक्रेऽपि भूमिभेद **एव कुतो** नाद्रियत इत्याशङ्कायामाहुः—न तु सूक्ष्मे कथञ्चनेति, स्थूले (ज्योतिश्चक्रे) हि **राशयो** देशविभागनियामका यथा वर्तन्ते तथा सूक्ष्मचक्रे (सम्वत्सरात्मके) किमपि **भूनियामकं** नास्ति निरवयवत्वाद्गतिवैषम्यं विना तत्कल्पनेऽप्युक्तानुपपत्त्यपरिहाराच्चातो नाद्रियत इति गतिरेव नियामिकेत्यर्थः ॥१५०॥ ननु कल्पान्तरे तथाऽस्तु नाधुनेत्यत **आहुः**—अधुनेत्यादि । चोऽप्यर्थे, अधुनाऽपीत्यर्थः । ज्योतिःशास्त्रेऽपि **तथैव सिद्धेरिति भावः** ।

तत्रापि नियमिकामुपपत्तिमाहुः—**दर्शनस्येत्यादि** । तथा च **प्रदेशवैषम्यं गति**वैषम्यं च मतद्वयेपि तुल्यम्, गोलतन्मानादिष्वेव परं विशेष **इत्यर्थः ॥ १५१ ॥** 'यावद्दक्षिणायने'ति गद्यस्य तात्पर्यमाहुः—**मकरेत्यादि** । **वृद्धिरिति** । **परमहीनदिनापेक्षया** वृद्धिः । **क्षय** इति परममहादिनापेक्षया [illegible] ।

॥ निबन्धकठिनांशविवेचनम् ॥

अग्रे एकविंशाध्यायार्थोक्तौ स्थूलचक्रे भूमिभेदा न तु सूक्ष्मे **कथञ्चनेत्यस्य** [१५०] व्याख्याने 'गतिवैषम्यं विना तत्कल्पनेप्युक्तानुपपत्त्यपरिहाराच्च'ेति राशिमध्यगता भूस्तु न्यूनाधिकभावेन वर्तते । तत्र कचिन् न्यूनराशौ **दीर्घकाले**नातिक्रमः, अधिकराशौ न्यूनेन । सूक्ष्मचक्रे प्रदेशकल्पने तन् न स्यात् । **प्रतिराशिं चक्र**भेदकल्पनापत्तेरतो न्यूनाधिकराशौ दीर्घसूक्ष्मकालेनातिक्रमे सूर्यगतेरेव **न्यूनाधिकभावो हेतुरित्यर्थः** ।

अह्नो विवृद्धिर्मेषादौ रात्रेः स्थूलं न चान्यथा ॥१५२॥
उदगयने गतेर्मान्द्यं दक्षिणे शीघ्रता मता ।
अहर्पतिर्यतः सूर्यो मान्द्यादह्नो विवृद्धता ॥१५३॥
परिधिस्त्रिगुणो व्यासात्किञ्चिच्चापि तथाधिकः ।
लक्षाधिकं सार्धनवकोटयो परिधिमण्डले ॥१५४॥
गणनामतभेदाद्धि सन्देहः स्यादितीर्यते ।
उपदेशस्ततः पूर्षु समा गतिरिहोच्यते ॥१५५॥
वृद्धिह्रासनिवृत्त्यर्थं स्थूलचक्रं प्रवर्त्तते ।
मेरोश्चतुर्दिशं पुर्यस्तत्र प्रोता दिशो मताः ॥१५६॥

विवृद्धिरिति । विषुवापेक्षयाऽधिका वृद्धिः । रात्रेरिति । एवं क्षयवृद्धी दिनविपर्ययेण भवत इत्यर्थाज्ज्ञातव्यमित्यर्थः । एतेन मूले वर्द्धन्ते ह्रसतीत्यत्र समापेक्षयेति पदाध्याहारे यावद्दक्षिणायनेति गद्यमेव गमकमिति नात्र कल्पनालेश इति बोधितम् । एवं सूक्ष्मरथस्यसूर्यकार्यं सर्वमुपपाद्य 'स एष' इति गद्यत्रयोक्तमुपसंहरन्ति स्थूलमित्यादिनैकेन ॥ १५२ ॥

अतः पर'मेवं नवकोटय' इत्यारभ्य 'समामनन्ती'त्यन्तेन स्थूलचक्रकार्यं तत्स्वरूपं चोच्यत इति तं ग्रन्थं विचारयन्ति परिधिरित्यादि । व्यासादैर्घ्यात् । मेरोश्चतुर्दिशं सार्द्धकोटिः सार्द्धसप्तलक्षाणीति ततो द्विगुणो मध्यव्यासः कोटित्रयं पञ्चदशलक्षाणि मानसोत्तरोपत्यकावधिरिति । ततस्त्रिगुणः परिधिर्नवकोटयः पञ्चचत्वारिंशल्लक्षाणि मानसोत्तरोपत्यकावधिरिति । ततोऽधित्यकाविचारे तन्मध्यपर्यन्तो व्यासोऽधिको भवतीति लक्षद्वयमधिकं ग्राह्यम् । तेन मूलोक्तः सूर्यपरिवर्त्तनदेशो लक्षाधिकसार्द्धनवकोटिरूपः सिद्ध्यति । इयं गणना मतान्तरकृतसन्देहनिरासार्थेति मूले ईर्यते । ततो ल्यब्लोपे पञ्चमी, तं भ्रमणदेशं मनसि निधाय । पूर्षु ऐन्द्र्यादिषु चतुर्षु उपदेशः पूर्वस्मान्मेरोरित्यादिरूपो दिगुपदेशः तत्र हेतुः, इहास्मिन् परिवर्त्तने समागतिरुच्यत इत्यर्थः ॥१५३॥१५४॥१५५॥ तत्प्रयोजनं हेतुं चाहुः वृद्धिरित्यर्द्धेन । एवमेकं प्रयोजनमुक्तमेकं गद्यं च विवृतम्, द्वितीयमाहुः—मेरोरित्यादि । तथा च मेरूपरिष्ठानां दिग्विभागो मानसोत्तरस्यपुरीचतुष्टयकृत इत्यर्थः । एतेन 'तस्मिन्नैन्द्रीमि'ति गद्यं

अन्यत्र प्रथमं यत्र मेषे सूर्यो हि दृश्यते ।
प्राची सा सर्वलोकानां मेरुश्चोत्तरतस्तथा ॥१५७॥

व्याख्यातम् ॥१५६॥ नीचैः स्थितानां तमाहुः—अन्यत्रेत्यादि । तत्रोपपत्तिमाहुः सर्वेत्यादि, हि यतो हेतोरत्र 'सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थित' इतिवाक्यादुदग्दिगेवैका नीचैर्भूस्थानां नियता । एवमेकस्या दिशो नियमे सति मेरुव्यवहितः सूर्यो यत्र यैर्मेषे दृश्यते सा तेषां प्राचीत्येवं मेरुमेषसूर्यदर्शनत्रितयनियतो

श्रीनिबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

एकविंशाध्यायार्थोक्तौ तत्त्वदीपे—अत्राध्याये प्रकरणत्रयमस्तीति सूर्यस्य गमनं पूर्वमिति [१३४] श्लोकेन अध्यायार्थारम्भे उक्तम् । तत्र 'गणनामतभेदाद्धि सन्देहः स्यादितीर्यत' [१५४] एतावदन्तेन ग्रन्थेन सूर्यगमननिरूपकस्य मूलग्रन्थस्थप्रथमप्रकरणस्यार्थ उक्तः ।

अतः परं द्वितीयप्रकरणस्य गतिस्थाननिरूपकस्यार्थ उच्यते, उपदेशस्ततः पूर्षु [१५५] इत्यादि, कालदेवत्ववृद्धय [१५९] इत्यन्तैः सार्धैश्चतुर्भिः श्लोकैः, तत्र उपदेशस्ततः पूर्षु इत्यादि, ततस्तदनन्तरं पूर्षु ऐन्द्र्यादिषु उपदेशः 'ऐन्द्रीं पूर्वस्मादि'त्यनेन गद्येन मेरूपरिष्ठानां पूर्वादिदिगुपदेशः, तत'स्तासूदयमध्याह्ने'त्यनेन भूमिष्ठानां दिगुपदेशः, तत'स्तत्रत्याना'मित्यनेन मेरुस्थितानां षण्मासपर्यन्तं उदयास्तमयाद्यभावोपदेशः, सूर्यस्य वामदक्षिणगत्युपदेशश्च । ततो 'यत्रोदेती'त्यनेन दक्षिणे उत्तरे च समानसूत्रदेशे उदयास्ताद्युपदेशः समानसूत्रषड्राश्यन्तरे च । ततो 'यदा चैन्द्र्या'इत्यनेन पञ्चदशघटिकाभिरिति स्थूलचक्रे समानगतेरुपदेशः, 'सपादकोटिद्वय'मित्यादिना पूर्वोक्तगणनाया उपदेशः, तत 'एवं ततो वारुणी'मित्यनेन अन्यासु पूर्षु पूर्वोक्तातिदेशः, ततः 'तथा चान्ये चे'त्यनेन सर्वग्रहेषु अतिदेशः, तत 'एवं मुहूर्तेने'त्यनेन गतिस्थानस्य प्रकृष्टं मानम् । ततो 'यस्यैकं चक्र'मित्यनेन चक्रस्य सारत्वं, संवत्सरस्य पुनः पतित्वात् कालस्य देवत्वं, दिनमासर्त्वयनसंवत्सरक्रमेण वृद्धिः, तदेतत् सर्वम् एभिः सार्धैश्चतुर्भिर्विवृतम् ।

ततस्तृतीयप्रकरणे सूर्यचक्रस्य अक्षप्रोतत्वमुक्तम्, तत्रेयं व्यवस्था ज्ञातव्या, संवत्सरसमे मानसोत्तरदेशे संवत्सरात्मकं स्थूलचक्रं द्वादशारत्वादिना यदङ्गसहितमुक्तं तत्साङ्गम् । मध्या अक्षेण प्रोतं न भवति । यच्च सूक्ष्मं चक्रं तदक्षेण प्रोतमस्ति परं तथा न, साङ्गं नेत्यर्थः, साङ्गं चक्रं कालदेवत्ववृद्ध्यर्थम्, एवं निरङ्गं प्रधियुक्तमक्षप्रोतं सुखार्थदेवगमनार्थं प्रशस्तम् । सुखार्थं सर्वलोकसुखार्थं देवस्य सूर्यस्यागमनं द्वादशस्कन्धे प्रोक्तम् । 'द्वादशस्वपि मासेषु देवो वै षड्भिरस्य वै । चरन् समन्तात् तनुते परत्रेह च सन्मतिम् ।' सद्बुद्ध्या सुखमिति लोके वेदे च प्रसिद्धम् । 'एवं ह्यनादिनिधनो भगवान् हरिरीश्वरः, कल्पे कल्पे स्वमात्मानं व्यूह्य लोकानवत्यज' इत्यनेन च सर्वलोकावनरूपं सुखमुक्तम् ।

कमलाकृतिरीत्या हि मेरुरत्र तथैव भूः।
अतो मेरोः शिरस्तुल्यं मानसोत्तरमस्तके ॥१५८॥
सूर्यचक्राक्षमध्यं हि तथाऽत्र परिकल्पना।
सोऽङ्गचक्रमिदं प्रोक्तं कालदेवत्ववृद्धये ॥१५९॥
ततः सम्वत्सरसमे न प्रध्या सहितं तथा।

नीचैःस्थानां दिग्विभाग इत्यर्थः। त्रयाणां तथात्वोक्तौ बीजमाहुः-कमलेत्यादि। हि यतो हेतोरत्र भूगोले मेरुः कमलाकृतिरीत्या तथैव तेन वर्तुलप्रकारेणैव भूः, अतो हेतोर्मेरुशिरस्तुल्यो लक्षयोजनोच्चो यो मानसोपरिभागोऽयुतयोजनोच्छ्रायान्मानसोत्तरादुपरिसाधिकनवतिसहस्रमितस्तस्मिन् सूर्यचक्रस्य स्थूलस्य मध्यभागो हि निश्चयेन वर्त्तते। तथा तदनुसारिणी अत्रास्मिन् विषये कल्पना। तथा चैवमुक्तौ दृष्टं शास्त्रं च बीजमित्यर्थः। एवं स्थूलचक्रस्य भूमिष्ठदिग्विभागरूपं द्वितीयं कार्यं विवृतम्, तेनैव प्रातरादिकालरूपं तृतीयं कार्यमपि उपपादितम्। तच्च मूले 'तामुदये'त्यादिना 'निम्लोचती'त्यन्तेन 'भूमिष्ठानां यत्रे'-त्यादिना 'पश्येरन्नि'त्यन्तेन मेरुस्थानां चोक्तम्, गतिसाम्यं च 'यदा चैन्ध्या' इत्यादिना पञ्चदशघटिकारूपकालनियमकथनेन बोधितम्। सपादकोटिद्वयं योजनानां सार्द्धद्वादशलक्षाणि साधिकानीति, कोटिद्वयं सप्तत्रिंशल्लक्षाणि सप्तसप्ततिसहस्राणि चेत्यर्थः। इदं गतिस्थानस्य प्रकृष्टं मानमसन्देहात्प्रोक्तम्। तथाऽन्ये इत्यादिना च चान्द्रनाक्षत्रसावनादिमासेषु कालनियमेन ग्रहादिदर्शने चोपपत्तिः प्रसङ्गादुक्ता। एवं 'मुहूर्तेत्यादि'ना च रथगतेः प्रकृष्टं मानमुक्तं तदेतत्सर्वमेतेन बोधितम्।

एवं कार्यं विचार्य 'यस्यैकचक्रमि'त्यादिनोक्तं स्वरूपं विचारयन्ति-साङ्गमित्यादि। अङ्गानि अरनेमिनाभयस्तत्सहितम्। 'सारमि'ति पाठे, अरसहितं तच्च नाभिनेम्योरुपलक्षकम्। इदमेव 'वेक्रं त्रिणाभिचक्रमजरमनर्वमि'तितैत्तिरीयारण्यके श्रावितम्। अङ्गकथनप्रयोजनमाहुः-कालेत्यादि। कालस्य 'द्वादशादित्याः सम्वत्सरो वै प्रजापति'रित्यादिश्रुत्युक्तं यद्देवत्वं 'संसर्पोऽसी'ति श्रुत्युक्ता या वृद्धिस्तद्बोधनायेत्यर्थः। वृद्धिपदं क्षयस्याप्युपलक्षकम्, तस्यापि 'अंहस्य सायत्वे'ति श्रावितत्वाद्, उभयोर्ज्योतिःशास्त्रसिद्धत्वाच्च ॥१५८॥१५९॥ सूक्ष्मचक्रस्यैतदधीनत्वबोधनायाहुः-तत इत्यादि।

१ सारम्। २ चक्रं।

सुखार्थं देवगमने [illegible]युक्तं हि शस्यते ॥१६०॥
ज्योतिश्चक्रस्य माहात्म्ये सोमादीनां विवर्णनम्।
मेरुमस्तकतो नीचो मानसाचल उच्यते ॥१६१॥
तैलयन्त्रेण सदृशो मेरुरत्र निगद्यते।
आद्याक्षमानं स्पष्टं हि तच्चतुर्थांशतो मितः ॥१६२॥
लक्षाणां तु स एकोनचत्वारिंशत्प्रमाणकः।

यत इदं सम्वत्सरात्मकं चक्रं देवरूपं समगतिमहावेगं च ततो हेतोः सम्वत्सरसमे सम्वत्सरात्मकस्थूलचक्रसमाने मानसोत्तरमूर्द्धनि प्रध्या सहितं कीलविशेषेणासमन्तात्सहितं सूक्ष्मं चक्रं तथा न भ्रमति। किन्तु स्वल्पवेगत्वाद्देवत्वाच्च तदुपर्येव तदधीनतया भ्रमतीत्यर्थः। तद्युक्तरथस्य गद्ये 'तथा बालखिल्या' इत्यारभ्य 'उपासत' इत्यन्तेनोक्तं प्रयोजनमाहुः सुखार्थेत्यादि देवः सूर्यः। तथान्ये ग्रहा इति गद्यस्य मुख्यं प्रयोजनमाहुः-ज्योतिरित्यादि। माहात्म्य इति माहात्म्यार्थम्।

एवं 'नवकोटय' इत्यारभ्य 'समामनन्ती'त्यन्तस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यमुक्तम्। अतः परं 'तस्याक्ष' इत्यादेरर्थं वदन्तो दृष्टान्ततात्पर्यमाहुः-मेर्वित्यादि। मेरुमस्तकं लक्षयोजनोच्चं तस्मान्नीचोऽयुतयोजनोच्छ्रायो मानसाचल उच्यते। अतो हेतोरत्रास्मिन् गद्ये तैलयन्त्रेण सदृशं विनिगद्यते, स्थूलचक्रं तद्भ्रमणं चोच्यते। तथा च सम्वत्सरात्मकचक्रस्य स्थौल्यबोधनायोत्तानतया भ्रमणबोधनाय चेदं गद्यम्, तेन तस्य स्थौल्यं नवतिसहस्रयोजनमितम्। अक्षान्नीचैरुपरि तु षड्विंशतिलक्षादप्यधिकं सप्तर्षिपर्यन्तानां प्रत्यक्षाणामग्नीन्द्रप्रजापतिकश्यपधर्माणामप्रत्यक्षाणां च तत्रैव परिभ्रमणादिति सिद्ध्यति। अतः परं तस्मिन्नक्ष इत्यादेराहुः-आद्येत्यादि, स्पष्टमिति। मेरुमध्यमारभ्याऽऽमानसाचलं सार्द्धकोटिः सार्द्धसप्तलक्षणाणि व्यासोऽस्ति। अक्षे तु चक्रमेकतः प्रोतमन्यतः कीलं प्रोतमिति त्रिचतुर्लक्षं ततोऽधिकं भवति। तथापि बहिस्तावदेवेति स्पष्टम्। किञ्च, हि यतो हेतोर्द्वितीयोऽक्षो ध्रुवे कृतोपरिभागस्तच्चतुर्थांशतो मित उच्यते ॥१६२॥ तु पुनः स ध्रुवो मेरूपरिभागादेकोनचत्वारिंशल्लक्षप्रमाणकस्तथा सति विचार्यमाणः सोऽक्षस्तावल्लक्षाणि सार्द्धसप्तत्रिंशत्सहस्राणि स बहिर्दृश्यमानो भवति। प्रान्तद्वयेऽपि प्रोतभागोऽधिकश्च भवति। तथा च ध्रुवे कृतोपरिभाग इत्येतावत्तैव

१ आद्य। २ मतः।

ध्रुवोऽपि मेरुवत्तस्मात्ततोऽप्युत्तरतः स्थितः ॥१६३॥
अतस्तैलाक्षवत्सोऽपि द्वितीयोऽतिविचारकैः ।
रथोपरि स्थितिस्थानं षड्विंशल्लक्षदीर्घकम् ॥१६४॥
नवलक्षकविस्तीर्णं युगं चाऽपि तथाविधम् ।
आध्यात्मिका देवरूपा अश्वास्तत्र वहन्ति हि ॥१६५॥
सप्तानामुपयोगाय लक्षयोजनमन्तरा ।
प्रदेशोऽस्तीति बोधाय तथाऽऽकाशे गतिर्यथा ॥१६६॥
छन्दोमयास्ततः प्रोक्ता अरुणोऽपि तथोदितः ।
शब्दात्मका ह्यन्तरिक्षे गच्छन्तीति न विस्मितम् ॥१६७॥

चारितार्थ्येऽपि यत्तस्य मानमक्षे ध्रुवे कृतप्रान्तभागत्वं चोच्यते, तत्तस्य माननिष्कर्षार्थमेवेत्यर्थः । किञ्च ध्रुवोऽपि मेरुवन्मध्यभागस्थस्तस्माद्धेतोस्ततो ध्रुवतोऽपि पूर्वोक्त उत्तरत उत्तरभागे स्थितः ॥१६३॥ अतः स्थितिं विचार्य सोऽप्यक्षस्तैलाक्षवत्समसूत्रं प्रसृतो द्वितीय ऊर्ध्वोऽपि तैलाक्षवदेवार्जवेन स्थितो विचारकैर्ज्ञेय इति बोधनार्थमत्र द्वितीयोऽपि दृष्टान्त इत्यर्थः। अतः परं 'रथनीडस्त्वि'त्यादिनोक्तं सूक्ष्मरथस्वरूपं विचारयन्ति-रथोपरीत्यादि। अत्र मूले तु न त्रयीमयात्पूर्वोक्ताद्रथाद्भेदो बोध्यते। नीडपदार्थमाहुः—उपरिस्थितिस्थानमिति। तत्तुरीयभागविशाल इत्यादेरर्थमाहुः—नवेत्यादि। युगं चाऽपि वहन्तीत्यन्वयः। देवरूपा इति। 'वाजिभ्यो वाजिन'मित्यादिश्रुत्युक्ताः। युगमानकथनप्रयोजनमाहुः-सप्तानामित्यादि, बोधायेत्यन्तम्। युगमानकथनमिति शेषः। तावत्प्रदेशस्थापनप्रयोजनमाहुः-तथेत्यादि। तथाऽतिवेगेन यथाऽऽकाशे गतिरश्वानां भवति तदर्थं युगमानकथनमित्यर्थः। एतेन 'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्र'मितिश्रुत्युक्तोऽयं रथ इति पूर्वस्मादनर्वणोऽयं भिन्न इति साधितम्।१६६। 'छन्दो नामान' इत्यस्य तात्पर्यमाहुः—छन्दोमया इति। तथोदित इति। छन्दोमयत्वाय हययोजकत्वेनोक्तः। अरुणस्य छन्दोमयत्वं 'छन्दांसि वै सौपर्णेया' इति श्रुतेर्गरुडस्येव ज्ञेयम्।

एवं कथनस्याशयमाहुः—शब्देत्यादि। 'सैषा त्रय्येव विद्या तपती'ति श्रुतेः

१ लक्षं च ।

रथस्याऽऽवश्यकत्वाय स्तोत्रनृत्यादिवर्णनम् ।
स्थूले त्वेषैव सामग्री पश्चाच्चारुणसंस्थितिः ॥१६८॥
राशिचक्रे तु पुरतः सूर्यस्याऽरुण उच्यते ।
अथवा सर्वसामग्रीसहितोऽत्र द्विरूपतः ॥१६९॥
सदा तिष्ठत्युभयथा सर्वेषां कार्यसाधकः ।
एतस्य वा द्विधा शक्तिरचिन्त्यैश्वर्यरूपतः ॥१७०॥
पक्षद्वये प्रकारस्तु कल्पनीयो यथोचितम् ।
मासि मासि द्वयोस्तयाऽपि आदित्या मण्डला रथाः ॥१७१॥
सामग्रीसहिता भिन्नाः कल्पनीया न संशयः ।

सूर्योऽपि तथेति न किमप्यत्राश्चर्यजनकमित्यर्थः ॥१६७॥ अतः परं पुरस्तादिति गद्यार्थमाहुः-रथस्येत्यादि। 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्मयश्मश्रु'रिति श्रुतौ सूर्यान्तर्भगवानुक्तः। अत्राऽप्यग्रिमाध्याये 'स एष भगवानादिपुरुष एवे'त्यादिना (च) वक्ष्यते। अतस्तद्बोधिका सामग्री सर्वाऽप्यपेक्षितैवेति साऽत्रोच्यत इत्यर्थः।

ननु 'पुरस्तात्सवितुररुणः पश्चाच्च नियुक्तः सौत्ये कर्मणि किलास्त' इति स्थानद्वये कथनमित्यत आहुः स्थूलेत्यादि। तथा चानयैव सामग्र्या तस्यापि रथस्य भ्रमणमिति बोधयितुमेकस्यैवारुणस्योभयत्रोक्तिः। सूक्ष्मरथे सवितुः पुरस्ताद्यद्यपि स्थित एवारुणः, स्थूलरथे पश्चादपि नियुक्त इति। अतस्तदितरा सामग्र्युभयोरप्येकैवेत्यर्थः। नन्वविरुद्धे भ्रमणे कथञ्चित्तदुपपद्येताऽपि न तु विरुद्ध इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः—अथवेत्यादि। श्रुतौ 'एकोऽश्वो वहति सप्तनामे'ति सामग्र्यन्तरस्याऽप्युक्तत्वादरुणस्याऽपि मूर्तिभेदो रथान्तरेऽङ्गीकार्य इत्यर्थः ॥१६९॥

ननु श्रुतौ तु प्रकारत्रयम्, रथौ तु द्वावतो विरोधस्यैवमपि न परिहार इत्यतस्तृतीयं पक्षमाहुः—एतस्येति। त्रयीमयस्य भगवद्रूपस्य सूर्यस्य पक्षद्वय इति सप्त युञ्जन्तीति। एकोऽश्व इत्युक्तेः। नन्वेवं कल्पना मूलाभिप्रेतेति कथं ज्ञातुं शक्यत इत्यत आहुः-मासीत्यादि। तथा च तयाऽन्येति गद्ये तथोक्तेः। शेषा अनुक्ताऽपि कल्पनीयेति मूलेऽप्यभिमत इत्यर्थः॥१७१॥ ननु लक्षोत्तरेति गद्ये एवं नवकोटय इति गद्योक्तैव सङ्ख्या भूवलयस्यानूद्यते। एवं 'मुहूर्ते'ति गद्योक्तपरिभ्रमणसङ्ख्याविचारे तु भूवलयस्याधिका

२ राशिचक्रस्य । ३ निरूपितः ।

मानसोत्तरभूमिस्तु स्वमते दशकोटयः ॥१७२॥
चतुर्विंशतिसाहस्रं लक्षाणां चैव विंशतिः।
त्रिंशन्मुहूर्ता दिवसे ह्यष्टाशीत्यधिकानि हि॥१७३॥
लक्षाणि तु चतुस्त्रिंशदेवमेव ततो मता।
कोटित्रयं पञ्चदश लक्षाण्यायाम उच्यते ॥१७४॥
त्रिगुणा किञ्चिदधिका परिधिः परिकीर्तिता।
अतोऽत्र मतभेदेन सङ्ख्या बहुविधाऽभवत् ॥१७५॥
लक्षमानं न पूर्वोक्तं यथायोग्यं व्यवस्थितिः।
माहात्म्यार्थं तदुक्तं हि न विरोधस्ततः स्मृतः ॥१७६॥

सङ्ख्या भवतीति कथं परस्परविरोधपरिहार इत्यत आहुः मानसेत्यादि सार्द्धचतुष्टयम्। अत्र द्वितीयश्लोके या मूलगद्योक्ता मुहूर्तगमनसङ्ख्योक्ता सा अहोरात्रमुहूर्तविचारेण त्रिंशद्गुणिता सती प्रथमश्लोकोक्ता भूवलयस्य परिधिसङ्ख्या भवति। दशकोटयो विंशतिलक्षाणि चतुर्विंशतिसहस्राणीति मूलोक्तमौहूर्तिकगमनमानगणनया तथासिद्धेः। तदेतदाहुः—एवमेव ततो मतेति एतस्य व्यासस्तु कोटित्रयं चत्वारिंशल्लक्षाण्यष्ट-सहस्राणि। तदर्द्धं चैककोटिः सप्ततिलक्षाणि चत्वारि सहस्राणि, तदेतन्मानसोत्तर-मेर्वोरन्तरं भवति। तत्राष्टसहस्राणि मेरुमध्यात् षट्सहस्राणि त्रिभ्यो मर्यादागिरिभ्यः शिष्टानि द्वादशलक्षाणि चत्वारिंशत्सहस्राणि मानसोत्तराच्च तत्तदाक्रान्तान्यधिकानि ग्राह्याणि। तदेतद्बोधयितुं तृतीयश्लोके पूर्वगणितमेरुमानसोत्तरान्तरद्वैगुण्यसिद्धो व्यास उच्यते। ततस्त्रिगुणस्तु पञ्चचत्वारिंशल्लक्षाधिकनवकोटिरूपः परिधिः सिद्ध्यति।१७४। त्रिगुणः किञ्चिदधिक इति। उक्तस्त्रिगुणस्ततो द्विलक्षाधिकश्चेत्यर्थः। तत्पूर्वमेव योजनायां व्युत्पादितम्। एवं त्रैविध्ये कल्पत्रयभेदो यस्तृतीयस्कन्ध उक्तः स एव बीजम्। अतो हेतोरत्र परिवर्तननिरूपणे बहुविधा सङ्ख्यामूले मतभेदेनाऽभवत्। तथा सति जम्बूद्वीपस्य पूर्वोक्तलक्षमानं न, किन्तु यस्यां परिधिगणनायां व्यासनिश्चयार्थं यावदपेक्षितं तावदधिकं मेर्वाद्याक्रान्तं भूभागं निक्षिप्य यथायोग्यं व्यासाधव्य-वस्थितिः कर्तव्या। हि यतो हेतोः तत् माहात्म्यार्थमुक्तं न सङ्ख्यार्थमतः कल्पभेदाद्विरोधपरिहारः स्मृत इत्यर्थः। अत्र स्मृतपदेन कल्पभेदः स्मार्यत इति नात्र शङ्कालेशः। एवं सार्द्धचत्वारिंशद्भिर्धुप्रकरणप्रथमाध्यायो विचारितः॥१७५॥१७६॥

एकस्यैव द्विरूपेण गमने युक्तिरुच्यते।
सूर्यस्य च तथाऽन्येषां तत्राऽन्येषां पुरा जगौ ॥१७७॥
श्रुतस्यैव विरोधेन प्रश्नो यद्यपि सम्मतः।
दृष्टोऽपि वक्तुमुक्तं हि तथा प्रोवाच सर्ववित् ॥१७८॥
सूर्ये श्रुतानुपपत्तिर्दृष्टस्याऽऽदौ निवार्यते।
सूर्यस्य तु परीहारो भगवत्त्वाद्द्विरूपता ॥१७९॥

अ. २२ अतः परं द्वाविंशे द्युप्रकरणे द्वितीयं सपादाष्टादशभिर्विचारयन्ति। तत्रान्येषां चन्द्रादीनां सत्त्वकार्यरूपा गतिर्मर्यादाऽप्यस्याध्यायस्यार्थ इति पूर्वमुक्तम्। अधुना तद्विशेषतो विवेक्तुं प्रथमत उच्यमानयोः प्रश्नोत्तरयोः प्रासङ्गिकत्वेऽपि निष्कर्षार्थत्वादुभयशेषत्वबोधनायाहुः—एकस्येत्यादि। अत्र सर्वेऽपि तुल्या इति सर्वेपि प्रकरणिनः। ननु राज्ञा सूर्यगतेरेव पृष्टत्वादुत्तरेऽन्यगतेरपि कुतोऽनुमानमित्यत आहुः—तत्रान्येषां पुरा जगाविति। तत्र सूर्यगतिकथनावसरे। तथा अन्ये च ग्रहाः सोमादय' इति गद्ये तथेत्यतिदेशेनान्येषामपि द्विरूपां गतिं पुरा पूर्वाध्याय उक्तवान्। अतः प्रश्नाभावेऽपि पुनः सन्देहाभावाय तेषामप्यनुमान उल्लेख इत्यर्थः॥१७७॥ नन्वस्त्वेतत् तथाऽपि श्रुतविषयकसन्देहेन तद्विषयकानुमाने पृष्टे तदुत्तरत्वेन तदेव वक्तव्यम्। दृष्ट-विषयानुमानस्य किं प्रयोजनमिति शङ्कायां तामनूद्योत्तरमाहुः श्रुतस्येत्यादि। यद्यप्येवं तथाऽप्युक्तिमुत्तररूपां वक्तुं दृष्टः पिपीलिकादृष्टान्तोऽपि। हि यतो हेतोः सम्मतोऽतः सर्वविच्छुकस्तथा प्रोवाच। अयमर्थः। अत्र हि विरुद्धं गतिद्वयमेकदैवैककर्तृकं सन्दिग्धत्वा-त्पृष्टमतो दृष्टान्ते पूर्वं गतिद्वयमेककालीनं निर्द्धार्यम्, तच्च कुलालचक्रस्य विरतौ निर्द्धारितं भवति, न तु भ्रमणदशायामतो दृष्टान्तोऽपि न सिद्ध इति तत्साधनाय पूर्वं गतिद्वयमेक-कालीनं तदनुमानमावश्यकं तदेतदाहुः-सूर्यस्येत्यादि। अत्र दृष्टान्ते यत्र येषां भ्रमता सह भ्रमतां प्रदेशान्तरेषूपलभ्यमानत्वम्, तत्र तेषां भिन्नगतिमत्त्वमिति व्याप्तिं साधयित्वा ततस्तेन प्रकृतं साध्यते इति दृष्टानुपपत्तिनिवारणमावश्यकमिति तत्तस्य प्रयोजनमित्यर्थः। तत्राऽप्येतदनुमानं ग्रहान्तरादिगतिसाधन एव पर्यवस्यति, न तु सूर्य-गतिसाधन इत्याहुः—सूर्यस्येत्यादि। तथा च भगवत्त्वाद् द्विरूपत्वात्सामर्थ्येनैव परिहार-सम्भव इति न तदर्थमिदमनुमानमपि तु अन्यगतिसाधनार्थमेवेत्याशयेनैव मूले सूर्या-दीनामित्यादिपदमुक्तमित्यर्थः।१७८।१७९। मूले 'स एष' इत्यारभ्य समामनन्तीत्यन्ते-

भगवत्त्वञ्च तद्वृत्त्या कालभेदा यतोऽभवन्।
वेदत्वेनापि तत्सिद्धिः समर्थस्तद्गतो हरिः ॥१८०॥
ज्योतिश्चक्रं चालयन् स स्वांशैर्भुङ्क्तेऽन्यथाऽपि च।
ज्ञत्वादि सकलं तस्मादिति भेदा निरूपिताः ॥१८१॥
एकं शतमशीतिश्च स्वार्थाः सन्ति नभोऽन्तरा।
अंशैः सर्वत्र गमने वत्सरो भवतीति च ॥१८२॥
विशिष्टेन स्वरूपेण सदा ज्योतिःप्रवर्तनम्।
दिनमासर्त्वयनभुक् सर्वं भुङ्क्ते पुनः स्वयम् ॥१८३॥
पञ्चशक्तियुतस्तेन पञ्चनाम्ना निरूपिताः।

नाऽयं परिहारप्रकारो विवक्षित इत्याशयेनाहुः–भगवत्त्वं चेत्यादि। तथा च 'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि। कला मुहूर्तादिः काष्ठाश्चाहोरात्राश्च सर्वशः, अर्धमासा मासा ऋतवः सम्वत्सरश्च कल्पन्ताम्' इतिश्रुत्या बृहन्नारायणोपनिषदि यत्कालभेदजनकत्वमुक्तम्, यच्च 'सैषा त्रय्येव विद्या तपती'ति वेदरूपत्वं श्रावितम्, यच्च 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते इत्यत्र सूर्यान्तर्वर्तिनो भगवत्त्वं श्रावितम्। अन्तस्तद्धर्माधिकरणे विचारितश्च तदेतत् 'स एष' इत्यादिना 'समामनन्ती'त्यन्तेनोपबृंहितम्, तेन भगवत्त्वादेव परिहारोऽत्र विवक्षित इत्यर्थः ॥१८०॥

स्वांशैरित्यादि। मण्डलमानिभिर्द्वादशभिः स्वस्वरूपेण चकाराद् महाद्यन्तर्यामित्वेन चर्चादिसम्वत्सरान्तं भुङ्क्ते तस्मादिमे कालभेदा निरूपिता इत्यन्वयः।॥१८१॥ यावतार्द्धेन 'नभोवीथ्यामि'त्यादेरर्थं तत्तद्रूपकार्यस्य विभागं सम्वत्सरादिपञ्चनामकथनस्य प्रयोजनं चाहुः एकमित्यादि। उक्तसङ्ख्या एकायनदिवसाश्चकारात्तावन्तो द्वितीयायनदिवसाः स्वार्थाः स्वस्य सूर्यस्य भोग्याः सन्ति नभोमण्डलमध्ये। सर्वत्र तेषु सर्वेष्वंशैर्ज्योतिश्चक्रचालकैर्गमने पूर्णो वत्सरो भवतीति च बोध्यते ॥१८२॥ तत्र हेतुः–विशिष्टेनेत्यादि। प्रवर्तनमिति। कुर्वन्निति शेषः। एवं कुर्वन्नंशैरयनान्तभुक् पुनः स्वयं तथा सन्सर्वं भुङ्क्ते। तेन हेतुना वत्सरास्तथा निरूपिता इत्यर्थः। तथा च ग्रहादयः सर्वे ज्योतिश्चक्रस्थास्तत्प्रवृत्तिश्च सूर्यादेवेति तत्कृता अपि वत्सराः सूर्यकृता एवेति सूर्यगतिनिरूपण एवोक्ता इति भावः ॥१८३½॥

१ एवं।

गतिभेदेन वा भेदाः प्रत्येकं मध्यमिश्रणात् ॥१८४॥
चन्द्रादीनां प्रशंसार्थमुच्चत्वं शीघ्रभोजनम्।
चन्द्रस्य समताऽन्येषां विलम्बोऽपि निरूप्यते ॥१८५॥
अहोरात्रव्यवस्था च पितृणां चन्द्रतोऽभवत्।
अधःस्थितास्तु पितरश्चन्द्रं पश्यन्ति नेतरम् ॥१८६॥
कृष्णपक्षो दिनं तेषामष्टम्यादि निरूप्यते।
सूर्येण समता यर्हि तदा तेषां तु पूर्णता ॥१८७॥
क्षयोत्सुकत्वं कर्माङ्गं मतान्तरमिति स्थितिः।
कलापानं तथैव स्याद् देवानां तु दिनस्थितिः ॥१८८॥

पक्षान्तरमाहुः–गतीत्यादि। मध्यपदेन समगतिः, अस्मिन्पक्षे पञ्चाऽपि भेदाः साक्षात्सूर्यकृता एवेति विशेषः।१८३।१८४। एवं चन्द्रमा इत्यादेस्तात्पर्यमाहुः–चन्द्रादीनामित्यादि। समता साम्यम्। तथा च सर्वेषामुच्चत्वं चन्द्रस्य शीघ्रभोजनमन्येषामुशनःप्रभृतीनां यथायोग्यं सूर्यगतिसाम्यम्, ततो विलम्बोऽपि योऽत्र निरूप्यते स तेषां प्रशंसार्थं न तु सूर्यादाधिक्यज्ञापनार्थमित्यर्थः। अत्र नक्षत्राणां स्थिरत्वमेव राशिस्वरूपान्तःपातित्वात्। अन्ये पृथग्गतिमन्त इति बोध्यम् ॥१८५॥ 'अथ चापूर्यमाणे'त्यादेरर्थं विचारयन्ति-अहोरात्रेत्यादि। कथमित्याकाङ्क्षायां प्रकारमाहुः-अध इत्यादि। पितृलोको हि नक्षत्रशिशुमारोपरि स्थिरश्चन्द्रान्नीचैः सूर्यादुपरि, तथा सति ते चन्द्रमेवोपरिष्ठं प्रकाशकतया पश्यन्ति नेतरं सूर्यम्, तस्य तदधःस्थितत्वात्। एवं सति सूर्यान्निःसृत्य यदा कृष्णाष्टम्यामुपरि तत्समानदेशे चन्द्रः समायाति तदा तेषां दिनम्, यदा नीचैः सूर्यस्तदा तेषां मध्यान्होऽमावास्यायामस्माकं सूर्यादधःस्थत्वाच्चन्द्रदर्शनाभावः। यदा चन्द्रोऽग्रे सूर्यान्निःसरति तदा तेषामपराह्णः शुक्लाष्टम्यां सायमिति। सूर्यस्तु पितृभ्यो नीचैरिति रात्रौ सूर्यस्थितिरप्रयोजिकेति। एवमेव तृतीयस्कन्धसुबोधिन्यां बोध्यम्।१८६।१८७। ननु देवानां कलापानेन चन्द्रक्षयस्य सोमोत्पत्तावुक्तत्वादमृतपूर्त्यां पूर्णतायाश्चोक्तत्वादत्रापि तथाऽभिप्रेतत्वाच्च कथं सूर्याधीना सेत्यत आहुः–क्षयेत्यादि। कलापानेत्यनेनोक्तं मतं तृतीयं वा। तथा च मूले कल्पान्तरसङ्ग्रहात्तदप्यभिप्रेतमित्यर्थः। चन्द्रेण देवदिनव्यवस्थाप्रकारमाहुः-देवानामित्यादि। सूर्यस्यै-

१ भवेत्।

उत्तरायणषट्के हि रथानां दर्शनं भवेत् ।
अधःस्थितान्[1] रथांस्ते हि न पश्यन्त्युच्चदर्शिनः ॥१८९॥
प्रभवादिव्यवस्थां तु सुराचार्यः करोति हि ।
बुधशुक्रौ सूर्यसमौ सूर्येणैव निरूपितौ ॥१९०॥
तत्पुत्रो मङ्गलश्चैव क्रूरत्वान्न निरूपितौ ।
सूर्याल्लक्षे यथा चन्द्रस्ततो भानि च तावता ॥१९१॥
ततोऽग्रिमग्रहाणां तु लक्षद्वितयमन्तरा ।
उशना च बुधश्चैव तथाङ्गारक एव च ॥१९२॥
बृहस्पतिः शनिश्चैव ऋषयस्तु शनेः परे ।
लक्षैकादशतोऽत्युच्चैः पञ्चानां द्विगुणत्वतः ॥१९३॥

कस्मिन्नयने चन्द्रस्य षडावृत्तयो भवन्ति। तत्र तुलामारभ्य मीनान्ता देवानां रात्रिरुत्तरायणषट्कम्, तस्मिन् रथानां चन्द्रमारभ्य ऋष्यन्तानां दर्शनं देवानां भवेत् । यदा पुनः सूर्यस्य मेषादिकन्यान्तं दक्षिणायनषट्कं तदा सूर्याधःस्थिता देवा उच्चदर्शिन इत्युपरिष्टान्न पश्यन्तीति तु दिनस्थितिः । इदमेव चन्द्रकृतममराहोरात्रवितानमित्यर्थः॥१८९॥

बृहस्पतिनिरूपणप्रयोजनमाहुः-प्रभवादीति बुधशुक्रशनिभौमनिरूपणप्रयोजनमाहुः-बुधेत्यादि । न निरूपिताविति । सूर्यसमत्वेन न निरूपितौ । तथा चैतेषां कालोपाधिनियामकत्वाभावेऽपि फलनिरूपकत्वबोधनार्थं निरूपणमित्यर्थः ॥ १९० ॥

अतः परं तत उपरिष्टात्त्रिलक्षेत्यादिकं विचारयन्ति-सूर्यादित्यादि । ततश्चन्द्रादीनि नक्षत्राणि च तावता लक्षयोजनोपरि कालायने वर्तन्ते । तथा च मूले त्रिलक्षयोजन इति यदुक्तं तत्तेषां द्विलक्षयोजनोच्चस्वरूपविन्यासमन्तर्निवेश्येति ज्ञापितम् । तेषां देवगृहत्वात् । 'देवगृहा वै नक्षत्राणी'ति तेषां देवगृहरूपत्वश्रावणेन तावद्विन्यासस्य तत्रौचित्यादिति । अन्तरेति परस्परकक्षाव्यवधानम् ।

ऋषीणां विन्यासप्रकारमाहुः-ऋषय इत्यादि । पञ्चानामृषीणां द्विगुणत्वत एकत एकस्य लक्षद्वैगुण्याद् यौ पुनरुपरि समौ दृश्येते । सप्तर्षीणां तु यौ पूर्वौ दृश्येते उदितौ भुवीति द्वादशस्कन्ध उक्तौ तयोश्चापि लक्षं हि यतो हेतोरतोऽत्युच्चैर्लक्षैकादशतः शनेः परे उपरिष्टादृषयः सन्तीतियोजना । एवं सपादैरष्टादशभिर्द्वाविंशोध्यायो विचारितः ॥१९३॥

१ अवस्थितान् ।

समयोश्चापि लक्षं हि ध्रुवस्तेभ्यस्त्रयोदश ।
आध्यात्मिकांश्च तान् राशीनतिक्रम्य यतः स्थितः॥१९४॥
पञ्चपात्रयुतस्तत्र मोदते कृष्णतत्परः ।
भगवत्सेवकादेव सर्वं कार्यं यतो भवेत् ॥१९५॥
अन्ये सर्वे तदाधाराः स स्थिरः कार्यकृत्त्रिरैः ।
सवनत्रयधर्मस्तु तेषां गतिनियामकः ॥१९६॥
सूर्यवद्गमनं तेषामतः सम्पद्यते मया ।
तेषामपतने हेतुर्वायुः कर्मेति केचन ॥१९७॥
वस्तुतो भगवानेव शिशुमारस्तदाश्रयः ।
निवेशनं ततः प्राह सर्वेषां तत्र वै हरौ ॥१९८॥

(अ. २३) अतः परं पादोनाष्टभिस्त्रयोविंशं प्रकरणे तृतीयं विचारयन्ति। अत्र यद्यपि शिशुमारः प्रकरणी तथापि तस्योपजीव्यो ध्रुव इति (पूर्वं) तद्वर्णनात्पूर्वं तमेव विचारयन्ति ध्रुव इत्यादि । तस्य त्रयोदशलक्षोपरिष्ठत्वे बीजमाहुः-आध्यात्मिकानित्यादि । यतः कालाध्यात्मिकरूपाँस्तान् द्वादशराशीन्मेषादीनतिक्रम्य तेभ्यो राशिस्थेभ्यस्त्रयोदशे तावल्लक्षोपरि विद्यमाने भगवत्स्थाने स्थितः । अतस्तत्र पञ्चपात्रयुतः पञ्चभिरग्नीन्द्रप्रजापतिकश्यपधर्मैर्भगवत्सेवायास्तत्कृपायाः पात्रैर्योग्यैर्युतः कृष्णतत्परो मोदत इति योजना । एव'मथ तस्मादि'ति गद्यार्थ उक्तः। 'सहे'त्यादेरर्थं वदन्तस्तत्र स्थापनप्रयोजनमाहुः-भगवदित्यादि ॥ १९५ ॥ तदाधारा इति । तदायतत्वेन कार्यकर्त्तारस्त्रिभिः सवनैरिति कथनस्य प्रयोजनमाहुः सवनेत्यादि। प्रातर्मध्यंदिनतृतीयसवनेषु क्रियमाणो धर्मस्तेषां तथेति ज्ञापनार्थं तत्कथनमित्यर्थः॥१९६॥ अन्तरिक्षे तद्गमन उपपत्तिमाहुः-सूर्यवदिति । तथा चान्तर्यामिसामर्थ्याद्गमनमित्यर्थः। अत्र गमकमाहुः-अत इत्यादि । यत एतद्गत्यादिकं भगवदधीनमत एव तज्ज्ञाने मया सम्पद्यते 'मये'ति भगवतोक्तमित्यर्थः । नभसि 'यथे'तिदृष्टान्तेन यदतिदिष्टं तत्र सिद्धान्ताभिप्रायेणेत्याहुः तेषामित्यादि । सिद्धान्तमाहुः-वस्तुत इत्यादि । तत्र गमकमाहुः-निवेशनमित्यादि । तथा च यथा केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाश इति मतान्तरं राज्ञ आकाङ्क्षापूर्त्तावपि स्वत एवादरणीयत्वाय मतान्तरमुक्तम् । तथेदमपीत्ययमेव मुख्यः पक्ष इत्यर्थः ॥ १९८ ॥ ननु श्रुतौ शिशुमारोपस्थाने 'अग्निःपुच्छस्य प्रथमं

चत्वारो वा तत्सचिवाः कश्यपोऽत्र प्रजापतिः ।
अभयं धर्म इत्युक्तं तेन सर्वाविरोधिता ॥१९९॥
अवतारचरित्रं हि धारणं विषमत्वतः ।
न ह्येवमन्योऽवस्थातुं क्षणं शक्नोति कश्चन ॥२००॥
अन्यथा सकलां पृथ्वीं न द्रष्टा सुखवृत्तये ।
एवं त्रिभिर्ध्रुमर्यादा मध्यभूता निरूपिता ॥२०१॥
अतस्त्रिभिरधःस्थानमर्यादा सकलोच्यते ।
सूर्याग्निरूपणं यस्मादतः स्वर्भानुवर्णनम् ॥२०२॥
प्रसङ्गाद् ग्रहणं चाऽऽह सूर्यादीनां तु गर्वनुत् ।
ग्रहणं लोकसिद्धं हि न तु वेदे कथञ्चन ॥२०३॥

काण्डं तत इन्द्रस्ततः प्रजापतिरभयं चतुर्थमि'त्युक्तम् । इह तु पुच्छाग्रे ध्रुवमुक्त्वा तस्य लाङ्गूले प्रजापतिरग्निरिन्द्रो धर्म इति कथमविरोध इत्यत आहुः-चत्वार इत्यादि । तस्य ध्रुवस्य सचिवाः सहकारिणोऽग्न्यादयश्चत्वारस्तथा सति प्रजापतिना कश्यपेनेत्यत्र प्रजापतिपदं कश्यपविशेषणं श्रुतावपि 'तेजसा कश्यपस्ये'त्युक्तत्वात् । धर्मपदं च श्रुत्युक्ताऽभयशब्दार्थनिर्द्धारकम्, सर्वदेवतानिवेशस्तु तत्रात्र च तुल्यः स्थानभेदः कल्पभेदादिति तेन सर्वमेवाविरुद्धमित्यर्थः ॥ १९९ ॥

तदेतदाहुः-अवतारेत्यादि, अवतारत्वे गमकमाहुः-नहीत्यादि ॥ २०० ॥ तथा स्थितौ प्रयोजनमाहुः-अन्यथेत्यादि । यद्यूर्ध्वमुखस्तिर्यङ्मुखो वा तिष्ठेत्तदा असुखस्य तुच्छसुखस्य वा हन्तये दूरीकरणाय सकलां पृथ्वीं न द्रष्टा न पश्येत् । तथा च तदुभयहननमेवं स्थितौ प्रयोजनमित्यर्थः । ध्रुप्रकरणमुपसंहरन्ति-एवं त्रिभिरित्यादि । मध्यभूतेति । 'मध्ये तिष्ठन्ति राजसा' इतिवाक्यात् । महर्लोकाद्यपेक्षया न्यूनत्वमत्राभिप्रेतम् । पूर्वत्र तु स्वर्गापेक्षयेति नोपक्रमविरोधः । एवं सार्धोनसप्ततिभिर्ध्रुप्रकरणं विचारितम् ॥ २०१ ॥

(अ० २४) अतः परं सार्द्धषोडशभिर्भूम्यधःस्थितमर्यादा विचार्यते-अतस्त्रिभिरित्यादि । अत इति अतः परम्, ननु भूम्यधःस्थमर्यादावर्णनप्रस्तावे राह्वादिवर्णनस्य किं प्रयोजनमित्यपेक्षां पूरयन्तो नवभिश्चतुर्विंशस्य प्रकरणप्रथमस्यार्थमाहुः-सूर्यादित्यादि। तथा च तावदनिरूपणे राज्ञो निराकाङ्क्षता न स्यादिति तदभावाय तन्निरूपणमित्यर्थः।

अन्तरिक्षं ततोऽधस्ताद् देवाग्नीचस्थितौ हितम् ।
एवमेवोत्तरं नीचा ज्ञातव्या भागशः क्रमात् ॥२०४॥
दैत्या अतिबला युक्ता भक्ता वा मुरवैरिणः ।
अधःस्थानं स्थितौ तेषां तेन बल्यादिवर्णनम् ॥२०५॥
आनन्दस्य प्रतिष्ठा तु तत्रैवेति निरूप्यते ।
ज्ञानादिकं बाधकं हि दुःखं तत्र महत्तथा ॥२०६॥
अज्ञानतः सुखं तत्र सात्त्विकानां न रोचते ।
अतलादिषु सर्वत्र तत[illegible]दृशमीरितम् ॥२०७॥
भक्तिः सर्वत्रोत्तमेति तत्राऽप्युत्तमतोच्यते ।

उत्तरमिति उत्तरोत्तरम् । भागश इति यथायोग्यम् । एवमुत्पतन्तीत्यन्तस्य प्रासङ्गिकस्यार्थ उक्तः ॥२०२॥२०३॥२०४॥ अथ तदग्रिमाणामर्थमाहुः-दैत्या इत्यादि । तादृशं तेषां स्थानं कुत इत्यपेक्षायां तान् विशिषन्ति-अतिबला इत्यादि । बल्यादीत्यादिपदं सर्पनागयोरपि सङ्ग्रहार्थम् । तथा च प्रलयसाधनीभूता योगिनो भगवद्भक्ताश्च यथाभागं वसन्तीत्यर्थः ॥२०५॥ तत्रत्यसुखनिरूपणस्य तात्पर्यमाहुः-आनन्दस्येति । तमस आनन्दमूलत्वात्तदीयानन्दस्य प्रतिष्ठा प्रकर्षेण स्थितिस्तेष्वेव लोकेष्विति हेतोस्तत्रत्यं सुखं निरूप्यत इत्यर्थः। ननु तेषां स्वर्गादधिकसुखवत्त्वे तानि देवैः कुतो नेष्यन्त इत्यत आहुः ज्ञानादिकमित्यादि । तत्र विनोदो मायाकृत इत्यतः स्वर्गादाधिक्यं माया च ज्ञानेन योगेन च बाध्यते, सुदर्शनप्रवेशजन्यं दुःखं च महत्, तथा सति तत्र सुखमज्ञानकृतमतो नेष्यत इति बोधनाय तथेरितमित्यर्थः । ननु तथापि सुतलसुखं न तादृशम्, इन्द्रादिष्व-विद्यमानयेति भगवदनुकम्पाविशेषणात् । तादृशानुकम्पासम्पादितस्याज्ञानकृतत्वा-भावादित्यत आहुः-भक्तिरित्यादि । उत्तम इति । आनन्द इति शेषः । तथा च स न बिलसम्बन्धी, किन्त्वतिरिक्त इति न बिलसुखस्य देयेष्टत्वमित्यर्थः । यदि भगवतो बलावीदृशी कृपा तदा भगवता तन्निग्रहस्य किं प्रयोजनमत आहुः-धर्मार्थमिति । तदीयधर्मस्य सत्यवाक्त्वादिरूपस्य ज्ञापनार्थम् । तथा च भगवान् जीवस्य

धर्मार्थं भगवाँस्तस्य निगृहीतेति वर्णनम् ॥२०८॥

भगवानुत्तमत्वं च पातालादिष्वकारयत् ।

तत्परित्यज्य दुःखेन कर्मणा वर्त्तते यतः ॥२०९॥

एवं ज्ञानं तस्य वृत्तमिति तद्वाक्यवर्णनम् ।

महादेवस्याऽपि भक्तस्तथा किं तु ततोऽधमः ॥२१०॥

ततो लोकत्रयं नीचं भयं किञ्चित्ततो मतम् ।

तेषामेव सुखे हेतुर्भगवाँस्तामसस्तथा ॥२११॥

लक्षमात्रमियं भूमिः प्रायेणाऽत्र नियोगतः ।

सत्येन दैन्येन स्वात्मन्यधमत्वज्ञानेनानहङ्कारेण तुष्यतीतिज्ञापनार्थं तद्वर्णनमित्यर्थः । ।२०६।२०७।२०८। ननु भगवत्कृपायाः बलिस्वभावस्य चैतावतैव ज्ञातुं शक्यत्वेऽपि तद्वाक्यवर्णनस्य किं प्रयोजनमत आहुः भगवानित्यादि । उत्तमत्वमिति कृपा-स्वविषयस्य स्वीयस्येतिशेषः । दुःखेनेति भगवच्छद्मदानरूपेण ।२०९। तस्य वृत्तमिति बलेर्वृत्तं नेन्द्रस्य । तथा च सत्वसंरब्धमुख्यापेक्षया राजस एव भगवत्कृपावैशिष्ट्य उत्तमो भवतीति तदीयदास्यमेव वस्तुतः सर्वोत्तममिति ज्ञानं बलेर्जातं नेन्द्रस्येति तदपेक्षयाऽपि भक्त्युत्कर्षबोधनाय बलिवाक्यवर्णनमित्यर्थः । भयसुखनिरूपणतात्पर्य-माहुः-महादेवस्येत्यादि । इन्द्रापेक्षयाऽधिकत्वस्य बल्यपेक्षया न्यूनत्वस्य च ज्ञापनाय तद्वर्णनमित्यर्थः । एवं चतुर्विंशार्थः सार्द्धैर्नवभिरुक्तः ॥ २१०½ ॥

(अ. २५) अतः परं त्रिभिः पञ्चविंशस्य प्रकरणद्वितीयस्यार्थमाहुः-तेषामित्यादि । ननु पातालमूले भगवत्स्थितेः किं प्रयोजनं भूमिधृतेः सामर्थ्येनापि सम्भवादित्यत आहुः-तेषामित्यादि । अधोलोकनिवासस्तामसकर्मभिरज्ञानं च, राजसकर्मणा चासुरत्वं दुःखं च, 'कर्मणः सुकृतस्याहु'-रितिगीतावाक्यात् । अतो भगवान् सङ्कर्षणस्तेषां बिलनिवासिनामेव सुखहेतुः । तथा तमस उपलक्षण-मेतन् नरकस्य सुखहेतुः । अन्यथैतेषु सुखवर्णनं नात्र क्रियेत, नारकी च निर्वृतिर्न स्यात् । तथा चैतत्कार्यद्वयार्थं तत्र स्थितिरित्यर्थः ॥२११॥ सङ्कर्षणस्थितिः पाताल-मूले ब्रह्माण्डमूलाऽधो वेति सन्देहनिवृत्त्यर्थमाहुर्लक्षमात्रेत्यादि । इयं शेषेण ध्रिय-माणा भूमिर्लक्षमात्रं प्रोक्तेति सम्भाव्यते । प्रायेणेति सम्भावनार्थकम् । तत्र हेतुः,

उपयुक्ता ततः प्रोक्ता न तु पृथ्वी हि तावती ॥२१२॥

तस्याधःस्थात् स्थितौ हेतुः संसारो जगतो मतः ।

सुखं च विषयोक्तस्य कीर्त्तिश्चाऽपि निरूप्यते ॥२१३॥

दृष्ट्यैव तामसत्वं हि सात्त्विको वस्तुतो मतः ।

सुखोत्तमस्य हीनत्वे प्रश्न उत्तरमेव च ॥२१४॥

दुःखं सर्वत्राऽविशिष्टमतः प्रश्नस्तु नारकः ।

हि यतो हेतोः नियोगतः कर्मचोदनात उपयुक्ता कर्मोपयोगिनी ततो हेतोः । तथा च यावती वराहावतार उद्ध्रियते तावती, तेन पातालमूलमेव गद्येऽभिमेतमित्यर्थः । अन्यथाऽवान्तरप्रलयो न घटेतेति भावः । तदाहुः-न तु पृथ्वीति । ब्रह्माण्डरूपाऽत्र-शेषधार्या न भवतीत्यर्थः । अनेनैव हेतुरुक्तः । तथा च सा सर्वावरणसंयुता गुणप्रवाहे अक्षरब्रह्मणि वा तिष्ठतीति तस्याः पृथ्वीत्वेनाधारान्तरापेक्षाभावादितिभावः ॥२१२॥ तर्हि तद्वदियमपि जल एव स्थास्यतीति किं शेषस्थित्येत्यत आहुः-तस्येत्यादि । तथा च लोकानां स्वस्तय आस्ते इति कथनात्संसारः पूर्वोक्तं बिलसुखं मुमुक्षूपकारश्च तत्र स्थितौ हेतुरित्यर्थः । अत्र मध्यमं श्रुतार्थापत्तिसिद्धमादिममन्तिमं कण्ठोक्तं ज्ञेयम् ॥२१३॥ अत्र प्रथमगद्ये तामसी कला सात्वतीत्युभयमुक्तं तद्विरोधपरिहारायाहुः-दृष्ट्येत्यादि । 'असद्दृशो यः प्रतिभाति मायया क्षीवेव मध्वासवताम्रलोचन' इतीलावृतवर्णने शिववाक्यं बीजं ज्ञेयम् । एवं प्रकरणे द्वितीयः पञ्चविंशस्त्रिभिर्विचारितः ।

(अ, २६) अतः परं चतुर्भिः षड्विंशं तृतीयं विचारयन्तो 'महर्ष एतद्वै-चित्र्यमि'ति प्रश्नस्य तदुत्तरस्य च तात्पर्यमाहुः-सुखेत्यादि । सुखं तु सर्वत्रोत्तममुक्तं तद्धेतुकथने तु कामः कर्म चोक्तम् । तत्र कामकर्मजन्यत्वेऽपि हीनताप्रयोजकज्ञानाय प्रश्नः । उत्तरं 'त्रिगुणत्वादि'त्यादिनोक्तं त्रैगुण्यजन्यत्वेन हीनत्वज्ञापनायैवेत्यर्थः ॥२१४॥ ननु नरकाणां प्रसिद्धत्वात्किं देशविशेषा इत्यादिप्रश्नस्य को वाऽऽशय इत्याकाङ्क्षा-यामाहुः-दुःखमित्यादि । तथा च नरकस्य पापभोगोपयुक्तत्वात् तत्फलस्य च दुःखात्मकत्वात्तस्य च सर्वत्र तुल्यत्वात्कुतस्तेषां बहुत्वं कुतश्च गुणप्रधानभाव इति

१ यथा । २ धृङ् अवस्थाने इतितुदादिगणस्थधातोः कर्तरि रूपम् ।

देशा न नरकं किन्तु कर्मणेति तथोत्तरम् ॥२१५॥
यमश्च पितरश्चैव ततस्तत्र निरूपिताः।
कर्माण्येव निमित्तानि सर्वेषां तु यथा भवेत् ॥२१६॥
नरकश्च तथा स्वर्ग इत्यन्ते स्वर्गवर्णनम्।
भगवद्व्यतिरिक्तस्य वर्णनं नैव युज्यते ॥२१७॥
इत्याशङ्क्य हरे रूपवर्णनेनोपसंहृतिः ॥२१७३॥

इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वार्थदीपनिबन्धे
श्रीभागवतार्थप्रकरणे पञ्चमस्कन्धार्थनिरूपणं
समाप्तम्।

प्रश्नस्याशय इत्यर्थः। उत्तराशयमाहुः—देशा नेति। देशास्ते स्वरूपतो न बहवः, किन्तु कर्मणा, तथा चैकत्रैव कर्मविद्यमानत्वेऽपि तत्तत्कर्मैव तेषां बहुत्वे गुणप्रधानभावे च प्रयोजकमिति बोधयितुमेकैव कर्मतत्फलभोगविवरणप्रकारेणोत्तरमित्यर्थः ॥२१५॥ अत्र गमकमाहुः—यम इत्यादि। तथा चैवं वत्सलैरपि पितृभिस्तत्सहायाकरणाद्यमेन तद्विवेचनाच्च कर्मैव निमित्तमित्यर्थः। गमकान्तरमाहुः कर्माणीत्यादि। स्वर्गवर्णनमिति। तथैव धर्मवर्त्तिन इत्येनन सूचितम्। शेषं स्फुटम्।

॥ इति श्रीमत्प्रभुचरणदर्शिता पुरुषोत्तमदृष्टा
पञ्चमस्कन्धनिबन्धयोजना
सम्पूर्णा ॥

पञ्चमस्कन्धः
समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे भागवतार्थप्रकरणे

षष्ठस्कन्धविवरणम्।

एवं कृष्णजयाख्यं हि पञ्चमे स्थानमीरितम्।
एकोनविंशैरध्यायैः पुष्टिः षष्ठे निरूप्यते ॥ १ ॥

श्रीबालकृष्णो विजयते।

अथ षष्ठस्कन्धनिबन्धस्य योजना।

अथ षष्ठस्कन्धार्थं निबध्नन्तः पूर्वस्कन्धे स्थानं यथा महापुराणसामान्यलक्षणभूतवृत्तिविशेषरूपमलौकिकं निरूपितमेवमस्मिन्नपि स्कन्धे रक्षाविशेषरूपं पोषणमलौकिकं निरूप्यत इति बोधयन्तः पुष्टिनिरूपणं प्रतिजानते एवमित्यादि। एवं तस्य तस्य तत्र तत्र नियमनेन कृष्णजयाख्यं स्थानं वृत्तिविशेषरूपम्, हि यतो हेतोः पञ्चमे ईरितम्। अतो हेतोः षष्ठे कृष्णानुग्रहरूपा पुष्टिरेकोनविंशैरेकोव्रतबोधकतया मुख्य ऊनत्रिंशो यत्र तादृशैरूनविंशतिभिरध्यायैर्निरूप्यते। द्वादशे स्कन्धे रक्षा चतुर्थं लक्षणम्। सा च 'रक्षाच्युतावतारेहा विश्वस्यानुयुगे युगे। तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः' इत्येवं लक्षिता। तदर्थस्तु विश्वस्याऽनु विश्वोत्पत्त्यनन्तरं युगे युगे प्रतियुगं तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु विद्यमानास्त्रयीद्विषो हन्यन्ते। तादृशी या अच्युतावतारेहा अच्युतस्य अवताराणां वा ईहा चेष्टा सा रक्षेति। एतस्याश्च लक्षणत्वं नावतारलीलात्वेन तुरीयपादव्यर्थत्वापत्तेः, लीलान्तरेऽतिव्याप्तेश्च। नापि त्रयीद्वेषिनिवारकत्वेन सृष्ट्यादिक्रियायामतिव्याप्तेः, अच्युतावतारपदवैयर्थ्यापत्तेश्च। किन्तु वेदविरोधिनिवारकभगवल्लीलात्वेन तादृशावतारलीलात्वेन वा। तथा सति तस्याः पुराणान्तरसाधारणत्वेऽप्यलौकिकत्वानपायात्। अत्र तथा तदुक्तावपि न दोषस्तथापि तत्र हननप्रकारस्य लौकिकत्वादत्र च विशेषलक्षणानामेवोपक्रान्तत्वेन

कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः कालादिबाधिका ।
अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावान्निरूपितः ॥ २ ॥
देवगुह्यत्वसिद्ध्यर्थं नामध्यानार्चनादिकम् ।
पुरस्कृत्य हरेर्वीर्यं नामादिषु निरूप्यते ॥ ३ ॥

प्रकारस्याप्यलौकिकत्वविवक्षयाऽनुग्रहरूपा भगवल्लीलोच्यत इत्यर्थः । एवं प्रतिज्ञायां स्वरूपकथनेन रक्षाविशेषरूपतां समर्थयित्वा येनास्या विशेषत्वं तं प्रकारमाहुः-हीत्यादि । महापुराणान्तरोक्तरक्षा हि त्रयीद्विषां स्वरूपमात्रनाशिका न तु तद्द्वेषमूलकारणस्य स्वभावस्य सहकारिणः कालादेश्च बाधिका, नापि तेषां मोचिका। पुष्टिस्तु तेषामपि स्वभावस्य बाधिका यया स्वरूपतः सन्तोऽपि न त्रयीं द्विषन्ति हताश्च मुक्ता भवन्ति। अतः प्रकारोऽप्यत्रालौकिक इत्यर्थः । नन्वनुग्रहस्याऽप्रसिद्धत्वाल्लक्षणमसम्भवीत्याकाङ्क्षायामाहुः-अनुग्रहो लोकसिद्ध इति। अनुग्रहः कृपाऽपरपर्यायो मनस आत्मनो वा धर्मविशेष इच्छादिव्यतिरिक्तो लोकसिद्ध इति लोके क्षीणधनस्याधमर्णस्य उत्तमर्णैः स्वल्पधनग्रहणेनानृणित्वसम्पादने, स्मृतौ प्रायश्चित्ताशक्तस्य पातकिनः पापनिवृत्तये स्वल्पप्रायश्चित्तबोधने च पार्षदनुग्रहत्वादिरूपेण प्रसिद्धोऽतो न लक्षणमसम्भवीत्यर्थः । नन्वन्यधर्मो भगवति कुत उच्यत इत्यत आहुः गूढेत्यादि । कम्पनाधिकरणविषयवाक्येन प्रलयकर्तृत्वेन च भगवतः क्रूरत्वावगमात्स न प्रसिद्धो वस्तुतस्त्वस्तीति गूढभावात् । अनुकृत्यधिकरणे सर्वस्य भगवदनुकारितायाः सिद्धत्वाल्लौकिकेन तेनानुमेयः सोऽत्र मूलरूपे कार्यद्वारा निश्चायित इत्यर्थः ॥ २ ॥

नन्वत्र कालादिनिवर्त्तकत्वं नामादिषु प्रतीयते न तु पुष्टाविति कथं तस्यास्तथात्वमित्यत आहुः-देवेत्यादि । न हि पुष्टेस्तथात्वं मनुष्याणामेव दुर्ज्ञेयम् । किन्तु देवानामपीति देवगुह्यत्वज्ञापनार्थं तद्व्यापारभूतं नामादिकं तथात्वेन निरूप्यत इति शेषः । ननु कथमेतदवगम्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः-पुर इत्यादि । अत्र हि नामादिषु यत्तथात्वं निरूप्यते तन्न नामत्वादिकं पुरस्कृत्य किन्तु 'नामव्याहरणं विष्णोर्महापुरुषपूजायाः सिद्धिः काम्यानुषङ्गिकीत्यादिकथनाद्भगवद्वीर्यं पुरस्कृत्येति तेनावगम्यत इत्यर्थः । न चात्र षष्ठ्या तत्पुरुषेण च सम्बन्धमात्रमेव तथा (कालादिनिवर्त्तकः) अवगम्यते न वीर्यमिति शङ्क्यम् । इतरबाधनरूपेण रक्षारूपेण च कार्येण तस्य

मतान्तरस्य भाषा तु नामप्रकरणे मता ।
ध्याने हरिप्रवेशस्तु स्पष्टः प्रोक्तस्तथाऽर्चने ॥ ४ ॥
त्रिभिराद्यं प्रकरणं नराणां देवदैत्ययोः ।
चतुर्दशभिरध्यायैर्द्वाभ्यां चैव निरूप्यते ॥ ५ ॥
नाम त्रिविधसम्बन्धादात्मगामि भवेद्यतः ।
श्रवणात्कीर्तनात्स्मृत्या ततोऽध्यायत्रयं मतम् ॥ ६ ॥

तथात्वावगमात् *, लोके तथा दर्शनात् । अत एवानुग्रहस्येच्छादिभ्यो भेदः । प्रसादकृपादीन्यस्यैव पर्यायाः । एवं च कालादिनिवर्त्तकोऽनुग्रहापरनामा वीर्यविशेषरूपो भगवद्धर्मः पुष्टिरिति सिद्धम् । अत्र च वेदतात्पर्यानभिज्ञयमदूतताडनाद्धर्मालोककर्त्तुर्विश्वरूपस्य पापस्य वृत्रस्य च हननाद्दितिगर्भच्छेदनाच्च सामान्यलक्षणसमन्वयः । एवमजामिलदुष्कर्मण इन्द्रमृत्योर्वृत्रस्वभावकर्मणोर्दितेः स्वभावस्य मरुतां कालकर्मस्वभावानां बाधनाच्च विशेषलक्षणसमन्वयः ॥३॥

एवमत्र त्रिभिः स्थितिकरणभूतः स्कन्धार्थो निर्णीतः । पूर्वस्कन्धत्रये जगज्जन्मकरणभूतसर्गादिनिरूपणवत् । अतः परं प्रकरणार्थो निर्णयः । तत्र नामादीन्येवात्र भगवत्सम्बन्धीन्युच्यन्त इति व्यापारतया तान्येव प्रकरणीनि, नरादिवाङ्मनःकर्मणां तदभिव्यञ्जकतयोपयोग इत्यनुग्रहविषयाणां नरादीनामपि तथात्वम्, स्थितिलीलात्वाद्विवक्षितेन्द्रादिस्थितिफलम्,तदेतद्बोधयितुं प्रकरणिनो विचारयन्तः प्रथमप्रकरणे विशेषमाहुः-मतान्तरेत्यादि । नाम्नि भगवत्सम्बन्धस्यौपचारिकत्वात्कथमेवं सामर्थ्यमित्याशङ्कानिरासकस्तु: । भाषाप्रयोजनं त्वग्रे वाच्यम् । स्फुटमन्यत् ॥४॥

एवं प्रकरणार्थं निर्णीय पुष्टिविषयानधिकारिणः स्फुटीकुर्वन्तोऽध्यायान् विभजन्ते त्रिभिरित्यादि । अत्र 'नराणामि'ति बहुवचनादग्रेऽपि देवानां दैत्यानामिति बोध्यम् । द्विवचनप्रयोगस्तु जात्येकत्वाभिप्रायेणेति च । तथा च देवप्रकरणे चतुर्दशदैत्यप्रकरणे द्वावध्यायावित्यर्थः । तावतां तत्र प्रयोजनमाहुः-नामेत्यादि ।

* नामादिषु भगवद्वीर्यस्य कालादिनिवर्त्तकत्वावगमात् । अनुग्रहस्य कालादिनिवर्त्तकत्वादेव कालादिप्रवर्त्तकेभ्य इच्छादिभ्यो विभेदः ।

रूपं चतुर्दशगुणं प्रत्येकं हृदि भावितम्।
फलत्येवेति तावद्भिरध्यायैर्विनिरूपणम्॥ ७॥
*रूपेण मोक्षदः प्रोक्तो रसेनाऽऽनन्ददायकः।
गन्धेन भक्तिदः प्रोक्तः स्पर्शेनाऽखिलतापनुत्॥ ८॥
मनोहरस्तु नादेन योगेनाऽऽत्मप्रवेशदः।
कालमोक्षप्रदो द्विष्टः स्वामी सर्वसुखप्रदः॥ ९॥
हीनभावाद्दुःखदश्च केवलः सकलार्थदः।
मितो योगप्रदः प्रोक्तो भिन्नो मृत्युप्रदः स्मृतः॥१०॥
यथास्थितो ज्ञानदश्च स्नेहाद्वश्यो भवेद्ध्रुवम्।
पूजाऽपि द्विविधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः॥११॥
अतोऽध्यायद्वयं तत्र क्रिया सा त्रिविधो हरिः।
नामरूपे क्रिया चैव हरेः सर्वहितप्रदः॥१२॥
एतत्त्रयं प्रसन्नश्चेद्ददाति न ततोऽन्यथा।

हरिरित्यन्तैः सार्धैः षड्भिः। चतुर्दशगुणम् इति चतुर्दशधर्मकम्। द्विष्ट इति द्वेषित्वेन भावितः। एवमग्रेपि हीनभावादिति। हीनत्वेन भावनात्। मितो ज्ञातः। क्रिया सेति प्रकरणार्थरूपा पूजा त्रिविधोहरिरिति। त्रयं वा इदं नाम रूपञ्च कर्म चेति श्रुतौ प्रपञ्चस्यात्मकत्वमुक्तम्। अत्र प्रकरणत्वेनोच्यमानं त्रयं न प्रपञ्चरूपं किन्तु तत्त्रितयप्रकारको भगवानेवेत्यर्थः। अत्र गमकमाहुः—नामेत्यादि। तथा च सर्वहितप्रदत्वमेव तेषां भगवद्रूपत्वगमकमिति त्रयाणामनेन रूपेण प्रकरणार्थतेत्यर्थः। एतेनाध्यायार्था अप्युक्ता एव। एतेषां व्यापारत्वं स्फुटीकुर्वन्ति—एतत्त्रयमित्यादि। तथा च हितस्वरूपां स्थितिं प्रसन्नो ददातीति भगवान् कर्त्ता प्रसादः पुष्ट्यात्मकः करणं नामादित्रयं व्यापारः सोऽपि भगवत्प्रसादेनैव प्राप्यो नान्यथेत्यर्थः। नन्वुक्तविधं नामादित्रयं प्रसादलभ्यं यथा तथैव भक्तिरपि, 'कर्हिचित्स्म न भक्तियोगमि'तिवाक्येन तथाऽनुमानात्। तथा च कारणसाम्ये कथं न भक्तेरे-

* रूपेण मोक्षद इति. अत्रत्यं निबन्धकठिनांशविवेचनं दीर्घत्वात् षष्ठस्कन्धान्ते निवेषितम्, ततोवलोकनीयम्।

पुष्टिः स्वार्था परार्था तु भक्तिः साऽनवमे मता॥१३॥
अजामिलो दासयोग्यः प्रागेव हरिणा तथा।
विचारितो गर्वमुक्त्यै तथात्वं प्रापितो बलात्॥१४॥
स्वभावदुष्टा जीवा हि स्वधर्मोत्कर्षभावुकाः।
अतस्तथाविधं कृत्वा स्वात्मसात्कुरुते हरिः॥१५॥
भक्तस्यैवंविधत्वं हि न समाधावभीप्सितम्।

तत्स्कन्धे कथनमित्यत आहुः—पुष्टिरित्यादि। अत्रोक्ता पुष्टिः स्वार्था जीवहितकरी। भक्तिस्तु परार्था भगवत्कार्योपयोगिनी, सा अनवमे पूर्णे प्रसादे मता। तथा च कारणभेदात्कार्यभेदाच्च तस्या नैतत्स्कन्धार्थतेत्यर्थः। एवं दशभिः प्रकरणत्रयार्थः सामान्यतो विचारितः॥१३॥

अतः परं प्रथमप्रकरणार्थं विशेषतो विचारयन्ति—अजामिल इत्यादि सार्द्धोनचत्वारिंशद्भिः। योग्यतायां हेतुमाहुः—प्रागेवेत्यादि। तर्हि कथमेवं भाव इत्यत आहुः—गर्वेत्यादि। बलादिति स्वभावदोषबलात्।॥१४॥ स को वा दोष इत्यत आहुः—स्वभावेत्यादि। चिदंशा हि जीवा अविद्यया व्याप्ताः स्वदेहद्वयाहमा स्वधर्मे गुणक्रियात्मके उत्कर्षं भावयन्ति। अहमीदृश एवमहं करोमि नान्यो मत्सम इति सोऽयं दोष इत्यर्थः। अत इति तद्दोषनिवारणं मनसिकृत्य 'आत्मसात्कुरुते'इति अङ्गीकरोति। तत्र हेतुः—हरिरिति। जीवदुःखहर्त्ता। तथा च यः स्वदास्यार्थं विचारितः स्वभावदोषवशाद्बहिर्मुखो भवति तं स्वविचारितप्रसादानुसारेणैवं बाहिर्मुख्यमपनयन् तस्य हितं करोतीति जीवदोषनिवारकोऽनुग्रहोऽत्र प्रकरणे पुष्टित्वेन विवक्षित इत्यर्थः। 'पुष्टिः स्वार्थे'ति यदुक्तं तदेताभ्यां श्लोकाभ्यां विवृतम्। तावता तादृशस्थानपोषणबोधकयोः स्कन्धयोः सान्निध्येन मर्यादासंवलनात् मर्यादापुष्टिरिति या प्रसिद्धा सेयमिति फलति। एवमग्रिमप्रकरणयोरपि बोध्यम्। एतादृशे स्वभावजाघन्येऽप्येवं कर्मस्वभावयोर्निवृत्तिं नृशरीराणामेव करोति 'तेषां मे पौरुषी प्रिये'तिवाक्यादितिबोधयितुमस्य नरप्रकरणत्वं पूर्वमुक्तं त्रिभिराद्यं प्रकरणम्। नराणामिति मनुष्याणां प्रियत्वादेव प्राथम्यमिति च॥१५॥

नन्वेवं सत्यत्र मतान्तरभाषा व्यासचरणैः किमित्युपन्यस्तेत्याकाङ्क्षायामाहुः—भक्तस्येत्यादि चरणत्रयम्। नन्वनभिप्रेतत्वे उपन्यासोऽप्यनुचित इत्याशङ्कायामाहुः—

१ नवमे।

अतो मतान्तरी भाषा नामस्वातन्त्र्यतोऽपि च ॥१६॥
वृत्तान्तश्रवणं तस्य ततः कीर्त्तनशंसनम् ।
फलं तस्येति सकलं द्वितीये विनिरूपितम् ॥१७॥
सिद्धान्तकथनं पश्चाद्बलात्कृतिनिवारणे ।
यमवाक्यस्मृतौ सर्वे स्मरन्ति हरिनाम हि ॥१८॥
प्रायश्चित्तप्रसङ्गेन नाममाहात्म्यमीरितम् ।
पुष्टौ तथापि तत्प्रोक्तं तेनाऽत्रेयं व्यवस्थितिः ॥१९॥

नामेत्यादि । तथा च नास्योपाख्यानस्य सर्वांशेनानभिप्रेतत्वमत उपन्यास इत्यर्थः । नन्वेवं सति मतान्तरभाषात्वमनतिप्रयोजनमिति शङ्कात्वे तत्प्रकरणविमर्शसमाप्तावगस्त्यः शिवभक्तोऽपीत्यादिना निरसनीया । तस्मात्सुष्ठूक्तं नामस्वातन्त्र्यत इति । एवं त्रिभिः प्रथमप्रकरणार्थं विचार्य द्वाभ्यामध्यायार्थमाहुः--वृत्तान्तेत्यादि । अत्राद्यचरणे प्रथमाध्यायार्थः शेषे द्वितीयस्य अग्रिमे तृतीयस्य । बलात्कृतिनिरवाण इति । बलात्कारनिवारणार्थं यममुखेन तन्निरूपणस्य प्रयोजनमाहुः--यमेत्यादि । एतेनाभिप्रेतत्वे युक्तिरुक्ता । एवं द्वाभ्यां सामान्यतोऽध्यायार्थ उक्तः ॥१६॥१७॥

अतः परं विमृशन्ति, नन्वत्र पुष्टौ निरूप्यायां नाम्नस्तद्व्यापारत्वात्तन्माहात्म्यकथनं युक्तम् । अस्य शास्त्रस्य भक्त्युत्पादकत्वेन नामकीर्त्तनस्य च भक्तित्वेन तत्र विश्वासदार्ढ्यार्थं तस्यावश्यकत्वात् । तथापि प्रायश्चित्तप्रसङ्गेन तत्कथनमनुचितम् । 'प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशोधन'मिति हेमाद्रौ । तल्लक्षणेन तस्य पापनिवारणमात्रफलकतया ततो भक्तिफलाभावप्रसङ्गात् । न च संयोगपृथक्त्वेन तत्सिद्धिः । 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात् खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्या'दित्यादिषु तदुदाहरणेष्वेकस्य फलस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेनेतरस्य च काम्यत्वेनोभयोर्मुख्यतेति तत्र तत्प्रवृत्तिः, अत्र तु पापनिर्वेशस्यैव काम्यत्वेनेतरस्याकाम्यत्वेनाप्रत्यक्षत्वेन च तस्य गौणतपोदाहरणवैषम्यात् । वैषम्येऽपि ग्रहिलतया तत्प्रवृत्त्यङ्गीकारे योगसिद्ध्यधिकरणन्यायबाधापत्तेः । अतः पुष्टावुपक्रान्तायां कथमेवं कथनमित्याशङ्कामपनुदन्ति प्रायश्चित्तमित्यष्टभिः । तत्प्रोक्तमिति ज्ञानिभक्तेन शुकेन प्रोक्तम् । उक्तदोषविशेषात् । सर्वमिति पूर्वोक्तदोषः पापश्च । पश्चादिति ज्ञानतिरोधानोत्तरम् । तथेति हेतुभूतम् । शेषं स्फुटम् । तथा

१ भगवत्सेवका ये तु कथञ्चिद् भिन्नतां गता इत्यत्र कथञ्चित्पदस्य व्याख्यानमिदम् ।

भगवत्सेवका ये तु कथञ्चिद्भिन्नतां गताः ।
सर्वात्मना पापनाशस्तेषामेव भवेद्ध्रुवम् ॥२०॥

नैवंविधव्यवस्थां बोधयितुं मर्यादापवादं च बोधयितुं तथोपक्रम इत्यर्थः । न च न्यायबाधदोषः । उत्तरतन्त्रे गुणोपसंहारन्यायप्रणयनेन योगसिद्ध्यधिकरणन्यायबाधस्येष्टत्वात् । एतेन भक्तेः कल्पतरुत्वभावत्वमपि विवृतं ज्ञेयम् ।

एवं सत्ययमत्राशयः । राजा हि लीलात्रयं विराड्ध्यानाङ्गत्वेन श्रुत्वा स्थानश्रवणे भगवतस्तत्तन्मर्यादास्थापकत्वमवगत्य स्वस्य ब्राह्मणावज्ञाकर्तृत्वेन तन्निर्वेशस्याकृतत्वाद्भगवानभयं न दास्यतीति तत्प्राप्तिविलम्बभीतो निर्वेशं पप्रच्छ 'तन्मे व्याख्यातुमर्हसी'ति मदर्थं कथयेत्यर्थः । तत्र श्रीशुकैस्तदधिकारपरीक्षार्थं सामान्योत्तरे दत्ते यदा राज्ञा तस्य वैयर्थ्यं कुञ्जरशौचदृष्टान्तेन बोधितं तदा तदुक्तमुपगम्य कर्मात्मकप्रायश्चित्तस्याऽज्ञाधिकारकत्वं बोधयित्वा राजाधिकारानुसारेण तद्बोधयन् श्रीशुकः 'प्रायश्चित्तं विमर्शन'मित्यादिना द्वयमुवाच । 'तत्र नाश्नत' इत्यादिश्लोकत्रयेणैकं 'केचि'दित्यादिपञ्चभिरपरम्, ततो द्वितीयं दृढीकर्तुमितिहासमुक्तवान् । तयोः प्रथमं विमर्शनं तद्देहात्मभेदालोचनात्मकं तत्र पथ्यभोजनदृष्टान्तपूर्वकम् । 'एवं नियमकृद्राजन् शनैः क्षेमाय कल्पत' इति कथनेनाग्रिमे तपःप्रभृतीनां तदङ्गानां च कथनेन तत्समग्राङ्गं धर्मज्ञस्य श्रद्धालोः कर्तुर्बहुकालेन नाशयति । तत्राऽप्यग्निदृष्टान्तेन सावशेषमेव नाशयति । वेणुगुल्मदाहे मूलस्य भूमौ दर्शनात् । वह्निनिवृत्तौ पुनः प्ररोहदर्शनाच्च । द्वितीया भक्तिः । सा च भगवति परमप्रेमरूपा 'यथा कृष्णार्पितप्राण-'मिति कर्तृविशेषणादवसीयते । तया च कार्त्स्न्येनाघधुवनं नीहारभास्करदृष्टान्तेनोक्तं निःशेषनाशबोधनाय । ततो रात्रौ पुनर्नीहारदर्शनादत्रापि सावशेष एव नाशो भविष्यतीति शङ्कानिरासाय । 'तथा ह्यघवानि'त्येतेन श्लोकेन पूर्वोक्ततपआदिसहितविमर्शनकृतपावनस्यैतत्कृतपावनान्न्यूनतोक्ता । ततः 'सध्रीचीनो ह्ययं पन्था' इत्यनेन भक्तिमार्गस्योत्कर्षो बोधितः । तेन भक्त्या निरवशेषः पापनाश इति नीहारनाशोऽपि तथा । रात्रौ तु पुनर्नीहारान्तरमेवेति दृष्टान्तो दृढीकृतः । ततः 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानी'त्यनेन राजोक्तकुञ्जरशौचदृष्टान्तस्य 'कर्मणा कर्मनिर्वेशो न ह्यात्यन्तिक इष्यत' इति स्वोक्तस्य च निर्णयः कृतः । भगवद्विमुखं न निःपुनन्तीति भगवद्विमुखा एव चाविद्वांस इति । तेन युधिष्ठिरादिकृताश्वमेधादीनामपि पावनत्वं बोधितम् । ततः कर्मजडानां भक्तौ सहकारित्वमेव न मुख्यत्वमिति भ्रम इति तादृशाशङ्काभावाय

१ कारत्वम् ।

अन्येषां ज्ञानकर्मभ्यां सावशेषक्षयो भवेत् ।
तत्राऽपि कर्मणा नाशः कुञ्जरस्नानवन्मतः ॥२१॥
अधमानां लौकिकानां न विश्वासस्तु नामनि ।
देहात्मबुद्धौ नष्टायां न पापस्फुरणं मतम् ॥२२॥
ज्ञाने तिरोहिते[2] सर्वं सहसैव भविष्यति ।
पश्चाच्चेत्पापनाशेच्छा कर्मणो दोषदर्शनात् ॥२३॥
भक्तौ प्रवेशे हि तदा तं भक्ता मोचयन्ति हि ।
अतः पापक्षये नाम भक्तानां ज्ञानिनां तथा ॥२४॥
नाऽन्येषां तेन भक्तानां मोचकत्वं निरूपितम् ।
मर्यादया कृतार्था[3]ःस्युः यदि पापं न जायते ॥२५॥

'सकृन्मन' इत्यनेन सकृत्कृतायाः स्वल्पाया अपि केवलाया भक्तेर्निःशेषपापनिवारकत्वाय तस्याः यमाद्यदर्शकत्वमुक्त्वा तथा च द्रढ्यायेतिहास उपन्यस्तस्तेन सर्वात्मना पापनाशः कृष्णार्पितप्राणानां भगवत्सेवकानामेव । तादृशां पापसम्भवस्तु स्वधर्मोत्कर्षभावनादोषात् । एवमेव 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्ये'त्यत्रापि बोध्यम् । इदमेव 'ध्रुवमि'त्योनेनोक्तम् । एवमेकेन 'केचिन्केवलये'त्यादिश्लोकद्वयतात्पर्यमुक्तम् । ये पुनर्भक्तेः सहकारित्वं ज्ञात्वा कर्मणि ज्ञाने वा पापनाशार्थं प्रवर्त्तन्ते तादृशां ताभ्यां सावशेषः पापक्षयः । तदेतद् 'अन्येषा'मित्यर्द्धेनोक्तम् । तेन 'विमर्शनमि'त्यादिकथनस्यैकं तात्पर्यमुक्तम् । ये पुनः सहकारित्वमपि न मन्यन्ते तेषां केवलेन कर्मणा पापनाशः कुञ्जरस्नानवदपार्थः । तत्र हेतुः अधमानामित्यादि । ये पुनः शुष्कज्ञानिनो 'येऽन्येऽरविन्दाक्षे'त्यादिपूक्तास्तेषां शनैः साङ्गेन केवलज्ञानेन नाशेऽपि पुनः प्ररोहः पापस्य, अपथ्याशने रोगस्येव । तदेत देहात्मबुद्धावि'त्येकेनोक्तम् । एवं 'वेणुगुल्ममिवानिल' इत्यन्तस्य द्वितीयं तात्पर्यं विवृतम् । तेन विमर्शनस्य प्रायश्चित्तत्वबोधनं व्यवस्थाद्वयबोधनायेति बोधितम् । ननु भक्तेर्माहात्म्ये वक्तव्ये 'तत्पुरुषनिषेवये'ति 'सुशीलाः साधवो यत्रे'ति मध्ये भक्तनिवेशस्य किं प्रयोजनमत आहुः–पश्चादित्यादिद्वयम् । तथा च तत्पुरुषेत्यादिसपादः श्लोको येषामजामिलादिसदृशां प्रति बन्धबाहुल्यं तेषां द्वारापेक्षाया आवश्यकत्वात्तत्पर इत्यर्थः । फलितमाहुः–मर्यादये-

१ क्वचित् । २ तिरोहितम् । ३ कृतार्थस्तु ।

अतस्तदपवादार्थं पुष्टिर्मृग्या विशेषतः ।
प्रायश्चित्तप्रसङ्गेन ततः पुष्टेरुपक्रमः ॥२६॥
नामोच्चारणकर्त्तारस्त्रिविधा अधुना मताः ।
प्राकृताः पापनाशस्तु तेषां फलनिरूपणम् ॥२७॥
यथाकथञ्चिन्नाम्नाऽपि सर्वपापक्षयः सदा ।
अन्ते तु मुक्तिर्नियता नान्यथोभयहीनतः ॥२८॥
विवेकिनस्तु द्विविधा भक्ताः साधारणास्तथा ।
भक्तानां भक्तिरेवैषा पुष्टिरन्येषु संस्थिता ॥२९॥
ते ज्ञेयाः सेवका विष्णोः स्वार्थे तेन तथा कृताः ।
ये विवेकेन नामानि नित्यमुच्चारयन्ति हि ॥३०॥
प्रेमयुक्तास्तु तत्रापि दासभावात्पदच्युताः ।

त्येकेन । उक्तां व्यवस्थितिमुपसंहरन्ति–प्रायश्चित्तेत्यर्द्धेन।१९।२०।२१।२२।२३।२४।२५।२६। एवमष्टाभिरुपक्रमप्रकारः समर्थितः । अतः परं मूले 'सिद्धा येऽधिकारिणो' 'भगवत्सेवका ये त्वि'त्यादिनोक्ता यच्च तेषां फलमुक्तं तदुभयस्वरूपमुत्तरग्रन्थे सिद्धमिति तद्विवृण्वन्त्यधुनातनानां केषाञ्चिन्नामोच्चारेऽप्युक्तफलाभावाज्जायमानं सन्देहं च वारयन्ति नामेत्यादिभिः सार्द्धैः षड्भिः। अधुना नामोच्चारणकर्त्तारः प्राकृताः पृथग्जना अधमास्तेऽपि सात्विकादिभेदेन त्रिविधास्तेषां तु उभयहीनतः ज्ञानभक्त्योर्हीनत्वादन्यथाफलनिरूपणम् । तदाहुः–नाम्नाऽपि यथाकथञ्चित्पापनाशः सदा सर्वपापक्षयः। अन्ते पापक्षयोत्तरं नियता मुक्तिर्नेति तामसराजससात्विकक्रमेण बोध्यम् । एतेन 'तत्पुरुषनिषेवये'त्यारभ्य 'चीर्णनिष्कृता' इत्यन्तस्य तात्पर्यमुक्तम् । अविश्वासदोषाभिभूतानां साधुसङ्गे यथाकथञ्चित्पापनाशे भगवद्भक्तसेवायां तया सदा सर्वपापक्षयः। तत्सङ्गादिना सकृद्भगवच्चरणे मनोनिवेशने यमयाम्यादर्शनम् । असकृन्निवेशने तु मुक्तिरिति । अत एव नैयत्याभाव उक्तः । उत्तममध्यमयोराहुः–विवेकिन इत्यादि । अन्येष्विति साधारणेषु । तेषां स्वरूपं द्विधेति द्वाभ्यामाहुः–त इत्यादि । विवेकेनेति । तत्तद्गुणकर्मविशिष्टस्य स्वरूपस्य नाम्नश्चाखण्डसम्विदा-

पुनर्दासा भविष्यन्ति भक्तिमार्गो न तेषु चेत् ॥३१॥
गुणानुवादनिरताः सेवायां वा प्रतिष्ठिताः ।
भक्तास्तेऽत्रावगन्तव्या रसिकाः कामवर्जिताः ॥३२॥
इह वश्यो हरिर्भूत्वा सायुज्यं यच्छते *बलात् ।
मनोनिवेशनं ध्यानं पूजायामपि तन्मतम् ॥३३॥
प्रायश्चित्तं तु तत्रापि नाम्नीवाऽस्य च निर्णयः ।
अजामिलस्य चरितं पूर्ववृत्तं तु शुद्धये ॥३४॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे जन्मवज्जन्म तस्य तु ।
कलिशक्तिस्तु सा दासी गुणास्तस्य नवाऽऽत्मजाः ॥३५॥

नन्दात्मकज्ञानेन । दासा इति बहिरङ्गसेवकाः । भक्तिमार्ग इति । 'श्रद्धामृतकथायां म' इत्यादिनोक्तपरिचर्यानिर्वाहः ।२७।२८।२९।३०।३१।

भक्ता द्विविधास्तेषां सार्द्धेन स्वरूपमाहुः–गुणेत्यादिना । 'सकृन्मन' इत्यत्र मनोनिवेशनस्यैव प्रायश्चित्तत्वमुक्तमिति प्रकरणान्तरस्थयोर्ध्यानपूजयोरपि तस्य तथात्वादेतं निर्णयं तत्राऽप्यतिदिशन्ति मनोनिवेशनमित्यादि। समयत्नश्चित्तव्यापारो ध्यानमितिरूपप्रकरणे तस्यैव सत्त्वात्पूजायामपि तस्यावश्यकतया सत्त्वात्तदुभयमपि तथेति तत्राऽप्यधमसाधारणभक्तरूपाः सभेदास्त्रिविधा अधिकारिणः सत्सङ्गादिरूपं द्वारं पापनाशप्रकारदास्यसायुज्यरूपं फलं च नाम्नीव तत्रापि यथायथमुपक्रमबलादवगन्तव्यमित्यर्थः । एवं प्रश्नोत्तरयोस्तात्पर्यं निर्णीयाऽजामिलपूर्ववृत्तनिरूपणादितात्पर्यं निर्णयन्ति–अजामिलस्येत्यादि। शुद्धय इति पूर्वजन्मीनशुद्धिज्ञापनार्थम् ।३२।।३३।३४। कलिशक्तिरित्यादि। 'नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक्। कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यदि'ति प्रथमे। 'कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः। यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यत' इत्येकादशे एवं द्वादशे च स्कन्धे कलिगुणानामुक्तत्वात्तद्गुणरूपा या शक्तिः सा दासी, गुणास्तस्य नवात्मजाः (बन्धकत्वात्तेन) दशमो गुणतीतावस्थारूपः मोक्षप्रयोजकत्वादन्ये च बन्धप्रयोजकत्वादिति कार्यबलादनुमेयमित्यर्थः ।३५।

* ऽचलम् । १ मूलपुस्तके नास्तीदम् ।

पित्रादिभिरसम्बन्धो धनेन भजनं पुनः ।
सर्वभावेन तस्या वै यतो मोक्षस्ततोऽभवत् ॥३६॥
गृहस्थितो तु पितृवत्तस्याऽपि स्याद्भवे गतिः ।
सर्वभावेन यत्रैव सेवा तेनैव सद्गतिः ॥३७॥
सुतरां पुष्टिमार्गे हि सिद्धान्तोऽयं विनिश्चितः ।
शुक्ले मलिनसम्बन्धो महानिति यमानुगैः ॥३८॥
धर्माधर्मौ विनिर्णीतावीश्वरेच्छां न ते विदुः ।
पुष्ट्यभावस्ततः सिद्धः पूर्वपक्षोऽयमीरितः ॥३९॥
वेदप्रमाण्यसिद्ध्यर्थं नाममाहात्म्यमुत्तरे ।

पित्रादिभिरसम्बन्ध इति । अजामिलस्येति शेषः ।

पितृवदिति । अजामिलपितृवत् । भव इति संसारे । ननु तादृस्यास्तथाभजने कथं सद्गतिप्रयोजकत्वमत आहुः सर्वभावेनेत्यादि । इदं पाद्मे पातालखण्डे वैशाखमाहात्म्ये दिवोदासपुत्र्या उपाख्याने प्रसिद्धम्। सा पूर्वजन्मनि महाव्यभिचारिणी ततः शंभलीभूत्वा[1] पश्चात्किञ्चिद्ब्राह्मणमतिथिं पत्नीभूत्वा सर्वभावेन प्रतोष्य तत्सङ्गेन राजकुमारी बभूव, ततः कृतार्था चेति क्वचिद्व्यभिचारमाशङ्क्यमाहुः–सुतरामित्यादि । महानिति अत्यन्तं पापजनकः । तत इति मलिनसम्बन्धात् । ईरित इति प्रथमाध्याये उक्तः। एवमेकविंशतिभिः प्रथमाध्यायो विचारितः ।३६।३७।३८।३९।

(अ. २) अतः सार्द्धैर्नवभिर्द्वितीयाध्यायार्थं विचारयन्ति–वेदप्रामाण्येत्यादि। ननु धर्मस्य यल्लक्षणादि यमदूतैरुक्तम्, तस्य विष्णुदूतैरदूषणात्तस्य सर्वं तेषां सम्मतम्, प्रायश्चितस्यैव दूषणात्तदंश एव परं विवादः, तत्र नाममाहात्म्यबोधनेन प्रायश्चितांशानङ्गीकाराद् वेदे च 'सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजत' इत्यादिषु कर्मणां प्रायश्चितत्वबोधनात् तदनङ्गीकारे वेदस्यांशतः प्रामाण्यहानिप्रसङ्गः, तथा सति अन्यांशेप्यनाश्वासप्रसङ्ग इत्याशङ्कानिरासाय नाममाहात्म्यकथनेपि प्रामाण्यसिद्धिमुपपादयन्ति वेदप्रामाण्येत्यादि । ननूत्तरग्रन्थे वेदनाम्नोऽप्यदर्शनात्प्रत्युत 'नाधर्मजं तद्धृदय'मित्यनेन तस्य न्यूनत्वबोधनाच्च विपरीतं प्रतीयत इति कथमेव-

१ शम्भली=कुट्टनीशम्भलीसमे इत्यमरः ।

स्कन्धार्थेन विरोधः स्यादन्यथा तन्मतान्तरम् ॥४०॥
नामार्थयोरभेदो हि वेदोऽपि हरिनाम हि।
नामानि कृत्वाऽभिवदन्निति वाक्यात्प्रतीयते ॥४१॥
वेदवेदार्थरूपत्वान्नामैवाऽखिलशोधकम्।

मवगम्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः-स्कन्धेत्यादि। सिद्धान्ते वेदोक्तप्रायश्चित्तस्य यदि सर्वथा हेयतैवाभिप्रेता स्यान्मर्यादास्कन्ध एव तथा सिद्धान्त उच्येत 'केचित्केवलये'-त्यत्र मतान्तरत्वबोधकं केचित्पदं च नोच्येत। अतो भगवदनुग्रहभाजामेव तत्तथेति वैदिकादिप्रायश्चित्तशास्त्रस्यान्यत्र सावकाशत्वान्न वेदे आंशिकप्रामाण्यस्यापि हानिरित्यर्थः ॥४०॥ नन्वेवं सत्या'नर्थक्ये प्रमाणानां विपरीतं बलाबलमि'ति न्यायेन प्रवृत्तिसङ्कोचे व्यवस्थितविकल्पापत्त्या दोषद्वयापत्तिस्तु दुर्वारैवेत्यत आहुः-नामेत्यादिसार्धम्। अयमत्रार्थः। वेदस्य प्रामाण्ये हि न शब्दत्वादिकं तन्त्रम्, किन्त्वपौरुषेयत्वं वा ईश्वर-निःश्वासत्वम् ईश्वरवाक्यत्वं वा तन्त्रम्। तत्रापौरुषेयत्वं तावत् 'वाचा विरूपनित्यये'ति 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेवाद्वितीय'मिति श्रुत्यैकवाक्यतापूर्वकं विचारे 'वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम' इति वाक्योक्त ईश्वराभेदे पर्यवस्यति। तस्यार्थस्तु भगवानेव 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'ति 'मां विधत्तेऽभिधत्ते मा'-मित्यादिश्रुतिभगवद्वाक्याभ्याम्। हिर्हेतौ अतो हेतोः नामार्थयोरभेदः। किञ्च हि यतो हेतोः 'बहुस्या'मितीच्छया स्वयं 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्त' इतिश्रुतिवाक्याद् येषु येषु रूपेषु यानि यानि नामानि नियतवान् तानि वैदिकान्येव सृष्ट्यादौ शब्दान्तरस्याभावात्। अतो वेदोऽपि हरिनाम। एवं सति वेदापौरुषेयत्वविचारे हरित्वं हरिनामत्वं च प्रामाण्ये तन्त्रमितिसिद्ध्यति। एवं निःश्वासत्ववाक्यत्वपक्षयोरपि ईश्वरः स्वातिरिक्तं कं वा वक्ष्यतीत्यभेदवादाद्यनु-सारात्तदेव तन्त्रम्। एतावान् परं विशेषः। वेदोक्तानां कर्मादीनां रूपाणां 'प्रजायेये'तीच्छया शक्तिविश्लेषकरणात्प्रतिनियतकार्यकर्तृत्वेन तत्तत्पापनिवर्तकत्वमेव न तु सर्व-निवर्तकत्वं येषां च सर्वनिवारकत्वं तेषामपि न हृदयपावनत्वमिति यथायथं फलवाक्य-बलात्प्रत्यक्षबलाच्चावसीयते। भगवन्नाम तु शक्तिविश्लेषराहित्येन वेदवेदार्थरूपत्वात्पूर्ण-शक्त्यैवेत्यखिलशोधकम्। अतो नाममाहात्म्यं प्रामाण्यनियामकीभूतवैदिकरूपनिश्राय-कमिति वेदप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमेव। न च व्यवस्थितविकल्पापत्तिः, अप्राप्तबाधस्थल इव त्रैवस्तोमादिविधायकवाक्यानां ब्राह्मणेष्विव चानुगृहीतेष्वधिकारस्य भिन्नतया तद्वाक्य-

तदध्येतृध्यानसिद्धं प्रायश्चित्तं तु दुर्बलम् ॥४२॥
ज्ञानं स्वभावतो भिन्नं मतभेदास्ततोऽभवन्।
वेदार्थस्याऽपरिज्ञानाल्लौकिकं चाऽप्युपेक्षते ॥४३॥
लोकसङ्ग्रहभेदानां नाऽन्यथा कथनं भवेत्।
वक्तुरेवार्थसन्देहात्प्रायश्चित्तं न तन्मतम् ॥४४॥
यमादिसाधनैर्युक्तं ज्ञानं संन्याससंयुतम्।
प्रायश्चित्तमशक्यत्वान्न सर्वेषां तु तद्भवेत् ॥४५॥
वस्त्रं दहति यो ह्यग्निः स न वस्त्रस्य शोधकः।
तथा ज्ञानं न सङ्घातशोधकं त्याजकं परम् ॥४६॥
अशक्यं साधनं चैव मोक्षपर्यवसायि च।

प्रवृत्तेरेवाभावादिति। ननु यद्येवं तदा वेदार्थद्रष्टृभिर्ऋषिभिः साधारणतयोक्तस्य प्रायश्चित्तस्य का गतिरित्यत आहुः-तदध्येत्रित्यादि ॥४१॥४२॥

कुत एवं निश्चयमित्यत आहुः-ज्ञानमित्यादिचरणत्रयम्। तदुक्तमेकादशस्कन्धे भगवता 'कालेन नष्टा प्रलय' इत्यारभ्य 'यथा प्रकृतिसर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति ही'त्यन्तेन। 'लोकसङ्ग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसी'ति भगवद्वाक्यमनुसृत्य तत्कथने हेत्वन्तरमपि सङ्गृह्णन्ते-लौकिकमित्यादिपादोनेन। तथा च भगवदिच्छा-ज्ञातारस्ते वेदार्थं ज्ञात्वाऽपि लौकिकानामर्थं तद्वदन्तीति साऽप्येका गतिरित्यर्थः। तर्हि शिष्टादरात्तस्यैव प्रायश्चित्तत्वमस्त्वित्यत आहुः-वक्तुरित्यादि। अर्थसन्देहादिति वेदतात्पर्यनिश्चयाभावात् ॥४३॥४४॥

नन्वस्तु नाम्नः शोधकत्वं कर्मापेक्षयाऽऽधिक्यं च, तथापि ज्ञानेनेदं विकल्प्यताम् 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथे'ति भगवद्वाक्ये तस्यापि निःशेषपापदाहकत्वकथनादित्यत आहुः-यमादीत्यादिसाधिकं त्रयम्। तथा चानेकसाधनसापेक्षत्वाद्दहनाशकत्वाद् इदानीं तदपेक्षितशुद्धिविरहेणाशक्योदयत्वादेधोदाहदृष्टान्तेन सावशेषनाशकत्वाद्वेदोक्तत्वेन त्रैवर्णिकमात्राधिकारकत्वाच्च न तेनाऽप्यस्य विकल्प इत्यर्थः। नन्वस्त्वेवं तथापि वेदत्वेन ज्ञाताज्ज्ञानपूर्वकमुच्चारितादेव नाम्नस्तथा फलं भवेत्, न तु यथाकथञ्चि-

१ अशक्तत्वात्। २ ऋषिभिः साधारण्येन प्रायश्चितकथनेन।

शुद्ध्यभावान्न तत्सिद्ध्येद्वासनाऽपि विशिष्यते ॥४७॥
वेदोक्तं तदपि प्रोक्तं नाम वेदात्मकं हरेः।
अन्यत्राऽपि व्यवहृतमवतारवदुत्तमम् ॥४८॥
अतः पुत्रोपचारेऽपि तद्वस्तु निखिलाघनुत्।
धर्माधिकारी यदि तन्न मन्येत कथञ्चन ॥४९॥
तथा बलात्तथोक्तं स्यादिति जायेत संशयः।
यमवाक्येन तद्दार्ढ्यं प्रमेयबलमीरितम् ॥५०॥
अगस्त्यः शिवभक्तोऽपि तथा तत्त्वमुवाच ह।
परकीयमुखात्स्तोत्रं सत्यमेवेति निश्चितम् ॥५१॥
मिथ्याप्रलोभनाच्चाऽत्र पूजया विनिवार्यते।
तस्याऽपि हरिमाहात्म्यश्रवणात्पूजने मतिः ॥५२॥
यमदूतभयात्सिद्धं प्रायश्चित्तमिदं दृढम्।

दुक्तादत औपचारिकस्य कथं फलसाधकत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः-प्रोक्तमित्यादि। हरेर्नाम वेदात्मकं प्रोक्तं प्रकर्षेणोपपत्तिपूर्वकमुक्तम्। अन्यत्रापि 'वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः। तावन्ति हरिनामानि कीर्त्तितानि न संशय' इत्यत्र वेदाक्षराणां हरिनामत्वबोधनान्नाम्नां वेदात्मकत्वमुक्तम्। एवं शास्त्रान्तरेऽपि। किञ्च 'नाम्नां मुख्यतरं नाम कृष्णाख्यं यत्परंतप। प्रायश्चित्तमशेषाणां पापानां मोचकं पर'मित्यादिषु सहस्रनामाष्टोत्तरशतनामादिषु च तथा स्मरणाच्छास्त्रान्तरेऽपि प्रायश्चित्तत्वं नाम्नां व्यवहृतम्। किञ्च 'अवतारवदुत्तमम्' यथाऽवतीर्णो भगवानचिन्त्यकार्यैककर्त्ता तथा नामापि वाल्मीक्यादौ शबरदेहेऽपि ब्राह्मणत्वादिकरणात्तादृशमतः पुत्रोपचारेऽपि तथेत्यर्थः। एवं सार्द्धैर्नवभिर्द्वितीयाध्यायो विचारितः।४५।४६।४७।४८।

अ. ३ अतः परं चतुर्भिस्तृतीयाध्यायं विचारयन्ति-धर्मेत्यादि। धर्माधिकारीति कर्मजडः। बलादिति श्रद्धाविशेषजनितादाग्रहात्। तद्दार्ढ्यमिति। प्रायश्चित्तदार्ढ्यम्। तदिरितं प्रमेयबलमीरितम्। चकारमध्याहृत्य योजना॥४९॥५०॥

एवं यमयाम्यसम्वादतात्पर्यमुक्तम्। अगस्त्योक्त्यादितात्पर्यमाहुः अगस्त्य इत्यादिद्वयम्। अध्यायत्रयसिद्धमर्थमाहुः यमदूतेत्याद्यर्द्धम्। एवं सार्द्धोनचत्वारिंशद्भिः प्रथमप्रकरणार्थो विचारितः।

दक्षे प्रसादस्तपसा* तत्पुत्रेषु तु बोधतः ॥५३॥
तत्कन्यासु जगद्भूत्यै त्रेधाऽनुग्रह ईरितः।
सत्त्वेन तमसा वाऽपि रजसा चेति स त्रिधा ॥५४॥
त्रिविधोऽपि हरिस्तोषः विश्वरूपार्थमीरितः।
तस्मिन् सर्वं सुसम्पन्नमिन्द्राय प्रददौ हरिः ॥५५॥
अतः स्थानस्वरूपस्य गुरोरत्र निवारणम्।

अथ द्वितीय ध्यानप्रकरणम्। अतः परं सार्द्धसप्तत्रिंशद्भिर्द्वितीयं प्रकरणं विचारयन्ति दक्ष इत्यादि। तत्रेदं रूपप्रकरणम्। अत्र हि ध्यायमानं रूपं पुष्ट्यर्थापारः पूर्वप्रकरणे उच्चार्यमाणं नामेव। पूर्वत्र मनुष्या इवात्र देवाः पुष्ट्यधिकारिण इत्यधिकारिविचारेण देवप्रकरणमिदमिति तानत्र स्फुटीकुर्वन्तोऽनुग्रहेऽपि विशेषमाहुः-दक्ष इत्यादि। तथा च दक्षे तत्पुत्रेषु च साधनद्वारकस्तत्कन्यासु स्वकार्यार्थ इति प्रकारभेदाद् द्विविधोऽपि प्रयोजकभेदात्त्रेधेत्यर्थः ॥५१॥५२॥५३॥

तत्रापि हेतुमाहुः-सत्त्वेनेत्यादि। सेति पुष्टिः। वाशब्द एवकारार्थ उभयत्र अपिः सत्त्वसमुच्चायकः। ईरित इति। एवमत्राध्यायत्रये ईरितः, दक्षस्याग्रे जन्मान्तराश्रवणाद्रूपेण मोक्षदः प्रथमे ईरितः। द्वितीये हर्यश्वादीनां संसाराभावबोधनाद्रसेनानन्ददायक ईरितः। तृतीये तत्कन्यानां वंशकथनाद्गन्धेन भक्तिद ईरितः। स्त्रीणां सन्तानदातर्यैव माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहादिति तथेत्यर्थः ॥५४॥

अग्रिमाध्यायविचारेण तस्य मुख्यं प्रयोजनमाहुः-त्रिविध इत्यादि। एतेन तस्यावान्तरप्रकरणित्वं बोधितम्। तत्र ज्ञापकमाहुः-तस्मिन्सर्वं सुसम्पन्नमिति। विश्वरूपे तपो ज्ञानं जगद्भूतिश्चेति त्रयं सुतरां सम्पन्नं तस्मात्तदर्थ इति ज्ञायत इत्यर्थः। ननु यद्येवं विश्वरूपे प्रसादस्तदा तस्य वधः कुत इत्याशङ्काया'मेकं भगवतः कार्यं बह्वर्थानां च साधकमि'ति न्यायेनाग्रिमाध्यायार्थमाहुः-इन्द्रायेत्यादि न रक्ष्यत इत्यन्तेन। तत्र पूर्वं तदुपपादनायेन्द्रे तथा प्रसादं तत्कार्यमुखेन स्फुटीकुर्वन्ति इन्द्रायेत्यादि। यत उक्तं त्रयं हरिरिन्द्राय प्रददौ प्रकर्षेण साधनं विनैव ददौ, अतोऽत्र प्रकरणे पुष्टिज्ञापनार्थं मर्यादारूपस्य गुरोर्बृहस्पतेर्वारणमनादर उच्यते इदं कार्यं पुष्टिज्ञापकमित्यर्थः। ननु मूले 'इन्द्रस्त्रिभुवनैश्वर्यमदोल्लङ्घितसत्पथ' इत्यादिनेन्द्रस्यामर्यादत्वं गुरोश्च तिरोभावो ब्रह्मणा देवानां भर्त्सनकरणं चोक्त-

* तत्स्मृत्वा।

पुष्ट्यर्थं भगवद्ध्यानादिन्द्रो मर्याद ईरितः ॥५६॥
सर्वज्ञत्वाद्गुरुश्चापि हरिप्रीत्यै तिरोदधे।
मर्यादास्थो यतो ब्रह्मा न गुरोर्गमनात्सुखी ॥५७॥
सोऽपि ज्ञात्वा हरेः कार्यं विश्वरूपमुवाच हि।
आधिभौतिकदुःखाद्धि विशिष्टस्तदनन्तरः ॥५८॥
अतो बृहस्पतिगतौ तूष्णींभावो वरः स्मृतः।
पुष्टिः स्वार्था ततः कोऽपि न सुखं विन्दते चिरम् ॥५९॥
अतो न ब्रह्मवाक्येन क्षमां चक्रे गुरोः कृतौ।
विश्वरूपोऽपि हरिणा हतः कवचदानतः ॥६०॥
दैत्यत्वगन्धमात्रं च भगवान्नाऽत्र मन्यते।

मिति गुरुनिवारणस्य कथं पुष्टिज्ञापकत्वमित्यत आहुः-भगवद्ध्यानादित्यादि। तत्र ज्ञापकद्वयमाहुः–सर्वज्ञत्वेत्यादि। तथा च यद्यत्रभगवद्विचारो हेतुर्न, स्यात् गुरुः शपेदेव न तु तिरोभवेत्। ब्रह्मापि भर्त्सयित्वा गुरुमेव प्रदर्शयेत्, न तु विश्वरूपं गुर्वर्थं वदेत्। अतस्तदकरणादेतत्कारणाच्चेदं द्वयं तस्य (अमर्यादत्वस्य) पुष्टिकार्यत्वज्ञापकमिति तत्कृतं गुर्वनादरणमपि तथेतीन्द्रेऽस्ति प्रसाद इत्यर्थः। एवमिन्द्रे प्रसादमुपपाद्य विश्वरूपवधमुपपादयितुं तस्मिन्ननुग्रहं द्रढयितुम्-ननु यदीन्द्रेऽनुग्रहस्तदा यथा दक्षेण ब्रह्माज्ञा सृष्ट्यर्थमङ्गीकृता, तथा 'यदि क्षमिष्यध्वमुताऽस्य कर्मे'त्युक्ता कर्मक्षमाज्ञा इन्द्रेण कुतो न कृता। किञ्च, ब्रह्मा सर्वज्ञोऽग्रे भाविनं विश्वरूपस्येन्द्रस्य च यथायथं मरणं क्लेशं च जानन् कुतो विश्वरूपं गुर्वर्थमुक्तवानित्याशङ्कामपनुदन्ति-आधिभौतिकेत्यादि। तदनन्तरमिति। आध्यामिको हत्याजनितश्च क्लेशः। अतो यद्यपि तूष्णींभावः श्रेष्ठस्तथापि पुष्टिः स्वार्था जीवार्था, ततो जीवार्थाया तस्याः सकाशात्कोऽपि चिरं सुखं न विन्दते। अत इन्द्रो ब्रह्मोक्तं न कृतवान् ब्रह्मापि सम्भावनयैव ज्ञात्वोक्तवानित्यर्थः। ननु भवत्विदमेवं तथापि विश्वरूपेऽपराधाभावात्कथं तद्वध इत्यत आहुः विश्वरूपोऽपीति। 'तां प्राह स महेन्द्राय विश्वरूप उदारधी'रिति मूले विश्वरूपविशेषणादनभिप्रेतकारितत्वात्तद्वध इत्यर्थः। नन्विन्द्रस्यानुगृहीतत्वेन तस्मै कवचदानं न दोषावहमित्यतो हेत्वन्तरं सार्द्धस्त्रिभिराहुः दैत्यत्वेत्यादि। अत्रेति। पुष्टौ। अत इत्यध्याहृत्य योजना। अर्थस्तु प्रकट एव। एवमत्राध्यायद्वयार्थ उक्तः।

विद्यमाने हि कवचे सानुभावे च तद्वधः ॥६१॥
पुष्टौ हरीच्छया जातो विश्वरूपस्त्रिरूपधृक्।
देवो दैत्यो मनुष्यश्च मनुष्यत्वं पुरा स्थितम् ॥६२॥
पौरोहित्ये देवभावो बृहस्पतिसमत्वतः।
अन्यथा यज्ञकरणं दैत्यभावस्य लक्षणम् ॥६३॥
अतस्त्रिगुणसंयुक्तो विश्वरूपो न रक्ष्यते।
पुष्टिरत्र द्विरूपा हि मर्यादापुष्टिभेदतः ॥६४॥
विश्वरूपस्तु मर्यादा द्वितीयो वृत्र उच्यते।
भक्तोऽपि देवद्रोहेण वर्त्तते विषयो यथा ॥६५॥
अतस्तु मारणीयो हि कण्टकन्यायतः परम्।

(अ. ९) अतः परं नवमस्यार्थं विचारयन्ति तत्रैवं देवप्रकरणमिति दक्षादिविश्वरूपान्तेषु इन्द्रे च पुष्टेरुक्तत्वात्तावतैव प्रकरणसमाप्तिरूचिता। अग्रे वृत्रकथायाः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः–(तत्र ध्यानध्येयं सम्बन्धेनैव फलजनकत्वात्। ध्यातृरूपमेव व्यापारः। तत्रारम्भे दक्षतपउक्तत्वेऽपि न केवलेन तोषः। किन्तु हंसगुह्यस्तवनयुक्तेन स्तोत्रकथनं प्रस्तुत्य 'कस्यास्तुष्यद्यतो हरि'रिति तत्रोक्तेः। अग्रे च स्तुवतो रूपं प्रदर्शितवानिति ध्यानं तदेव व्यापारः। उपक्रमे प्रतिपादनात्तस्यैव प्रकरणित्वं तस्य रूपेण मोक्षदत्वं च दक्षस्य पुनर्जन्माकथनात्। रसेनान्ददायकत्वं च हर्यश्वादीनि*)। पुष्टिरत्रेत्यादि। अत्र स्कन्धे उक्तरीत्या द्विप्रकारा पुष्टिर्हि यतो हेतोर्विवक्षिता अतो हेतोस्तत्कथाऽत्रोच्यत इत्यर्थः। मर्यादेति मर्यादापुष्टः द्वितीय इति पुष्टः ॥६४॥

ननु यद्ययं पूर्वापेक्षयाऽधिकानुग्रहभाजनं तदा मारणं कुत इत्यपेक्षायामाहुः-भक्तोऽपीत्यादि। तथा च भक्तिविरुद्धस्वभावनाशनाय मारणमित्यर्थः ॥६५॥

तर्हि मर्यादापेक्षया को विशेष इत्यत आहुः–कण्टकेत्यादि। यथा हि पादे लग्नः कण्टको व्यथां सोढ्वाऽप्यग्रेति सुखार्थं बलाद् दूरीक्रियते तथेत्येष विशेष इत्यर्थः। तदिदमिन्द्रवृत्रसम्वादे स्फुटति। नन्वस्त्वेवं तथापि मध्ये दधीचिवधकथनस्य किं

१ अपि ( ) * चिन्हान्तर्गतं मूलग्रन्थे नास्ति। २ अथो हरे मे कुलिशेनेत्यादिना।

पुष्टौ कर्मी तथा ज्ञानी भक्तोऽपि विनिपात्यते ॥६६॥
अतः पुष्टिं विलोक्यैव सर्वमार्गरतो भवेत्।
विश्वरूपो दधीचिश्च वृत्रश्चेति हता यतः ॥६७॥
इन्द्रे ह्यनुग्रहः पूर्वं तद्विरोधाद्धता इमे।
सर्वेषां सर्वधर्मा हि हरिप्रीत्यनुगा यतः ॥६८॥
अतोऽनुग्रहसिद्ध्यर्थं हरिमेव समाश्रयेत्।
विश्वरूपे षडध्यायास्तस्मिन् यावाननुग्रहः ॥६९॥
तमिन्द्राय ददौ कृष्णः सप्तमेऽतो वधः कृतः।
साक्षाद्धस्तद्वये घातस्ततः[२] पापं करद्वये ॥७०॥

प्रयोजनमत आहुः पुष्टावित्यादि सार्द्धम्। तथा च पुष्टेर्बलिष्ठत्वज्ञापनं मार्गान्तरावलोकनशिक्षणं च प्रयोजनमित्यर्थः ॥६६॥६७॥

शिक्षणस्यापि प्रयोजनं भगवति दोषारोपाभाव इति हृदिकृत्वाहुः इन्द्र इत्यर्द्धम्। तथा च भगवान् स्वपूर्वविचारितानुरोधेन करोति, भक्तादिमारणमपि तस्य हितायैव दोषनिवृत्तये करोतीति बुद्धौ यो यो यन्मार्गीयस्तस्य तस्य तत्र तत्र रतिनिर्वाहप्रयोजनमित्यर्थः। ननु वधेन दोषनिवृत्त्या हितसिद्धिर्विश्वरूपवृत्रयोः सिद्धा दधीचेस्तु दोषाभावात्तस्य किं वधेन सिद्धम्। किञ्च, उक्तशिक्षा त्रितयवधकथया सिद्धा न तु केवलदधीचिवधकथयेति तस्याः पृथक्किं प्रयोजनमत आहुः–**सर्वेषामित्यादि**। **हरिप्रीत्यनुगा** इति हरिप्रीतिपर्यवसायिनः। तथा च भगवद्विचारितकरणाद्दधीचेर्भगवत्प्रीतिरेव सिद्धा। तथाऽऽनन्दपूर्वकस्वदेहदानकथया आत्मना भगवद्विचारितकार्यकरणसिद्ध्यर्थं भगवदाश्रयणं कर्त्तव्यमिति शिक्षणं सिद्धमिति तस्यास्तत्प्रयोजनमित्यर्थः ॥६८॥

एवं वृत्रप्रकरणप्रयोजनं विचार्य विश्वरूपप्रकरणीयाध्यायसङ्ख्याप्रयोजनमाहुः-**विश्वरूप** इत्यादि। विश्वरूपे हि पञ्चगुणाः पूर्णाः, वैराग्यं न्यूनं 'मातृस्नेहवशानुग' इतिवचनात् ते भगवदनुग्रहरूपा एव, अतस्तस्मिन् यावान् अनुग्रहस्तं कृष्ण इन्द्राय ददौ। अतः षडध्यायाः, षष्ठ एव च वधः कृतो नो[१] सप्तमे वैराग्यस्यापूर्णत्वादित्यर्थः।६८।

एवं षडध्यायप्रयोजनमुक्त्वा तद्ब्रह्महत्याया हस्ताभ्यां ग्रहणस्य तात्पर्यमाहुः–**साक्षादित्यादि**। घातो हननं कार्यत्वेन हस्तद्वये जातम्, ततः पापं ब्रह्महत्यारूपं

१ नो। २ तपः।

आध्यात्मिकत्वात्तस्याऽपि सेवामिन्द्रश्चकार ह।
सम्वत्सरेणाऽऽत्मशौचं निर्बन्धश्च गतो हरौ ॥७१॥
सच्चिदानन्दरूपेषु भूवृक्षस्त्रीषु तन्मलम्।
स्थापयामास गोविन्दप्रसादान्नान्यथा तु तत् ॥७२॥
एवमिन्द्रे प्रसादस्तु भूमिर्भक्तास्तथा द्रुमाः।
लक्ष्म्यंशाश्च स्त्रियो भक्तास्तदनुग्रह ईर्यते ॥७३॥
ततो वृत्रसमुत्पत्तिस्तं मोचयितुमादरात्।
सोमादाहवनीयस्य जन्म चक्रे हरिः स्वयम् ॥७४॥
वेदप्रामाण्यसिद्ध्यर्थं स्वरभङ्गं चकार ह।
विद्याधरः शापदग्धस्ततो मुक्तिमवाप्स्यति ॥७५॥
उच्छिष्टसोमहवनान्मन्त्रदोषाच्च दैत्यताम्।
स्वाहेत्येव तु मन्त्रोऽत्र कामितस्याऽनुकीर्त्तनम् ॥७६॥

करद्वये अञ्जलौ अगृह्णादित्यर्थः ॥७०॥

तत्स्थापनादिप्रयोजनमाहुः–**आध्यात्मिकत्वादित्यादि**। तस्य पापस्योग्रत्वात्सम्वत्सरमन्तरेण तन्निर्वेशासम्भवात्तावत्कालमबिभ्रदित्यर्थः। ह इति प्रसिद्धौ। तस्य फलमाहुः-हरौ इन्द्रे सम्वत्सरेण आत्मशौचं जातं च पुनः निर्बन्धो ब्रह्महन्तृत्वेनाक्रोशरूपोऽपि गतः। शिष्टं यत्तन्मलं तद्भूम्यादौ स्थापयामास, तत्सर्वं गोविन्दप्रसादादेव नान्यथेतीन्द्रे प्रसादबोधनायेदमत्रोक्तमित्यर्थः।७१।७२।

भूमिस्तुरीयमित्यादेस्तात्पर्यमाहुः-**भूमिर्भक्तेत्यादि**। एवं चात्र वैदिकपक्षोऽपि सङ्गृहीतो ज्ञेयः। तत्र भूम्यादित्रय एव ब्रह्महत्याविभागश्रावणात्। तेन तत्रापीदमेव तात्पर्यमेवमेव च स्वरूपं विश्वरूपादीनामिति बोधितम्। अत्र त्वप्स्वधिको ब्रह्महत्याविभागः, स चा'धिकं तत्राऽनुप्रविष्टमि'ति न्यायान्न दोषावह इति।७३।

एवं विश्वरूपप्रकरणं विचार्य वृत्रप्रकरणं विचारयन्ति **ततो वृत्रेत्यादि**। आदरे गमकमाहुः–**सोमादित्यादि**। वधे बीजमाहुः–**वेदेत्यादि**। तन्मोचनायायमुपाय इत्यर्थः। स्फुटमग्रे।७४।७५।७६।

१ उत्सृष्ट

अग्निहोत्रप्रक्रियायां तथा निर्णय ईरितः।
कर्मणोत्पादितो देहो ज्ञानेनैव विनश्यति ॥७७॥
अतो दधीचेरस्त्राणि ज्ञानरूपाणि तद्वधे।
उतपत्तिप्रलयौ यस्य वेदमार्गेण तद्धृदि ॥७८॥
भक्तिर्मुक्तिश्च तस्यैव सायुज्यं नाऽन्यथा भवेत्[1]।
भक्तिर्मूर्तिमती तत्र देवरूपास्तु[2] संस्थिता ॥७९॥
तद्वधव्यतिरेकेण न सा निर्गन्तुमर्हति।
अतो हरिः सर्वदेवैः स्तूयते सिद्धभाषितैः ॥८०॥
भक्तिलेशेऽपि न हरिः स्वयं हन्ति कथञ्चन।
देवार्थं ब्राह्मणान्नाशस्तस्य दोषस्य वर्ण्यते ॥८१॥
प्रचेतसां प्रसादश्च दक्षस्याऽपि तथैव च।
तत्स्तुतानां च निखिलो विश्वरूपे प्रतिष्ठितः ॥८२॥
भक्त्या च तपसा चैव ज्ञानेनाऽपि स उच्यते।
आधिभौतिकरूपं तु त्रयमत्र निरूपितम् ॥८३॥

(अ. १०)दशमाध्यायतात्पर्यमाहुः–कर्मणेत्यादिभिः। तत्रोत्पत्तिमारभ्यान्तं यदत्रोक्तं तत्सर्वं तद्धितार्थमेवेतिद्वाभ्यामुक्तम् ।७७।७८।

'स्तूयमानो मुनिगणै'रित्यनेनोक्ताया इन्द्रस्तुतेस्तात्पर्यमाहुः–भक्तिरित्यादिसार्द्धेन। ननु वृत्रहननं दोषनिवारणाय चेद्भगवता कुतो न कृतमित्यत आहुः–भक्तिलेशेत्यादि। दधीचेर्वृत्रवधकरणत्वे प्रयोजनान्तरमानुषङ्गिकमाहुः–देवार्थमित्यादि ।७९।८०।८१।

ननु पूर्वप्रकरणे दक्षादिषु प्रसादो विश्वरूपार्थमुक्तस्तर्हि तेषु न प्रसादस्तस्तत्फलमपि न तेषां भविष्यतीति शङ्कां सार्द्धैस्त्रिभिर्वारयन्ति–प्रचेतसामित्यादि। अत्रेति प्रचेतःप्रभृतिषु। तथा च तपसा ज्ञानेन सगुणभक्त्या आधिभौतिकस्तेषु 'आध्यात्मिको विश्वरूप' इत्युभयमपि युक्तमित्यर्थः ।८२।८३।

१ नान्यथा तु तत्। २ तु।

आध्यात्मिकानां त्रितयं विश्वरूपे प्रतिष्ठितम्।
बृहस्पतिसमो ज्ञाने तपस्वी च निरूपितः ॥८४॥
कवचस्योपदेशेन वैष्णवोऽपि निगद्यते।
तथा वृत्रेऽपि त्रितयं ज्ञानं भक्तिर्बलं तथा ॥८५॥
आधिदैविकमेतद्धि सायुज्यं नाऽन्यथा भवेत्।
विश्वरूपवधात्पापमक्षयं तत्प्रतिष्ठितम् ॥८६॥
आध्यात्मिकं ततोऽप्येषा वृत्रहत्या विशिष्यते।
तामसानामधिपतिस्तत्पापं हन्ति दुर्जयम् ॥८७॥
ध्यानं तत्र निमित्तं हि वैदिकं चाऽप्यभीष्टदम्।

एतत्त्रितयं वृत्रेऽप्यतिदिशन्ति–तथा वृत्र इत्यादि। विश्वरूप आध्यात्मिको वृत्र आधिदैविक इत्यत्र गमकमाहुः–विश्वरूपवधादित्यादि। वृत्रहत्यायास्तत आधिक्ये हेतुमाहुः–तामसानामधिपतिरिति। तथा च राज्ञो मूर्द्धाभिषिक्तस्य वधो ब्रह्मवधाद्गुरुरिति वाक्यात्तथेत्यर्थः। ततो 'हरि'रित्यारभ्य 'विधूतपाप' इत्यन्तेन सिद्धं तन्नाशहेतुमाहुः–तत्पापमित्यादि। ध्यानं कर्तृ तत्पापं हन्तीत्यर्थः। ननु सति पापे ध्यानप्रतिबन्धः कुतो नाऽभूदित्यत आहुः–तत्र निमित्तं हीति। तत्र ध्याने लक्ष्मीकृतं तद्रक्षणं यतो निमित्तं ततस्तत्सम्पन्नमित्यर्थः। तर्हि वाजिमेधस्य किं प्रयोजनमत आहुः वैदिकमित्यादि। वैदिकं यज्ञकरणमपि अभीष्टदमेव। चोऽवधारणे। 'इन्द्रो महानास विधूतपाप' इति तत्र कथनाद्भौतिकं पापं नाशयन्महेन्द्रत्वजनकमेवाभूदित्यर्थः। एवं चात्र त्रयोदशेऽध्याये ऋतम्भरध्यानं केवलध्यानम्, तेन 'केवलः सकलार्थद' इति फलमत्र बोधितम्। तथा सती सप्तमाध्याये 'या एवं चिन्तयतस्तस्य मघोन' इत्यादिश्लोकद्वये इन्द्रस्य गुरुध्यानरूपा चिन्तोक्ता सा 'शीर्ष्णा तच्चरणं स्पृश'न्निति तत्पूर्ववाक्यात्स्पर्शविशिष्टविषया, ततस्तेषां ब्रह्मणा विश्वरूपे गुरौ बोधिते विगतज्वरा इति कथनाद् गुरोश्च भगवत्त्वात्स्पर्शेनाखिलतापनु-

भक्तिर्दोषयुता लोके न प्रसिद्धा कथञ्चन ॥८८॥
अतस्तदपवादाय मतान्तरमिहोच्यते।
वैराग्यं ज्ञानभक्ती च प्रसादः शाप एव च ॥८९॥
भक्तिमार्गे तु भक्तस्य न युक्तमिति तत्तथा।

दित्यर्थः सिद्ध्यति। ततोऽष्टमे नारायणवर्मोपदेशस्तच्च ध्यानरूपमेव वर्मधारणम्, तत्र च गोविन्द आसङ्गद आत्तवेणुरिति कथनाह्लादेन मनोहर इति प्रतिभाति। ततो नवमे उपस्थानप्रीतस्य भगवतो वाक्येषु 'किं दुरापं मयि प्रीते तथापि विबुधर्षभाः। मय्येकान्तमतिर्नान्यन्मत्तो वाञ्छति तत्त्ववि'दित्यादिवाक्यत्रये भगवता स्वैकान्तिनां स्वस्य च स्वभावकथनाद्योगेनात्मप्रवेशद इति सिद्ध्यति। ततो दशमे 'द्वौ सम्मताविह मृत्यू दुरापा'वित्यत्र 'यदग्रणीर्वीरशयेऽनिवृत्त' इत्यत्र द्विषतो मोक्षदानात्कालमोक्षप्रदो द्विष्ट इति सिद्ध्यति। अथवा नवमे देवहेलनाद् द्विष्टो विश्वरूपस्य कालेन मोक्षदः। दशमे दधीचौ योगेनात्मप्रवेशदः। तत एकादशे 'अहं समाधाय मनो यथा हे'त्यादिषु 'न नाथ भूया'दित्यन्तेषु 'स्वामी सर्वसुखप्रद' इति सिद्ध्यति। ततो द्वादशे इन्द्रस्य वृत्रेऽसुरत्वेन स्वस्माद्धीनभावो वृत्रस्य च परिघताडनेनेन्द्रहस्ताद्वज्रभ्रंशेनेन्द्रे स्वस्माद्धीनभाव इत्युभयोरपि हीनभावाद् दुःखद इति प्रतिभाति।

(अ० १४) अतः परं चतुर्दशाद्यध्यायचतुष्टयं विचार्यते। तेषु चतुर्ष्वेवं दुष्टस्य वृत्रस्य कथं भगवति मति'रिति राजप्रश्ने 'श्रुतं द्वैपायनमुखा'दित्या'दिना मतान्तरोपन्यासमुखेन वृत्रपूर्वजन्मकथोच्यते। तत्र मतान्तरोपन्यासः कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुः भक्तिरित्यादि ।८८।

तदपवादायेति दोषयुतत्वापवादाय। तथा च दोषः शापकृतो न तु स्वाभाविक इति भक्तौ तदभाव एव सर्वसम्मत आगन्तुकस्य दोषस्य भक्तिहीनत्वानापादकत्वादिति। ननु यद्येवं सर्वसम्मतत्वेन शुकैरप्युपगतं तदा कस्मिन्नंशे मतान्तरत्वमित्यत आहुः—वैराग्यमित्यादि। 'अहं हरे तव पादैकमूले'त्यादिवाक्यैर्वृत्रो भक्तिमार्गीयत्वेन विवक्षितस्तादृशस्य वैराग्यादिपञ्चकं न युक्तम्। 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'त्यत्र ज्ञानवैराग्ययोरश्रेयस्त्वकथनेन पुष्टिरूपाया भक्तेरपि स्वार्थतया तथात्वेन देवान्तरप्रसादनस्याप्रयोजनकत्वेन शापस्य चासम्भवेन पञ्चानामप्यसम्भावितत्वात्। इति हेतोस्तदुपाख्यानं तथा मतान्तरत्वेनोक्तमित्यर्थः ॥८९॥

भाषान्तरेऽपि यत्सिद्धमिन्द्रे तत्प्रददौ हरिः ॥९०॥
एवमिन्द्रे महापुष्टिः सर्वबाधा निरूपिता।
सर्वबाधकरूपा हि दैत्ये पुष्टिरथोच्यते ॥९१॥
तत्रापीन्द्रप्रसादो हि यतो मृत्युनिवारणम्।
विरुद्धयोः प्रसादं तु हरिः साधयितुं क्षमः ॥९२॥
अग्निरूपो यतो भर्त्ता कश्यपः सकलं निजम्।
रेत एकोनपञ्चाशत्प्रकारं व्यसृजद्बुधः ॥९३॥
प्रसादश्चाऽप्रसादश्च द्वयं चाऽपि विमिश्रितम्।
त्रिषु कृष्णः सप्तमूर्तिः सप्तधा सप्तसप्तधा ॥९४॥

नन्वेस्त्वेवं तथाऽप्येतेषामध्यायानां कथं देवप्रकरणे निवेश इत्यत आहुः—भाषान्तर इत्यादि। यदिति ज्ञानादिचतुष्टयम्। तथा चेन्द्राय सर्वं दत्तमिति बोधनायात्र निरूपितमन्यथा सुद्युम्नोपाख्यानादिवदग्रे वदेत्। अत इन्द्रशेषत्वाद्देवप्रकरणे इत्यर्थः। ॥९०॥ प्रकरणमुपसंहरन्ति एवमित्यादि। एवमत्र सार्द्धैः सप्तत्रिंशद्भिर्देवप्रकरणं विचारितम्।

अतः परमष्टभिर्दैत्यप्रकरणं विचारयन्ति—सर्वेत्यादि। दैत्य इति। दैत्यप्रकरणे। सर्वबाधकरूपेति। कालकर्मस्वभावबाधिका। तेन पूर्वस्माद्विशेष उक्तः। नामप्रकरणे कर्मबाधिका। रूपप्रकरणे हर्यश्वादीनां कर्मबाधिका। 'वृत्रस्य स्वभावबाधिकेति ततोधिका। अत्र तु मरुतां त्रितयबाधिकेति ॥ ९१ ॥

नन्वेवं सति देवानां तया कुतो न बाधस्तत्राहुः—तत्रापीत्यादि। एवं प्रकरणाभ्यां सिद्धं तात्पर्यमाहुः—विरुद्धयोरित्यादि। तथा च भगवत्यलौकिकं सामर्थ्यं बोधयितुमेवं प्रकरणद्वयकथनमित्यर्थः। मरुतामेकोनपञ्चाशत्त्वे हेतुमाहुः—अग्निरूप इत्यादि। नार्य्या घृतकुम्भसमानत्वात्तत्सम्बन्धे क्षुब्ध इत्यग्निरूपः। सकलमिति सांशम्। बुध इति भगवदनुग्रहं जानानः ॥९२॥९३॥ नन्वेवं सति कथं तेषां छेद इत्यत आहुः—प्रसाद इत्यादि। प्रसादादिषु त्रिषु कश्यपधर्मेषु धर्मधर्मिभेदेन सप्तमूर्त्तिः कृष्णः सप्तधा वर्त्तते, अतो मरुतः सप्त भूत्वा प्रत्येकं सप्तधा जाताः। तथा च छेदे भगवदधिष्ठितोऽप्रसादो हेतुरित्यर्थः। तर्हि प्रसादादिषु त्रिषु भगवत्स्थितेः

प्रसन्नत्वाद्वह्वपत्यं क्रोधान्नो वाञ्छितस्थितिः ।
उभयान्मानसं किञ्चिन्न्यूनमेकाधिकत्वतः ॥९५॥
वधस्याऽभिनिवेशस्तु सेवया प्रायशो गतः ।
पुष्टिरूपा तु या सृष्टिः साधारण्यविशेषभाक् ॥९६॥
सा निरुक्ता ततोऽन्यत्र न सृष्टिः पुष्टिसंश्रिता ।
व्रतिनः पूजनं मुख्यमित्यन्ते व्रतसङ्कथा ॥९७॥
सर्वलीलाः पुष्टिमध्ये प्रविशन्तीति मे मतिः ।

किं कार्यमित्यपेक्षायां तद्विवृण्वन्ति प्रसन्नत्वादित्यादि, वाञ्छितस्थितिरिति । इन्द्रहन्तृत्वेन स्थितिः । मानसमिति इन्द्रमदशोषकत्वम् । तच्च गर्भमरणाभावादिन्द्रस्य पञ्चाशत्तमस्य जातत्वात् किञ्चिन्न्यूनं तदेतद्भगवदधिष्ठितस्य मिश्रणस्य कार्यमिति त्रिष्वपि भगवदधिष्ठानमित्यर्थः ॥९५॥

ननु तथापि पुत्रमिन्द्रहणमभिसन्धाय पूजाया प्रारब्धत्वात्तदंशे कथं फलस्य न्यूनतेत्यत आहुः- वधस्येत्यादि । तथा च फलादेव तस्याभिनिवेशस्य निवृत्तिरनुसन्धेयेत्यर्थः । नन्वस्मिन् स्कन्धे पुष्टिर्निरूप्या तत्र सृष्टिनिरूपणस्य किं प्रयोजनम् । राजप्रश्नानुरोधेन चेत् प्रतिनन्दनस्य किं प्रयोजनमत आहुः–पुष्टिरूपेत्यादि। साधारण्यविशेषभागिति । श्रीशुकस्य साधारण्येऽपि विशेषवतीत्यर्थः। तथा च सृष्ट्यन्तरे पुष्टिनिवृत्तिं बोधयितुं तत्कथनं श्रीशुकस्य विवक्षितमतः प्रतिनन्दनमित्यर्थः ।९६। एवं षड्भिरष्टादशो विवृतः ।

अर्द्धनोनविंशार्थमाहुः-व्रतिन इत्यादि । सृष्टिनिरूपणस्य प्रयोजनान्तरमाहुः– सर्वलीला इत्यादि । श्रीभागवतेपि सर्वा एव लीलाः सर्गाद्याः सविशेषा एवोच्यन्ते न तु साधारण्य इति हि सर्गादीनां विशेषलक्षणकरणादवगम्यते । अन्यथा द्वादशस्कन्धे सर्गादीनां पुनः सामान्यलक्षणानि व्यासचरणा न वदेयुः,प्रयोजनाभावात् । अतः साधारण्यविशेषभाक्त्वं सर्वास्वविशिष्टमिति सर्वा एव लीलाः पुष्टिमध्ये प्रविशन्ति इति मे मतिः मम मतम् ।

१ वाञ्छितस्थिति.

अतः सृष्टिस्तु निखिला कृष्णार्थेति विनिश्चयः ॥९८॥
तस्मात्सिद्ध्यन्ति कार्याणि भक्त्यैवाश्रयणाद्धरेः ॥९९॥

इति श्रीमदाचार्यचक्रचूडामणि-
श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचिते
श्रीभागवतार्थनिबन्धे
षष्ठस्कन्धः समाप्तः ।

नन्वन्यैः कथं मन्तव्यम् , तत्राहुः–(अतः सृष्टिस्त्विति) तुः पूर्वपक्षनिरासे । 'द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च । यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षये'ति द्वितीयस्कन्धेऽनुग्रहादेव सर्वं स्थितिकथनादत्राऽस्मदुक्ते शङ्कैव नोचिता। अतो निखिलासृष्टिः कृष्णार्थेति विनिश्चयो निष्कृष्टोऽर्थ इत्यर्थः ।९७।९८।

तेन सिद्धमाहुः–तस्मादित्यादि । अत्रायमर्थः । श्रीभागवते ह्यनुग्रहशब्दस्त्रिषु प्रयुक्तः । अत्र कालादिनिवारके धर्मे । उक्तवाक्ये तु स्थापके धर्मे । अदीनलीलेत्यत्र त्वाश्रये । 'यस्याऽनुग्रहमिच्छामी'त्यत्र यः सोऽपि यथाधिकारमेतेष्वेव पर्यवस्यति । तेषु त्रिष्वपि धर्मेष्वाश्रय एव मुख्यो भगवद्रूपत्वान्मुख्यलीलात्वाच्च । स एव च परार्थत्वात् । भक्तिजनकः शेषी च । तस्माद्धेतोर्हरेराश्रयणाद्भक्त्यैव कार्याणि यथाधिकारं सिद्ध्यन्ति । तथा चैतद्बोधयितुमत्र सृष्टिकथनमित्यर्थः ।

इति श्रीमत्प्रभुचरणैः पुरुषोत्तमस्य दर्शिता
षष्ठस्कन्धनिबन्धयोजना
समाप्ता ।

षष्ठस्कन्धः
समाप्तः

षष्ठस्कन्धस्थनिबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

(३३६ तमे पृष्ठे अनुसन्धेयम्)

षष्ठस्कन्धे प्रकरणार्थनिरूपणे रूपप्रकरणतात्पर्योक्तौ **रूपेण मोक्षद** इत्यादि, रूपस्य चतुर्दशगुणविशिष्टत्वात् प्रत्येकं गुणवैशिष्ट्येन हृदि भावितो भगवान् फलति, जीवहितं करोतीति पूर्वश्लोक उक्तम्, अतः परं तान् चतुर्दशगुणान् तत्कृतं फलं च विविच्य ज्ञापयितुमाह रूपेणेत्यादिसार्धैस्त्रिभिः । ते च गुणा ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणचतुष्टयविषया इति प्रत्येकं तत्तद्गुणयुक्ततद्ध्याने मोक्षादिफलानि जीवहितानि ददति, तत्र प्रथमेध्याये रूपे वैशिष्ट्येन ध्यातो दक्षस्य मोक्षदायकोऽभूत् । अत एवास्मिन्नध्याये दक्षतपसा प्रादुर्भूते रूपे 'त्रैलोक्यमोहनं रूपं बिभ्रत् त्रिभुवनेश्वर' इत्युक्तम्, तेन तादृशरूपविशिष्टस्य ध्यानेन दक्षस्य शिवावज्ञादोषनिवृत्तिपूर्वकं सृष्टिकर्मणि प्रवृत्तस्यापि मोक्षः सम्पन्न इति ॥ १ ॥

द्वितीयाध्याये भगवद्रसो हि आन्दरूपः सर्वेन्द्रियान्तःकरणवेद्यो हर्यश्वशबलाश्वानां नारदोपदेशे कूटवाक्यार्थावबोधेऽनुभवविषयोऽभूद् येन ते संसाररसं त्यक्तवन्तः, दक्षे तु न तद्रसानुभवः येन नारदेऽधिक्षेपः शापश्चेति ॥ २ ॥

तृतीयाध्याये सर्वां सृष्टिमुक्त्वान्ते विश्वरूप उक्तस्तस्मिंश्च कीर्तिरूपोऽनुभावरूपश्च भगवद्गन्धो ब्राह्मणानुभूतोऽतो देवान् प्रति पौरोहित्याद्विश्वरूपं भजतेत्युक्तम्, देवानां च तत्र भक्तिर्जनिता, अन्यथा द्विषतां दौहित्रं पौरोहित्ये कथमङ्गीकुर्युरिति ॥ ३ ॥

चतुर्थाध्याये 'ऋषिं त्वाष्ट्रमुपव्रज्य परिष्वज्येदमब्रुवन्नि'तिवाक्यात् तदाविष्टभगवत्स्पर्शाद् देवानां सर्वे तापा निवृत्ताः, अत एव प्रार्थना, पौरोहित्ये वरणं चेति ॥ ४ ॥

पञ्चमाध्याये कवचं भगवन्नादरूपम् आथर्वणाद् दधीचेः ऋषेः प्राप्तम् । भगवन्नादो हि त्रिलोक्या मनो हरति, अत एव दैत्यांशयुक्तोपि विश्वरूपो वैष्णवोऽभूत् । इन्द्राय दत्ते कवचे भगवन्नादस्य दैत्यसम्बन्धित्वनिवारणाय विश्वरूपो हरिणैव हतः । एवं नादेनमनोहरत्वमिति ॥ ५ ॥

षष्ठाध्याये **योगेनात्मप्रवेशद** इत्थं निरूपितः, भक्तिर्देवरूपा मूर्त्तिमती या, सा तु वृत्रोदरे तिष्ठति यया भगवान् परितुष्यति, सा भक्तिस्तु तद्वधं विना निर्गन्तुमशक्ता, अतो देवानां परमसङ्कटं जातम्, तथापि भगवन्नादात्मककवचस्य इन्द्रे विद्यमानत्वात् तेनैवालौकिकानि सिद्धमाषितानि भगवत्स्तुतिरूपाणि देवानां हृदि स्फुरितानि, तैः स्तुतो भगवान् प्रकटो भूत्वा देवैः सह सम्भाषणं कृतवान्, तेन देवानामात्मप्रवेशो दत्तः, स्वकीयाः कृताः, वृत्रवधोपायश्च ज्ञापित इति सम्भाषणं वागिन्द्रियविषय आत्मप्रवेशफलक इति ॥६॥

सप्तमाध्याये हस्तेन्द्रियव्यापाररूपयुद्धहेतुर्द्वेषः दैत्यादिभिर्युद्धार्थं द्वेषित्वेन भाविते भगवति भगवानपि तैः सह युद्धं कृत्वा कालद्वारा मोक्षं ददाति । यथा पुनः कालग्रस्ता न भवन्ति, परिचर्यायां तु न परस्परं हस्तव्यापारः, अतः कर्मेन्द्रियाणां परस्परं भगवता सह व्यापारकथनार्थं युद्धहेतुर्द्वेषो निरूपितः । एतच्च सैनिकान् प्रति वृत्रवाक्ये स्फुटमिति ॥ ७ ॥

अष्टमाध्याये **स्वामी सर्वसुखप्रदः**, इत्थं, मूर्त्तिमती भक्तिर्वृत्रे तया च प्रभौ स्वामित्वभावना स्वस्मिंश्च स्त्रीत्वभावना तया [illegible]थेन्द्रियविषयो भोगश्च परस्परम्, तथा सति पतिर्भार्यायै इव सर्वं स्वकीयं सुखं भक्ताय प्रयच्छति भगवान्, एतच्च वृत्रचतुःश्लोक्यां स्फुटमिति ॥ ८ ॥

नवमाध्याये **हीनत्वेन मलवत् त्यक्तो** भगवान् तमपि त्यजति तदा आनन्दतिरोधानाद् दुःखं भवति । तदित्थं ज्ञेयम्, वृत्रेण हि इन्द्राय स्वज्ञानं भक्तिर्बलं च सर्वं बोधितम्, इन्द्रेणापि वृत्रस्तुतिकरणात्सर्वं बुद्धम्, तथापि स्वजयार्थं इन्द्रपदप्राप्त्यर्थं च युद्धमेव कृतवान् न तु वृत्रं भगवद्भक्तं ज्ञात्वा भगवत्प्रीत्यर्थं प्रपन्नः, वृत्रप्रपत्तौ सत्यां तु शीघ्रं भगवत्प्राप्त्या तत्प्रसादेन च सर्वं सुखमनायासेनैव स्यात् । अत्र तदकरणात् प्रभौ हीनभावनया त्यागो ज्ञापितः, ततो भगवतापि त्यागाद् आधिदैविकवृत्रहत्यारूपं दुःखं प्राप्तमिति ॥ ९ ॥

दशमाध्याये **केवलः सकलार्थदः**, प्रागुदीच्यां दिशि लक्ष्मीः कमलालया तिष्ठति, तत्र तद्भोगाय भगवानपि केवलः पार्षदादिरहितस्तिष्ठति, अतो हत्या भीत इन्द्रोपि सर्वेषु लोकेषु परिभ्रमणं कृत्वा तत्र तत्र शरणमलभमानस्तूर्णं मानसं प्रविष्टः, तदुक्तं 'नभोगतो दिशः सर्वा' इतिवाक्येन । यद्यपि हत्या दुष्ट इन्द्रो लक्ष्मीस्थानं प्रवेष्टुमयोग्यस्तथापि भगवतः स्वभावं वाचं च स्मृत्वा तत्र गतः, तत्र भगवत्स्वभावस्तु यो भगवत्समीपगमनार्थमेकं पदं प्रचलति तदा एकोनविंशति पदानि भगवांस्तत्सम्मुखमायाति, अतो भगवता सह तत्र गतः, उक्तं च 'ऋतं वचनं भगवान् बिभर्ति अतो ऋतम्भरः' इन्द्रं प्रति भगवता पूर्वमुक्तम् 'तस्मिन् विनिहते यूयं तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः, भूयः प्राप्स्यथ भद्रं वो न हिंसन्ति च मत्परा'निति (अ० ९) तद्वचनं स्मृत्वा इन्द्रो भगवत्सम्मुखं गतस्तदा भगवानपि स्ववचनं फलयितुं हत्या दुष्टस्यापीन्द्रस्य सम्मुखमागतः, तदुक्तं 'ऋतंभरध्याननिवारिताघ' इत्यनेन, यद्यपि पूर्वाध्याये भगवति इन्द्रस्य हीनभावस्ततो भगवत्सम्मुखमागन्तुं न योग्यस्तथापीदं वृत्रहननं सर्वलोकेषु भक्तिप्रचारार्थं वृत्रदोषनिवारणार्थं च भगवदभिप्रेतं भगवत्कार्यं च, अतः कार्ये सम्पन्ने हीनभावनाफले भुक्ते पुनरुत्कृष्टबुद्धिर्जातेतिज्ञेयम् । अतः केवलः गतिविषयीकृतः । सकलानर्थान् दत्तवान् ध्यानेन भक्तिं हत्यातो मोक्षं यज्ञैः धर्मं महेन्द्रत्वेनार्थं

कामं चेति । आधिदैविकी हत्या ध्यानेन निवृत्ता आध्यात्मिकी श्रीरुद्रेण भौतिकी यज्ञैरिति ॥ १० ॥

एकादशेऽध्याये **मितो योगप्रदः**। माङ्मान इत्यस्य धातोर्निष्ठायां मितमितिरूपं कृतं ज्ञातमित्यादिवत्, तथा च मतिविषयीकृतं मतं ज्ञानविषयी कृतं ज्ञातमित्यादिवन् मानविषयीकृतं मितमित्यर्थो भवति, तत्र न्यूनाधिकभावनिर्द्धारो मानं, इदं वस्तु एतावद् एतादृशं चेतिज्ञानतद्विषयं न्यूनाधिकभावापन्नं वस्तु मितशब्देन ज्ञेयम्, तत्र द्रव्येषु न्यूनत्वमधिकत्वं च तोलनेन मानहेतुपात्रेण च ज्ञायते। रत्नादिषु तत्परीक्षादिना इदं वस्तु एतावद् एतादृशं चेतिज्ञायते, भगवतो मानं बुद्ध्यैव ज्ञायते, यद्यपि भगवान् तदानन्दश्च अनन्तत्वान् न मातुं शक्यते तथापि बुद्ध्या तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मानं निर्द्धार्य भगवति तदानन्दे च सर्वोत्कृष्टत्वमपरिमितत्वं यदा मातं तदेव मानशब्देनोच्यते। यदाऽमृतोदधौ गगने च, तथा च भगवान् तदानन्दश्च सर्वोत्कृष्टत्वेन अपरिमितत्वेन च बुद्ध्या व्यवसायात्मिकया ज्ञातो यैस्तैर्मित इत्युच्यते। तदा तेषां केनाप्युपायेन सम्भाषणादियोगप्रदः, तदस्मिन्नध्याये व्यतिरेकमुखेनोच्यते, अङ्गिरसि ऋषौ उपदेशार्थमागतेपि सार्वभौमेन चित्रकेतुना पुत्राभावे सम्पदामतोषहेतुत्वकथनात् पुत्रेण स्वस्य पूर्वजानां च परलोके गतिमत्त्वकथनात् तत्रैव परमोत्कृष्टत्वपरमसुखहेतुत्वज्ञानेन भगवति तदभावान्नोपदेशो लब्धस्ततश्च भगवदयोगः परमदुःखं च। ननु हीनभावाद् दुःखद इत्यनेनास्य को भेदस्तत्रापि भगवत्परित्यागादेव दुःखलब्धेरिति उच्यते। पायुर्हि देहे विद्यमानं मलं त्यजति तन्न्यायेन ज्ञानस्यापि हरेस्तत्र परित्यागः, अत्र तु तादृशबुद्ध्यभावाद्धरौ नोत्कृष्टत्वज्ञानं नापि परमानन्दानन्तत्वज्ञानं तेन भगवदलब्धिरूपोऽयोग एव, न तु योगे जातेपि परित्याग इतिविभेद इति ॥ ११ ॥

द्वादशाध्याये **भिन्नो मृत्युप्रदः**, भिदिर् विदारणे इत्यस्य धातोर्निष्ठायां भिन्नमितिरूपम्, तथा सति विदीर्णमित्यर्थो भवति, इदं चात्र अहङ्कारस्य कार्यं विषयश्च; तद्यथा अहङ्कारो हि एकं सर्वात्मकमद्वितीयमात्मरूपं भगवन्तं विदार्य जीवात्मानं पृथक्करोति ततोऽहम्मत्या भिन्नो जीवो ममतया जडमपि भगवतः पृथक् करोति, अत्र भिन्नत्वेन ज्ञानमेव पृथक्करणम्, ततो भगवानपि विदारणकर्मणः फलं दुःखमेव प्रयच्छति सर्वैरेव रूपैः, तत्र जडजीवरूपैः शोकमोहभयार्तिरूपं मूलरूपेण तु स्वस्मिन् कालरूपत्वं सम्पाद्य मृत्युरूपमिति, एतज्ज्ञापनायैवात्राऽध्यागे सर्वेषां शोकमोहभयार्तिरूपम्, । मूलरूपेण तु स्वस्मिन् कालरूपत्वं सम्पाद्य मृत्युरूपमिति एतज्ज्ञापनायैवात्राध्याये सर्वेषां शोकमोहभयार्तिदत्वम् उक्त्वाग्रे द्वैते ध्रुवार्थविश्रम्भं त्यजेत्युक्तम्, यथा भगवान् स्वात्मनः सकाशात्

न भिद्येत, संसारदुःखहेतोरहङ्कारस्य विलयार्थं च तदाधिदैविकस्य तल्लयस्थानस्य च सङ्कर्षणस्य उपासना उक्ता, तया तस्मिन् लीनोऽहङ्कारो न पुनः कदाप्युद्गच्छेदिति, अतोऽहङ्कारस्यैव सर्वत्र बन्धहेतुत्वमुच्यते, अहङ्कारकृतं बन्धं अहङ्कारस्य दृश्यते जन्ममृत्युश्चे'त्यादिष्विति, अग्रे शिवावज्ञा तु भगवत्कार्यमत एव शापे जाते निरहङ्कारो देवीं प्रसादितवानिति ॥१२॥

त्रयोदशेऽध्याये **यथास्थितो ज्ञानदः**, अत्राध्याये उपक्रमे नारदेन स्वयोगबलेनाऽऽकारितो जीवश्चित्स्वरूपो ज्ञानधर्मा यथास्थितः समागतः, स च मोहनिवारकं जीवविषयकं ज्ञानमुक्तवान्। 'कस्मिन् जन्मनी'त्यारभ्य 'तावदेव ही'त्यनेन बद्धावस्थापन्नजीवस्वरूपम्, 'एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहङ्कृत' इत्यारभ्य 'परावरदृगीश्वर' इत्यन्तेन युक्तावस्थापन्नजीवस्वरूपं च बोधयित्वा ज्ञानदो जातः। ततो नारदोपदिष्टविद्यया चित्रकेतुर्विद्याधराधिपत्यं लब्ध्वा शेषात्मकसङ्कर्षणसान्निध्यं प्राप्तः, सान्निध्यमहिम्नैव ध्रुववत् स्तुतिहेतुभूतं ज्ञानं प्राप्तस्तथापि यावद् गुरुर्नोपदिशति तावज्ज्ञानं न स्थिरं भवति तदर्थं शेषकृतोपदेशः, शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वतीतनू' इतिकथनात् शब्दब्रह्म वेदात्मकः शेषः अर्थात्मकपरब्रह्मणा नित्यसम्बद्धः, अतः स यथास्थितः उपदेशवाक्येषु च सर्वात्मकस्य अद्वितीयस्य तुरीयरूपस्य परमात्मनो यथास्थितस्य स्वरूपं बोधितवान्। तच्च ज्ञानं भक्तिपर्यवसायीति ज्ञापनाय 'यद्भक्तः पुरुषो भवेदि'त्युक्तम्, भक्तिविषयः पुरुषोत्तमश्च परमानन्दरूपत्वात् परमफलरूप इति ज्ञापनार्थं 'यत् परात्मैकदर्शन'मित्युक्तं परश्च आत्मा च तयोरेकत्वेन दर्शनं, तेन सहाभेद इतियावत्। यद्वा परश्चासावात्मा च परात्मा तस्यैवैकस्य दर्शनं स्फुरणमित्यर्थद्वयमपि अभिप्रेतं, अत एवाग्रे परमफलरूपा भक्तिर्जाता तथा चात्राध्याय इदं निष्पन्नं, नारदोपदेशेन चित्रकेतुना अहङ्कारपरित्यागेन चित्तविषयीकृतो **यथास्थितो**ऽभिन्नोऽद्वितीयः सर्वात्मक आत्मरूपश्चित्रकेतोः सङ्कर्षणद्वारा स्वरूपफलकभक्तिपर्यवसायी **ज्ञानदो** जातो भगवानिति ॥ १३ ॥

चतुर्दशाध्याये **स्नेहाद् वशो भवेद् ध्रुवमिति**। तत्र स्नेहश्च मनसो विषयः; तृतीयस्कन्धे भक्तिलक्षणे 'देवानां गुणलिङ्गाना'मितिवाक्ये 'सत्त्व एवैकमनसो वृत्ति'रितिकथनात् एकोनत्रिंशेऽध्यायेपि निर्गुणभक्तिलक्षणे 'मनोगतिरविच्छिन्ने'तिकथानाद् वैष्णवतन्त्रे च 'स्नेहो भक्ति'रितिकथनात् अविच्छिन्नमनोगतिरूपा भक्तिरेव स्नेहस्तेन भगवान् ध्रुवं वशे स्थितो भवेत्, अत्राध्याये अनन्तोपदिष्टज्ञानेन चित्रकेतोर्भक्तिः स्नेहरूपा जातेतिज्ञापनार्थं विष्णुदत्तं विमानं 'सलक्षं लक्षवर्षाणा'मितिवाक्याद् अजरामरत्वं पूर्वतनस्य भोगाभिनिवेशस्य विद्यमानत्वात् तन्निवृत्त्यर्थं स्त्रीभिः सह रमणं हरिगुणगानेन च भक्ति'रनुवृत्ति' रितिनिरूपितम्, तथापि मया स्वसाधनबलेनेदं सम्पादितमितिजीवस्वभावदोषस्य स्वधर्मोत्कर्ष-

भावनारूपस्य सत्त्वाद् दीनताभावपूर्विका भक्तिर्न जाता येन परमं फलं स्यात्, विद्याधरत्व एव आसक्तिश्च जाता, तदुभयं भक्तस्य नोचितमिति तन्निवृत्त्यर्थं दीनताभावसम्पादनार्थं च भगवानेव शापं दापितवान्, अत्र भक्तत्वाभिमानज्ञापिका शिवावज्ञा स्वभावदोषज्ञापकानि शापनिमित्तानि शुकप्रोक्तानि अतद्वीर्यविद्वत्त्वादीनि चत्वारि चित्रकेतोर्विशेषणानि, शिवस्तु भगवान् सर्वज्ञ इति एनं भक्तं इदं च भगवत्कार्यं ज्ञात्वा प्रहस्य तूष्णीं बभूव, देवी तु न सर्वज्ञाऽतो रोषः शापदानं च, भक्त्यनुभावेनैव न शापमात्रेण विमानाच् च्युतिः, कार्ये जाते दीनभावो जातः, स्वभावदोषो निवृत्त इतिज्ञापकानि देवीं प्रति चित्रकेतुवचनानि प्रतिशापदानाभावश्च, भक्तस्य भक्तेश्च माहात्म्यज्ञापकानि देवीं प्रति शिववचनानि। आसुरयोनित्वेपि भक्तेरप्रतिहतत्वात् शापेन गुण एव जातो न तु दोष इति ज्ञापकानि निवृत्तदोषस्य वृत्रस्य दीनताभावपूर्वकपरमभक्तिबोधकानि चतुःश्लोकीवचनानि, भगवतो वश्यत्वज्ञापकमासुरदेहत्यागसमये वृत्रसमीपेऽवस्थानम्, सर्वेषु लोकेषु पश्यत्सु स्वस्मिन् प्रवेशनं चेति अनेन मनोनिवेशनं ध्यानमित्युक्तम्, ध्यानप्रकरणत्वमप्यस्य चतुर्दशाध्यायात्मकस्य सिद्धमितिदिक् ॥ १४ ॥

३४५ तमे पृष्ठेनुसन्धेयम्।

अग्रे द्वितीयाध्यायार्थोक्तौ (का० ४०) वेदप्रामाण्यसिद्ध्यर्थं नाममाहात्म्यमुत्तरे। स्कन्धार्थेन विरोधः स्यादन्यथा तन्मतान्तरमित्यत्र पूर्वं प्रथमाध्याये विष्णुदूतपृष्टैर्यमदूतैर्धर्मस्य स्वरूपलक्षणादिकं प्रतिपादितम्, ततो जीवस्य दण्डनिमित्तं पापं संसारनिमित्तमज्ञानं च प्रतिपादितम्, ततोऽन्तिमश्लोके पापेऽज्ञाने च हेतुभूतः प्रकृतिसङ्गो निरूपितः, तन्निस्तारहेतुरीशसङ्गश्चोक्तः, तत्र वेदोक्तानि कर्माणि प्रायश्चित्तादिरूपाणि पापनिवर्त्तकानि अन्तरङ्गानि ज्ञानसाधनानि अज्ञाननिवर्त्तकानि इत्यपि सूचितम्, कुत्र सूचितं कथं सूचितमितिप्रश्ने उच्यते, अजामिलस्य पूर्ववृत्तकथनव्याजेन सूचितम्, पूर्वमस्य पापाभावात् अन्तरङ्गाणि ज्ञानसाधनान्येव कर्माणि कुर्वाणः स्थितः, तानि तु कामबलेन पराहतानि पश्चात् पापे उद्भूते तानि विलीनानि, ततोऽन्तिमश्लोके 'अकृतनिवश'इत्यनेन प्रायश्चित्तरूपाण्यपि अनेन न कृतानि, अतो दण्डरूपं दुःखात्मकं तपोऽस्य 'निर्वेश'इति तत् सर्वं विष्णुदूतैरभ्युपगतम्, परं एतावत्, कर्मणां यत् पापनिवर्त्तकत्वं पुण्यजनकत्वं अज्ञाननिवर्त्तकत्वं ज्ञानजनकत्वं च यदुक्तं तत्कर्मद्वारा ईशसञ्चारमभिप्रेत्यैव, अतो यथा यथा ईशसङ्गसञ्चारस्तथा तथा प्रकृतिसङ्गनाशात् पापादिनिवृत्तिरितिवेदस्य मतम्, तदत्र भगवन्नामश्रवणकीर्तनरूपया भक्त्या ईशसङ्गे सम्पन्ने

प्रकृतिसङ्गनाशे पापादिनिवृत्तिरितिवेदप्रमाण्यसिद्ध्यर्थमेव नाममाहात्म्यमुत्तरे विष्णुदूतैरुक्तम्। वेदवचनसिद्धं मतं मर्यादा, वेदाभिप्रायसिद्धं मतं पुष्टिः, तत्पुष्टिरूपं मतं विष्णुदूतैर्नोच्येत यदि तदा अस्यापि स्कन्धस्य मर्यादार्थत्वे सिद्धे स्कन्धार्थेन पुष्टिरूपेण विरोधः स्यात्, यतः पुष्टिरूपं वेदाभिप्रायसिद्धं मतान्तरं, तस्मादेव हेतोस्तैस्तथा कथनमित्यर्थः, मर्यादायां पापनिवर्त्तकानि कर्माणि भिन्नानि मुक्तिसाधकानि च भिन्नानि पुष्टौ तूभयमेकेनैवेति पुष्टिबलं मर्यादातोऽधिकमिति।

पञ्चमाध्यायस्थकूटवाक्यार्थविचारः

अग्रे पञ्चमाध्याये कूटवाक्यनिरूपणे श्रीभागवते 'किमसत्कर्मभिर्भवे'दिति नवकृत्वः आवृत्तम्, तस्य श्रीधरीये अर्थ उक्तोप्यस्ति तथापि महदनुग्रहाद् यद् भातं तल्लिख्यते, लिङ्गभङ्गादर्शने निरन्तरं बन्धः पारतन्त्र्यमेव, अतः असद्भिः बन्धहेतुभिः कर्मभिः किं दक्षात्मकपित्राज्ञया सृजनरूपैः किं भवेत् न किमपीत्यर्थः, अत्र अन्तिमे कूटे तदर्थे च जीवस्वरूपानुरूपसुखस्यैव प्रजात्वनिरूपणात् परतन्त्राणां बन्धहेतुकर्मभिस्तदजननात् फलाभाव उच्यते। एवमन्येष्वपि कूटेषु तादृक् तादृक्कर्मभिर्जीवस्वरूपानुरूपसुखाभाव एव फलाभावो ज्ञेयः ॥ १ ॥

'या निशे'ति वाक्यात् तुरीयावस्थाया अदर्शने अवस्थात्रयम्, माया स्वप्न एव, अतः असद्भिः स्वाप्निकवत् मिथ्याभूतैरपि दक्षाज्ञया सृजनरूपैः कर्मभिः पूर्वोक्तसुखरूपफलं न स्यादित्यर्थः, एवं सर्वेषु कूटेषु सृजनरूपकर्मणां समानत्वेपि तत्तत्कूटोक्तविशेषणभेदादेव भेदो ज्ञेयः ॥२॥

प्रत्यक्धाम्नः अज्ञाने बहिरर्थप्राप्तिः आशुविनाशिनी, अतः असद्भिः अचिरकालस्थायिभिः ॥ ३ ॥

बुद्ध्या उत्तमपदार्थविचारो भवति बुद्धिनिष्ठायाः बुद्धिपरिपाकावस्थाया अभावे उत्तमाप्राप्तिः, अतः असद्भिः उत्तमपदार्थाप्रापकैः ॥ ४ ॥

कुबुद्धिहेतुकं हीनपदार्थैर्जायमानं दुःखं जनेषु यावन् न जानाति तावत् कुबुद्धिदातॄन् हीनपदार्थांश्च न त्यजति, अतः असद्भिः निवृत्त्यनुपयोगिभिः। पूर्वत्र उत्तमालाभे सुखाभावः, तत्र कारणं बुद्धिपरिपाकावस्थाऽभावः अत्र तु हीनपदार्थालाभे दुःखम् तत्र कारणं कुसङ्गः कुबुद्धिश्चेतिद्वयोर्भेदः॥ ५ ॥

भगवद्धर्मविपरीतधर्मकरी माया, तस्या अज्ञाने उत्पत्तिविनाशावेव मायामोहेन भवतः, अतः असद्भिः उत्पत्तिविनाशकरैः ॥ ६ ॥

सङ्घातनिष्ठान् आत्मपर्यन्तंपदार्थान् याथार्थ्येन यावन् न जानाति, तावन् नात्महिते प्रवर्तते, अतः असद्भिः विविक्तात्माऽज्ञापकैः ॥ ७ ॥

ऐशशास्त्रादर्शने भगवन्तं परमफलरूपं न जानाति भगवच्छास्त्रे हि भगवदिच्छाप्रतिकूलाप्रवृत्तिः स्वस्य मोक्तृत्वज्ञानेन स्वस्य[illegible] जायमाना बन्धरूपा, स्वस्यभोग्यत्वज्ञानेन

भगवत्सुखार्थं भगवदिच्छानुकूला प्रवृत्तिः मोक्षरूपा, अतो भगवच्छास्त्रबन्धमोक्षानुदर्शनम्, तदज्ञाने बन्धमोक्षयोरपि ज्ञानं न भवति, अतः असद्भिः भगवद्भक्त्यनुपयोगिभिः ।

अनेन उत्तमानां भगवति सर्वोत्तमत्वज्ञानेन फलरूपा भक्तिः, पूर्वत्र मध्यमानां स्वस्य मोक्षादिसुखदातृत्वज्ञानेन साधनभक्तिरिति अत्रापि द्वयोर्विभेदः ॥ ८ ॥

कनिष्ठानां कालाख्यभगवच्छक्तेर्मर्यादयैव भगवति श्रद्धारूप आदरो भवति काल-शक्तेरज्ञाने तु तन् न भवति, अतः असद्भिः भयप्रयोजकभगवद्वीर्याज्ञापकैः ॥ ९ ॥

शास्त्रं पिता आदेशो निवर्त्तनं, निवृत्तावेव जीवस्वरूपानुरूपं सुखं प्रजारूपं फलं भवति, तदज्ञाने गुणेष्वेव विश्वासः सुखदत्वज्ञानरूपः गुणविश्वासयुक्तः स्वसुखाय कथं प्रयतेत, अपि तु दुःखायैव प्रयतेतेत्यर्थः

अत्र पित्रादेशेन यन्त्रितान् प्रजाविवृद्धये यत्तान् प्रति नारदेन पितुस्तदाज्ञायाः आज्ञाविषयप्रजायाः प्रजाहेतुभूतकर्मणां तैराराध्यस्य आराधकस्य जीवस्य च यथार्थस्वरूपं ज्ञापितमिति नारदोक्तमेव ते कृतवन्तो न दक्षोक्तमिति **रसेनानन्ददायक** इति च ज्ञापितम्, भगवद्रसास्वादे आनन्दे उद्भूते संसाररसं त्यक्तवन्त इति ॥ १० ॥

वैशद्यार्थं पुनरपि दशानां कूटानामर्थो लिख्यते ।

बद्धेन अस्वतन्त्रेण न सृष्टिः कर्तुं शक्यते ॥ १ ॥

सुप्तेन स्वप्ने कृतं सर्वमकृतमेव ॥ २ ॥

आशुविनाशि कार्यमपि फलपर्यन्तं स्थित्यभावाद् व्यर्थमेव ॥ ३ ॥

अनुत्तमपदार्थकरणे तस्य सुखहेतुत्वाभावाद् व्यर्थैव सृष्टिः ॥ ४ ५ ॥

स्वस्य मुग्धत्वे उत्पत्तिविनाशशालित्वे सृष्टेरपि तथात्वे उपयोगाभावाद् व्यर्थैव सृष्टिः ।६।

विविक्तात्माऽज्ञाने सृष्टिरपि नात्महितार्थाऽतो व्यर्थैव ॥ ७ ॥

भगवदनुपयोगित्वे तु सुतरां सृष्टेर्वैयर्थ्यम् ॥ ८ ॥

कालस्यानुगुणत्वे एव सर्वं सिद्ध्यति अननुगुणत्वे तु सृष्टिरेव न सिद्ध्यति ॥ ९ ॥

पितुस्तदाज्ञायाः सृष्टेश्चापि स्वरूपं ज्ञातव्यमन्यथा सर्वमयथार्थमेव स्यादिति ॥१० ॥

॥ तत्त्वदीपकठिनांशविवेचने षष्ठस्कन्धः समाप्तः ॥

षष्ठस्कन्धः
समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीभागवतार्थप्रकरणे

सप्तमस्कन्धविवरणम् ।

एवं त्रिरूपा पुष्टिर्हि षष्ठे यत्नेन रूपिता ।
दुःखाभावः सुखं चाऽपि ह्यैहिकामुष्मिकं द्विधा ॥१॥
ततः पञ्चदशाध्यायैरूतिः सप्तम ईर्यते ।
पुष्टिदोषनिवृत्त्यर्थमूतिलीला निरूप्यते ॥२॥
विषमत्वं हरेर्दोषः पुष्टौ कामाद्यभावतः ।
अतो भगवता सृष्टा निरूप्यन्ते तु वासनाः ॥३॥

श्रीबालकृष्णो विजयते ।

अथ सप्तमस्कन्धनिबन्धस्य योजना ।

अथ सप्तमस्कन्धार्थं निबध्नन्तः पूर्वस्कन्धेनास्य सङ्गतिं बोधयितुं पुष्टिस्वरूपं सूचयन्त ऊतिनिरूपणं प्रतिजानते-**एवमित्यादि** । एवं जीवार्था पुष्टिरनुग्रहाख्या त्रिरूपा कर्मकालस्वभावबाधिका अजामिलेन्द्रमरुद्विषयिणी यत्नेन बाध्यानां दूत-विश्वरूपदध्यङ्वृत्राणामपि हितकारितया सूक्ष्मविचारेण षष्ठे निरूपिता । स्वार्थश्च दुःखाभावसुखभेदेन ऐहिकामुष्मिकभेदेन वा यतो द्विधा ॥ ? ॥ ततो हेतोः सप्तमे एककार्यकारित्वेन ऊतिर्निरूप्यत इत्यर्थः । ननु स्वार्थस्यैकस्यैवेतरस्यापि पुष्ट्यैव सिद्धेर्वक्तुं शक्यतया किमनया लीलयेत्यत आहुः-**पुष्टिदोषेत्यादि** ॥ २ ॥ को दोष इत्यपेक्षायामुपक्रमस्थप्रश्नोत्तरस्वारस्येन तमाहुः-**विषमत्वमित्यादि** । **कामाद्यभावत** इति सप्तम्यर्थे तसिः । अत इति । तदभावसाधनस्यावश्यकत्वात् । तथा च यद्दुःखादिकं तद्वासनयेति न भगवति दोष इति बोधयितुं ता निरूप्यन्त इत्यर्थः । **वासनाश्च** वंशविशेषरूपाः सन्तानात्मकत्वात् । वंशलक्षणं तु 'राज्ञां

आध्यात्मिकादिभेदेन कर्म स्यात्त्रिविधं यतः ।
पञ्चात्मकं ततः पञ्चदशधा तन्निरूप्यते ॥४॥
ताश्च कर्मभिरेवोक्ताः कर्मभ्यस्ताः पृथङ्मताः ।
अतः पुष्ट्याऽपि भगवान् यत्करोति स्वलीलया ॥५॥
जीवानां तत्तथैवेष्टं वासनावशतः स्फुटम् ।
जीवगा वासना सूक्ष्मा समावेशात्तु मध्यमाः ॥६॥
उभयं जीवसम्बन्धि मनस्यन्या तु कर्मभिः ।
जीवगा वासना ज्ञेया देवदैत्यहितेच्छया ॥७॥

ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वय' इति तत्र ब्रह्मपदेन परब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य च सङ्ग्रहः । राज्ञामिति पदं रञ्जनकर्तृमात्रपरं यौगिकम् । तथा ब्रह्मणः सकाशादुत्पन्नानां रागजनकानां त्रिकालवर्ती सन्तानो वंश इति सिद्ध्यति । स च वासनास्वपि तुल्य इति तद्बोधयितुं विशेषमलौकिकं स्फोटयितुं चाहुः–**भगवता सृष्टा** इति । न च सामान्यलक्षणेषु पञ्चमं लक्षणं मन्वन्तराणीति तद्विशेषत्वभूतेर्वक्तव्यं न तु षष्ठलक्षणभूतवंशविशेषत्वमिति शङ्क्यम् । यथा उद्देशे ऊत्यनन्तरं मन्वन्तरपाठेऽपि लक्षणे 'मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासना' इति प्रातिलोम्यं जन्यजनकभावादेवमत्रापि मन्वन्तराणामष्टमे स्फुटतयाऽत्रौचित्यबलेन वंशविशेषताग्रहणेऽपि बाधकाभावादिति ॥ ३ ॥

एवं त्रिभिः स्कन्धार्थं निरूप्य तस्य पञ्चदशभिर्निरूपणे हेतुमाहुः–**आध्यात्मिकेत्यादि** । **पञ्चात्मकमिति** । अविद्यापर्वजन्यत्वेनविद्यापर्वजन्यत्वेनाऽधिष्ठानादिपञ्चकजन्मत्वेन च तादृशम् ॥ ४ ॥

ननु कर्मणस्तावद्विधत्वे स्कन्धार्थभूताया वासनायाः कथं तथात्वमत आहुः–**ताश्चेत्यादि** । ऊतयः कर्मवासना' इति लक्षणे ताः कर्मजन्या एवोक्ता अतस्तद्भेदात्तासामपि तावत्त्वमित्यर्थः। नन्वस्त्वेवं तथापि तासां कथं पुष्टिसहकारित्वमित्यत आहुः-**अत इत्यादि**। तथा च भगवत्कृतेरिष्टत्वज्ञापनेन सहकारित्वमित्यर्थः ॥ ५ ॥ ननु भगवत्कृतिः पौरस्त्या वासनास्तु पाश्चात्या इति समानकालीनत्वाभावात्कथं सहकारित्वमत आहुः–**जीवगेत्यादि** । **समावेशादिति** । जीवस्य देहे प्रवेशात् । **मध्यमेति** । चिदचिद्ग्रन्थिरूपाऽभिमानजन्या । तथा च भगवत्कर्मजन्याया विभागसमानकालीनत्वेन जीवकर्मजन्यायाः सृष्ट्यारम्भसमानकालीनत्वेन यत्नजन्याया अपि तथात्वेन पौर-

आत्मीयत्वेन विज्ञाते तेष्वावेशस्तयोर्भवेत् ।
तदेव तादृशे शक्तिः कर्मणीति मतिर्मम ॥८॥
अतस्तान् तादृशान्मत्वा पुष्टिमार्गं करोति हि ।
त्रीणि प्रकरणान्यत्र पञ्चभिः पञ्चभिः क्रमात् ॥९॥
दैत्यदैवांशभेदेन पितापुत्रौ निरूपितौ ।

स्त्यत्वान्न काऽपि सहकारित्वे शङ्केत्यर्थः ॥ ६ ॥ तदेतद् द्वाभ्यां विवृण्वन्ति–**जीवगेत्यादि** । एनं जीवं देवमेनं दैत्यं कृत्वैवं हितं करिष्यामीतीच्छया यो व्युच्चरणात्मको विभागस्तत्काले तयेच्छया सा **वासना जीवगा ज्ञेया,** जीववर्तिनी सती सूक्ष्मदेहप्रवेशहेतुर्ज्ञेया । इदमेव पूर्वश्लोके सूक्ष्मेत्यनेनोक्तम् । एतच्च श्रुतावपि सिद्ध्यति । 'त्रयाः प्राजापत्या' इति, पञ्चरात्रे च उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा इति । ततस्तया वासनया **आत्मीयत्वेन** देहे **विज्ञाते** सति **तेषु** देवदैत्यरूपेषु स्थूलदेहेषु तयोर्देवदैत्यत्वेनात्मानमभिमन्वानयोरावेशः समागमो भवेत् । इयं मध्यमाऽपि जीवगैव । 'एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्षोडशविस्तृतम् । एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयत' इति चतुर्थस्कन्धे नारदवाक्ये तस्यापि जीवशब्दवाच्यत्वात् । **तदेव** एवं वासनाद्वयसम्बन्ध एव **तादृशे** सात्विके राजसे च **कर्मणि** स्थूलशरीरस्य सामर्थ्यमिति **मे मतिर्मया** श्रुत्यादितात्पर्यविचारेणोच्यते न त्वन्यसम्मत्येत्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥ सिद्धमाहुः–**अत इत्यादि** । यत एवमिच्छया वासनादिभागः, अतस्तान् देवान् दैत्यांश्च **तादृशान्** वासनावशान ज्ञात्वा **हि** निश्चयेन तेषां हितार्थं **पुष्टिमार्गं करोति** । तथा च स्वत एकपक्षपातकरणे हीतरस्यानिष्टकरणे कर्तरि वैषम्यं न तु तद्वासनामनुसृत्य । 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वादि'ति सूत्रे तथैव सिद्धेः । किञ्च, येषां दैत्यानां मारणं तेषामपि मुक्तिरिति तेषामपि हितमेवेति बाहिर्मुख्यादेव वैषम्यभानमिति । पुष्ट्यूत्योः सहकादित्वमूतेः पुष्टिदोषनिवारणार्थत्वं च सूपपन्नम् । इदमेवोपक्रमे प्रश्नोत्तराभ्यां सिद्ध्यतीति बोधनाय **हि** शब्दप्रयोगः ।

एवं स्कन्धप्रयोजनं निष्कृष्य प्रकरणानि विभजन्ते–त्रीणीत्यादि । अत्र स्कन्धे क्रमात्सूक्ष्ममध्यमबाह्यवासनाभेदेन पञ्चभिः पञ्चभिरध्यायैस्त्रीणि प्रकरणानि बोध्यानीति शेषेण योजना ॥ ९ ॥

तत्र गमकमाहुः-**दैत्येत्यादि** । दैत्यदेवांशभेदेन **पितापुत्रौ** हिरण्यकशिपु-

१ पितापुत्रैर्निरूप्यते, इति पाठान्तरम् ।

कर्मणैव भवेदेतदिति कर्मनिरूपणम् ॥१०॥
नारदस्त्रितयावेशी वक्ताऽत्र विनिरूप्यते।
ज्ञानी भक्तस्तथा कर्मी श्रोता चाऽपि निरूपितः ॥११॥
दैत्यानां पञ्चकर्माणि लौकिकालौकिकत्वतः।
लौकिकं द्विविधं कृत्यं भोगेनापि निरूप्यते ॥१२॥
तदतिक्रमणं कृत्यं सेवाधर्मकृतं न हि।

प्रह्लादौ निरूप्य ते सूक्ष्ममध्यमे वासने स्फुटीकृते। एतद्वासनाद्वयं कर्मणैव भवेदिति बोधयितुं कर्मनिरूपणमित्यध्याहारेण योजना। तथा च चायं क्रम एव तथा प्रकरणविभागगमक इत्यर्थः। अत्र निरूपिताविति पाठे तुनाऽध्याहार इति गुणः। पितापुत्रैरिति पाठे पितापुत्रपदं तदुपाख्यानपरम्। पितुर्दैत्यांशत्वं 'तावादिर्दैत्यौ सहसे'ति तृतीयसुबोधिनीतो ज्ञेयम्। पुत्राणां देवांशत्वं च 'आसन् मरीचेः षट्पुत्रा' इति दशमस्कन्धाज्ज्ञेयम् ॥ १० ॥

अत्र युधिष्ठिरनारदसम्वादोपन्यासतात्पर्यमाहुः–नारद इत्यादि। त्रितयावेशीति देवदैत्यनरावेशी। तेन त्रिविधवासनाशालित्वात्सम्यक्तत्तद्वृत्तान्ताभिज्ञः। दैत्यवासना च गन्धर्वजन्मन्यतिलम्पटत्वाज्ज्ञेया। 'देवोऽदेवाञ्जघनतः सृजति स्मातिलोलुपा'निति वाक्येन लाम्पट्यस्य तत्सहजधर्मत्वादिति। श्रोता तथेति। युधिष्ठिरस्त्रितयावेशी ज्ञानादित्रितयवाँश्चेत्यर्थः। तथा च सम्यग् बोधयितुं सम्यग् बोद्धुं च तौ शक्ताविति बोधनाय तदुपन्यास इत्यर्थः ॥ ११ ॥

एवमत्र सामान्यतः प्रकरणार्थो विचारितः। अतः परं प्रथमप्रकरणार्थं विशषतो विचारयन्ति–दैत्यानामित्यादि। दैत्यानां पञ्चपर्वाविद्याव्याप्तत्वात्तादृशानि पञ्चकर्माणि, तानि लौकिकालौकिकत्वतो लौकिकत्वमलौकिकत्वं च प्राप्य द्विविधानि, तेन तद्बोधनायाद्ये द्वेधा विभाग इत्यर्थः। तर्हि द्वावध्यायौ युक्तौ, कुतः पञ्चेत्यत आहुः–लौकिकमित्यादि। द्वितीयादिभिरध्यायैर्द्विविधं कृत्यं सर्वपीडादिरूपं तपआदिरूपं च लौकिकं कृत्यं भोगेन। अपिशब्दात्पुत्रस्नेहादिना चापरं द्विविधं कृत्यमेवं चतुर्भिर्निरूप्यते। तदतिक्रमणं प्रथमेन सनकाद्यतिक्रमणमलौकिकं निरूप्यते इत्येवं पञ्चेत्यर्थः ॥ १२ ॥

वैकुण्ठस्थितानां सेवकानां भगवत्परिचर्ययोर्ध्वगतानां देहेन्द्रियासुहीनतया केवलानामविद्यासम्बन्धस्याशक्यवचनत्वात्कथं सनकाद्यतिक्रमस्याविद्याकृतत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः–सेवेति। अतिक्रमणरूपं कृत्यम्। हि निश्चये। सेवाधर्माभ्यां

अवज्ञा त्वन्यथा न स्याद्विज्ञाप्या वा स्वयुक्तितः ॥१३॥
अतो दैत्यस्वभावस्य समुद्गमनतस्तदा।
वैकुण्ठवासयोग्यत्वात्तथा शापं त्रिधा ददुः ॥१४॥
वासना त्रिविधा दुष्टा स्फुटमत्यन्तनिर्गता।
अत्यन्तभोगे तु यथा तद्वत्कामः प्रशाम्यति ॥१५॥
अतः कृपैव शापे तु कारणं हरिणा कृतम्।
तृतीयस्कन्धवार्ता तु मतान्तरमिति स्थितिः ॥१६॥
क्रोधः कामस्तथा लोभो जन्मत्रयगता यतः।
वासनाहेतवो लोके दैत्यत्वं जायते यतः ॥१७॥

कृतं न, तत्र तर्केण हेतुं सूचयन्ति–अन्यथेति। अन्यथा यद्येतत्कृतं स्यात् (अवज्ञा न स्यात्)। वेत्रेण स्खलनं न कुर्यातां तेजश्च न विहसेतामिदानीं न दर्शनावसर इत्येवं वदेतां स्वयुक्तिभिस्ते विज्ञाप्या एव ताभ्यां स्युः। यतो नैवमतो ज्ञायते अविद्याकृतमेवेति। तेन सिद्धमाहुः–अत इत्यादि। तथा च विभागसमयविचारितो यो दैत्यस्वभावो देहसम्बन्धप्राक्कालीनाविद्यासंसर्गकृतस्तस्य सम्यगुद्बोधादेव तदतिक्रमणमित्यर्थः। इदं भगवद्विचारितं सनकादिभिरपि ज्ञात एवेत्याशयेनाहुः–तदेत्यादि। तथा शापं त्रिधेति। त्रिजन्मव्यापकं क्रमेण लोभकामक्रोधबाहुल्यात्त्रिप्रकारकमित्यर्थः ॥१३॥१४॥ शापेन यत्कृतं तदाहुः–वासनेत्यादि। ननु भवतु वासनायाः शापेन निर्गमस्तथापि पुष्टेः कथं सहकारित्वमित्यत आहुः–अत्यन्तेत्यादि। तुः पूर्वपक्षनिरासे। यथा अत्यन्तभोगे कामः प्रशाम्यति तद्वदत्यन्तनिर्गमे वासनाऽपि। अतो वासनानिवृत्त्यर्थत्वात् शापे कारणमपि हरिणा दुःखहर्त्रा कृतं कृपैव सूक्ष्मेक्षिकायामनुग्रहात्मकमेव वृत्रप्रसङ्गे कण्टकन्यायस्योक्तत्वात् सर्वत्र भगवदिच्छायाः कारणत्वाच्चातोऽत्रापि न पुष्टेः सहकारित्वभङ्ग इत्यर्थः। ननु यद्येवं तदा तृतीयस्कन्धे ब्रह्मणा 'भगवत्प्रतिकूलशीलावि'ति भगवता च 'कदर्थीकृत्य मां यद्वो बह्वक्रान्तामतिक्रमम्'ति स्वेच्छाविरुद्धत्वं किमिति बोधितमित्यत आहुः–तृतीयेत्यादि। मतान्तरत्वं तृतीयनिबन्ध एव व्युत्पादितम् ॥१५॥१६॥ एवं सर्वत्र सहकारित्वबोधनाय कार्यद्वारा तेषु वासना साधिता। अतः परं तस्या जन्मत्रयव्यापकत्वं कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुः–क्रोध इत्यादि। **वासनाहेतव**

अतः सामान्यतः प्रोक्तो लोभोऽत्रैव विशेषतः।
क्रोधरूपो हरिस्तस्मादत्रैवावततार ह ॥१८॥
तद्धर्मग्रहणे तस्य क्रोधादिर्याति नाऽन्यथा
वासना च ततो नाशं यास्यत्येव न संशयः ॥१९॥
अधिकारत्वसिद्ध्यर्थं ज्ञानमस्य निरूप्यते।
भोगातिक्रमयोर्मध्ये तपश्चाऽपि निरूप्यते ॥२०॥
ब्रह्मस्तुतिर्वरप्राप्तिश्चतुर्भिः स्यादिहोन्नतिः।

इत्यत्र बहुव्रीहिः। समासान्तस्य वैकल्पिकत्वात्काभावः। यतो वासनातो दैत्यत्वं जायेत तादृग्वासनाहेतुकाः क्रोधादयो यतस्तत्तज्जन्मनि प्रसिद्धाः, अतो हेतोः सा त्रिविधेति तथेत्यर्थः। तर्ह्यत्र लोभ एव कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुः–अत इत्यादि। अतः सामान्यतः प्रबलाद्रजोगुणात्। रजसो लोभ एव चेति। तस्य मुख्यकार्यरूपो लोभः। अत्रैव प्रथमजन्मन्येव विशेषत आधिक्येन प्राप्तस्तस्माद्धेतोः क्रोधरूपः कम्पनाधिकरणविषयवाक्योक्तरूपो हरिस्तद्दुःखहर्त्ता भगवानत्रैव जन्मनि अवततार मूलस्थानादिहागतः। ह इति प्रसिद्धौ नृकेसरिणो मूलरूपत्वेनैव तापनीये प्रसिद्धत्वादिति ॥१७॥१८॥

दोषनिवृत्तिप्रकारमाहुः–तद्धर्मेत्यादि। एवं वराहावतारेऽपि यज्ञरूपत्वेन 'पशूनां वा एष मन्युर्यद्वराह' इति श्रुत्या च क्रोधरूपता ज्ञेया। अतः कृपयैवाङ्करणान्न वैषम्यं भगवतीति पुष्टिदोषनिवृत्त्यर्थमेवैवं लीलेति भावः। एवं चात्र प्रकरणे ऊतिः करणं क्रोधादिकं व्यापारो दैत्यादिरूपेण स्थितिः फलमिति बोधितम्। एतेन नृसिंहलीलाया वेदविरोधिनाशकत्वेन रक्षारूपत्वात्तदंशे लक्षणस्याव्यापकत्वं पुष्टिलक्षणस्यातिव्यापकत्वं च निरस्तम्। सहकारितयाऽत्र पुष्टेः सत्त्वेऽपि लीलायामूतेरेव मूलत्वेन तत्प्रयुक्तत्वादिति। एवं वराहचरित्रेऽपि ज्ञेयम्। प्रकृतमनुसरामः ॥१९॥

ननु दैत्यवासनाया नैसर्गिकत्वे द्वितीयाध्यायोक्तं तत्त्वज्ञानं तृतीयोक्ते तपःस्तुती चतुर्थोक्ता वरप्राप्तिश्च कथं सङ्गच्छते। असुर एवं ज्ञानादेरसम्भवात्। ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वेन तादृशे वरदानायोगाच्चेति चेत्तत्राहुः–अधिकारत्वेत्यादि। तथा च वराधिकारज्ञापनाय ज्ञानमुच्यते, ऐहिकोन्नतिज्ञापनाय ज्ञानादिचतुष्टयं तपसः परमो-

तपसः परमोत्कर्षो वरस्तुत्यादिना भवेत् ॥२१॥
अत्यन्तभोगसम्पत्तावतृप्तिर्वासनावशात्।
द्वेषः सहेतुको नाऽत्र भ्रातृमारणतः क्वचित् ॥२२॥
पुत्रस्निग्धस्ततो यस्मादात्मत्वात्तु विशेषतः।
भगवानपि विश्वात्मा देवान् धारयते दृढम् ॥२३॥
अतोऽत्र वासनाहेतुरहेतुः परमो मतः।
कृष्णाविष्टेन दैत्येन प्रह्लादजननं मतम् ॥२४॥
वैकुण्ठे गमनं तस्य पूर्वसामर्थ्यसम्भवात्।
सर्वत्र वासना तस्य ज्ञानरूपा विनिर्गता ॥२५॥

त्कर्षज्ञापनाय वरस्तुती चोच्येते। तेन सर्वज्ञोऽपि ब्रह्मा अविचार्यैव बाह्यतदुत्कर्षमवलोक्य दत्तवान्। अधिकारदशायां विचाराभावेन सार्वज्ञ्यस्य तिरोधानात्। अत एवाग्रे'मैवं वरोऽसुराणां ते प्रदेयः पद्मसम्भवे'त्यनेनाविचारितदानं निषिद्ध्यते। अतो दैत्यानां लौकिकालौकिकत्वेनालौकिकांशस्याऽपि तत्र सत्त्वात्तद्वासनावशेन ज्ञानादिसम्भवेऽपि नासुरत्वप्रतिरोधो न वा परलोकोपकार इत्यर्थः ॥२०॥२१॥

दैत्यानां तादृशं तत्वज्ञानं वासनाजन्यत्वाल्लौकिकमेव बिडालादीनां रात्रौ चाक्षुषादिवदित्यत्र गमकमाहुः अत्यन्तेत्यादि। न ह्यत्र तादृक्तत्वज्ञे भोगादतृप्तिर्भवेत्, न वा भ्रातृमारणतो द्वेषो भवेत्। नाऽपि तादृग्ज्ञानवान् क्वचित्पुत्रस्निग्धो भवेत्। न वा देहात्मबुद्धिर्दृढा भवेत्। न वा भगवति विषमत्वबुद्धिर्भवेत्, यस्मादेतानि तस्मिन्नुक्तानि ततो ज्ञायते तृप्तिर्वासनावशात्। द्वेषो वासनाहेतुकः, पुत्रस्नेहोऽपि ततस्तत्रापि 'आत्मा वै जायते पुत्र' इति देहात्मभावदार्ढ्येन विशेषतो भगवान् विश्वात्माऽपि दृढं देवान् धारयत इति वैषम्यज्ञानम्। अतो हेतोरत्र तत्वज्ञानेऽपि वासनैव हेतुर्नापर इत्यर्थः। ननु तस्य यदि सर्वं वासनातस्तदा तस्मात्परमवैष्णवस्य प्रह्लादस्योत्पत्तिः कथं भवेत्। अष्टमस्कन्धीयेषु श्रीवामनवाक्येषु तस्य वैकुण्ठगमनं कथमुच्यतेत्यत आहुः–कृष्णेत्यादि। तत्रैव 'अतोऽहमस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि पराग्दृश' इति कथनाद्भगवांस्तद्धृदये प्रविष्ट इति तादृशेन तज्जननं वैकुण्ठगमनमपि पूर्वसामर्थ्यादेव। [illegible]स्य सर्वत्रोक्तानुक्ते अन्यत्रोक्ते च कार्ये तस्य ज्ञानरूपा वासना विनिर्गता सम्यग् बहिः प्रकटा जाता, तथैव स्नेहादिकं

अतः स्नेहस्तथा चक्रे यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।
इति बुद्ध्या मतिं चक्रे पुत्रमारणतत्परम् ॥२६॥
कृष्णद्वेषो महत्पर्व शापात्तत्र न तत्फलम् ।
सद्वासनाप्रकारेण ततो मारणमुच्यते ॥२७॥
शत्रुश्चेत्पुत्रतां याति तदा द्वेषो भवेत्क्वचित् ।
तदभावाय तत्स्नेहः पञ्चमे वै निरूपितः ॥२८॥
औद्धत्यं सर्वपीडा च स्वपीडानिर्वृतिः सदा ।
भगवद्भक्तपीडा च वासना पञ्चधोदिता ॥२९॥
अतः सद्वासनां प्राह पञ्चभिः सर्वमोक्षदाम् ।
दैत्यभावे गते सर्वे मुच्यन्ते नाऽत्र संशयः ॥३०॥

जातमिति सर्वत्र सैवोच्यत इत्यर्थः ॥२२॥२३॥२४॥२५॥२६॥

ननु स्कन्धारम्भे द्वेषान्मुक्तिरुक्ता, सास्य कारणसत्वेऽपि कुतो नाऽभूदित्यत आहुः–**कृष्णद्वेष** इत्यादि । महत्पर्वेति । तामिस्रादिषु पञ्चमं महातमोरूपम् । स्फुटमन्यत् ॥ २७ ॥ नन्वग्रे द्वेषकार्यस्य कथनात्ततः पूर्वं पुत्रस्नेहकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः शत्रुरित्यादि । तथा च स स्नेहोऽपि महातमस एव रूपविशेष इति ज्ञापनाय तत्कथनमित्यर्थः । एवं महापर्वव्याख्याय तावन्मात्रसत्तां व्यावर्त्तयितुं सर्वस्या अविद्यायाः सत्त्वं कार्यद्वारा सूचयन्ति–औद्धत्यमित्यादि । निर्वृतिः कामभोगः । तथा च मूलजीवगतया वासनया सनकाद्यतिक्रमस्ततः कार्यजीवगतया लोभाचप आदिकम्, ततः स्थूलगतया औद्धत्यादिपञ्चकमित्येवं पञ्चभिरध्यायैः सपरिकरा दैत्यवासना आसुरसर्गबीजभूता निरूपिता । तेनाद्यं प्रकरणं समाप्तमित्यर्थः ॥२८॥२९॥

एवं सप्तदशभिः प्रथमं प्रकरणं विचारितम् । अतः परं द्वादशभिर्द्वितीयं दैवसर्गबीजभूतां सद्वासनां वक्तुं देवप्रकरणं विचारयितुमारभन्ते–अत इत्यादि । अत इति अतः परम् । सर्वमोक्षदामिति । अविद्यापर्वपञ्चकनाशिकाम् । नन्वभ्यर्हितत्वात्सद्वासना पूर्वं वक्तव्या, सा पश्चात्कुत उच्यत इत्यत आहुः–दैत्येत्यादि ।

२ तत्परः । ३ प्रकरणे ।

अतो ज्ञानक्रियाभ्यां च सर्वान्मोचयते स्फुटम् ।
सैव सद्वासना प्रोक्ता या सर्वानेव मोचयेत् ॥३१॥
दया तु प्रथमं पर्व ज्ञानदा येन मुच्यते ।
महत्कृपा द्वितीयं तु सानुभावा विशेषतः ॥३२॥
ततोऽतिदुःखहेतूनां नाशकश्चेद्धरिर्भवेत् ।
क्रियापूर्वाङ्गभावेन तृतीयं पर्व तद्भवेत् ३३॥
सर्वथा सन्मुखो जीवो यथा तत्तु चतुर्थकम् ।
कायवाङ्मनसां भावः प्रसादः सहितस्तु तत् ॥३४॥
निर्दुष्टसर्वसुखभाक् पूर्णकामश्च पञ्चभाक् ।

'निबन्धायासुरी मते'ति वाक्याद्दैत्यभावस्य बन्धकत्वेन तस्मिन् गते सर्वे **मुच्यन्ते** अत्र संशयो न, प्रतिबन्धकाभावस्य हेतुत्वात् ॥ ३० ॥ अतः सद्वासना ज्ञानक्रियाभ्यां सर्वान् स्फुटं मोचयत इत्यसद्वासनानिवर्त्तकत्वज्ञापनाय पश्चादुच्यत इत्यर्थः ॥

कार्यद्वारा तस्या लक्षणमाहुः–सैवेत्यादि । तेन काम्यधर्मादिविषयिणी सा नेति तस्या निष्कृष्टं स्वरूपं प्रकरणप्रतिपाद्यमुक्तम् ॥ ३१ ॥

अध्यायार्थान् वदन्तः पर्वाण्याहुः दयेत्यादि । 'तस्मात्सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुते'–त्यादिषष्ठाध्यायसमाप्तिस्थवाक्यैर्मोचकज्ञानदायिनी दया तस्याः **प्रथमं पर्व** । एवं सप्तमे नारदकृपायाः सानुभावाया उक्तत्वात्तादृशी **महत्कृपा द्वितीयं पर्व** । तथाऽष्टमे श्रीनृसिंहप्रादुर्भावस्योक्तत्वाद् दुःखनाशकभगवत्प्रादुर्भावानुकूला क्रिया **तृतीयं पर्व** । ततो नवमे प्रह्लादस्य **सर्वथा** भगवत्साम्मुख्यमुक्तमिति । **यथा जीवः सर्वथा** भगवत्सम्मुखो भवेत्तत्तु चतुर्थं पर्व । ततो दशमे स्वतन्त्रभक्तेरुक्तत्वाद्भगवत्प्रसादस्य चोक्तत्वात्तत्सहितो यो भगवति **कायवाङ्मनसां भावस्त**त्पञ्चमं पर्व सफलमित्यर्थः । एवं पर्वकथनमुखेनाध्यायार्था उक्ताः । एते पञ्चाप्यत्र व्यापाराः । देवरूपेण स्थितिः फलमिति बोध्यम् । देवरूपं च भगवत्परत्वं ज्ञेयम् ।

ननु पञ्चमाध्याये त्रिपुरोपाख्यानस्य किं प्रयोजनमत आहुः–

दुर्वासनाया मूलं तु त्रिपुरं परिकीर्त्तितम् ॥३५॥
आधिदैविकरूपं तु तथाऽन्यत्र हरिस्तथा।
कृष्णप्रसादः सर्वत्र बलं पानेऽथ रक्षणे ॥३६॥
मर्यादा त्वत्र मार्गे हि यावता यो हि सिद्ध्यति।
तावत्तस्य हि कर्त्तव्यं तेन वा तास्तु बोधतः ॥३७॥
स्थूला दैत्येश्वरश्चैव देहनाशेन मोचितः।
प्रह्लादोऽप्याग्रही चैव ब्रह्मा वाऽप्युपदेशतः ॥३८॥

दुर्वासनेत्यादि। तुः पूर्वपक्षनिरासे। एतदुपाख्यानकथनेन **त्रिपुरं** गुणत्रयसमष्टिमायारूपं **दुर्वासनाया मूलं परिकीर्त्तितं** सामर्थ्योपासककार्यादिसहितं कीर्त्तितम् ॥३२॥३३॥३४॥३५॥ कुतोऽस्य मूलत्वमित्यत आहुः–**आधिदैविकरूपमिति**। दुर्वासना हि मोहादुत्पद्यते, मोहश्च मायया, सा तस्या मूलमित्यर्थः। तर्हि सद्वासना कुत इत्यत आहुः–**तथाऽन्यत्र हरिस्तथेति**। यथाऽत्र मायामूलं तथा सद्वासनायां हरिर्मूलम्। अत एवैतद्बोधनाय भगवतस्तन्नाशकप्रयोजकत्वमुच्यत इत्याशयेनाहुः–**कृष्णेत्यादि**। **पाने** इति रसकूपामृतपाने। **रक्षण** इतिशम्भुरक्षणे। तथा च पुष्टेः सहकारित्वबोधनपूर्वकमेतत्सर्वबोधनार्थमिदमुपाख्यानमुक्तमित्यर्थः॥३६॥

नन्वत्र स्कन्धे द्विविधसर्गमूलभूता द्विविधा वासना निरूपणीया। तस्या मोचनाय पुष्टेः सहकारित्वं च निरूपणीयम्, तदेतत्पितापुत्रयोः कथया श्रीनृसिंहावतारकथया च सिद्धं वैषम्यं च परिहृतम्। अतो दुर्वासनामूलकथनस्य हरेस्तन्निवर्त्तकत्वकथनस्य च प्रकृतानुपयोगादसङ्गतिरित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः–**मर्यादेत्यादि**। तुः शङ्कानिरासे, अनुपयोगशङ्का न कर्तव्या। **अत्र** वासनामार्गे। **हि** यतो हेतोर्मर्यादा। मर्यादापुष्टिः सहकारिणी, अतो हेतोः **हि** निश्चयेन **यो यावता सिद्ध्यति** पूर्णकामो भवति **तस्य तावद्धि** तावदेव भगवता **कर्त्तव्यं** नाधिकम्। **तेन वा** हेतुना त्रिपुरोपाख्यानमुक्तमिति योजना। तत्प्रदर्शयन्ति–**ता** इत्यादि। **ताः** वासनाः **स्थूलास्तु बोधतः** प्रह्लादीयज्ञानबोधनान्मोचिताः, **दैत्येश्वरश्च देहनाशेन** लोभान्मोचितः। **च** पुनः **प्रह्लादोऽप्याग्रही** देहदुःखात्। **ब्रह्माऽपि** अविचारितकारी। 'मैवं वरोऽसुराणां त' इत्युपदेशतोऽविचारित-

महादेवो मनोदुःखाद्भक्तः शैवोऽपि दोषभाक्।
अतो मयस्तथा चक्रे तस्मादीशो विमोचितः ॥३९॥
पितापुत्रौ पुरस्कृत्य वासनाद्वयमीरितम्।
सहजे वासने तेन पुष्टियुक्ता हरेः स्फुटा ॥४०॥
सद्वासना चेत्सहजा सत्सङ्गाद्वृद्धिमेष्यति।
तेषामेवापमानेन द्वितीया वर्द्धते तथा ॥४१॥
उभयं सहजं तस्य तदर्थं प्रक्रियान्तरम्।
पञ्चधा कर्मकरणान्मूलभूताऽपि नश्यति ॥४२॥

करणक्लेशान्मोचितः। **महादेवो मनोदुःखा**त्त्रिपुरहननप्रयत्नवैफल्यकृताद्दौर्मनस्यान्मोचितः। **शैवो भक्तो मयोऽपि दोषभाक्** तत्र गमकम्। **अतो**ऽस्माद्दोषादेव **तथा** तादृश्यः पुरश्चक्रे सोऽपि मनोदुःखात्स्वकृतवैफल्यजनितशोकरूपान्मोचितः। तदुक्तं 'स्वयं विशोकः शोकार्त्तानि'त्यनेन। किञ्च **तस्मादीशो विमोचित**स्त्रिपुरवधकृताहङ्कारादोश ईशत्वाभिमानाद्विशेषेण मोचितः। तथा चास्यां लीलायां मर्यादापुष्टिः सहकारिणीति बोधनायेयं कथा निरूपितेत्यर्थः॥ ३७॥ ३८॥ ३९॥ प्रकरणद्वयेन यत्सिद्धं तदाहुः–**पितेत्यादि**। तथा च पितापुत्रोपाख्यानेन वासनयोः सहजत्वं हरेः सम्बद्धादस्या लीलायाः स्फुटास्फुटपुष्टियुक्तत्वं सत्सङ्गात्सद्वासनाया वृद्धिस्तदपमानेनासद्वासनाया वृद्धिरित्येतत्सर्वबोधनमेतेन सिद्धमित्यर्थः ॥४०॥४२॥ एवं द्वादशभिर्द्वितीयप्रकरणं विचारितम्।

अतः परमष्टत्रिंशद्भिस्तृतीयं प्रकरणं विचारयन्ति। ननु 'द्वौ भूतसर्गावि'ति वाक्यात्सर्गो द्विविध इति तन्मूलभूतवासनाऽपि द्विधैवेति तृतीयस्य प्रकरणस्य किं प्रयोजनमत आहुः–**उभयमित्यादि**। तथा च सङ्कीर्णसर्गमूलभूता तृतीयाऽपि वासना त्रिशिष्टातिरेकन्यायेनास्तीत्यतस्तदर्थं तदित्यर्थः। अत्र च क्रोधदयादीनां सङ्कीर्णानां व्यापारत्वं ज्ञेयम्। स्थितिप्रकारस्त्वग्रे स्वयमेव वक्तव्यः। नन्वेतदुभयोर्मध्ये एका हेया, द्वितीयोपादेयेति यस्योभयं सहजं तस्य द्विविधकर्मणा द्विविधफलभवनान्मुक्तिर्दुरापास्ता तत्सहकारिणी पुष्टिस्तु दुर्ज्ञेया स्वानधीना चेति किं तदर्थं प्रक्रियान्तरेणेति चेत्तत्राहुः–**पञ्चधेत्यादि** सार्द्धत्रयम्। **मूलभूतेति**

निषिद्धकर्मकरणात्तथा सद्वासना पुनः ।
विरुद्धवासनापोषाल्लयो वा तद्विरोधतः ॥४३॥
भक्तिमार्गानुसारेण सती चेच्छ्रवणादिभिः ।
वासना पोषिता काले फले भुक्ते पुनः पुरा ॥४४॥
प्रादुरासीदतो ह्येतौ जयश्चाऽन्यश्च तादृशौ ।
इमं सूक्ष्मं तु यो वेद तस्योपायो निरूप्यते ॥४५॥
अतो नारदसम्प्रश्नः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।

दैत्यवासनेतिशेषः । तथेति नश्यतीत्यर्थः । पुनरित्यादि । दुर्वासनानिवृत्त्यर्थं पञ्चधा कर्म कुर्वतश्चेत्केनचिन्निमित्तेन **विरुद्धवासना** पुष्टा भवेत् तादृशदशायां यदि तस्य मरणं तदा तत्कर्मबलेन विरुद्धवासनासहितस्यैव तस्य ब्रह्मणि लयः स्वाप्ययवद्वा शब्दात्पातः । एतदन्यतरत्तस्य फलं भवति । यदि दुर्वासनां स्वस्मिन्नवगत्य तद्विरोधतस्तद्विरोधं कृत्वा सती वासना चेद्भक्तिमार्गानुसारेण पोषिता तदा काले वैकुण्ठादौ तत्फले भुक्ते सति 'पुरा आसीद्यथा तथे'त्याध्याहारः पुनः प्रादुर्भवेत् । अतो हेतोर्जयोऽन्यो विजयश्च तादृशौ भगवद्धाम्नि गत्वापि पुनर्वासनावशादुत्पन्नौ, इमं सूक्ष्मं दुर्ज्ञेयमर्थं यो वेद अर्थाद् विभियात्तस्योपायोऽत्र प्रकरणे निरूप्यते । तथा च तादृशत्वेऽपि पुष्टेः सुज्ञेयत्वार्थं तस्य फलार्थं क्लेशाभावाद्यर्थं च तृतीयं प्रकरणमुच्यत इति नास्यानर्थक्यमित्यर्थः ॥४२॥४३॥ ४४॥४५॥

अयमेव व्यासचरणानां देवर्षेश्चाशय इत्यत्र गमकमाहुः–अतो नारदेति । यद्ययमाशयो न स्यात् तदा युधिष्ठिराकाङ्क्षायाः पूर्णत्वाद्देवर्षिर्भगवद्वीर्याण्येव स्तुवन् अपरं वदामि किमि'ति न पृच्छेत् । राजाकाङ्क्षायाः पूर्णत्वाच्छ्रीशुकोऽपि नोपक्षिपेद्व्यासोऽप्यत्र नोपनिबध्नीयादत इदं त्रयाणामपि सम्मतमित्यर्थः । ननु प्रह्लादचरित्रं श्रुत्वा युधिष्ठिरो भक्तिं कुतो न पृष्टवान् धर्ममेव कुतः पृष्टवाँस्तत्रापि वर्णाश्रमाचारयुतम् । न च तस्य फलान्तरेप्सा 'यत्पुमान्विन्दते पर'मिति फलत्वेन परप्राप्त्यनुवादात् । तत्र च भक्तेरेव कारणतायाः प्रह्लादवाक्येष्वन्ततः सिद्धत्वात् । उत्तरे च नारदेन त्रिंशल्लक्षणधर्मकथने श्रवणादिनवकस्यैवोक्तत्वाच्चेत्यत

भक्तिमार्गस्तु फलदो न प्रायश्चित्तताऽस्य हि ॥४६॥
अतः शुद्धिं तावतीं तु करोति न ततोऽधिकाम् ।
कषायपक्तिः कर्माणि यथाऽग्निर्दाहको मतः ॥४७॥
भक्तिमार्गः केवलस्तु यस्य स्याद्वासना शुभा ।
न द्वितीया तस्य सिद्ध्येदुभयं चेत्तु कर्मणः ॥४८॥
कषायपाकशुद्धिर्हि पक्वं नश्यति तत्क्षणात् ।
भक्त्या ज्ञानेन वा तत्स्यादतोऽन्ते तच्च कीर्त्यते ॥४९॥
साधारणश्च यो धर्मो यश्च वर्णाश्रमात्मकः ।

आहुः–भक्तिमार्ग इत्यादि । तुः शङ्कानिरासे । द्वितीयस्तुरेवकारार्थकः । ततोऽधिकामिति दुर्वासनानिवर्तिकाम् । अतस्तां न पृष्टवानित्यर्थः । **कषायपक्तिरिति** । कषायः कार्यजीवगता दुर्वासना तस्य पक्तिः शैथिल्यं तज्जननस्वभावत्वात्तद्रूपाणि अतस्तन्निवर्त्तनाय धर्मान् पृष्टवानित्यर्थः ॥४६॥४७॥४८॥

तर्हि 'भक्त्या तुतोषे'ति । तुष्टे तु तत्र किमलभ्य'मिति प्रह्लादः कुत उक्तवानित्यत आहुः–**भक्तिमार्गः केवल** इत्यादिचरणत्रयम् । तथा च स केवलसद्वासनावानतः स्वानुभवमुक्तवानित्यर्थः । तर्हि नारदः कुत उक्तवानित्यतस्तत्तात्पर्यमाहुः–**उभयमित्यादि** । उभयं वासनाद्वयं चेत् तु पुनः **कर्मणः** सकाशात्कषायपाकरूपा **शुद्धिः** हि यतो हेतोः पक्वं दैत्यत्वं तत्क्षणान्नश्यति कालादेव नश्यतीत्यर्थं नारदो धर्ममुक्तवान् । वासनादार्ढ्ये केवलेन कालेन दैत्यत्वस्यानाशाद्भक्त्या ज्ञानेन वा तन्नाशनम् । अतो हेतो स्त्रिंशल्लक्षणधर्मकथने भक्तिं नवविधामुक्त्वा अन्ते उपदेशसमाप्तौ तच्च कीर्त्यते त्रिविधाद्वैतनिरूपणेन ज्ञानमपि कथ्यते । तथा च दुर्वासनानिवृत्तिः क्वचित्केवलेन धर्मेण क्वचित्तत्सहकृतभक्त्या तादृशेन ज्ञानेन वेति बोधनार्थं नारद उक्तवानित्यर्थः ॥४८॥४९॥ एवमष्टभिः प्रकरणार्थ उक्तः ।

(अ. ११) अतः परमध्यायार्थान्वदन्तः प्रथमस्यार्थं षड्भिराहुः–**साधारण इत्यादि** । साधारणो धर्मः सत्याद्यात्मसमर्पणान्तस्त्रिंशल्लक्षणवान् 'नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः । त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यती'त्यन्ते

उभयं क्रमशः कृत्वा दुष्टां वै वासनां दहेत् ॥५०॥
ब्रह्माण्डे तस्य सम्बन्धो यावानस्ति यतस्ततः।
त्रिंशल्लक्षणधर्मेण तावत्यो वासना दहेत् ॥५१॥
विराट्छन्दस्तथा चाण्डं त्रिंशद्वर्णात्मकं यतः।
प्रसादः सात्त्विको बुद्धेः सत्त्वलक्षणमीदृशम् ॥५२॥
अतः प्रसादो येनैव तत्कुर्यादुक्तसाधनैः।
पुरुषार्थस्य सम्प्राप्तौ दुष्टा वै विनिवर्त्यते ॥५३॥
दुष्टोऽपीष्टफलं प्राप्य निवर्त्तेतापि निश्चितम्।
अत आश्रमभेदेन धर्माश्चत्वार ईरिताः ॥५४॥
धर्मा एते भगवतस्ते चेद्धृदयगोचराः।
धर्मिवासाय ते सर्वे दैत्यभावं दहन्ति हि ॥५५॥
ब्रह्मचारी वनस्थश्च धर्मद्वैविध्यबोधने।

'सर्वेषामि'ति कथनात्। वर्णाश्रमात्मकस्तु प्रसिद्ध एव तत्तदधिकृत्योक्तः। चौ परिकरसाहित्यबोधकौ ॥५०॥ धर्मे त्रिंशल्लक्षणकत्वकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः– ब्रह्माण्ड इत्यादि। यतः सम्बन्धस्तं प्राप्य तावतीनामवान्तरवासनानां दाहार्थं तावल्लक्षण उक्त इत्यर्थः। सम्बन्धस्य तावद्विधत्वं कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुः– विराडित्यादि। यतः विराटछन्दस्त्रिंशद्वर्णात्मकं च पुनः विराड्वद्वाच्यत्वादण्डं तथा अतः सम्बन्धस्य तावद्विधत्वमित्यर्थः। अत्रोपक्रमे 'येन चात्मा प्रसीदती'ति उपसंहारे च 'सर्वात्मा येन तुष्यती'ति कथनाद्यत्सिद्ध्यति तदाहुः– प्रसाद इत्यादि सार्द्धम्। ईदृशमिति भगवत्तोषजनकम् ॥५१॥५२॥५३॥ *द्वितीयस्य प्रयोजनमाहुः–दुष्ट इत्यादि। निवर्त्तेतेति दुष्टभावान्निवर्त्तेत। आश्रयभेदेनेति। आश्रया वर्णा आश्रमाश्च तद्भेदेन। धर्मिवासायेति भगवद्वासाय ॥५४॥५५॥ एवं षड्भिः प्रथमार्थ उक्तः।

द्वितीयस्यार्थमाहुः–ब्रह्मचारीत्यादिद्वाभ्याम्। तत्र 'पादास्त्रयो

* सावरणात्त्रिंशल्लक्षणधर्माद् द्वितीयस्य वर्णाश्रमधर्मस्येत्यर्थः।

एकाध्यायेनोभयेषां धर्ममध्यापनं ततः ॥५६॥
न्यासोऽन्तिमप्रकरणं द्वितीये विनिरूपितम्।
तदेव कार्यं धर्मस्य नार्थकामावितीरयन् ॥५७॥
अर्थकामौ गृहस्थस्थवासनानाशकौ यथा।
तादृशौ तौ समाख्यातौ तदर्थं सर्वनिर्णयः ॥५८॥
वासना विषये दुष्टा धर्मेणैव निवर्त्तते।
धर्माधिकारस्तावद्धि ततो भक्तिस्तथा मतिः ॥५९॥
यदैव सर्वभूतेषु कृष्णे वा परमात्मनि।
दुष्टभावो न जायेत तदा स्याद्वासनाक्षयः ॥६०॥
तदा भक्त्यधिकारः स्यादन्ये न त्वधिकारिणः।
अभावे त्वधिकारस्य यदि कृष्णं भजेत्स्वतः ॥६१॥

बहिश्चासन्न प्रजानां य आश्रमाः, अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधो बृहद्व्रत' इत्यत्र गृहस्थव्यतिरिक्तानामुद्गमनयोग्यत्वमिति ब्रह्मचारी वनस्थश्च ऊर्ध्वगमनसाधनीभूतो यो धर्मस्तद्बोधने कर्त्तव्ये उपयुज्येते। अत एकाध्यायेन उभयेषां ब्रह्मचारिणां वनस्थानां च धर्ममाह। तत्राऽपि ब्रह्मचारिधर्मे 'छन्दांस्यधीयीते'त्युक्त्वाग्रे गृहस्थसाधारणधर्माणां कथनेनाध्यापनं प्राह। ततः समाप्तौ 'संन्यस्याहंममात्मता'मिति कथनादन्तिमं प्रकरणं तृतीयाध्यायोक्तो न्यासस्तेन यद् द्वितीयेऽध्याये विनिरूपितम् अ. १२ 'एवंविधो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिर्गृही। चरन् विदितविज्ञानः परं ब्रह्माधिगच्छती'ति। तदेव धर्मस्य कार्यं 'नार्थकामावितीरयन् प्राहे'ति योजना ॥५६॥५७॥ एवं त्रिभिर्द्वितीयतृतीययोरर्थ उक्तः।

अग्रिमयोरर्थमाहुः-अर्थकामावित्यादि। यथेति विवक्षिताविति शेषः। समाख्याताविति विचारपूर्वकं निर्णीतौ। तदर्थं तादृशार्थकामनिर्णयार्थं सर्वेषां धर्माणां तदङ्गानां कालादीनां च निर्णय उक्त इत्यर्थः। तेन वासनाक्षयादिप्रकारमाहुः– वासनेत्यादि। तावदिति यावद्वासनाया अक्षयः। तत इति वासनाक्षयोत्तरम् ॥५८॥५९॥ वासनाक्षये गम[illegible]हुः-यदैवेत्यादि। तस्योपयोगमाहुः– तदा भक्त्यधिकारः स्यादिति। अन्य इत्यक्षीणवासनाः। वासनानिवर्त्तनस्यावश्यकत्वाय,

सद्वासनातः सङ्गाद्वा धर्मत्यागस्तदा यदि ।
तदा द्वेषो भवेत्कृष्णे दुर्बुद्धिर्वा विशेषतः ॥६२॥
तदाऽपराधो भविता भक्तिर्दुष्टा च जायते ।
तदोपेक्षा भगवतः कालादीनामुपद्रवे ॥६३॥
दुर्वासनाऽतो ह्यत्यन्तं भक्तोऽप्यत्र विशेषतः ।
भीष्माक्रूरार्जुनादिर्वै दुःखमाप्नोति यद्वशात् ॥६४॥
युधिष्ठिरे कृष्णभक्ते नारदः प्राह कर्म तत् ।
विधर्मादिपरित्यागाद्यथोक्तकरणेन हि ॥६५॥
दुर्वासनाया नाशः स्यान्नान्यथा तु कथञ्चन ।
जीवस्य ब्रह्मभावे तु नाश्यते जीववासना ॥६६॥
गुरूपदेशादिबलाज्ज्ञानेनैव तथा भवेत् ।
पक्वा एवं हि नाश्यन्ते ज्ञानेन भजनेन वा ॥६७॥
अन्तःकरणपाकस्तु तत्र हेतुः स्वकर्मभिः ।

अनधिकारेण भजने यद्भवति तदाहुः—अभावे त्वित्यादिसार्द्धाभ्याम्। स्वत इत्यस्यैव विवरणं सद्वासनात इति। सङ्गादिति भगवद्भक्तसङ्गात् । तथा भजने यद्यधर्मकरणाभावस्तदा सा भक्तिः प्रायश्चित्तरूपतां भजन्ती दुर्वासनां क्षपयतीति पूर्वस्कन्धीयनामप्रकरणात्सिद्धम्, यदि तदा वासनया भजने क्रियमाणे यदि धर्मत्यागो भवति तदा 'तदा द्वेष' इति सार्द्धेनोक्तं फलं भवति । तस्मात्तन्नाशायाधर्माभावाय चोक्तरीत्या सद्धर्मः कर्तव्य इत्यर्थः ॥६०॥६१॥६२॥६३

दुर्वासनायाः सत्त्वेऽपि भजने मर्यादापुष्टौ यद्भवति तन्निदर्शनपूर्वकमाहुः—दुर्वासनात इत्येकेन। अत्रेति। मर्यादापुष्टियुक्तायामूतिलीलायां निदर्शनान्तरमाहुः—युधिष्ठिर इत्यादि, तस्मादिति शेषः। एवं चतुर्थस्य सम्पूर्णस्य पञ्चमीयैकादशश्लोकानां च तात्पर्यमुक्तम्। (अ. १५. श्लो. १२) 'विधर्मः परधर्मश्चेत्यादेस्तात्पर्यमाहुः—विधर्मादीत्यादि। 'धर्मार्थमपि नेहेते'त्यादीनां तात्पर्यमाहुः—जीवस्येत्यादि। जीववासनेति। विभागसामयिकी वासना। तथा भवेदिति ब्रह्मभावो भवेत् । अन्यासां चतसृणां नाशनप्रकारमाहुः-पक्वा इत्यादि । तत्र हेतुरिति कार्यजीवगत-

पक्वं योगेन भक्त्या वा ज्ञानेनापि स नाश्यते ॥६८॥
तपसैव तु पच्यन्ते प्राणानां वासना दृढाः ।
योगेनैवेन्द्रियगताः कर्मणैव शरीरगाः ॥६९॥
तस्मात्पञ्चविधं कर्म यथोक्तं सर्ववर्णिभिः ।
योगेन तपसा भक्त्या ज्ञानेनाऽपि क्रमात्तथा ॥७०॥
शुद्धाधिकारफलता भक्तेर्नान्यत्र कुत्रचित् ।
सद्धर्मैश्चेत्सुसंसिद्धस्ततः प्रोक्तस्तथा क्रमः ॥७१॥
स्वाध्यायश्च तपश्चैव ममतानाश एव च ।
देहकालादिसम्पत्तौ कर्म चाऽप्युत्तमोत्तमम् ॥७२॥
देहादिवासनानाशे चतुष्टयमुदाहृतम् ।
अन्तःकरणधर्माणां संक्षयश्च यदा भवेत् ॥७३॥
तदैव वासना क्षीणा अतः साधनवर्णनम् ।
सर्वस्य मूलं विप्रा हि गुरवस्ते प्रकीर्तिताः ॥७४॥
तत्कृपातो भवेत्सर्वमेकमेतद्धि साधनम् ।
तत्सेवा सर्वकर्माणि तथा नश्यन्ति वासनाः ॥७५॥

वासनापाके हेतुः । स्वकर्मभिरिति नित्यैर्वर्णाश्रमधर्मैः। पक्वमिति ॥६४॥६५॥६६॥६७॥६८॥ अन्तःकरणदुर्वासनारूपं पापम् । सर्ववर्णिभिरिति कार्यमिति शेषः । यथोक्तसर्वसिद्धौ फलमाहुः—योगेनेत्यादि । अपिर्वैराग्यसमुच्चायकः । अनेन क्रमेण सिद्धिः कदेत्यपेक्षायामाहुः-सद्धर्मैरित्यादित्रयम्। एतेन विद्यायाः पञ्चपर्वाणि यानि शास्त्रार्थप्रकरण उक्तानि तेषामेतन्मूलमिति ज्ञापितम् ॥६९॥७०॥७१॥७२॥७३॥

क्रमसाधनसिद्धौ हेतुमाहुः-सर्वस्येत्यादि । सर्वकर्माणीति । तया सिद्ध्यन्तीतिशेषः । प्रसाद इति ब्रह्मवादिनां प्रसादः । 'यूयं नृलोक' इत्यादीनां

इति दर्शयितुं शापः प्रसादश्च प्रकीर्त्तितः।
ते वश्याः कृष्णभक्त्यैव युधिष्ठिरगृहे यतः ॥७६॥
समायान्ति ततः कृष्णसेवा चेत्सर्वदा भवेत्।
क्रमेण वासनाः सर्वा नाशं यान्ति न संशयः ॥७७॥
अतो ब्राह्मणवाक्येन सेवां कुर्यादहर्निशम्।
कर्माशक्तौ ब्राह्मणास्तु चक्रुस्ताः कर्मभिः सह ॥७८॥
स्कन्धे निर्धारितो ह्यर्थः स्पष्टोऽत्र विनिरूप्यते।
वासना द्विविधा यस्य स कुर्याद् गुरुसेवनम् ॥७९॥
सर्वभावेन तद्वाक्याद्भगवद्भजनं ततः
उभयोर्यदि दुष्टा स्याद्वासनाऽत्र कथञ्चन ॥८०॥
तदा कर्माणि कुर्वीत यथोक्तानि स्वधर्मतः।
साधारणेषु धर्मेषु यदि निष्ठा भवेत्क्वचित् ॥८१॥
वासना चेत्तदा नष्टा भक्तिमेव तदाऽभ्यसेत्।
×अन्यथा ब्रह्मचर्यादि जन्म प्राप्य समाचरेत् ॥८२॥

तात्पर्यं वदन्तस्तेषां प्रसादे हेतुमाहुः-ते इत्यादिद्वयम्। पूर्वं वर्णाश्रमधर्मकथनपूर्वकं भगवत्पूजनमुक्त्वा समाप्तौ 'मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः प्रसीदतामेष स सात्वतां पति'रिति। यत्केवलमेव पूजनमुक्तं तत्तात्पर्यमाहुः-कर्माशक्तावित्यादि। ता इति केवला भगवत्सेवाः। चक्रुरित्यस्यावृत्त्या योजना। अपेरध्याहारश्च। तथा च द्वेधाकरणाद् द्विधोक्तिरित्यर्थः। (कर्माशक्तौ ब्राह्मणाः केवला भगवत्सेवा एव चक्रुः। कर्मशक्तौ तु कर्मभिः सहापि भगवत्सेवाः चक्रुरित्यर्थः) ७४ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

एवमष्टत्रिंशद्भिः सर्वं प्रकरणाध्यायार्थं निरूप्य सार्धाष्टभिः सर्वं स्कन्धार्थं सङ्गृह्याहुः-स्कन्धे निर्धारित इत्यादि। उभयेरिति गुरुशिष्ययोः। साधारणेष्विति त्रिंशल्लक्षणेषु। अन्यथेति त्रिंशल्लक्षणेषु निष्ठाभावे ॥७९॥८०॥८१॥८२॥

× ७९-८२ कारिकयोः स्कन्धान्ते ३८४ तमे पृष्ठे निबन्धकठिनांशविवेचनमनुसन्धेयम्।

जातिस्मरत्वं संस्कारप्रबोधो वा भवेद् ध्रुवम्।
तदा क्रमेण ते धर्माश्चतुर्धा व्यस्य बुद्धितः ॥८३॥
एकैकानन्तरं कुर्याद्भक्तिं वै वासनाक्षये।
तदा क्रमेण भगवाँस्तदायत्तो भवेद् ध्रुवम् ॥८४॥
अनष्टायां च दुष्टायां तदा मुक्तो भवेद् ध्रुवम्।
विलम्बश्चेद्धरीच्छातस्तदा सद्धर्ममाचरेत् ॥८५॥
अवश्यं तु तदा भाव्या भक्तिर्या नवमे मता।
महद्व्यतिक्रमे मध्ये दुष्टा वृद्धिं प्रयाति हि ॥८६॥
तत्प्रसादाददुष्टा हि कृष्णादुभयथा गतिः।
इयं लीला भगवतः सततं मोचयेद्धरिः ॥८७॥

इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वदीपे सप्तमस्कन्धविवरणे
नवमं प्रकरणं समाप्तम् ॥

तदा तस्य जन्मान्तरं भवतीत्याहुः-जातिस्मरत्वमित्यादि। तादृशजन्मान्तरे कर्त्तव्यमाहुः-फलं चाहुः-तदा क्रमेणेति सार्द्धैश्चतुर्भिः। एवं च यत्सेवाप्रकरणे बोधितं तत्रैतदेव मूलमितिबोधितम् ॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणैः पुरुषोत्तमस्य
दर्शिता सप्तमस्कन्धनिबन्ध-
योजना सम्पूर्णा ॥

समाप्तः सप्तमः
स्कन्धः

निबन्धकठिनांशविवेचनम्। का ७९-८२

का.७९ तत्त्वदीपे सप्तमस्कन्धसमाप्तौ फलितार्थकथने **स्कन्धे निर्द्धारितो ह्यर्थ** इत्यादि यावत्समाप्ति। ननु सप्तमस्कन्धे वासनानां तद्धेतुकर्मणां च निरूपणाद् भक्तिसंहितारूपे श्रीभागवतेऽस्य स्कन्धस्य कथं प्रवेशः, भक्तिनिरूपणाभावादितिशङ्कायामाहुः **स्कन्धे निर्द्धारितो ह्यर्थ** इत्यादि, अत्रापि वाच्यार्थस्तु भक्तिरूप एव, 'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेद्' इति 'आरम्भे मौनेन भक्त्योपशमेन पूजित' इति अन्ते च निरूपणान् मध्येपि कथाप्रसङ्गैर्भक्तेरेव निरूपणाद् वाच्यार्थत्वं भक्तेरेव। वासनानिरूपणं तु पुष्टिदोषनिवृत्त्यर्थं, दुर्वासनावतां द्वेषिणां निन्दकानामपि गतिदो भगवान् भक्तानां कथं न गतिदो भवेदिति कैमुत्येन भक्तिमाहात्म्यार्थं चेति तात्पर्येण। अथ वासनानिरूपणेपि भक्त्यर्थत्वं यथा तदत्र स्कन्धफलितार्थत्वेनोच्यते-स्कन्धे भक्तिरूपो निर्द्धारितो ह्यर्थः स्पष्टो निरूप्यत इति, तमर्थमाहुः **वासनाद्विविधे**त्यादि, सनकादयो हि ज्ञानार्थमुत्पादिता लोकातीता मुक्ताः सामान्यतः सर्वेषां गुरवस्तत्सेवनमसद्वासनायुक्ताभ्यां पार्षदाभ्यां न कृतम्, अतिक्रमश्च कृतोऽतो वैकुण्ठादपि पातः असद्वासनावशात्। प्राप्तशापेन नारदेन दासीपुत्रत्वदशायां गुरुसेवनं कृतं सर्वभावेन, तद्वाक्याद् भगवद्भजनं चातो नारदत्वं भगवत्पार्षदत्वं च जातम्। प्रह्लादेन च सद्वासनावता गुरोर्नारदस्य सेवनं कृतं गर्भस्थेनापि मातृकृतपरिचर्याद्वारा ततो भगवद्भजनं च। अतो भगवत्साक्षात्कारं प्राप्तवानन्तर्बहिश्च, अन्यैरपि दैत्यपुत्रैः प्रह्लादस्यैव गुरोः सेवनेन तदुपदेशेन भगवद्भजनेन च असद्वासनानिवृत्तिपूर्वकं भगवत्प्रसादो लब्धस्तज्ज्ञापकं नृसिंहस्तुतौ 'नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एक' इति प्रह्लादवचनमेतत्पूर्वप्रकरणद्वयेन निर्द्धारितम्, यदि तु असद्वासनारहितः सद्वासनावान् गुरुर्न लभ्यते तदा तु स्वे वर्णाश्रमे स्थित्वा **यथोक्तानि** श्रौतानि स्मार्तानि **कर्माणि** कर्त्तव्यानि, तज्ज्ञापनायोक्तं 'धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः। स्मृतं च तद्विदामिति। अग्रे 'येन चात्मा प्रसीदती'तिकथनाद् असद्वासनानाशज्ञापिका अन्तःकरणशुद्धिः सर्वैरेव श्रुतिस्मृतिप्रोक्तैर्धर्मैर्भवति, तत्र कस्यचित् **साधारणधर्मैरेव** दुष्टवासनानाशः, स तु **भक्तिमेव** नवधां प्रोक्तां **सदाऽभ्यसेत्**, येन अग्रे भगवत्प्रसादः स्यात्, तदुक्तं 'नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः,त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यती'ति।

एवमेकादशाध्यायस्थानां द्वादशश्लोकानां भक्त्युपयोगी निर्द्धारितोऽर्थ उक्तः,

का.८२ अग्रिमाणां वक्तुमाहुः **अन्यथे**त्यादि, यदि साधारणधर्मैर्दुष्टवासनानाशोन्तःकरणशुद्धिज्ञापितो न भवेद् तदा भक्त्यधिकाराभावात् वर्णधर्मान् स्त्रीधर्मान् सङ्करजातिधर्मांश्च तत्तज्जन्म **प्राप्य सम्यगाचरेत्**, तदा जन्मान्तरे **जातिस्मरत्वं** पूर्वजन्मकृतधर्मेण उत्तरजन्मीनधर्मार्थं

संस्कारप्रबोधो वा ध्रुवं भवेत्, पूर्वजन्म निकृष्टं चेदग्रिमं जन्मोत्कृष्टं च भवेत्, तज्ज्ञापनार्थं अविच्छिन्नसंस्कारतदभावाभ्यां द्विजाऽद्विजौ उक्तौ,ततो वर्णानां वृत्तीःउक्त्वा चतुर्णां **वर्णानां धर्मा** उक्ताः, न हि वृत्तिरहितो धर्मं कर्तुं शक्नोतीत्यभिप्रायेण। तत्र वर्णेषु निकृष्टः शूद्रः,ततो **निकृष्टा स्त्री**, अतः सर्ववर्णधर्मान्ते स्त्रीधर्मनिरूपणम्,ततोऽपि निकृष्टाः सङ्करजातयस्तेषु च स्त्रीपुरुषधर्मभेदो नास्तीतिज्ञापनाय स्त्रीधर्मान्ते निरूपणम्, तेनेदं सिद्धम्, यस्य जीवस्य पूर्वं सङ्करजातिषु जन्म स तज्जातिप्रोक्तं यथोक्तं धर्मं कृत्वा प्रबुद्धसंस्कारो जन्मान्तरे शूद्रादि**क्रमेणान्ते विप्रो भवति**, एवं तत्तज्जातीया स्त्री अपि अन्ते ब्राह्मणी भवति,। अथ शूद्रादिक्रमे आश्रमा अपि **यथोक्तं एकद्वित्रि**चतुःक्रमेण वर्धन्ते, अतो विप्रत्वे चत्वारोप्याश्रमा एकैकानन्तरं **क्रमेण बुद्ध्या आयुर्भागाच् चतुर्धा** विभज्य कर्तव्याः, ततश्च कस्यचिद् दुष्टवासनानाशः भगवद्भक्तिश्चेत्युभयं भवति, कस्यचिद् धर्मबलेन भक्तिरेव न दुष्टवासनानाशः, परं भक्तौ जातायां भगवांस्तस्य जीवस्य कार्यसाधनार्थं ध्रुवं उद्युक्तो भवति, तदा दुष्टवासनानाशाभावेपि स जीवो **ध्रुवं मुक्तो भवेत्, परं तद्वासनाभोगार्थं पुनर्जन्म** जयविजयवत् स्यादितिज्ञेयम्, यदा तु विप्र**जन्म प्राप्य चतुर्षु** आश्रमधर्मेषु कृतेष्वपि **हरीच्छया** दुष्टवासनानाशे भक्त्युद्भवे च **विलम्बस्तदा अष्टमस्कन्धो**क्तान् **सद्धर्मानाचरेत्**, तदा तु सर्वथा दुष्टवासनानाशो **नवमस्कन्धोक्ता भक्तिश्चावश्यंभाव्या**, तदा निरोधो मुक्तिश्चेत्युभयमपि अवश्यं भवेदितिस्कन्धक्रमेण ज्ञाप्यते। **एवं हीना रुच्यपि** पातिव्रत्यधर्मेण तत्तज्जातिवर्णधर्मेण चान्ते ब्राह्मणी भूत्वा 'या पतिं हरिभावेने'तिवाक्योक्तं फलं प्राप्नोति, कदाचिद् धर्मबलात् पुरुषजन्मापि प्राप्य पुरुषजन्मोक्तं च फलं **प्राप्नोतीति**। अथ वासनाक्षयार्थं धर्मानाचरतः पुरुषस्य मध्ये यदि **महतां व्यतिक्रमस्तदा दुष्टवासनावृद्धिः**, सनकाद्यतिक्रमे जयविजयवत्। नारदस्य गन्धर्वजन्मवच् च। **तत्प्रसादे तु शुभावासना** वर्द्धते, नारदप्रसादेन प्रह्लादवत्, नारदस्य दासीपुत्रजन्मवच्च, उभयथापि **कृष्णादेव गतिः** यतो भगवान् नृहरिरवतीर्य दुष्टान् मारणेन शिष्टान् पालनेन च **तारितवान्**, तथा च इयं सप्तमस्कधोक्ता ऊतिलीला सर्वान् **मोचयति**, अतो **विषमभावज्ञापिका** पुष्टिलीलाप्यदुष्टैवेतिभावः, अत्र सर्वत्र कारणं भगवतो हरित्वमेवेति **सप्तमस्कन्धार्थ**निबन्धीयप्रान्तस्थश्लोकनवकार्थो यथामतिवर्णितः। इति **कठिनांशविवेचनम्**।

सप्तमस्कन्धः
समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीभागवतार्थप्रकरणे

अष्टमस्कन्धविवरणम् ।

एवं पञ्चदशाध्यायैर्वासना कर्म चोदितम् ।
सद्धर्मस्तु ततः प्रोक्तश्चतुर्विंशतिभिः शुभैः ॥१॥
मन्वन्तराणि सद्धर्मः सतां धर्माः प्रकीर्त्तिताः ।

श्रीबालकृष्णाय नमः ।

अथ अष्टमस्कन्धनिबन्धस्य योजना ।

अथाष्टमस्कन्धार्थं निबध्नन्तः सप्तमाष्टमयोः सामान्यविशेषभावरूपां सङ्गतिं बोधयितुं सप्तमार्थमनुवदन्तः प्रस्तुतस्यार्थमाहुः-**एवमित्यादि**। उक्तप्रकारेण त्रिभिः प्रकरणैर्द्विधावासना तज्जनकं कर्म च उदितं सप्तमे उक्तं च। ततस्तदुत्तरमष्टमे शुभैर्भगवल्लीलाप्रतिपादकैश्चतुर्विंशतिरध्यायैः सद्धर्मः प्रोक्तस्तेन **कर्मसद्धर्मयोः** कर्मरूपत्वात्सामान्यविशेषभावः, सद्धर्मस्य वासनाजनकत्वाच्च कार्यकारणभावोऽपि सङ्गतिरित्यर्थः ॥ १ ॥ महापुराणान्तरोक्तेभ्यो मन्वन्तरेभ्यो विशेषं बोधयितुं लक्षणमाहुः-**मन्वन्तराणि सद्धर्म** इति । 'मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वराः । ऋषयोंशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते' (अ. ७) इति द्वादशस्कन्धोक्तसामान्यलक्षणम्। अत्र तु तत्कथनपूर्वकं **सद्धर्म** उच्यत इति सद्धर्मवैशिष्ट्यमत्र विशेष इत्यर्थः। मन्वन्तराणामनेकत्वेन तेषामेकलक्षणत्वघटकं सद्धर्मत्वमित्यत एकवचनम्। ननु सद्धर्मस्य सन्निष्ठत्वात्कथं भगवल्लक्षणत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः-**सतां प्रकीर्त्तिता** इति। **भगवतेति** शेषः।* तथा च ते धर्मा भगवदुक्तत्वाद्भगवल्लक्षणभूता इत्यर्थः।

* पूर्वस्कन्धोक्ताः सदाचाररूपाः सामान्यधर्माः अनुगृहीतानाम्, इमे तु सतां प्रकर्षेण कीर्त्तिता इति विशेषधर्मा भगवतो वीर्यापरनामानः, अतो भगवल्लीलात्वम्। किन्तु पूर्वरूपे देहेन्द्रियादिनिष्ठाः। इमे तु कारणरूपतत्त्वात्मकप्रकृतिगणनिष्ठाः। भक्तिस्तु जीवात्मकपुरुषनिष्ठाऽतः कार्यकारणजीवानामुत्तरोत्तरोत्कृष्टभगवदंशत्वात्तद्धर्माणामप्युत्तरोत्तरोत्कृष्टभगवल्लीलात्वमित्यर्थः।

प्राकृतास्ते समाख्याताः पौरुषो भक्तिरेव हि ॥२॥
चतुर्विंशतिधा भिन्नाः प्राकृतीं वासनां तु ते ।
सर्वथा नाशयन्त्येव जीवगां भक्तिरुत्तमा ॥३॥
द्विधा ह्यत्र पदार्थाः स्युर्मीमांसायां यथा मताः ।
पुष्ट्यन्ताः प्रथमाः प्रोक्ता आश्रयान्तास्तथाऽपरे ॥४॥
तेनोत्तरस्य षट्कस्य वासना प्रथमा मता ।
प्राकृत्येव हि सा दुष्टा सद्धर्मैरेव नाश्यते ॥५॥
लक्षणे विपरीते हि ततः प्रोक्ते तयोः क्रमात् ।

तेषामुत्पत्तिस्थानमाहुः-**प्राकृतास्ते समाख्याता** इति। देहेन्द्रियान्तःकरणेषु त उत्पद्यन्त इत्यर्थः। तर्ह्यात्मनि कुतो नोत्पद्यन्त इत्याकाङ्क्षायामाहुः-**पौरुषो भक्तिरेव हीति**। पुरुषो जीवात्मा तत्रोत्पत्तियोग्यः पौरुषस्तादृशो धर्मो भक्तिरेव हीति निश्चये ॥ २ ॥ तेषां प्रयोजनमाहुः-**चतुर्विंशतीत्यादि**। 'प्राकृतो गणश्चतुर्विंशतिक' इति तत्रोत्पन्नास्ते तत्रत्यां सर्वप्रकारेण **नाशयन्त्येव**। **जीवगां** तु **उत्तमा** नवमे वक्ष्यमाणा **भक्तिरेव** नाशयतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ धर्माणामाश्रमभेदेन चतुर्विंशतिविधत्वमुक्त्वा फलभेदेन तदुपोद्बलयन्ति-**द्विधा** हीत्यादि। उपदेशातिदेशाभ्यां द्वादशलक्षण्यां **मीमांसायां यथामताः** विचारिताः **पदार्थाः** सद्धर्मा अत्र हि स्कन्धे फलभेदेन **द्विधा स्युः**। फलभेदं स्पष्टीकुर्वन्ति-**पुष्ट्यन्ता** इत्यादि। तथा चैवं द्वादशानां द्विविधत्वे चतुर्विंशतित्वमित्यर्थः ॥ ४ ॥ अयं फलविभागो मीमांसायां न प्रकट इति तं प्रकटयन्ति-**तेनेत्यादि**। उत्तरे षट्केऽतिदेशेन विकृतिरूपा विचारितास्ते च काम्यत्वाद्दृढीकृताः स्वार्था इति तद्वासना प्रथमा पुष्ट्यन्ता मतेत्यर्थः। तेनाद्यषट्कीयवासनाया आश्रयान्तत्वमर्थादेव बोधितम्, ननु मीमांसाविचारिता एव चेद्धर्मा अत्र गृह्यन्ते तदा को विशेषः **सद्धर्मेष्वित्यत आहुः-प्राकृतीत्यादि**। तथा च मीमांसाविचारितरीत्या नित्यकर्ममात्रकरणेऽपि तस्यात्मसुख एव पर्यवसानान्न प्राकृतवासनाक्षयोऽपि तु वासनान्तरानुत्पाद एवातः सद्धर्मा आवश्यका इत्यर्थः ॥५॥ अत्र गमकमाहुः **लक्षणे विपरीत** इति सपादाभ्याम्।

मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः ॥६॥
कर्मजाः प्राकृता एव पूर्वं नाशकथा ततः।
नष्टाश्चेत्प्राकृताः सर्वास्ततो भक्तिः प्रवर्त्तते ॥७॥
सद्धर्मास्तु ततो ज्ञेयास्त्रिविधास्ते प्रकीर्त्तिताः।
तामसाः सात्त्विकाश्चैव राजसाश्च विभागशः ॥८॥
चतुर्द्धा दशधा चैव नवधा च प्रकीर्त्तिताः।
त्रिविधस्यापि धर्मस्य मत्स्यो वक्ता निरूपितः ॥९॥
मन्वादिभिस्तु ये धर्माः स्वकाले वै प्रकीर्त्तिताः।
तांश्चेत्सर्वात्मना यस्तु समातिष्ठति भागशः ॥१०॥
स एव वासनाः सर्वा दहतीत्यत्र रूप्यते।
तपसोपनिषत्पाठः प्रथमे परिकीर्त्तितः ॥११॥

तथा च पूर्वमुद्देश ऊतिं पूर्वमुक्त्वा यत्सद्धर्मात्पश्चात्तां लक्षितवान् तेन ज्ञायते सद्धर्मनाश्यत्वं तासां बोधयितुमेव तथोक्तानिति। नच कार्यकारणमात्रबोधनाय तथोक्तावानिति-शङ्क्यम्। यतो वासनास्कन्धे पूर्वं नाशकथा ततः प्राकृतसर्वनाशबोधनोत्तरं सद्वासनां कर्माणि चोक्त्वाऽग्रे सद्धर्मा उक्तास्ततोऽग्रिमे भक्तिप्रवृत्तिरुच्यत इति स्कन्धकथाक्रमेणोक्तनिश्चयादितिसद्धर्माः सर्वथा ज्ञेया एवेत्यर्थः। एवं चात्र वक्तृत्वेनाश्रयो लक्ष्यस्तदुक्ताः सद्धर्मास्तल्लक्षणम्। तेषां दुर्वासनादाहः फलं जीवकृतिर्व्यापारस्तेन तेषां दग्धवासनतया स्थितिः सिद्ध्यतीति स्कन्धार्थौ विचारितः ॥६॥७॥

अतः परं प्रकरणार्थं विचारयन्तस्तद्भेदकं वदन्ति त्रिविधा इति पादोनाभ्याम्। तथा च स्वरूपस्य वक्तुश्च विचारेण चत्वारि प्रकरणानीत्यर्थः ॥८॥९॥ ननु सद्धर्मेषु मन्वन्तरशब्दप्रवृत्तिः कथमित्यपेक्षयामाहुः- मन्वादिभिरिति। 'मन्वन्तरं मनु'रिति द्वादशस्कन्धवाक्यान्मन्वन्तरशब्दो मन्वादिषट्कवति काले रूढो मन्वादिप्रवर्त्तिते धर्मे योगरूढ्या प्रवर्त्तते। तत्र तद्धितस्य लुक्, तस्य फलमाहुः—तांश्चेदित्यादि। तस्मिंस्तस्मिन्मन्वन्तरे तस्य तस्य धर्मस्यावश्यकत्वाय तद्भेदानाहुः—तपस इत्याद्यष्टभिः। तत्र स्वायम्भुवेऽन्तरे तपसोपनिषत्पाठो मनुना कृतः स्पष्टः। स्वारोचिषे भगवद-

द्वितीये ब्रह्मचर्यश्च सत्यवादस्तृतीयके।
वेदाभ्यासो धारणं च चतुर्थे परिकीर्त्तितम् ॥१२॥
व्रतादिना भगवतः सेवा पञ्चम ईरिता।
सतां सुराणां महतां षष्ठे सेवा प्रकीर्त्तिता ॥१३॥

वतारेण विभुना कृतं ब्रह्मचर्यं स्पष्टम्। उत्तमेऽन्तरे सत्यसेनाख्यभगवदवतारकृतेनानृतव्रतदुःशीलमारणेन सत्यवादप्रवर्तनं बोद्धव्यम्। तामसेऽन्तरे वैधृतिनामकदेवैः प्रवर्त्तितो वेदाभ्यासः स्फुटः। पञ्चमो रैवतस्तत्र रमाप्रार्थनेन वैकुण्ठकल्पनकथनात्। श्रीव्रतानां पञ्चमतृतीयस्कन्धयोः लक्षतुलसीदलार्पणव्रतादिना भगवतः सेवा वैकुण्ठाख्यभगवदवतारप्रवर्त्तितैव बोध्या। षष्ठे चाक्षुषेन्तरे अमृतमन्थनादिकथनात्सतां सुराणां महतां सेवा अजिताख्यभगवदवतारप्रवर्त्तितैव बोध्या। सप्तमे

का० ४-७-निबन्धकठिनांशविवेचनम्।

अष्टमस्कन्धार्थोक्तौ द्विधेत्यादि। भक्तिः प्रवर्त्तत इत्यन्तम्, ननु 'अत्र सर्गो विसर्गश्चे'तिलीलामुद्देशे मन्वन्तरस्य ऊत्यनन्तरमुद्दिष्टत्वेपि लक्षणकथने मन्वन्तरस्य ऊतेः पूर्वं 'मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासना' इति लक्षितत्वाल् लक्षणस्य उद्देशादुत्कृष्टत्वाल् लक्षणक्रमेणैव कुतो न स्कन्धयोः कथनम्। अथ उद्देशक्रमेणैव कथने लक्षणे वैपरीत्यं किमर्थमित्याशङ्कायां उद्देशलक्षणस्कन्धकथनानां त्रयाणां तात्पर्यमाहुः-द्विधेत्यादि भक्तिः प्रवर्त्तत इत्यन्तेन। अत्र श्रीभागवते मीमांसावद् द्विधा पदार्थाः, मीमांसाया वेदनिर्णयरूपत्वादुपदेशातिदेशभेदेन द्विधा निर्णयः, एवं श्रीभागवतस्य वेदफलरूपत्वादनुग्रहाश्रयभेदेन द्विधा फलं निरूप्यते, तत्र तत्तत्फलोपयोगिनो ये अधिकारवासनादयस्तेपि पूर्वोत्तरषट्कयोर्निरूप्यन्ते, यादृशोऽधिकारस्तादृशोऽनुग्रहः, यादृशी वासना तादृशो भगवत्प्रवेश आश्रयरूप इति ज्ञापनार्थमुत्तरे षट्के वासना प्रथमं सद्धर्मात् पूर्वं निरूपिता, वासनाया भगवत्प्रवेशे सामान्यकारणत्वात्, सद्धर्माणां विशेषकारणत्वादिति, अथ भगवत्प्रवेशे दुष्टनिवृत्तिः प्रथममपेक्षिता, तत्र प्राकृती वासना दुष्टा देवदैत्यहितेच्छया जाता, देहादिवासना तथा न दुष्टा मुक्तिहेतुत्वात्, यथा क्षुधाहेतुकं देहादिरक्षार्थं भोजनमत्यन्तं न दुष्टम्, यथा स्वादुहेतुकं दुष्टम्, तथा प्रकृतिगणसम्बन्धिनी केवलभोगार्थं वासना दुष्टा, तस्याश्च नाशकाः सद्धर्मा एवेतिज्ञापनाय लक्षणे सद्धर्माः प्रथमं लक्षिताः, तेन सद्धर्मैः प्राकृतवासनायाः कर्मजाया नाशः लक्षणे पूर्वं निरूपित इति। अथ सद्धर्मैः प्राकृतवासनानाशे भक्तिरवश्यंभाविनी इति भक्तेरव्यवहितकारणत्वज्ञापनाय भक्तिस्कन्धात् पूर्वं सद्धर्मस्कन्धोऽत्र श्रीभागवते व्यासेन शुकेन वा उक्त इति न कोपि शङ्कालेशः। इति कठिनांशविवेचनम्।

सप्तमे वैष्णवानां च व्रतानां करणं स्मृतम् ।
एकादशी तत्र मुख्या व्रतानामुत्तमा यतः ॥१४॥
दैत्यसम्बन्धरहिता तथाऽष्टम्यादिकं हरेः ।
पुष्टिमार्गप्रकारेण धर्मा अष्टम ईरिताः ॥१५॥
यज्ञादिप्रचुरा धर्मा नवमे परिकीर्त्तिताः ।
दशमे लोकरक्षार्था धर्मा लोकसुखप्रदाः ॥१६॥
एकादशे स्मार्त्तधर्माः स्वनिष्ठान्ताः शुभाः स्मृताः ।
रागाभावयुता धर्मा द्वादशे परिकीर्त्तिताः ॥१७॥
उपास्यदेवतानां तु पोषकाश्च त्रयोदशे ।
ज्ञाननिष्ठा भोगयुक्ताश्चतुर्दश उदाहृताः ॥१८॥

वैवस्वते एकादश्यादिव्रतकरणं पुराणान्तराज्ज्ञेयम् । अष्टमे सावर्णिमन्वन्तरे भगवदवतारेण सार्वभौमेन बलये ऐन्द्रपदस्य दानात्पुष्टिमार्गप्रकारका धर्मा अवतारप्रवर्त्तिता एव ॥११॥१२॥ १३॥१४॥ नवमे ऋषभाख्यभगवदवतारेणेन्द्रस्य राद्धत्रिलोकीभोगकथनाद्राद्धत्वस्य च यज्ञादिभिरेव भवनात्तेऽपि भगवत्प्रवर्त्तिता एव । दशमे दक्षसावर्णिमन्वन्तरे अमूर्त्ताख्यो भगवदवतारो 'येनाप्यायेत वै जग'दिति कथनाज्जगदाप्यापक इति लोकरक्षार्था लोकसुखप्रदा धर्मा अवतारप्रवर्त्तिता एव । एकादशे धर्मसावर्णिमन्वन्तरे मनोरात्मवत्त्वेन विशेषणाद्भगवदवतारस्य धर्मसेतुनामकस्य त्रिलोकीधारकत्वकथनाच्चोभाभ्यां प्रवर्त्तिता आत्मनिष्ठान्ताः स्मार्ता एव । धर्मशब्दस्य स्मार्तेष्वेव प्रायशः प्रयोगात् । 'सत्यं परं परꣳ सत्यमि'त्यनुवाके यज्ञदानादिभ्यः पृथक् धर्मो 'विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठे'त्यादिना धर्मस्योक्तत्वेन तथा निर्णयादिति । द्वादशादिषु त्रिषु मन्वन्तरेषु ये धर्मास्ते पुराणान्तरोक्ता बोद्धव्याः । एवमेतेषां स्वरूपकथनेन व्यवस्थाबोधनात्पूर्वस्कन्धोक्तानामानर्थक्यं वारितम् । तेषां सर्वमन्वन्तरसाधारणत्वादिति । तथा सत्यस्मिन्मन्वन्तर एकादश्यादिव्रतान्येव दुर्वासनानां निःशेषनाशकानि । तत्र स्मृतमित्यनेन पौराणत्वं बोधितम् । उत्तमत्वं च भगवत्प्रसादहेतुत्वात् महाद्वादशीनां प्रायश्चित्तरूपत्वात् । 'वैष्णवो वाथ शैवो वा सौरोऽप्येतत्समाचरे'दिति सर्वेषामावश्यकत्वबोधनाच्च ज्ञेयम् । दैत्यसम्बन्धराहित्यं च । 'दशम्यामसुरा जाता एकादश्यां सुरास्तथा । यत्तु जन्मदिनं येषां तत्तेषामेव वर्द्धन'मितिपाद्मादिभ्यो ज्ञेयम् । अष्टाम्यादिकमिति, 'जन्मा-

मन्वन्तरविभेदेन सद्धर्माः परिकीर्त्तिताः ।
तत्तद्देशविभेदेन देशधर्मास्तथा पुनः ॥१९॥
महान्तोऽत्र त्रयो धर्मा आपत्सु हरिसंस्मृतिः ।
सम्पत्सु सर्वदानानि निर्वाह्यवचनं तथा ॥२०॥
हरिसंस्मरणे तत्र चत्वारः परिकीर्त्तिताः ।
पुरुषार्थप्रसिद्ध्यर्थमध्याया इति निश्चयः ॥२१॥
मन्वादीनां यथा धर्मः कृष्णस्मृत्यैव सिद्ध्यति ।
तत्रापि धर्मबाधायां क्लेशः स्यादिति निश्चयः ॥२२॥
भगवद्धर्मरूपस्तु यदि धर्मेण बाध्यते ।
तदा फलत्वतो हीना ह्यर्थकामौ तु साधयेत् ॥२३॥
अनुवृत्तस्तु तत्रापि मोक्षं साधयते चिरात् ।
अतो गजेन्द्रकथनं चतुर्भिर्विनिरूपितम् ॥२४॥

ष्टमी रामनवमी वामनद्वादशी नृसिंहचतुर्दशी चे'तिपाद्मे पातिव्रत्यव्रतिनमुपक्रम्यैतेषामेव पञ्चानां कथनादिति । एवमेते कालधर्मा यथान्यवस्थया सद्धर्मास्तथा देशधर्मा अपि व्यवस्थया तथेत्याहुः- तत्तदित्यादि ॥१६॥१७॥१८॥१९॥

सर्वमन्वन्तरसाधारणान्सद्धर्मानाहुः महान्त इत्यादि । एतेषां महत्त्वं च सर्वमन्वन्तरेष्वावश्यकत्वात्सर्वसद्धर्मसहायत्वाच्च ज्ञेयम् । अयमपरः प्रकरणविभागस्तामसप्रकरणं वेत्याशयेन सार्द्धैर्नवभिरेतदध्यायार्थानाहुः-हरिसंस्मरण इत्यादि ॥२०॥२१॥

प्रथमे यथा धर्मसिद्धिस्तदाहुः-मन्वादीनामिति । धर्मस्तपोरूपः कृष्णस्मृत्या उपनिषदर्थानुन्धानरूपया यथा भगवत्कृतेन प्रतिबन्धनिवारणेन मन्वादीनां सिद्धस्तथा सिद्ध्यतीत्यर्थः । मूले यद्यपि मनोरेवोक्तस्तथापि प्रतिबन्धकानां निवृत्तौ तदितरेषामपि सिद्ध एवेतिबोधनायादिपदम् । एवं प्रथमे हरिस्मरणेन धर्मसिद्धिमुक्त्वा तत्रैव गजेन्द्रकथोपक्षेपतात्पर्यमाहुः—तत्रापीत्यादि । तथा च स्मरणेन सद्धर्मसाधनेऽपि यदि स्मार्त्तादिधर्मो बाधते तदा क्लेशः स्यादिति बोधनार्थं तदुपक्षेप इत्यर्थः ॥२२॥२३॥ अनुवृत्त इति । अनुवर्त्तमानो हरिस्मरणरूपो धर्मः । अत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । भगवद्धर्मात्मकहरिस्मरणस्यैवं धर्मान्तरेण

अगस्त्यो ब्राह्मणः शैवः स एव ब्राह्मणः स्मृतः ।
तस्याविरोधी यो धर्मः स शीघ्रं फलदो मतः ॥२५॥
भक्तावेव हरिस्तुष्टः कालादीनत्र वारयेत् ।
धर्मयुक्तांस्तथा चाऽन्यान्नान्यथा तु कथञ्चन ॥२६॥
गजेन्द्रस्यार्थसिद्ध्यर्थं वृक्षादीनां च वर्णनम् ।
काममुक्त्वा तस्य चान्ते क्लेशः कामस्तथा यतः ॥२७॥
स्तोत्रं प्रवृत्तिजनकं स कामो मुख्य ईरितः ।

बाधेऽप्येवं फलसाधनतामनुसन्धायेत्यर्थः । ननु 'यानास्थाय नरो राज'न्निति योगेश्वरवाक्येन 'स्खलेदि'त्यनेन विलम्बाभावस्योक्तत्वादिन्द्रद्युम्नस्य कथं विलम्ब इत्यत आहुः-अगस्त्य इत्यादि । तथा च चतुर्थस्कन्धे नन्दिशापेन शिवद्वेषे फलविलम्बस्योक्तत्वादगस्त्यस्य शैवत्वेन 'यो यच्छ्रद्धः स एव स'इति तेन रूपेण शिवद्वेषसम्भवात्तथेत्यर्थः । वस्तुतस्तु 'आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् । अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय ही'ति पुष्टिप्रवाहमर्यादोक्तरीत्या धर्ममर्यादास्थापनार्थं भगवद्दापित एवायं शाप इति भावः ॥२४॥२५॥ नन्वेवं भक्तोपेक्षा नोचितेत्यत आहुः-भक्तावेति। इन्द्रद्युम्नशरीरे तस्य भगवत्पूजापरत्वमेव न तु भक्तत्वम् । 'इन्द्रद्युम्न इति ख्यातो विष्णुव्रतपरायण' इत्यादिना सद्धर्मपरत्वस्यैवोक्तत्वात् । सा च पूजा सर्वापेक्षारहितेति गजेन्द्रजन्मनि भक्तिमुत्पादितवती, 'भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत मा'मिति वाक्यात् । ततो जातायां भक्तावेव हरिस्तुष्टः 'भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाये'ति गजदशायामेव तस्या उक्तत्वात् । कालादीनत्रास्मिन् जन्मनि वारयेत् । तथा कालादिवद्धर्मयुक्तानन्यानगस्त्यादिभ्योऽधिकानपि वारयेत् । यथाम्बरीषरक्षणाय दुर्वासा वारित इति भक्तौ वक्ष्यते । अन्यथा केवलसद्धर्मपर्यवसितत्वे तु कथञ्चन महाधर्मपरत्वेऽपि न वारयेदिति नात्र भक्तोपेक्षेत्यर्थः ॥२६॥

एवं शापतात्पर्यमुक्त्वा द्वितीयाध्यायतात्पर्यमाहुः-गजेन्द्रस्येति । ननु तृतीये कामो वाच्य इति कुतस्तत्र स्तोत्रकथनम् । किञ्च, भक्तिरत्र प्रेमात्मिका विवक्षिता, सा चान्तरीति तया प्रसादे स्तोत्रस्य कुत्रोपयोग इत्यत आहुः-स्तोत्रमित्यादि, प्रपद्ये अवतु इत्यादीनां प्रयोगाणां दर्शनात्तस्य प्रपत्तावुपयोग इत्यर्थः । नन्वत्र

मोक्षस्तु कृष्ण एवात्र प्रीतः सर्वात्मना मतः ॥२८॥
तदा भक्ताश्च ये पूर्वे प्राकृता अपि वै श्रुताः ।
ते मोक्षदाः समस्तानां जाता वै हरिवाक्यतः ॥२९॥
इत्यापत्सु हरेः स्मृत्या यत्फलं परिकीर्त्तितम् ।
ततस्तु दशभिः प्रोक्तं सर्वेभ्यो दानमीप्सितम् ॥३०॥
गुणास्तु नवधा प्रोक्ता निर्गुणो दशमः स्मृतः ।
दानं तु त्रिविधं प्रोक्तं हेतुरूपफलैः पृथक् ॥३१॥
हेतवश्च त्रयः प्रोक्ता भगवान् सात्त्विकः पुरा ।
ततो देवासुराश्चैव राजसाः परिकीर्त्तिताः ॥३२॥
शिवश्च तामसः प्रोक्तस्त्रिभिर्दोषे निवारिते ।
दानं सिद्ध्यति सर्वेभ्यस्ततो हेतुं पुरोक्तवान् ॥३३॥
कृष्णेन प्रेरिता देवाः प्रेरयन्ति यदा मनः ।

चतुर्भिरध्यायैश्चत्वारोऽर्था वक्तव्या इति पञ्चमायाः प्रपत्तेः कथमत्रोक्तिरित्यत आहुः-सकामो मुख्य इति। प्रपत्तिमुखेन स मुख्यकाम एवोक्तो गजेन्द्रस्य मुख्यतया रक्षितृकामनाया एव सत्त्वादिति कामत्वादत्रोक्तिरित्यर्थः। चतुर्थस्यार्थमाहुः-मोक्ष इत्यादि, (श्लो. १७) 'ये त्वां मां च सरश्चेद'मित्यादिभगवद्वाक्यतात्पर्यमाहुः-तदेत्यादि ॥२७॥२८॥२८½॥ एवं सार्द्धनवभिः प्रथमं प्रकरणं विचारितम् ॥

अतः परमेकपञ्चाशद्भिर्द्वितीयं प्रकरणं विचारयन्ति-तत इत्यादि । अध्यायान् विभजन्ते-गुणा इत्यादि । ननु गुणानां तथात्वे दानस्य कुतस्तावद्भिः कथनमत आहुः-दानमित्यादि । तथा च तस्य त्रिधासु प्रत्येकं त्रैगुण्यसम्बन्धात्तावद्भिः कथनमित्यर्थः । एतेनात्रावान्तराणि प्रकरणानीति बोधितम् । आद्ये त्रित्वं व्युत्पादयन्ति हेतव इत्यादि । पुरेति प्रथमाध्याये ॥३०॥३१॥३२॥ ननु त्रयः कुतः कथं च हेतव इत्याकाङ्क्षायां त्रयाणां हेतुप्रकारं प्रथमतस्तत्कथनहेतुं चाहुः-त्रिभिरित्यादि । न'न्वेक एवेश्वरस्तस्मिन् सुरकार्ये सुरेश्वरः, विहर्तुकामस्तानाह समुद्रोन्मथनादिभि'रिति भगवत एव तद्विहारेच्छाकथनात्कत्रयाणामुपयोग इत्यत आहुः-कृष्णेनेत्यादि । स इति जीवः । तथा च भगवानवान्तरकार्यं

१ तत्फलं ।

लोभं च नाशयेद्यक्षस्तदा दाता स जायते ॥३४॥
अमृतादधिकं लोके न देयमिह विद्यते।
मृत्युना व्याप्तलोके हि मरणं तन्निवारयेत् ॥३५॥
तत्स्वरूपपरिज्ञानं जिज्ञासायां च जायते।
सा च क्लेशोदये सम्यक् तदर्थं क्लेशसत्कथा ॥३६॥
ज्ञापको हरिरेवात्र स चेद्वैकुण्ठवत्क्वचित्।
स्थानं कृत्वा यदा तिष्ठेत्तदैवार्थः प्रसिद्ध्यति ॥३७॥
इति वैकुण्ठनिर्माणकथनार्थं तु पञ्चमः।
मन्वन्तरो ज्ञानरूपः प्रथमं स निरूपितः ॥३८॥
वैराग्यरूपः षष्ठस्तु स क्लेशात्मा पुरा भवेत्।
तत्रैव गुरुसम्बन्धो ब्रह्मस्थानगतिस्ततः ॥३९॥
तदर्थं वेद चेद्ब्रह्मा भगवान् किं करिष्यति।
अतो भगवतो जग्मुः स्थानं सर्वे दिवौकसः ॥४०॥
क्रिययैव स दृश्यो हि तेन स्तोत्रमुदीरितम्।
स्तुत्या प्रसादपर्यन्तं हरिः सात्विक ईरितः ॥४१॥

कुर्वन्नपि मूलप्रकारं सूचयन्नेव करोतीतिज्ञापने उपयोग इत्यर्थः। ननु सम्पत्तु सर्वदानानां वक्तव्यत्वेन प्रथममृतप्रसङ्ग एव कुत इत्यपेक्षायां 'जीवाभयप्रदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशी'मितिवाक्यात्सर्वाणि दानान्यभयान्तानि। 'अभयं चामृतादि'-त्यादि बोधयितुं तत्प्रसङ्ग इत्याहुः–अमृतादित्यादि ॥३४॥३५॥

एवं प्रकरणार्थं विचार्य प्रथमाध्यायार्थं विचारयन्तोऽमृतस्य मोक्षाध्यात्मकत्वबोधनाय तद्धर्मानतिदेष्टुमेवं कथेत्याशयेनाहुः–तत्स्वरूपेत्यादि। **जिज्ञासायामिति** विचारे। पञ्चम इति मन्वन्तरविशेषणम्। प्रथममिति वैराग्यरूपात् षष्ठात्पूर्वम्, षष्ठस्य वैराग्यरूपत्वे गमकमाहुः **सक्लेशात्मा पुरा भवे-दिति, तत्रैव गुरुसम्बन्ध** इति च। तदर्थमिति अमृतजनकमर्थम्। तथा चैवं परोक्षवादेन मोक्षपर्यन्तं दानं महाधर्म इति बोधयितुं ज्ञानप्रदो हरिः प्रथमाध्याये उक्तस्तस्य सात्विकत्वं चैवं देयस्वरूपविचारादुपायप्रकारविचाराच्च ज्ञातव्यमित्यर्थः। तेन 'स्वच्छन्दगतिरीश्वर' इत्यन्तो द्वितीयाध्यायोऽपि प्रथमस्यैव शेष इतिबोधितम् ॥३६॥३७॥३८॥३९॥४०॥४१॥ एवं षड्भिः **प्रथमाध्यायार्थ उक्तः।**

राजसा देवदैत्याश्च मेलनं कपटेन हि।
राजसं कर्म तच्चापि क्लेशात्मकमुदीरितम् ॥४२॥
हेतुः स मध्यमः प्रोक्तो नितरां क्लेशदः परः।
तामसः स तु विज्ञेयः क्रियादौ तामसी मता ॥४३॥
कालकूटं शुद्धतमः पानं तस्य तु सात्विकम्।
एवं त्रेधा विभागस्तु सर्वत्र ज्ञायतां स्वतः ॥४४॥
एवं त्रिभिर्हेतुकथा दानार्थमिह रूपिता।
साधकः साधकानीत्थं प्रतिबन्धनिवारकः ॥४५॥
सद्धर्मकार्ये सर्वत्र हरिर्वै साधको मतः।
देवाः साधनवर्गस्तु बाधकाभाव ईश्वरः ॥४६॥

(अ. ६–७) अत एव 'अथ तस्मै भगवते नमस्कृत्य पितामह (अ. ६. श्लो. २७)' इत्यादिना अर्थान्तरोपक्रमः सूच्यत इत्याशयेन **द्वितीयाध्यायार्थमाहुः–राजसा** इत्यादि। राजसत्वे हेतुः **मेलनं कपटेन हीति**। हिर्हेतौ। तदिति मन्दरानयनरूपं देवादिसाध्यम्। स इति मन्दरानयनरूपः। तथा च मध्यमत्वमपि राजसत्वे हेतुरित्यर्थः। एवं सपादेन द्वितीयार्थ उक्तः। **तृतीयस्यार्थमाहुः नितरामित्यादि**। परस्तृतीयाध्यायार्थो नितरां क्लेशदस्तस्य तथात्वे हेतुः **तामस** इति तामसत्वे हेतुः। तत्रादौ गिरेरधोगमनरूपा तामसीक्रिया मध्ये कालकूटं च, तस्य पानं तु सात्विकं तेन तदर्थस्य शिवस्यापि ब्रह्मविद्योपदेशद्वारैव सात्विकक्रिया-हेतुत्वमित्यर्थः। एवं हेतुविभागमुपपाद्य एतस्य सर्वसाधारणत्वाय सद्धर्मान्तरे-ऽप्यतिदिशन्ति–**एवं त्रेधेति** ॥४२॥४३॥४४॥ एतदेव स्पष्टीकुर्वन्ति–**एवमित्यादि**। एवं प्रकारेण त्रिभिरध्यायैर्हेतुकथा इहामृतप्रसङ्गे तु दानार्थं निरूपिता तथापि सद्धर्मस्कन्धे निरूपितत्वात्साधक इत्यादिनोक्तो विभागः सर्वत्र सद्धर्मकार्ये वर्तत इत्यर्थः। तत्रापि न सामान्यरूपेण त्रितयज्ञानं सद्धर्मसाधकं किन्तु तत्तद्रूपेणेत्याहुः–**हरिर्वा** इत्यादि ॥४६॥ ननु पुष्टौ चित्रकेतुशापप्रयोजकतया नाशकत्वेन शिवः सिद्धः, ऊतौ च हिरण्यकशिपुवरदायकत्वेन ब्रह्मेति कथं सर्वत्र तथात्वमित्याकाङ्क्षायां चतुर्थस्कन्धे 'अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्। आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयं दृगविशेषण'

विष्णुर्ब्रह्मा महेशश्च सर्वत्रैवं हि कारणम् ।
एकमेकतराभावे न कार्यं जनयेत्क्वचित् ॥४७॥
बाधकं द्विविधं प्रोक्तं साधकासाधनक्षमा ।
मध्ये बाधकसम्बन्धस्तत्राद्ये हरिरीश्वरः ॥४८॥
साधकत्वं यतस्तस्य द्वितीये तु महेश्वरः ।
उभयोस्तोत्रमत्रोक्तं मतान्तरविभेदतः ॥४९॥
मूलासुरस्वभावत्वात्कालकूटं हरेः पुरा ।
अकृत्वैव तु कार्यं हि प्रजासु समुपागतम् ॥५०॥
उत्पत्तिः प्रथमं तस्य दोषाभावाय केवलम् ।

इति दक्षं प्रति भगवद्वाक्यात्कार्यमात्रं प्रति त्रयाणां कारणत्वेन तत्रापि त्रयाणां कारणत्वमनुसन्धेयमित्याशयेनाहुः–विष्णुर्ब्रह्मेत्यादि। उत्पत्त्यादीनां त्रयाणां परस्परापेक्षत्वात्तत्रापि त्रिभ्य एव कार्यसिद्धिरित्येवानुसन्धेयमित्यर्थः ॥४७॥

तृतीयेऽध्याये प्रतिबन्धनिवारकत्वेन हेतुत्वं विवक्षितमतः प्रतिबन्धं स्फुटीकुर्वन्ति–बाधकमित्यादि । तत्राद्ये हरिरीश्वर इति । तयोर्बाधकयोराद्ये निवर्त्तनीये हरिर्भगवान् ईश्वरः कूर्मवपुषा गिर्युद्धरणेन देवादिबलवीर्येरणादिना च निवर्त्तनसमर्थः। तत्र हेतुः साधकत्वं स्थितिसाधकत्वं यतस्तस्य हरेरेवेति। स्फुटमन्यत्। ननु प्रथमे सर्वात्मकत्वादिना भगवत्स्तुतिरत्र तु तथा शिवस्तुतिरितिद्वयोस्तथात्वमेकस्मिन् कल्पे कथं सङ्गच्छेतेत्यत आहुः–उभयोरित्यादि। वेदाविरुद्धपाशुपतमते शिवस्य तथात्वेन सिद्धत्वात्तद्रूपबोधकं मतमादाय तथा स्तुतिरिति सुखेन सङ्गतिरित्यर्थः ॥४८॥४९॥ ननु कालकूटस्य कथमेवं सामर्थ्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः मूलासुर इत्यादि। पुरा पूर्वकल्पे हरेः सकाशादुत्पन्नो मूलासुर आदिदैत्यो मधुकैटभान्यतरस्तत्समष्टिर्वा कालकूटम्। तत्र गमकं हि यतो हेतोः कार्यं प्रजानाशरूपमकृत्वा स्वभावत्वात् हन्तृस्वभावत्वात् प्रजासु हननायोपागतमिति। तथा च कल्पान्तरे यथा कर्णमलादिभ्य उत्पत्तिस्तथात्र समुद्रादिति तेन तथा सामर्थ्यमित्यर्थः ॥५०॥

एतदुत्पत्तेः प्राथम्ये हेतुमाहुः–उत्पत्तिरित्यादि। अन्यथा ततः पूर्वमुत्पन्नाः सदोषा एव स्युरतस्तथेत्यर्थः। नन्वेवं सति पूर्ववत्कुतो न नाशित एवं पानं च

महादेवोदरे सर्वे मुक्ता एव वसन्ति हि ॥५१॥
अतोऽयं सर्वदोषात्मा कालकूटाभिधासुरः ।
मुच्यतामिति यत्नेन महादेवेन भक्षितः ॥५२॥
अग्नेर्मुखादपगतो दोषयुक्तो महान् यतः ।
आसनेन निरुद्धस्तु कण्ठ एव व्यवस्थितः ॥५३॥
स दोषख्यापनार्थाय कण्ठो नीलो बभूव ह ।
महाप्रलयसिद्ध्यर्थं तत्रैव स्थापितो महान् ॥५४॥
अत एव हरिः प्रीतो भवानी चान्वमोदत ।
ततस्त्रिभिरिहाध्यायैर्दानरूपं निरूप्यते ॥५५॥
देयोत्पत्तिर्दानकर्म जीर्णवान्तं च तत्फलम् ।
क्रमेणैतत्त्रयं प्रोक्तमध्यायत्रितयेन हि ॥५६॥
सच्चिदानन्दरूपं हि ब्रह्म पूर्वोक्तमुत्तमम् ।

कुतः कारितमित्यत आहुः–महादेव इत्यादिचतुर्भिः। हरेरिति रूपान्तरमितिशेषः। सन्तीति वासनावशेनोत्पन्नाः सन्ति। अत इति मुक्तसमाजसंसर्गात्। अग्नेरिति वाडवात्। शेषं स्फुटम्। एवं सपादद्वादशभिस्तृतीयार्थ उक्तः ॥५१॥५२॥५३॥५४॥५५॥तेन पञ्चविंशतिभिराद्यमवान्तरप्रकरणं विचारितम्।

अतः परमूनविंशतिभिर्द्वितीयमवान्तरं रूपप्रकरणं विचारयन्तस्तदध्यायत्रयार्थमाहुः-देयेत्यादि। अत्र जीर्णवान्तमिति राहुशिरोहरणादिवाक्यानामर्थः शिरोऽमरत्वसूचितामृतजीर्णत्वस्य पिबतो नम्रमुखत्वेन शेषस्य मुखात्पात इति वान्तत्वस्य च भगवत्कार्यत्वादिति। ननु देयोत्पत्तिः प्रथमाध्यायार्थ इत्यमृतोत्पत्तिमात्रं वक्तव्यं कामधेन्वाद्युत्पत्तिकथायाः किं प्रयोजनमत आहुः–सदित्यादिद्वाभ्याम् । हि यतो हेतोः पूर्वोक्तं जगत्कारणभूतं ब्रह्म सच्चिदानन्दं किञ्चोत्तमम् 'एष ह्येवानन्दयाती'तिश्रुतेरेतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति श्रुतेश्च। ब्रह्मैवानन्ददायकं तदंश एव सर्वत्रानन्द इति। अतो हेतोः सदंशानां देहानां सर्वप्रकारकानन्दसिद्ध्यर्थं धेन्वादीनां रत्नानामिह लोके समुद्गमः प्राकट्यम् । हि

सदंशानां सर्वसिद्ध्यै धेन्वादीनामिहोद्गमः ॥५७॥
सदानन्दस्तादृशो हि मुख्यानन्दो रमा स्मृता ।
अमृतं तु चिदानन्दः स जीवार्थं हि युज्यते ॥५८॥
सर्वेष्टं यद्भवेल्लोके विभागं नैव गच्छति ।
तत्स्वेच्छयैव यद्गामी स भुङ्क्ते नापरः क्वचित् ॥५९॥
स्वयम्वरस्ततः प्रोक्तो लक्ष्म्यास्तस्यास्तथा मतिः ।
ब्रह्मानन्दस्वरूपा हि महद्ब्रह्मेति शब्दिता ॥६०॥
भोक्ता तस्य हरेर्नान्यो दोषयोगान्न चाऽन्यथा ।
आधिदैविकमेषा हि मध्यमं त्वमृतं मतम् ॥६१॥
समुद्रात्त्रितयं जातं तेन दाता स रूप्यते ।
हरणान्तामृतोत्पत्तिः स्वातन्त्र्यार्थं निरूपिता ॥६२॥
अन्यथा न भवेज्ज्ञानं गृहभोजनपाकवत् ।

यतो हेतोः सदानन्दः सद्धर्मरूप आनन्दस्तादृशो बहिः पदार्थसम्बन्धाभिव्यङ्ग्यः । स्फुटमग्रे ॥५६॥५७॥५८॥ तथा च त्रितयानन्ददानबोधनाय तदुत्पत्तिकथेत्यर्थः । लक्ष्मीस्वयम्वरकथातात्पर्यमाहुः–सर्वेष्टमित्यादि । तथा मतिरिति । प्रोक्तेति विपरिणामेनानुषङ्गो लक्ष्म्यास्तथा बुद्धौ हेतुं वक्तुं तत्स्वरूपमाहुः- ब्रह्मेत्यादि । तथा च ब्रह्मस्वरूपत्वात्तथा बुद्धिरित्यर्थः। भगवतो भोक्तृत्वे उपपत्तिमाहुः–भोक्तेत्यादि। अन्यो जीवो चस्त्वर्थः, दोषयोगादन्यथा अक्षरानन्दादपकृष्टः। तथा च 'अक्षरात्परतः पर' इति श्रुतेः । 'अक्षरादपि चोत्तम' इति वाक्याच्च तत उत्तम एव तद्भोक्तेति ज्ञापयितुं तत्स्वयम्वरकथेत्यर्थः । अमृतपदं मुख्यवृत्त्या ब्रह्मानन्दमेव वक्तीति ज्ञापनाय समुद्रोत्पन्नानां त्रिविधानां स्वरूपं वदन्तः समुद्रस्य दातृत्वे प्रयोजकमाहुः–आधिदैविकेत्यादि । अत्रोभयोः स्वरूपकथनेन धेन्वादीनामाधिभौतिकत्वं स्फुटीकृतम् । ननु देयोत्पत्तिरध्यायार्थ इति तत्पर्यन्तं यन्निरूपितं तत्तदुपोद्घाततया तत्सङ्गतमिति युक्तम्, हरणकथा तु तदसङ्गतेति सा कुत उच्यत इत्यत आहुः–हरणेत्यादि । स्वातन्त्र्यार्थमिति दातुः स्वातन्त्र्यार्थम् । गृहे भोजनपाकवदिति । स्वगृहे भोजनार्थं या पाकक्रिया तत्र परिवेष्टुर्यथा न दातृत्वं तद्व-

पितृतो हि यथोत्पत्तिस्तथा ज्ञापयितुं पुनः ॥६३॥
धन्वन्तरिस्वरूपेण घटहस्तो बभूव ह ।
मातृतस्तु यथोत्पत्तिस्तथा ज्ञापयितुं पुनः ॥६४॥
मायारूपेण भगवान् घटहस्तः पुनर्बभौ ।
एवं रूपद्वयेनेशोऽमृतमुत्पाद्य दुर्लभम् ॥३५॥
सत्पात्ररूपानखिलान् पाययामास गोपतिः ।
सर्वेणाऽपि कृतं दानं हरिणैव कृतं भवेत् ॥६६॥
इति दर्शयितुं कृष्णः स्वयं दाता बभूव ह ।
अपुत्रस्तु समुद्रो हि जामाता तु हरिः पुनः ॥६७॥
अतः श्वशुरकृत्यं हि स्वयं चक्रे तथाविधः ।
दैत्येभ्यो वारुणी दत्ता सा वृक्षाद्वेर्विनिर्गता ॥६८॥
अमृतस्येव धाराऽभूद्यथाणात्रं हि दीयते ।

दित्यर्थः । नन्वग्रे स्त्रीरूपेण दाने तेनैव रूपेणामृतं कुतो न समुद्रादानीतवानित्याकाङ्क्षायामाहुः- पितृत इत्यादित्रयम् । पुनरित्यनेन धन्वन्तरेरेव तथात्वं स्मारितम् । 'धान्वन्तरं द्वादशम'मित्यत्र प्रथमस्कन्धे तथा सिद्धत्वात् । गोपतिरिति स्वर्गपतिः । एवं सार्द्धदशभिः प्रथमाध्यायार्थो विचारितः ॥ ५९॥६०॥६१॥६२॥६३॥६४॥६५३॥

(अ० ९) अतः परं द्वितीयाध्यायार्थो विचारणीयः। स च दानकर्मात्मक इति तस्य येन केनापि सिद्धौ भगवत एव दातृत्वं कुत उच्यत इत्यपेक्षायामाहुः– सर्वेणेत्यादिद्वाभ्याम्। तथाविध इति पुत्रीरूपः। अस्मिन् कल्पे चन्द्रो न समुद्रपुत्र इति बोध्यम्। पातृषु प्रवेशेनामृतमयत्वाभावाच्च। तथा चैतज्ज्ञापनार्थं 'दाता दापयिता हरि'रिति शास्त्रार्थज्ञापनार्थं चोच्यत इत्यर्थः। नन्वेवं सति पुनर्वैषम्यापात इत्यत आहुः–दैत्येभ्य इत्यादि। तथा चात्रापि पात्रत्वस्य वासनाजन्यत्वात्तत्रापि न वैषम्यमित्यर्थः ॥६६॥६७॥६८॥

स्वर्भानुरेकस्तत्रत्यो ज्ञापनार्थं तु पायितः ॥६९॥
मारितोऽन्यानिवेशाय सूर्यचन्द्रौ हि कालगौ।
सूचयामासतुर्यस्मादतो ग्रहणभागिनौ ॥७०॥
मुख्यत्वज्ञापनार्थाय ग्रहणं तेन रूप्यते।
सुखरूपं फलं कृष्णात्सतामिति निरूपितम् ॥७१॥
अक्षयं त्वमृतं यस्मादतः पीतं पुनर्मुखात्।
उद्धृत्य स्वस्य भोगार्थं कर्तव्यमिति निश्चयात् ॥७२॥
मथने तु यथायत्ता आहवेऽपि तथा सुराः।

ननु यद्येवं तदा स्वर्भानुः कुतः पायितो मारितश्चेत्यत आहुः—**स्वर्भानु**रित्यादि, **अन्यानिवेशाये**ति पुनरन्यस्य पङ्क्तावनुप्रवेशनार्थम्। तथा चामृतगुणज्ञापनाय **पायितो**ऽन्येषामयोग्यानां प्रवेशाभावाय **मारित** इति नैतेनापि वैषम्यमित्यर्थः। सूचनग्रहणयोः प्रयोजकं वदन्तस्तत्कथनतात्पर्यमाहुः—**सूर्यचंद्रावि**त्यादि। तथा च 'योऽसौ तपन्नुदेती'त्यादिश्रुतेः सूर्यस्य कालचक्रगामित्वेन चायुर्ग्राहकत्वाच्चन्द्रस्यापि तथात्वेन तथात्वात्ताभ्यां सूचनादेव दैत्यवैरमुख्यत्वस्य सर्वथानपनोद्यस्य ज्ञापनाय च ग्रहणमुच्यते। तेन 'भगवानसतः कालेन प्रतिबध्नाति सतामेव **सुखरूपं फलं** ददातीति सूच्यत इति द्वितीयाध्याये आध्यात्मिकामृतदानप्रकारतः सिद्धम्। तेनाधिदैविकामृतदाने कः प्रकारः सिद्ध्यति तमाहुः—**अक्षय**मित्यादि। इदं क्षयिष्ण्वमृतमत्रैतावदेव तु पुनर्यन्मुख्यममृतं 'एतावदरे खल्वमृतत्व'मित्यादिश्रुतिसिद्धं तद्यस्मादक्षयमतस्तत्पीतं पुनः शुकादिवन्मुखादुद्धृत्य 'तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवाने'तस्य द्वितीयव्याख्यान उक्तया रीत्या **निश्चयात्**। ल्यब्लोपे पञ्चमी, निश्चयं कृत्वा स्वभोगार्थं कर्तव्यमिति गूढं निरूपितमित्यर्थः ॥६९॥७०॥७१॥७२॥ **एवं सार्द्धैः षड्भिर्द्वितीयाध्यायो विचारितः॥**

तृतीयाध्यायं विचारयन्ति-मथन इत्यादि। 'हरिः पुरस्ताज्जगृह' इति वाक्यान्मथने यथेन्द्रादयो देवायत्तास्तथा **आहवेऽपि** वयं पीतामृता इत्यहङ्कारेण सन्नद्धा जाताः। तदुक्तं 'पीतया सुधयैधिता' इति। न तु भगवदुपकार-

अमृतं तु कृतघ्नत्वशङ्कया नोपकारकृत् ॥७३॥
ततः स्वयं हरिर्गत्वा जघानासुरपुङ्गवान्।
ततः कृतघ्नताशङ्का निवृत्तेत्यमृतं पुनः ॥७४॥
स्वकार्यं कृतवद्येन स्वयं युयुधिरेऽमराः।
दानस्य फलमेतद्धि सर्वं स्वर्गादिकं यतः ॥७५॥
बलिस्तु हत एवाऽसीन्निवृत्ताश्च तथापराः।
वस्तुतः फलमेतावच्छङ्काभावाय रूप्यते ॥७६॥
महादेवस्य संमोहो ह्यन्यथा तं समाश्रिताः।
पुनर्दुःखप्रकर्त्तारो दैत्याः स्युः सर्वथाऽचिरात् ॥७७॥
तस्मिन्मन्वन्तरे जाते यदि दैत्याः पुनः सुरान्।

मनुसन्धितवन्तस्तदा अमृतं चिदानन्दरूपत्वाच्चेतनमिति तेषु कृतघ्नत्वं शङ्कितवत्। तया शङ्कया अजीर्यमाणं नोपकारकृज्जातम्। ततो देवानां जाते पराजयेऽहङ्कारनिवृत्त्या भगवन्तं ध्यातवन्तः। तदुक्तं—ध्यातः प्रादुरभूदिति। ततो भगवता दैत्यहनने कृते तदाऽहङ्कारनिवृत्त्यवगमेनामृतस्यापि सा आशङ्का **निवृत्तेति अमृतं पुनः स्वकार्यं कृतवद्येन** तेजितवन्त इति पुरःस्फूर्तिकम्। **तथा चैतया कथया विद्योपदेशकानां विचारयितॄणां स्वाहङ्कारे श्रीभागवतादिरूपा विद्याऽपि नोपकरोतीति सर्वथा प्रतिक्षणं भगवत्कृतमेवोपदेशकैर्विचारयितृभिश्चिन्तनीयमिति** सूच्यत इत्यर्थः। एवं **त्रिभिस्तृतीयाध्यायार्थं विचार्य विंशतिभी रूपप्रकरणार्थौ निर्णीतः**। अत्रापि देवोत्पत्तिः सात्त्विकी देवानां सुखरूपतया सात्त्विकत्वात्। दानकर्म राजसं कार्पण्यमिश्रणात्। **जीर्णता** हननान्ता तामसीति स्फुटमेव ॥७३॥७४॥७५॥

अतः परं तृतीयं फलप्रकरणं विचारयन्तोत्र तामसो राजसः सात्त्विक इत्येवं गुणक्रम इति बोधयितुमाहुः—**बलिरित्यादि**। **अपरा** इति तामस्यः क्रियाः। एतावदिति जीर्णताकार्यपूर्त्यन्तम्। एवं मुख्यामृतफलमपि कैवल्यान्तमितिप्रथमार्थः ॥७६॥ द्वितीयस्याहुः—**महादेवस्येति**द्वाभ्याम्। **अत्र** मोहनं राजसं मुख्यफलमपि विरुद्धशैवादिवादिनिराकरणपर्यन्तं **बोधनीयमिति**

बाधेरन्नामृतस्याऽस्य पानं स्याद् व्यर्थमेव हि ॥७८॥
मन्वन्तराणि सर्वाणि ततः प्रोक्तान्यनुक्रमात् ।
आवेशिनस्तु ते सर्वे देवा मन्वन्तरेषु हि ॥७९॥
षड्भिः सम्पद्यते धर्म इति सर्वकृतं पृथक् ।
निरूप्य हरिणा सर्वं सिद्ध्यतीति निरूप्यते ॥८०॥
एवं दशभिरध्यायैः सर्वदानं निरूपितम् ।

(अथ प्रकरणं तृतीयम् अ. १५-२३)

स्वोक्तनिर्वाहधर्मं तु नवभिः प्रोच्यते गुणैः ॥८१॥
कथञ्चित्सम्पदि प्रोक्तं नाऽन्यथा कार्यमापदि ।
अशक्यं सर्वथा नास्ति यदि चित्तं तथा भवेत् ॥८२॥
बलिरत्र तथा धर्मप्रवर्तक उदीर्यते ।

तेनोपाख्यानेन बोधितम् ॥७७॥७८॥ तृतीयस्याहुः-मन्वन्तराणीति । तेन मुख्यफलमावेशेन ब्रह्मभावान्तं बोधितम् । सात्त्विकत्वं तु सुखजनकत्वादेव स्फुटम् । एवं चतुर्भिस्तृतीयमवान्तरप्रकरणं विचारितम् । तेन सार्द्धाष्टचत्वारिंशद्भिर्गुणप्रकरणं सिद्धम् । गुणातीते त्वेक एवाध्याय(अ. १४)इति । तस्यार्थमाहुः-षड्भिरित्यादि । तथा च हरिणा सर्वसिद्धेरत्र निरूपणाद् गुणातीतत्वम् । ज्ञानं चानुयुगं ब्रूत' इत्यादिभिर्ज्ञानादिदानकथनाद्दानप्रकरणेऽन्तर्भाव इत्यर्थः ॥७९॥८०॥ उपसंहरन्ति-एवं दशभिरित्यादि । एवमेकपञ्चाशद्भिर्द्वितीयं महाप्रकरणं विचारितम् ।

(अ. १५-२३)अतः परं तृतीयं स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणं सार्द्धैः षोडशभिर्विचारयन्ति स्वोक्तेत्यादि ॥८१॥ ननूक्तप्रकरण इवात्रापि दानमेव प्रतिपाद्यत इत्येतत्कथने को विशेष इत्यत आहुः-कथञ्चिदित्यादि । पूर्वप्रकरणे सम्पदि दानं कथञ्चित्कर्तव्यमन्यथाऽशक्यत्वे आपदि न कार्यमितिप्रोक्तम् । अत्र तु यदि चित्तं तथा भवेद्दानानुकूलं भवेत् तदा अशक्यं नास्तीति विशेषं ज्ञापयितुं तथा धर्मप्रवर्तको बलिरीर्यत इत्येष विशेष इत्यर्थः ॥८२॥ नन्वेवं सत्यत्रापि दानप्रतिपादनादूनविंशत्यध्यायात्मकमेव प्रकरणं वक्तव्यं न प्रकरणभेद इति शङ्कायामर्थभेदं

दातुरेकेन दानस्य सामर्थ्यमिह रूप्यते ॥८३॥
याचनार्थं भगवतः प्रसङ्गस्त्रिभिरुच्यते ।
ततो याचनमेकेन दानं चान्येन रूप्यते ॥८४॥
अन्यथाकरणाद्बन्ध एकेन प्रतिपादितः ।
यथार्थकरणान्मुक्तो वरान् लेभे सुदुर्लभान् ॥८५॥
अभीप्सितार्थसिद्ध्यर्थं स्थापनं चाऽपरेण हि ।
एवं नवभिरध्यायैः फलसाधनसंयुतम् ॥८६॥
सत्यवाक्यं हि सद्धर्मरूपमत्र निरूपितम् ।
राजसो राजसैर्युक्तः कर्त्ता राजस उच्यते ॥८७॥
व्रतं तु तामसं प्रोक्तं सत्त्वयुक्तं द्वितीयके ।
प्रसादः सात्त्विकः प्रोक्तो रजोयुक्तस्तृतीयके ॥८८॥
अवतारस्तथा प्रोक्तस्तमसाच्छलभावतः ।

वक्तुं दानस्य साधनत्वेन प्रवेशान्न प्रकरणित्वमित्याशयेनाध्यायार्थानाहुः-दातुरित्यादिभिश्चतुर्भिः । फलेत्यादि । फलं भगवत्प्रसादः साधनं दानं तदुभयसंयुतं सत्यवाक्यं हि यतो हेतोः सद्धर्मरूपमत्र निरूपितम् । अतः प्रतिपाद्यभेदात्प्रकरणभेद इत्यर्थः । अस्यापि गुणैर्नवविधत्वमुक्तं परन्तु न पूर्ववदिति ज्ञापनाय प्रकारं विवृण्वन्ति-राजस इत्यादि । राजसैरिति भृगुभिर्दैत्ययूथपैश्च ॥८३॥८४॥ ८५॥८६॥८७॥ व्रतमिति पुंसवनव्रतम् । तस्य तामसत्वं मोहप्रयुक्त्या करणात्सात्त्विकत्वं सुखजनकत्वात् । एवं प्रसादस्य सात्त्विकत्वं सुखदत्वात्, राजसत्वं फलाकाङ्क्षाप्रयुक्तत्वात् । तथा प्रोक्त इति राजसः प्रोक्तः । तत्र हेतुः, छलभावत इति । ईश्वरभावं तिरोभाव्य याचकत्वप्रत्यायनेन छलभावत् । तमसेति मोहकत्वात्तमसा युक्त इत्यर्थः । याचनं राजसं प्रोक्तमिति । छलभावत इति पदमिहापि सम्बद्ध्यते । तथा च उनविंशेऽध्याये भगवता कृतं तत् छलभावेन कृतत्वाद्राजसमित्यर्थः । वचनमिति शुक्रवचनं तामसमित्यर्थः । एतस्य चरणस्याग्रेऽपि सम्बन्धः । तथा च विंशेऽध्याये उच्यमानं बलिवचनमाग्रहपूर्वकत्वात्तामसं ससत्-

याचनं राजसं प्रोक्तं वचनं तामसं मतम् ॥८९॥
सत्वेन रजसा युक्तं षडध्याया इमे मताः।
दानं तु सात्विकं प्रोक्तं प्रतिबन्धस्तु तामसः ॥९०॥
कीर्त्तिसाहससंयुक्तं सराजसमिहोच्यते।
अन्यथाकरणाद् दुःखं यथावत् करणात्सुखम् ॥९१॥
पूर्वार्धस्याऽपि संसद्भिरुपपत्तिफले त्रिधा।
विप्रकर्महरीणां हि प्रसादः करणं त्रिधा ॥९२॥
अज्ञानज्ञानदाने हि बन्धनं फलमेतयोः।
त्रिभिर्दानमिह प्रोक्तं मुख्यं दानं फले मतम् ॥९३॥

तत्त्वात्सत्वेन गुर्वज्ञानाद्रजसा च प्रयुक्तमित्यर्थः ॥८८॥८९॥ अध्यायान्तरेष्वपि गुणसाङ्कार्यत्वात्कुत्र क इत्यनिश्चयात्तन्निवृत्त्यर्थमाहुः–षडध्याया इम मता इति। सूक्ष्मविचारे ते य एवार्था मुख्यतया सम्मता इत्यर्थः। विंशे दानस्यैकविंशे बन्धनस्य चोक्तत्वात्तत्स्वरूपमाहुः–दानं त्वित्यादि। कीर्तिसाहसाभ्यां संयुक्तं दानमिहाध्याये प्रकरणे वा सराजसं सात्विकमुच्यते। तु पुनरेकविंशे प्रतिबन्धः प्रतिकूलतया वलिनिग्रहस्तामस इतियोजना। एवं गुणविभागं प्रदर्श्यावान्तर-प्रकणानि विभेक्तुमध्यायार्थानाहुः–अन्यथेत्यादि। अत्रैकैकचरणोक्तः। क्रमेणैक-विंशादित्रयस्यार्थः। तेनैवमुपपत्तिरध्यायार्थः। फलं तृतीयप्रकरणार्थः। प्रथमप्रकरणा-ध्यायार्थमाहुर्विप्रेत्यादि। विप्रा भृगवः कर्मादितिपयोव्रतं हरिर्भगवान् तेषां प्रसादः पञ्चदशादित्रयस्यार्थः। सद्धर्मप्रयोजकत्वात्त्रिधाकरणम्, तेन हेतुः प्रकरणा-र्थस्तद्विधाध्यायार्थः इत्यर्थः ॥९०॥९१॥९२॥

द्वितीयस्याहुः-अज्ञानेत्यादि। अज्ञानेन दानं 'यद्यद्बटो वाञ्छसी'ति सार्द्धश्लोकोक्तमष्टादशेर्थः। ज्ञानेन त्रिपदमिता भूर्देयेति ज्ञानेन दानमित्युक्तः 'सहसन्नाहे'त्यनेनोक्तमूनविंशेर्थः। हि निश्चयेन दानं 'एवं शप्तः स गुरुणे'ति श्लोकोक्तं विंशेर्थः। वस्तुतस्त्वध्यायद्वयेन ज्ञानदानमेवोच्यते इति द्वे एव दाने। एतयोर्द्विविधदानयोः फलं बन्धनं विंशे उच्यत इति सफलं दानं द्वितीयप्रकरणार्थ-स्तत्प्रकारादिरध्यायार्थ इत्यर्थः। नन्वत्र तृतीये फलस्यैव मुख्यत्वात्कथं त्रिभिर्दान-मित्यत आहुः-मुख्यमित्यादि। 'पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निज'मित्यनेनोक्तं

हेतुर्दानं फलं चेति त्रिभिस्त्रिभिरिहोच्यते।
विभज्य दानं पूर्वोक्तमसर्वस्वं च तत्पुनः ॥९४॥
एकस्मै सर्वदानं च ततः श्रेष्ठं तृतीयके।
अयमेव हि सद्धर्मो यथाऽयं बलिना कृतः ॥९५॥
निर्वाहस्तस्य हरिणा तेन भक्तेः पुरोदितः।
लक्ष्मीदानं यथा तत्तु मध्यमं परिकीर्त्तितम् ॥९६॥
शरणागतिरापत्सु ततोऽपि प्रथमं मतम्।
एवं सद्धर्मनिर्धारो हरये यदि सर्वदा ॥९७॥
सर्वथा शरणं गत्वा श्रेष्ठं तस्मै निवेद्य च।
तदीयेभ्यो यथाकामं दत्वा तस्येच्छया पुनः ॥९८॥
कृष्णस्यैव तु कृष्णाय दद्यात्स्वं स्वात्मना सह।
तृतीयस्यायमर्थस्तु यस्मै कस्मै यदा हरिः ॥९९॥

मुख्यमात्मनिवेदनरूपं फले फलप्रकरणे मतमतस्त्रिभिस्त्रिधेत्यर्थः ॥९३॥ सिद्धमाहुः–हेतुरित्यादि। प्रकरणक्रमतात्पर्यं वक्तुं प्रकरणद्वयोक्तयोर्दानयोस्तारतम्यमाहुः–विभज्येत्यादि ॥९४॥ द्वितीयस्य मुख्यत्वेऽन्यदपि हेतुद्वयमाहुः-अयमित्यादि ॥९५॥ तथा च भगवन्निर्वाहितत्वेन भक्तिजनकत्वेन चायं मुख्य इत्यर्थः। अन्ययोस्तारतम्ये हेतुमाहुः– लक्ष्मीत्यादि। तथा च प्रथमस्य स्वार्थत्वाद् द्वितीयस्य परार्थत्वेन तत उत्कर्षः। द्वितीये च दाता समुद्रो भगवांस्तु प्रतिनिधिरिति प्रागेवोक्तम्। तृतीयसन्दर्भतात्पर्यमाहुः–एवमित्यादि। एवं सार्द्धैः षोडशभिस्तृ-तीयं प्रकरणं विचारितम् ॥९६॥९७॥

अतः परं सार्द्धैः सप्तभिस्तुरीयं वक्तृप्रकरणं विचारयन्ति–तत्र तुरीयस्य वक्तृप्रकरणत्वाद्वक्तरि च ज्ञानस्यैव प्रयोजकत्वात्तत्र तद्बोधयितुं प्रकरणत्र-यार्थमनुवदन्ति–सर्वथेत्यादि। अत्राद्यचरण आद्यप्रकरणार्थस्ततश्चरणत्रयेण द्विती-यार्थः। अग्रिमे त्रिभिः पादैस्तृतीयस्य। ततः पादोनाभ्यां त्रिभिर्यत्सिद्धं निष्कृष्टमनूद्यते। तज्ज्ञातृत्वे मत्स्यावतार आहुः–एतदित्यादि। तेन मत्स्यपुराण-स्यैतच्छेषत्वं बोधितम्। ज्ञाने गमकमाहुः–सप्तमस्येत्यादि। अत्रैतत्स्कन्धे प्रकरण

आत्मानं वा विभजेत्तत्तथाऽस्त्विति।
अभिमानं परित्यज्य तत्तथेत्यनुमोदयेत् ॥१००॥
शत्रुभ्यः स्वस्य यद्दानं तदा सह्यं हि सर्वथा।
एतन्नयं हरिर्मत्स्यः स्वयं वेद न चापरः ॥१०१॥
सप्तमस्य मनोरर्थे यतोऽयं स्वयमागतः।
अस्मिन्मन्वन्तरे येन सद्धर्माद्वासनां दहेत् ॥१०२॥
नान्यथेति प्रसिद्ध्यर्थमत्र मत्स्यनिरूपणम्।
मत्स्यादन्यो धर्मसूक्ष्मं न वेदेति विनिश्चयः ॥१०३॥
वेदोद्धारो यतस्तेन कृतो नान्येन केनचित्।
एवं गुरूक्तमार्गेण सद्धर्मं यः समाचरेत् ॥१०४॥
दुर्वासनाः समस्ता हि दहेदिति विनिश्चयः ॥१०५॥

इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते श्रीभागवततत्त्वदीपनिबन्धे
अष्टमस्कन्धविवरणे दशमं प्रकरणम्।

त्रयोत्तरं मत्स्यावतारप्रसङ्गोक्तिप्रयोजनमाहुः- अस्मिन्नित्यादि। ननु धर्मवक्तृत्वं कूर्मवराहावतारयोरप्यस्तीति को विशेषो मत्स्यावतार इत्यत आहुः-मत्स्यादित्यादि। एवं सर्वं स्कन्धार्थं निरूप्य स्वानुपदिशन्ति-एवमित्यादि। एवं चात्र स्कन्धत्रये प्रथमेनानुगृहीततया स्थितिर्द्वितीयेन तत्तद्वासनावत्तया स्थितिस्तृतीयेन निःशेषदुष्टवासनारहिततया स्थितिरिति त्रिविधस्थित्यर्थं त्रिविधलीलाबोधनात्, 'येन जातानि जीवन्ती'ति श्रुतौ त्रिविधं जीवनमभिप्रेतमिति बोधितम्, सर्ववेदेतिहाससारसारच्छ्रीभागवतस्येति ॥९८॥९९॥१००॥१०१॥१०२॥१०३॥१०४॥१०५॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणैः पुरुषोत्तमस्य
दर्शिता अष्टमस्कन्धनिबन्ध-
योजना सम्पूर्णा ॥

॥ अष्टमस्कन्धः समाप्तः ॥

श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीभागवतार्थप्रकरणे

नवमस्कन्धविवरणम्।

चतुर्विंशतिभिः प्रोक्तः सद्धर्मो वासनाक्षये।
तथा चेत्क्रियमाणस्य कृष्णे चेद्वासना शुभा ॥१॥
जीवस्वभावतो जाता तदा भक्तिर्न चेतरत्।
चतुर्विंशतिभिः प्रोक्ता नवमे भक्तिरुत्तमा ॥२॥

श्रीबालकृष्णाय नमः।

अथ नवमस्कन्धनिबन्धस्य योजना।

अथ नवमस्कन्धार्थं निबध्नन्तोऽत्र कार्यकारणभावरूपा पूर्वेण सङ्गतिरिति बोधनाय सार्द्धेन पूर्वस्कन्धार्थमनुवदन्ति–चतुर्विंशतिभिः प्रोक्त इत्यादि। प्रोक्त इति दुर्वासनाक्षयार्थमुक्तः। 'स सर्वथा शरणं गत्वे'त्यादिनोक्तरीत्या चेत् क्रियते तदा चेद्भगवत्कृपाधिक्यमत्रानुग्रहस्य सहकारित्वात्। तदा भगवद्विषयिणी शुभा वासना भवति 'कृष्ण एवास्मत्प्रभुरि'ति, सापि चेद् 'वैष्णवत्वं हि सहजमि'ति, पुष्टिप्रवाहमर्यादोक्तरीत्या जीवस्वभावं प्राप्य जाता तदा भक्तिर्भवति। बीजस्वभाव इति पाठेऽप्ययमेवार्थः। जीवभावस्य बीजत्वादिति न चेतरत्। च पुनः, इतरल्लौकिकं मुक्तिर्वा न, यदि न कृपाधिक्यं तदा सामान्यकृपया मोक्षपर्यन्तं भवतीत्यर्थः। एतज्ज्ञापनार्थैव द्वितीयं चेत्पदकथनम् ॥१॥ एवमत्र कार्यकारणभावरूपा सङ्गतिर्बोधिता।

अथ प्रस्तुतस्कन्धार्थं वदन्तः सामान्यलक्षणाद्विशेषबोधनपूर्वकमाहुः–चतुरित्यादि। 'वंश्यानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये' इति द्वादशे (अ. ७) महापुराणानां

ईशस्याऽनुकथारूपा यया स्यात्पुरुषो हरेः ।
सर्वप्रकृतिभावेन यदि कृष्णं स सेवते ॥३॥
लौकिकेन समस्तेन तल्लीलामनुसृत्य हि ।
तदा लौकिकभावेषु कृष्णस्याऽनुप्रवेशतः ॥४॥
न निबन्धो मानसः स्यादितीशानुकथाऽधिका ।
चतुर्विंशतिभिः प्रोक्ता सद्धर्माच्च विशिष्यते ॥५॥

सप्तमं लक्षणम् । द्वितीयस्कन्धे तु 'अवतारानुचरितं हरेरस्यानुवर्तिनाम् । पुंसामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिता' इतीशानुकथारूपं लक्षणं लक्षितम् । तदर्थस्तु ईशस्य हरेरिति विशेषणाद्दुःखदूरीकरणं सुखप्रापणं चाभिप्रेतम् । तत्र दुःखस्य नवधागुणभेदजत्वात्तन्निवारणे यदनुवर्त्तिनो गुणैर्नवविधाः, ज्ञानेनैकविधाः । चरित्रं ज्ञानकर्मभक्तिभिस्त्रिधा । एवं दुःखनिवारणे त्रयोदश । सुखप्रापणे दशेन्द्रियसुखदत्वादनुवर्त्तिनो दशधा एकश्च भगवानित्येकादशेति चतुर्विंशतिधेति । तथा सत्यस्य वंश्यवंशधरवृत्तत्वेऽपि तद्वंशावतीर्णहरिवृत्तत्वं तदनुवर्त्तिवृत्तत्वं च विशेषः, स चोक्तलक्षणकोत्तमभक्तिरूप इत्यर्थः ॥२॥

एवं चात्तत्रोमपदेन वंश्यानुचरितविशेषत्वसूचनाद् द्वितीयस्कन्धोक्तलक्षणेऽतिव्याप्तिदोषोऽपि परिहृतः । कपिलादिमत्स्यान्तचरित्रेष्ववतारानुचरितत्वेऽपि राजवंश्यवृत्तत्वरूपविशेषणाभावात् पृथुप्रह्लादप्रियव्रतादिचरित्रेषु विवक्षितभक्तिरूपत्वाभावाच्चेति । तदेतन्मनसिकृत्य भक्तिप्रकारं विवृण्वन्त ईशानुकथाया आधिक्यमाहुः— सर्वेत्यादि सपादाभ्यां द्वाभ्याम् । स जीवो यदि तल्लीलामनुसृत्यास्मत्प्रभुणैवं कृतमतस्तदनुवर्त्तिभिः सेवकैरस्माभिरपि तथैव कर्त्तव्यमित्यनुसन्धाय हि निश्चयपूर्वकं लौकिके पशुपुत्रादिना समस्तेन सहितः सर्वप्रकृतिभावेन सर्वोपादानकारणत्वेन कृष्णं सेवते तदोक्तरीत्या मानसो निर्बन्धो बलात्प्रवर्त्तनरूपो न स्यादिति हेतोरीशानुकथा रूपा भक्तिः पूर्वोक्तानां चरित्रेभ्यः पूर्वोक्तलक्षणेभ्यश्चाधिका । तथा च तेभ्यो भेदस्यात्र स्फुटत्वान्नैतल्लक्षणेऽतिव्याप्तिग्रास इत्यर्थः । ननु निर्बन्धाभावो बलिकृते सद्धर्मेऽप्यस्तीति तत्रातिव्याप्तिर्दुर्वारेत्यत आहुः-सद्धर्मादित्यादि ।

ईशानुसारिणी यस्माज्जन्माद्यध्यखिलाक्रिया ।
हरिः स्वयं तानादाय स्वकीयान् कर्त्तुमत्र हि ॥६॥
ज्ञानाज्ञानविभेदेन तज्ज्ञापयितुमत्र ह ।
अवतीर्णः सूर्यसोमवंशयोरुभयोस्तथा ॥७॥
द्वादशात्मा पूर्णगुणः पुराणः पुरुषो यतः ।
अतो द्वादशभिः प्रोक्तो वंशः पूर्वस्तथापरः ॥८॥
चन्द्रवंशकथां प्राह जघन्यत्वनिवृत्तये ।
जीवरूपेण सूर्यस्य ततो वंशनिरूपणम् ॥९॥
अतोऽध्यायाः समाः प्रोक्ता उभयोर्द्वादशैव हि ।
भक्तिर्नानाविधा त्वत्र कृष्णलीलानुसारतः ॥१०॥

विभेदेनेत्यन्तेन सार्द्धेन । हि यतो हेतोरत्रास्यां लीलायां तान् जीवान् स्वकीयान् कर्त्तुमादाय तिष्ठति न तु ऋषभादिवज्जहातीति सा तथा । तथा च सद्धर्मे जन्मारभ्याखिलक्रियायां भगवदनुसारित्वाभावान्न तत्राप्यतिव्याप्तिरित्यर्थः ॥३॥४॥५॥६॥ एतदेव स्फुटीकुर्वन्ति—तज्ज्ञापयितुमित्यादि । हेति प्रसिद्धौ । अत्रास्यां लीलायां तत्स्वीकरणं ज्ञापयितुमुभयोः सोमसूर्यवंशयोस्तथा उद्धारकत्वेनावतीर्णः । तथा च 'य उत्तराननयत्कोसलान् दिवमि'ति । यत एतद्विमुच्यत इतिवाक्यात्सर्वोद्धारकमवतारचरित्रं नेतरत्रेति न कुत्राप्यतिव्याप्तिरित्यर्थः ॥७॥८॥ एवमत्र सप्तभिः स्कन्धार्थो निर्णीतः ।

अतः प्रकरणार्थं विचारयन्ति—द्वादशात्मेति । ननु द्वादशस्वध्यायेषु भगवन्निरूपणं न स्फुटमिति भगवतो द्वादशात्मत्वं न प्रकरणाध्यायसङ्ख्यानियामकमित्याशङ्क्याहुः—चन्द्रेत्यादि तथा च वंशबीजभूतस्य सूर्यस्य द्वादशात्मत्वात्तद्वंशनिरूपणे द्वादशसङ्ख्या आवश्यकी । ततो जघन्यत्वनिवृत्त्यर्थं सा सङ्ख्या चन्द्रवंशेऽप्यावश्यकीत्यतस्तथेत्यर्थः । नन्वत्र वंशचरित्रे भगवदवतारचरित्रे च वक्तव्ये भक्तिर्मध्ये कुत उच्यत इत्याकाङ्क्षायां सार्द्धेन तदाव[illegible]बोधनायाहुः- भक्तिरित्यादि । अत्रेति नवमस्कन्धे । तुरितरव्यवच्छेदार्थः । सर्वेषामिति सिद्ध्यतीति शेषः । तथा च त्रिष्ववस्थाभेदेन द्विविधफलार्थं मध्ये व्यापारत्वेन भक्तिः स्नेहरूपा आवश्य-

सर्वेषां तु फलं मोक्षो जीवतां हरिणा सह ।
लीलया परमं सौख्यं ततो भक्तिरिहोच्यते ॥११॥
यदा तु भगवान् साक्षादवतीर्णो रमापतिः ।
प्रमेयबलमासाद्य तदा मुक्ता भवन्ति हि ॥१२॥
अग्रे तत्कीर्त्तिसङ्कीर्त्या ततः पूर्वं तु ये नृपाः ।
मर्यादापुष्टिभेदेन वंशजाः सूर्यसोमयोः ॥१३॥
तत्र सूर्यप्रसूता हि गुणैर्नवविधा मताः ।
यथा यथा शुद्धभक्तास्तथा दोषवियोगतः ॥१४॥
महानुभावा जायन्ते इति तेषां कथोच्यते ।
मोक्षे तुल्येऽपि सर्वेषामनुभावोऽधिकः स्मृतः ॥१५॥

कीत्यत उच्यत इत्यर्थः ॥९॥१०॥ नन्वीशानुकथा द्विविधा, अवतारचरितरूपा तदनुवर्तिचरितरूपा च । तत्र द्विविधायाः कथमेको व्यापारः ? किञ्चात्रमुक्त्यधिकारिणः कालत्रयस्था उच्यन्त इत्यनवतारकालीनानां कथं व्यापारसम्पत्तिरित्यत आहुः- **यदेत्यादिद्वयम्** । **तत्कीर्त्तिसङ्कीर्त्येति** । भगवद्गुणानां भगवदीयगुणानां च कीर्त्तनेन । **मर्यादापुष्टिभेदेनेति** । सूर्यवंशे मर्यादया सोमवंशे पुष्ट्येत्यर्थः । भक्ता भवन्तीतियोजना । तथा च सहकार्यन्तरप्रवेशात्सर्वोपपत्तिरित्यर्थः । एवं च 'यतो वे'ति श्रुतौ 'यत्प्रयत्यभिसंविशन्ती'ति प्रलयद्वैविध्यं यच्छ्रावितं तन्मोक्षसौख्याभ्यां समर्थितं ज्ञेयम्, 'न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते । विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिण' इति पाद्मवाक्यात् ॥११॥१२॥१३॥ नन्ववतारचरित्रेणैव भक्त्युत्पत्तेर्मोक्षाद्यात्मककार्यसिद्धौ किं तदनुवर्त्तिकथयेत्यत आहुः- **तत्रेत्यादिद्वयम्** । तथा चावतारपूर्वकालेऽपि जातानां या मर्यादया पुष्ट्या वा जाता भक्तिः सापि सानुभावेति तेषामपि कीर्त्तिश्रवणेन भक्त्युत्पत्त्याऽन्यस्य कार्यं सेत्स्यति भक्तिश्च दृढा भविष्यतीत्येतदर्थं तदुक्तिरित्यर्थः ॥१४॥१५॥ एवं **प्रकरणार्थोऽष्टभिर्निर्णीतः** ।

तत्रसूर्यवंशप्रकरणं सार्द्धचतुर्नवतिभिर्वक्तव्यम् । तस्मिन् पूर्वं नवाध्याय्या

वैराग्यज्ञानसहिता आद्याः शास्त्रोत्तमा मताः ।
द्वितीया वेदनिष्ठेभ्योऽप्यधिका लोकतोऽपि च ॥१६॥
लोकोद्धारप्रयत्नास्तु तृतीयाः सर्वमोचकाः ।
सुद्युम्नकविशर्यातिप्रमुखाः प्रथमा मताः ॥१७॥
नाभागश्चाम्बरीषश्च शशादाद्याश्च मध्यमाः ।
हरिश्चन्द्रश्च सगरो भगीरथमुखाः परे ॥१८॥
स्त्रीपुम्भावं गतस्त्वाद्यः सर्वकामनिवृत्तये ।
ब्रह्मणा स्त्रीत्वमापन्नो विष्णुना पुरुषोऽभवत् ॥१९॥
उभयं तु महादेवाद्विरक्तोऽभूत्रिभिस्तथा ।
वंशद्वयस्य जनको मूलभूतस्तनुर्हरेः ॥२०॥

कर्मणा दुःखदूरीकर्तॄणामीशानुवर्त्तिनां कथा, ततो द्वाभ्यामीशकथा । ततो द्वाभ्यां ज्ञाननिष्ठेशानुवर्तिकथेति तासु पूर्वमूनषष्ठिभिर्नवाध्यायीं विचारयन्तोऽनुवर्तिनां नवविधत्वं साधयितुं पूर्वं त्रैविध्यमाहु स्त्रिभिः- **वैराग्येत्यादिभिः** । **शास्त्रोत्तमा** इति शास्त्ररीत्योत्तमाः शास्त्रोत्तमत्वमग्रेऽप्यनुवर्तते । सविशेषश्चाधिक इत्यनुभावाधिक्यादाधिक्यम् । एकैकस्यां विधायां त्रिविधान् गणयन्ति- **सुद्युम्नेत्यादिसार्द्धेन** । तथा चैवमुदाहृतास्तथेत्यर्थः ॥१६॥१७॥१८॥ **एवमाद्येऽवान्तरप्रकरणार्थो निर्णीतः**।

(अ. १) **अतः परं मोक्षात्मकं फलं पुष्ट्या वदन्तः प्रथमाध्यायार्थमाहुः- स्त्रीत्यादिसार्द्धाभ्याम्** । अत्र ब्रह्मणेत्यादिना पूर्वं मर्यादांश उक्तः, अग्रे पुष्ट्यंशः । अत्र कार्यं ब्रह्मादिभिरित्यपि सूचितम् । वंशद्वयस्य जनक इत्यनेनायमध्यायो मुख्यतः सोमवंश एव सम्बन्धं प्राप्स्यते, एतदीयसूर्यवंशस्यातिप्रसिद्ध्यभावात् पुरूरवस एवातिप्रसिद्धत्वादिति । मूले द्वितीयसुबोधिन्यां च यदेकादशविधत्वं सोमवंशस्य त्रयोदशविधत्वं सूर्यवंशस्योक्तं यच्चात्रोभयोर्द्वादशाध्याया इत्युक्तं **तदुभयमपि समर्थितम्**, उपक्रमविचारेण पूर्वानुपसंहारविचारेणेतरेति । अत्रोपसंहारस्याऽप्यसञ्जातविरोधत्वाच्चोपक्रमेण बाध इति साम्यात्सर्वमेवात्र सुस्थम् । 'तनुर्हरेरि'त्यनेन जीवद्दशायामेकस्यैव मातापितृभावादन्ते सायुज्याच्च तथात्वमिति बोधितम् । **एवमग्रेऽपि** फलं बोध्यम् । अस्य तामसकक्षानिवेशः प्रमादबाहुल्याद्बोध्यः ॥२०॥ **एवं सार्द्धाभ्यां प्रथमाध्यायो विचारितः** ।

नानाभावत्वमापन्नस्तेनाऽऽद्यः स उदीर्यते ।
पृषध्रश्च कविश्चैव करूषो धृष्ट एव च ॥२१॥
नृगश्चैव नरिष्यन्तो दिष्टाद्याश्च ततः परे ।
मरुत्तः सप्तमः प्रोक्तो भगवान् सप्तरूपधृक् ॥२२॥
कर्मणा शापतो हीनो ज्ञानात्मा मुक्तिमेयिवान् ।
कविर्वैराग्यरूपस्तु करूषः कीर्तिरूपधृक् ॥२३॥
धृष्टो वीर्यस्वरूपस्तु ब्राह्मणा अभवन् यतः ।
नृगः श्रीः स्त्रीकथा चान्ते नरिष्यन्तस्तथेश्वरः ॥२४॥
मरुत्तस्तु हरिर्धर्मास्तस्मादेते तु राजसाः ।
शर्यातिः सात्विकः प्रोक्तः स्वतो धर्मप्रवर्त्तकः ॥२५॥
यज्ञप्रवर्त्तकानां च सर्वकामप्रपूरकः ।
ब्रह्माद्यनुग्रहयुतो भगवद्भावसंयुतः ॥२६॥
वेदवद्यज्ञकर्त्ता च त्रिविधाः प्रथमा मताः ।

(अ. २) द्वितीयं विचारयन्ति–पृषध्र इत्यादि । अत्र करूषस्य कीर्तिरूपत्वं तत्कुलीनानां 'ब्रह्मण्या धर्मवत्सला' इति विशेषणाज्ज्ञेयम् । स्त्रीकथेति ओघवतीकथा । चकारेण दानानुमितश्रीबाहुल्यं सङ्गृहीतं ज्ञेयम् । नरिष्यन्तस्यैश्वर्यरूपत्वं तत्कुलेऽग्निप्राकट्यात् । मरुत्तोदिष्टवंशे चक्रवर्तीति धर्मिरूपः । एतेषां राजसत्वं क्रियापरत्वात् । लोके तथा भक्तिप्रसिद्ध्यभावाच्च । एतेषां मर्यादयाऽनुग्रहः पुष्टिकार्यविशेषाभावान्मुक्तिश्चारम्भे पृषध्रकव्योर्मुक्तिकथनाद्बोध्या । एवं द्वितीयो विचारितः ॥२१॥२२॥२३॥२४॥

(अ. ३) तृतीयं विचारयन्ति–शर्यातिरित्यादिद्वाभ्याम् । भगवद्भावसंयुत इति । अन्यथा तत्कुले भगवतो बलदेवस्य विवाहो न स्यादिति । वेदवद्यज्ञकर्तेति । लुप्तस्याश्विनग्रहस्य प्रवर्त्तने प्रयोजकत्वाज्ज्ञेयम् । एवं तृतीयो विचारितः, प्रथमकक्षा च पूर्णा सार्द्धाष्टभिर्विचारिता ।

भक्तिश्चेत्स्वानुभावं हि न प्रकाशयते यदा ॥२७॥
तदा धर्मत्वमापन्ना न भक्तित्वं प्रपद्यते ।
देवप्रसादयुक्तत्वं देवत्वं देवपोषणम् ॥२८॥
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं तत्रनादेवं निरूपितम् ।
मन्त्रद्रष्टा शम्भुसमस्तस्याऽपि परितोषकृत् ॥२९॥
मध्यमे प्रथमः प्रोक्तो द्वितीयो भगवत्समः ।
अक्षरादुत्तमः कृष्णः स एवाक्षरवीर्यनुत् ॥३०॥
स एव ब्रह्मशापस्य निराकर्त्ता न चापरः ।
कालात्मा सेवितस्तेन व्रतेन न ततः परः ॥३१॥
अतो व्रतेन सेवार्थं तथा चक्रे हरिः परः ।
अशनाभाव एवैको विष्णुव्रतमुदीर्यते ॥३२॥
एकादशी ततः पुण्या व्रतानामुत्तमोत्तमा ।
उभयात्मकमब्भक्षस्तेनासौ मध्यमो मतः ॥३३॥

(अ० ४) द्वितीयां कक्षां सार्द्धद्वाविंशतिभिर्विचारयन्ति–तत्र प्रथमेऽध्याये नाभागाम्बरीषौ । द्वितीयेऽम्बरीषः । तृतीये तद्वंश इक्ष्वाकुवंशो मान्धातृतः सौभरिश्चोक्तः । तेषां मध्यमकक्षत्वं तत्रापि त्रैविध्यं तद्धेतुं च द्वाभ्यां स्फुटीकुर्वन्ति–भक्तिरित्यादि । स्वानुभावमिति । भविष्यसर्वजनमोचनरूपं स्वानुभवम्, तथा च भक्तेर्धर्मरूपत्वान्मध्यमत्वम्, देवेत्यादिनोक्तरूपत्वाच्च त्रैविध्यमित्यर्थः ॥२५॥२६॥ ॥२७॥२८॥ त्रैविध्यं विवृण्वन्ति–मन्त्रेत्यादिभिः । प्रोक्त इति नाभागः प्रोक्तः । अयमेव तैत्तिरीयादिश्रुतौ नाभानेदिष्टनाम्ना व्यपदिश्यते । द्वितीय इति अम्बरीषः । तस्य देवत्वं व्युत्पादयन्ति–भगवत्सम इत्यादि । तर्हि मध्यमत्वं कुत इत्यत आहुः- कालात्मेत्यादिसार्द्धाभ्याम् । कालातीत ईश्वररूपः । तथा चक्र इति कालात्मकं सुदर्शनं रक्षकं चक्रे । उभयात्मकमिति । 'आपो वा अशितमनशितं चे'ति श्रुतेरशनानशनात्मकम् । तेनेति उभयकरणेन ॥२९॥३३॥ मध्यमत्वेऽ-

ब्रह्मशापः कायिकस्तु तस्मात्प्रतिहतोऽभवत् ।
तेषां वाचनिको मुख्यो यो न प्रतिहतः क्वचित् ॥३४॥
ईश्वराज्ञावशात्ते तु वाचिकं हि प्रयुञ्जते ।
सर्पेण मारणं लोके न तथा व्यथते क्वचित् ॥३५॥
यथा दंशस्तथा विप्रा एकोऽपि यदि सम्मतः ।
न समर्थस्तथा वाचि ब्राह्मणोऽन्यः कथञ्चन ॥३६॥
मानसो दोषभावस्तु ब्राह्मणे न भवेत्क्वचित् ।
ब्राह्मणत्वं तदा न स्वाज्जगन्मित्रं यतः स्मृतः ॥३७॥
वागेका सर्वविप्राणां काय एव विभिद्यते ।
बहूनां सम्मतिर्मुख्या तत्राऽपीति विनिश्चयः ॥३८॥
शिवस्य त्रीणि रूपाणि दुर्वासास्त्वाधिभौतिकः ।
चक्रमाध्यात्मिकं प्रोक्तमधिदैवस्तु तद्वशे ॥३९॥
ब्राह्मणोक्तस्य करणान्न ब्रह्मामोचयन्मुनिम् ।
ब्रह्मण्योऽपि हरिस्तस्य व्रतार्थं न व्यमोचयत् ॥४०॥

वशनात्पाक्षिकदोषस्यापि सम्भवात्कथं शापप्रतिघात इत्यत आहुः-**ब्रह्मशाप** इत्यादि सार्द्धचतुष्टयम् । कथञ्चनेति न समर्थ इत्यनुषङ्गः । अन्यासामर्थ्ये हेतुः **मानस** इत्यादि । एकेति भगवदाज्ञारूपा । तथा च शापस्य जटोत्कृतिजन्यत्वेन कायिकत्वात् । तस्य च भगवदनाज्ञप्तत्वेन निर्बलत्वात् । तेषां मानसदोषाभावाच्च प्रतिघात इत्यर्थः । ननु तथापि पाक्षिकदोषः कुतो नाभूदित्यत आहुः-**बहूनामित्यादि** । तथा चानेनेत्यर्थः ॥३४॥३५॥३६॥३७॥३८॥ ननु तथापि दुर्वासाः शङ्करावतार इति चक्रेण कथं तस्योपद्रव इत्यत आहुः-**शिवस्येत्यादि** । तद्वश इति भगवद्वशे । तथा च न्यूनत्वात्सापराधत्वाच्चोपद्रव इत्यर्थः । त्रिभिर्दैवैररक्षणे हेतुमाहुर्ब्राह्मणोक्तेत्यादि । तस्य व्रतार्थमिति अम्बरीषस्याब्भक्षणव्रतनिवृत्तये । (अब्भक्षणव्रतस्य ब्राह्मणक्लेशदायकत्वात्) । अर्थशब्दो निवृत्तौ ॥३९॥४०॥

सेवायास्तु प्रशंसा तु मुनेर्गर्वापनुत्तये ।
अन्यथा मोचने तस्य भक्तानां का क्षतिर्भवेत् ॥४१॥
वैषम्यं चेद्भगवति न शुद्धाः स्युस्तदा तथा ।
परीक्षार्थं च भक्तानां गर्वे न स्यात्तथा भजिः ॥४२॥
त्रिलोक्यां ब्राह्मणाः श्रेष्ठा भक्तानां न प्रयोजकाः ।
ब्रह्मभावात्तु भक्तिर्हि विशिष्टेत्यत्र निर्णयः ॥४३॥
सुदर्शनपुरस्कारः काल एव तथा भवेत् ।
भक्तौ न भगवान् मृग्यः सेवकश्च भवेद् ध्रुवम् ॥४४॥
सुदर्शनेन तु कृतः सेवाधर्मो न चान्यथा ।

ननु सेवाप्रशंसनं कुत इत्यत आहुः-**सेवाया** इत्यादि पूर्वस्तुः पुनरर्थः । द्वितीयः कैमर्थ्यशङ्कानिवृत्त्यर्थः । ब्रह्मवैवर्त्ते दुर्वाससः श्वसुरेण गालवेन तव गर्वध्वंसो भविष्यतीति दुर्वाससः शप्तत्वात् । ननु भगवद्वाक्येषु भक्तानामुपरि कृपैव प्रतीयत इत्येतदंशे वैषम्यमेव कुतो नाद्रियत इत्यत आहुः-**वैषम्यमित्यादि** । तदा विषमस्वामिभक्तत्वे भक्ताः शुद्धा न स्युः । तथा च तेषु तदभावाद्भगवति न तदित्यर्थः । अमोचने हेत्वन्तरं समुच्चिन्वन्ति-**तथेत्यादि** । किं परीक्षणीयमित्यत आहुः-**गर्वे** इत्यादि । न प्रयोजका इति न श्रैष्ठ्यप्रयोजकाः । स्वोत्कर्षाभिमानेन भक्तश्रैष्ठ्यासहिष्णव इत्यर्थः । **ब्रह्मभावादिति** ब्राह्मण्यात् । **अत्र निर्णयः** । तथा चैकं भगवतः कार्यमिति न्यायादेतत्सर्वबोधनायामोचनं सेवाप्रशंसा चेत्यर्थः ॥४१॥४२॥४३॥४४ एवं प्रथमाध्यायार्थ उक्तः ।

(अ०५) **द्वितीयस्याहुः**- **सुदर्शनेत्यादि** । सुदर्शनस्य यः पुरस्कारः । स सुदर्शनस्य ‘यदा विसृष्टस्त्वमनञ्जनेने’तिवाक्येन भगवच्चेष्टाधीनत्वाद्भगवच्चेष्टात्मके काल एव तथा भवेत् पर्यवसितो भवेत् । भक्तौ स्वानुभावानुभावनेन प्रत्यक्षफलत्वात्क्वचित्प्रत्यक्षत्वाच्च न मृग्यः, च पुनः सेवक एव ध्रुवं मृग्यः । तु पुनः सुदर्शनेन यत्कृत्यादाहादिकं कृतं स सेवारूपः स्वस्य धर्मः कृतः । न चान्यथा न त्वम्बरीषपक्षपातेन । ‘प्राग्दिष्टं भृत्यरक्षाया’मिति वाक्यात् । यतस्तद्दर्वकरणं भक्तौ बाधकमतो स्वस्य भक्तिगर्वप्रणाशबोधनाय सुदर्शनस्तोत्रम् । तथा चैतच्चतुष्टयबोधनाय द्वितीयाध्याय इत्यर्थः । (भगवतोऽमृग्यत्वं सेवकस्यैव मृग्यत्वं सुदर्शने सेवाधर्म-

स्तोत्रं गर्वप्रणाशाय भक्तौ तद्बाधकं यतः ॥४५॥
मतान्तरकथा त्वत्र वाक्शाप इति केचन ।
तदा निरोधलीलायां प्रवेश इति निश्चयः ॥४६॥
वरदानं वाचनिकं भगवत्कार्यमेव तत् ।
शशादस्य कथा त्वत्र निरपेक्षत्वबोधने ॥४७॥
हरेर्निवेदनं चात्र तेन राज्ये व्यवस्थितिः ।
भक्तिश्च कर्मतः श्रेष्ठा यथा ब्राह्मणभावतः ॥४८॥

एव न तु वैषम्यमम्बरीषे ब्राह्मणभक्तिर्गर्वाभायेतिचतुष्टयमित्यर्थः) सेवाप्रशंसाया गर्वापनोदार्थत्वे स्वार्थे तात्पर्यराहित्याद्गौणी वक्तव्या, सा त्वनुपपन्ना, गौणीहेतूनां तत्सिद्ध्यादीनामत्राशक्यवचनत्वात् । तथा सति स्वार्थे तात्पर्यं तस्याः सिद्धम् । वैषम्यपरिहारस्तु दुर्वासोवासनाकृतोपेक्षया आत्मसृष्ट्या वा उपपत्स्यते । अतोऽनया भक्तोपरि कृपैव सिद्ध्यति । तथा सति वर्षपर्यन्तमम्बरीषोपेक्षा । तस्यानशनक्लेशश्च कथं युज्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः–मतान्तरकथा त्वत्रेति । तुः शङ्कानिरासे । अत्रास्मिन्नंशे मतान्तरकथा उक्तयुक्त्या निश्चेयेति शेषः । अतस्तावतोंऽशस्य भक्तमाहात्म्यबोधनार्थत्वं 'त्रिलोकीं तृणाममंस्ते'तिवदम्बरीषस्य तथाकरणेऽप्युपेक्षाभावस्य शक्यवचनत्वान्न दोष इत्यर्थः । अत्र पूर्वाध्यायेन 'अस्पृशद्ब्रह्मशापोऽपी'त्यत्र शापपदात्तस्य च वाचनिक एवापकारविशेषे प्रयोगदर्शनात्केचनात्र वाक्शापमप्यङ्गीकुर्वन्ति । तन्मतमनुवदन्तस्तत्र विशेषमाहुः--वागित्यादि । तदेति दुरत्ययब्रह्मदण्डरूपवाक्शापप्रतिघाते । तथा च निरोधेऽनुक्तत्वान्नात्र तथाङ्गीकर्तुं शक्यमिति कायिक एवाङ्गीकार्य इत्यर्थः ॥४५॥४६॥ **एवं चाग्रिमा वंशकथाऽप्येतस्यैव शेष इति सार्द्धैस्त्रिभिर्द्वितीयाध्यायो विचारितः ।**

(अ. ६) तृतीयं विचारयन्ति त्रिभिः--शशादेत्यादि । **निरपेक्षत्वबोधन** इति । तद्वंश्यानां संसारनिरपेक्षत्वबोधनार्थम् । च पुनः अत्र इक्ष्वाकुवंशे हरेर्निवेदनं क्रियाकलापादेर्भवति निवेदनमम्बरीषचरित्रे । 'एवं सदा कर्मकलापमात्मन' इति वाक्योक्तमप्यनुवर्त्तते । एतेषां भक्तिरपि कर्मत उत्कृष्टा । यथाम्बरीषस्य ब्राह्मण्यादुत्कृष्टा एतद्बोधनाय शशादकथेत्यर्थः ॥४७॥४८॥ नन्वेतादृशत्वं तस्य मूले स्फुटं

तस्य सर्वोत्तमत्वाय ककुत्स्थसुत ईरितः ।
धुन्धुमारादिवंशस्य कर्त्ता विप्रे प्रतिष्ठितः ॥४९॥
एवं त्रयो मध्यमा हि भक्तिमार्गे निरूपिताः ।
धैर्ययुक्तो हरिश्चन्द्र उत्तमे प्रथमो मतः ॥५०॥
तस्य भक्तिप्रशंसार्थं पितुश्चण्डालतोच्यते ।
नैरपेक्ष्यं च तस्यापि दोषः प्राक्तन एव सः ॥५१॥
भक्त्यैव तादृशो जातः पुत्रद्वारा विमोचितः ।
सत्यव्रत इति ख्यातस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः ॥५२॥
विश्वामित्रः पुष्टिकर्त्ता नान्यथा तं भजेत्कचित् ।
अतिसाहसकर्त्तात्र हरिश्चन्द्रो निरूप्यते ॥५३॥

न भवतीति कथमवगन्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः–तस्येत्यादि । **विप्रे प्रतिष्ठित** इति तस्य वंशो विप्रे सौभरौ प्रतिष्ठां प्राप्त इति । शशादो वा जापकेन सम्वदन् तद्धर्मे प्रत्यतिष्ठदिति । तथा चारम्भे तस्य निरपेक्षत्वबोधनादग्रे चैवंविधवंशबोधनात्तस्य विप्रे प्रतिष्ठाबोधनाच्च स सर्वेभ्य उत्तम इत्यर्थः ॥४९॥५०॥ **एवं त्रिभिस्तृतीयार्थमुक्त्वा मध्यप्रकरणं सार्द्धद्वाविंशतिभिर्विचारितम् ।**

(अ. ७) अतः परं तृतीयं सार्द्धत्रयोविंशतिभिर्विचारयन्ति **धैर्ये**त्यादि । **उत्तम** इति तृतीये सर्वमोचकप्रकरणे । अत्र तस्य प्राथम्यकथनेनेतः **पूर्वेषां** द्वितीये व्याख्यातप्रकरणे निवेशः सूचितः । तथा सति तत्प्रान्त उक्तस्यैतत्पितुश्चाण्डालता कथं युज्यत इत्याकाङ्क्षायां तद्व्यवस्थां सार्द्धाभ्यामाहुः–**तस्येत्यादि** । तथा च तस्या अन्यार्थत्वान्न दोषावहत्वं वास्तवदोषस्य तस्मिन्नभावात् । तथा सति हरिश्चन्द्रस्य तत उत्पत्तिर्न स्यादित्यतः सोऽप्युत्तम इत्यर्थः । गमकान्तरमाहुः–**नैरपेक्ष्यं च तस्यापीति** । सशरीरस्वर्गगमनेच्छया सूचितमैहिकनैरपेक्ष्यमप्येतस्यैव गमकमित्यर्थः ॥५१॥ तर्हि कथमेवं भाव इत्यतः आहुः–**दोष इत्यादि** । अजामिलादेरिव पूर्ववासनाजन्यो दोषो [illegible] निवृत्त्यर्थमुद्भूतो जात इत्यर्थः । उभयत्रापि गमकमाहुः-सत्येत्यादि । मूले विश्रुतत्वस्योभयत्रान्वयाद् द्विधा ख्यातिरेव तद्गमिकेत्यर्थः । सत्यव्रतत्वख्यातौ गमकं न स्पष्टमिति तर्केण तं स्फुटीकुर्वन्ति- **विश्वामित्रेत्यादि** । हरिश्चन्द्रस्य प्राथम्यं कुत इत्यपेक्षायामाहुः–अतीत्यादि । अतिसाहसकर्तृत्वं मार्कण्डेय-

लोकापवादशान्त्यर्थं पुत्रार्थे तस्य चोद्यमः ।
ऋणत्रयनिवृत्तिर्हि ततः कार्यं न चापरम् ॥५४॥
इति दर्शयितुं तेन यज इत्याह नान्यथा ।
ततः सिद्धस्य दानं हि तस्मै युक्तं हि सर्वथा ॥५५॥
अनेन सर्वे विषया हरिदत्ता हरौ परे ।
निवेशनीया भक्तानामित्यर्थो विनिरूप्यते ॥५६॥
वरुणो दैत्यराजो हि क्रूरं कर्म तथाविधम् ।
तथापि भक्तपुत्रत्वान्न मारणमुपागतः ॥५७॥
तेनाऽपि यो गृहीतोऽत्र सोऽपि कृष्णेन मोचितः ।
अभक्तहृदयं क्रूरमिति ज्ञापयितुं तथा ॥५८॥

पुराणादौ प्रसिद्धम् । धर्मपरीक्षकचण्डालदासत्वदशायां मृतककर्पटग्रहणार्थं पुत्रमपि यो दग्धुं न दत्तवान् स्वामिकार्यैककर्तृतयेति । नन्वेतादृशस्य कथं पुत्रार्थं पुरुषमेधोद्यम इत्यत आहुः-लोकेत्यादि । पितुस्तादृशत्वात्प्रतिबन्धकत्वरूपापवादशान्त्यर्थमित्यर्थः । ननु वरुणोक्त्युपनिबन्धनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-ऋणेत्यादि । न चापरमिति न लोकरूपम् ॥५२॥५३॥५४॥ नान्यथेति कामनावाक्ये 'यदि वीरो महाराजे'तिकथनेनानिर्देशादिष्ववस्थासु वीरत्वाभावेन तदवस्थासु यागस्याप्राप्तावसरत्वादिति । तत इति वरुणात् । तथा चायमर्थः, 'न कर्मणा न प्रजये'ति । तद्धैक आहुः 'ऋषयः कावषेयाः किं प्रजया करिष्याम' इत्यादिश्रुत्या 'पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुत' इत्यादिस्मृतिबाधे प्राप्तेऽपि सावकाशनिरवकाशन्यायेन तदबाधाव्यवस्था आवश्यकीति भगवता यत्र ते दीयन्ते तत्र तथा, यत्र न दीयन्ते (तत्र तथा न दीयन्ते) तत्र ते न लोकप्रयोजका इति नेष्टव्याः । यदि निर्बन्धेन सम्पादितास्तदा तेषामुक्तातिरिक्तं फलं नेति न स्थाप्या इति दर्शयितुं तदुपनिबन्धनमित्यर्थः । एतेन सिद्धं तात्पर्यमाहुः-अनेनेत्यादि । ननु युक्तमेतत्कथोपनिबन्धनं तथापि देवस्य वरुणस्य कथमेवं क्रूरकर्मणि निर्बन्ध इत्यत आहुः-वरुण इत्यादि । निर्बद्धवानिति शेषः । एतेन सङ्गोऽधिकारश्च सत्त्वाढ्यानामप्याग्रहजनक इति । ततः सावधानैर्भाव्यमिति बोध्यत इत्यर्थः ॥५५॥५६॥५७॥५८॥ विश्वामित्रेण शुनः-

अजीगर्तकथा प्रोक्ता विश्वामित्रस्तु पुष्टिगः ।
यजनं दोषनिर्हृत्यै विसर्गे स विचारितः ॥५९॥
ऋत्विजस्तु ततः पुष्टाः सर्व एव निरूपिताः ।
सगरस्तु ततः श्रेष्ठः सागरो यत्सुतैः कृतः ॥६०॥
स्थिरकार्यस्य कर्त्ता यः स श्रेष्ठोऽत्र निरूप्यते ।
पुत्रापराधो गरता योगभ्रष्टजनेस्तथा ॥६१॥
असमञ्जस इत्युक्तो वंशकर्त्ता पितुः सुखे ।
कर्मज्ञानादिकं तत्र प्रक्रियाया विरोधतः ॥६२॥

शेफमोचनस्य तात्पर्यमाहुः विश्वामित्रस्तु पुष्टिग इति । एतज्ज्ञापयितुं विश्वामित्रान्मोचनं तथा चोपलक्षणविधयाऽन्यदपि तत्कृतमेवं ज्ञातव्यमित्यर्थः । दोषनिर्हृत्या इति सत्यप्रमाददोषनिवारणाय । विसर्गे स विचारित इति प्रमादादङ्गकर्तृकमित्यनेन विचारितः । तथा चाङ्गप्रमादेन यथा वेनो दुष्टोभूत्तथा रोहितो दुष्येतेति तन्निवृत्त्यर्थं याग इत्यर्थः ॥५९॥ उक्तोपष्टम्भाय यागनिवर्त्तकानां स्वरूपमाहुः-ऋत्विज इत्यादि । पुष्टा इति भगवदनुगृहीतत्वादितरानुग्राहकाः । तथा च किञ्चिदपचारेऽपि ततः पूर्त्तिरित्यर्थः । एवं दशभिः प्रथमाध्यायविचारे शुनःशेफमोचकत्वं हरिश्चन्द्रस्योत्तमकक्षानिवेशाय विचारितम् ॥

(अ. ८) अतः परं त्रिभिर्द्वितीयाध्यायं विचारयन्तो हरिश्चन्द्रात्सगरोत्कर्षमाहुः-सगर इत्यादि ॥६०॥ सुतैः सागरकरणे हरिश्चन्द्रात्कथमुत्कर्षमित्यत आहुः-स्थिरेत्यादि । पूर्वं दैत्यानामर्णवे वसतामुपद्रवेण देवप्रार्थनया समुद्रोऽगस्त्येन पीतः। ततः शुष्कीभावे द्वीपान्तरेऽत्यानां गमनादिभिर्मर्यादाभङ्गोऽन्यत्र पुराणे प्रतिपादितः स जायमानः सागरकरणेन वारित इति चिरकालस्थायिकार्यकर्तृत्वेन पूर्वस्मादधिक इत्यर्थः । गरतेति कालकूटविषस्य दैत्यत्वं पूर्वस्कन्धे प्रतिपादितमिति तदंशभूतगरसाहित्येन सगरस्योत्पत्तेस्तस्याऽयं भाव इत्यर्थः । द्वितीयमुत्कर्षमाहुः-योगेत्यादि ॥६१॥ सुख इति सुखार्थम् । तथा च 'शुचीनां श्रीमतां गेह' इति गीतावाक्यात्तादृशजन्मनाऽप्येतस्योत्कर्ष इत्यर्थः । ननु चक्रवर्तित्वादिना मरुत्तस्येवास्यापि श्रैष्ठ्यं कुतोऽत्र नाङ्गीक्रियत इत्यत आहुः-कर्मेत्यादि । अस्मिन् प्रकरणे परोपकृत्यैवोत्कर्षो विवक्षितत्वात्तथेत्यर्थः ॥६२॥ एवं द्वितीयो विचारितः ।

न मुख्यं भवितुं युक्तं महत्त्वख्यापकं परम् ।
अंशुमांश्च दिलीपश्च बीजशुद्ध्यै निरूपितौ ॥६३॥
भगीरथस्त्वत्र मुख्यो भागीरथ्याः प्रवर्त्तकः ।
भागीरथ्याः स्वरूपं तु प्रथमे टीकयोदितम् ॥६४॥
तादृशार्थप्रवृत्तिर्हि भक्तेः कार्यमिहोत्तमम् ।
मर्यादाभक्तिमार्गस्य काष्ठा गङ्गा परा मता ॥६५॥
ग्राहिका शक्तिरस्यां हि तेन पापस्य सङ्ग्रहः ।
भक्तेभ्य एव तद्दानं तेन पूर्वं निवारितम् ॥६६॥

(अ. ९) अतः परं **सार्द्धैकादशभिस्तृतीयाध्यायं विचारयन्ति अंशुमानित्यादि** । **बीजशुद्ध्या** इत्यनेनैतयोर्भगीरथशेषत्वसूचनेन स्वरूपं द्वितीयाध्यायोक्तवदिति ज्ञापितम् । **प्रथम** इति प्रथमस्कन्धे । 'या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रे'ति श्लोके ॥६३॥६४॥ **तादृशार्थप्रवृत्तिरि**ति भगवच्चरणरेणुविमिश्रजलात्मकसकललोकपावनार्थं प्रवृत्तिः । **इहे**ति भगीरथे । ननु 'या वै लस'दित्यादौ गङ्गायाः सर्वपावनत्वस्य सुप्रसिद्धत्वात् । किञ्च 'अहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम् । मृजामि तदघं कुत्र राजंस्तत्र विचिन्त्यता'मिति पापसंसर्गबोधनवाक्यं कुत इत्यत आहुः—**ग्राहिके**त्यादि, जले द्रव्यग्राहिकाशक्तिः प्रत्यक्षसिद्धा, तथा सत्याध्यात्मिकाधिदैविकयोर्गुणकर्मग्राहकत्वमभिप्रेत्य गङ्गया तथोक्तमित्यर्थः । ननु तथापि भगीरथोक्तौ वैपरीत्येन कथमुत्तरमित्याकाङ्क्षायामाहुः—**भक्तेभ्य** इत्यादि । अयमर्थः, गङ्गया हि स्वजलस्योपचीयमानतया भूभेदकत्वं राज्ञोऽनिष्टरूपं पूर्वमुक्तम् । ततः स्वस्मिन् सकृच्चरणसम्बन्धात्परपापहरणसामर्थ्यं पुनस्तत्सम्बन्धाभावात्तस्य पापस्यानिर्गमे मम शक्तिकौण्ठ्यमिति स्वानिष्टमुक्तम् । तत्र शक्तिकौण्ठ्ये राज्ञोऽपि नेष्टसिद्धिरिति स दोषः प्रबल इति तत्परिहारश्च चरणस्य साक्षात्सम्बन्धाभावेऽपि सर्वदा तत्सम्बन्धेनानायासादेव भावीत्यभिप्रेत्य 'हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गा'दिति कथनात्तेषु भक्तेषु तद्दत्वा मृजेति तस्या हितार्थं **पूर्वं तन्निवारितम्** । एवं तदानुकूल्ये जाते **पश्चाद्धरेः** कपिलाख्यस्याज्ञां गङ्गाम्भोहन्तीत्यव्यभिचरितविषयां **ज्ञात्वा** तत्रोपायमात्रं चिन्तनीयमनुसन्धाय 'धारयिष्यति ते वेग'मित्यनेन भूभेदनं निवारितमिति योजना । तथा च दोषगुरुलघुभावविचारेण वैपरीत्यमित्यर्थः ॥६५॥६६॥

पश्चाज्ज्ञात्वा हरेराज्ञां सतामिच्छा प्रवर्त्तिता ।
मूलभूतो जीवराशेस्ततः सर्वार्थमेव हि ॥६७॥

ननु शिवाभिप्रायमविज्ञाय कथमेवं राजोक्तवानित्यत आहुः—**सतामित्यादि** । स शिवो भगवदाज्ञानुमितयेच्छया प्रवर्त्तितो धारयिष्यति । किञ्च **जीवराशेर्मूलभूतस्ततः सर्वार्थं** च धारयिष्यतीति तत्स्वरूपं ज्ञात्वा स्वभावनिश्चयेन तथोक्तवानित्यर्थः । जीवराशिमूलभूतत्वं च 'यस्मिन्नोतमिदं प्रोतं विश्वं शाटीव तन्तुष्वि'त्योतप्रोतत्वकथनाज्ज्ञेयम् । अत्र गमकमाहुः—**सर्वार्थमेव ह्री**त्यादि । **हि** यतो हेतोर्मूले 'सर्वलोकहितः शिवः । दधारावहितो गङ्गा'मित्युक्तम्, येन हेतुना सर्वे सागरा विमोचिताः । अतः सर्वहितार्थमेव धारणमित्यर्थः ॥६७॥

का. ६६-६७ निबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

(का. ६६) नवमस्कन्धे नवमाध्याये भक्तेभ्य एव तद्दानमित्यादि पूर्वश्लोके गङ्गाया जलरूपत्वात् ग्राहिका शक्तिरस्ति न तु दाहिका, तेन अन्येषां पापं स्वयं सङ्गृह्णाति तान् निःपापान् कर्तुमितिनिरूपितम्, इदं च गङ्गाया अनिष्टं भगीरथेन पूर्वं निवारितं 'साधवो न्यासिन' इतिश्लोकेन तन्निबन्धे विवृतं भक्तेभ्य एव तद्दानमित्यनेन, भक्तास्त्वयि स्नास्यन्ति तदा भक्तेभ्यो हेतुभूतेभ्यस्तव पापखण्डनं भविष्यतीति, भूभेदकत्वं स्वस्य यत् तद् राज्ञः अनिष्टं, तत् तु कपिलाख्यस्य हरेराज्ञां ज्ञात्वा भगीरथेन पश्चान् निवारितमित्यर्थः, **ज्ञात्वा हरेराज्ञा**मितिपदत्रयं अग्रिमश्लोकेपि सम्बध्यते, तथा च शिवोपि हरेराज्ञां ज्ञात्वा गङ्गां धारयामास *एवमर्थः सम्पद्यते*, तत्र मूले *भगीरथेन शिवस्य विशेषणमुक्तं गङ्गाधारणे हेतुभूतशरीरिणा*मात्मेति, आत्मत्वात् हितकारीति धारयिष्यतीत्यभिप्रेत्य तद्विशेषणं निबन्धे विवृतं **सतामिच्छाप्रवर्तिता** इत्यनेन, यद्यपि साधारणेन सर्वलोकहितकरस्तथापि सतां तु इच्छया प्रवर्त्तते, असतामपि स्वेच्छया हितं करोति न तु तेषामिच्छया प्रवर्त्तते असतां विरुद्धेच्छावत्त्वात्, सतां तु अविरुद्धेच्छावत्त्वात् तेषामिच्छया तद्धितार्थं प्रवर्त्तते इत्यर्थः, इयं व्यवस्था अन्येषु कार्येषु, गङ्गाधारणकार्ये तु स्वस्यापि हितमस्तीत्यभिप्रायेण भगीरथेन उत्तरार्धमुक्तं 'यस्मिन्नोत'मित्यादि, तन् निबन्धे विवृत्तं **मूलभूतो जीवराशे**रित्यादिपादत्रयेण, **जीवराशेर्ब्रह्माण्डस्य मूलभूतः**, अतः भगवच्चरणजलरूपां पवित्रां गङ्गां सर्वार्थमेव स्वार्थं परार्थं च धारयामासेत्यर्थः, **येन सर्वे विमोचिता** इति स्वयमपि दोषान् मुक्तः 'शिवः शिवोऽभू'दितिवाक्यात्, अन्येपि विमोचिताः दोषराहित्येन यथाधिकारं स्वर्गं भगवत्पदं च प्रापिता इत्यर्थः, तदेतत् सर्वं शुकेनाप्यनूदितं, 'तथेति राजाभिहितमि'त्यनेन सतामिच्छा प्रवर्त्तितत्वं, 'सर्वलोकहितः अवहित' इत्यनेन अन्येषां हितकर्तृत्वरूपं सर्वार्थत्वं, 'हरेः पादपूतजला'मित्यनेन स्वहितकर्तृत्वं चेति ।

धारयामास तां गङ्गां येन सर्वे विमोचिताः ।
अन्यथा देहसम्बन्धेनाऽऽत्मगामि भवेज्जलम् ॥६८॥
अविद्यां जीवसम्बद्धां कथमेव विमोचयेत् ॥
विद्यया चेतिवाक्येन गङ्गाऽविद्याविमोचिका ॥६९॥
देहभावे दृढे तु स्याद्भक्तानां कृष्णदासता ।
सायुज्यमन्यथा तस्मिन् गङ्गातीरे न संशयः ॥७०॥
दैत्यानामूर्ध्वगमनं विचित्रं कार्यमुच्यते ।
अतः सर्वगतिः प्रोक्ता नैतावदिह कारणम् ॥७१॥
सौदासस्य कथा त्वत्र भक्तिमुख्यत्वसिद्धये ।

ननु धारणवाक्ये अवधानकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-अन्यथेत्यादि । तथा च यद्यनवहितो भवेत्, जलं देहसम्बन्धि भवेत्, तेन च नात्मगामिशिवैकहितं जलं भवेत् । ततस्तस्य शिवनिर्माल्यत्वे तज्जलं जीवसम्बद्धामविद्यां कथमेव मोचयेत् । तथा च यथा बहूनामुपयोगार्थं किञ्चिन्महद्वस्तु शिरसि धृत्वा सावधानतया आनीयते न तु तत्स्वयं भुज्यते तथा धारणार्थमवधानकथनमित्यर्थः। इयानेव भागीरथ्यां गोदावरीतो भेदः। गोदावरी शिवनिर्माल्यतामापन्ना, पुनर्वराहतीर्थे वराहसम्बन्धेन मुक्तदोषाऽभूत्। भागीरथी तु निर्माल्यभावमनापन्नैवेति। इदं च गोदामाहात्म्यादवगन्तव्यम् ॥६८॥ अवहितपदेन सिद्धमर्थमाहुः-विद्ययेत्यादि। तथा च शिवसम्बन्धसत्त्वेऽपि भोग्यत्वेनासम्बन्धाद्यथा विद्या शिवदत्ता पवित्रत्वान्मोचिका, तथा गङ्गाऽपीत्येतद्बोधनायावहितपदमित्यर्थः । अधिकारिभेदेन गङ्गायाः फलद्वयमाहुः-देहेत्यादि ॥६९॥७०॥ ननु यदर्थं गङ्गा भगीरथेनाऽऽनीता तेषां तु 'दिवं जग्मु'रितिवाक्ये स्वर्गमनमात्रं फलमुच्यत इति कथं पूर्वोक्तफलदत्वमित्यत आहुः-दैत्यानामित्यादि।नैतावदिह कारणमिति। इह गङ्गायां कारणं भावप्रधानो निर्देशः, कारणत्वमेतावन्न किन्तूक्तसर्वमेव तत्कार्यमिति तत्कारणत्वमपि। 'न ह्येतत्परमाश्चर्य'मिति वाक्याभ्यामत्र तथैव बोधनादित्यर्थः ॥७१॥

एवमुत्कर्षौ भगीरथकथायां विचारितः। अग्रे कल्माषपादखट्वाङ्गयोः कथायां तदभावात्तयोः किं प्रयोजनमत आहुः-सौदासस्येत्यादि। तथा च ज्ञानयुक्तभक्तिमुख्यत्वज्ञापनाय सौदासकथा तदुभयं खट्वाङ्गे फलितमिति ज्ञापनाय

खट्वाङ्गे ज्ञानयुक्तत्वसिद्धये ॥७२॥
ब्रह्मबीजाद्वंशकथा खट्वाङ्गे हि द्वयं स्थितम् ।
क्षणात्कृष्णस्मृतौ तस्य मुक्तिरुक्ताऽनपायिनी ॥७३॥
परमा भक्तिमार्गस्य काष्ठेयमिति निश्चयः ।
ईशानुरूपभक्तानां कथेयं विनिरूपिता ॥७४॥
ईशस्य चेत्कथा न स्यात्तदनुत्वं न वै भवेत् ।
तत ईशकथां प्राह द्वाभ्यां ज्ञानेन संयुताम् ॥७५॥
क्रियाशक्तिर्भक्तिनिष्ठा ज्ञानं चेति त्रिभिः क्रमात् ।
जनकाज्ञानरूपा हि भक्तिरूपा तथोन्नतिः ॥७६॥
क्रियारूपं चरित्रं हि तदादौ सुनिरूपितम् ।
मध्यन्दिने हरेर्जन्म सूर्यवंशे तदा रविः ॥७७॥
अत्यन्तं तपतीत्यस्य ग्नस्मिन् तेज उपाददे ।
यावन्तो धर्मसचिवास्ततो नाशमुपागताः ॥७८॥
नवम्यां भगवज्जन्म नवग्रहबलाय हि ।
पुष्ये षड्गणसंयुक्तश्चतुर्मूर्त्तिर्हरिर्बभौ ॥७९॥

खट्वाङ्गकथेत्यर्थः ॥७१॥७२॥७३॥७४॥ एवं सार्द्धैकादशभिस्तृतीयाध्यायो विचारितः। तेनैकोनषष्टिभिर्नवाध्यायीस्था ईशानुवर्त्तिकथा विचारिता।

(अ. १०) अतः परमष्टाविंशतिभिरीशकथां विचारयन्ति-ईशस्येत्यादि। एतेनेशानुकथेशकथयोर्निर्वाह्यनिर्वाहकभावः सङ्गतिरित्युक्तम्। ज्ञानेन संयुतमिति तदग्रिमाध्यायस्यार्थः ॥७५॥ अध्यायार्थानाहुः-क्रियेत्यादि। एतदेव विविच्य दर्शयन्ति जनक इत्यादि। जनका वंशजनकाः कुशादयः। उन्नतिर्वंशवृद्धिः। आदावित प्रथमं द्वाभ्याम्, तत्र पूर्वं प्रमाणान्तरोक्तानां जन्मसमयतिथिनक्षत्राणां तात्पर्यमाहुः-मध्यंदिनेतिसार्द्धाभ्याम्, अस्येति रवेः। तत इति तेजसः सकाशात्। पुष्य इति 'सिंहो यथा सर्वचतुष्पदानां तथैव पुष्यो बलवानुडूना'मिति ज्योतिर्वाक्ये तस्य बलवत्त्वोक्ते तस्मिन्नित्यर्थः। अगस्त्यसंहितायां यद्यपि पुनर्वसौ जन्मोक्तं तथापि तत्कल्पान्तराभिप्रायं ज्ञेयम्। भविष्योत्तर एकादश्यां वामनावतारवदिति ॥७६॥७७॥७८॥

योगिनां ध्यानविषयः सोऽवतारो न चाऽपरः ।
इति दर्शयितुं पूर्वं नत्वा चरितमुक्तवान् ॥८०॥
योगिनां रक्षकं रूपं तदेवेति तथा वचः ।
मोहकं बहुलं तत्र तेन वीर्यप्रकाशकम् ॥८१॥
भक्त्यर्थं संहितायां हि तदेव विनिरूपितम् ।
ताडकाया वधो नोक्तः स्त्रीत्वान्नास्त्यत्र पौरुषम् ॥८२॥
मारीचरूपस्तत्रैव विश्वामित्राध्वरे हतः ।
रूपान्तरेण पश्चात्तु कारणार्थं तथाऽऽकृतिः ॥८३॥
धनुःसज्जीकृतौ तुल्यो हरेण न ततोऽधिकः ।
अतो बभञ्ज सीतायै जितः कन्यां हरो ददौ ॥८४॥
विवाहादिसुखं लोके क्षत्रियाणां विशेषतः ।
अतः क्षत्रियभावाय सीतार्थं भार्गवैर्मृधः ॥८५॥
अवतारेण युद्धं हि मोहनार्थं विनिश्चयः ।

नमनपूर्वकं चरित्रकथनस्य तात्पर्यमाहुः—योगिनामित्यादि । 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्नित्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयत' इति श्रुतेस्तथेत्यर्थः । तथा वच इति 'अवतान्न' इति योगिरक्षणवचः । चरित्रस्वरूपमाहुः—मोहकमित्यादि ॥८०॥८१॥८२॥ ननु 'मारीचाद्या निशाचरा' श्लो. ५ हता इत्युक्त्वा पुन'र्मारीचमाशु विशिखेने'ति पुनर्हननं यदुक्तं तत्कथं युज्यते तस्यैवाभावादित्यत आहुः—रूपान्तरेत्यादि । पश्चाद्रूपान्तरेण हरिणरूपेण तथाकृतिः, आश्रमतो भगवदपकर्षण-कारणार्थं सीतावियोगरूपमोहकलीलोत्पादनार्थम् । तथा च सेव (एवं) तत्करणमपि मायिकमित्यर्थः ॥८३॥८४॥ ननु भार्गवो रामो हरशिष्यो हरे जिते जितप्राय एवेति किं तन्मृधलीलयेत्याकाङ्क्षायामाहुः- विवाहादीत्यादि । तथा च गांधर्वो राक्षसश्च विवाहः क्षत्रियाणामुत्कृष्टौ । तत्रैकपत्नीव्रतस्य भगवतो विवाहे जनकदानेन जाते गान्धर्वाभावेनोत्कर्षो न जात इति तदुत्कर्षार्थं राक्षसत्वाय मृध इत्यर्थः ॥८५॥ ननु भृगुवर्यस्यावतारत्वात्सौख्यमेवोचितं न तु मृध इत्यत आहुः अवतारेणेत्यादि । मोह-

लोके प्राकृतभावश्चेत्तच्छौर्यं स्नेहबोधकम् ॥८६॥
देहगृह्यत्वसिद्ध्यर्थमुभयोः कलहः परः ।
अथवा रघुनाथो हि पुरुषोत्तम उच्यते ॥८७॥
गुणावतारसम्मत्यै विश्वामित्रात्तथा शिवात् ।
भार्गवादपि यत्तेजः स्वस्मिन्नेव निरूपितम् ॥८८॥
वनवासादिलीला तु कार्यार्थं मोहनाय हि ।
सीताया हरणं नास्ति नर्येण सान्तिकं कृता ॥८९॥
तेनैव निर्मिता माया तामग्नौ विनिवेश्य तु ।
हत्वा रावणमत्युग्रं स्वां गृहीत्वा पुरं ययौ ॥९०॥
सेतुबन्धनमत्रैकं चरितं परमं मतम् ।

नार्थमिति स्वस्यावतारतागोपनार्थम् । ननु लोके प्राकृतभावस्याधुनापि प्रकटनादेव मोहनसिद्धेर्न तु जये इति युद्धस्य तादर्थ्यं न शक्यवचनमित्यत आहुः-लोक इत्यादि । स्नेहबोधकमिति । स्नेहेन स्वरूपगुप्तिनिवारणेनावतारत्वज्ञापनफलकमित्यर्थः ॥८६॥ ननु स्नेहार्थत्वे वाग्वादो न सङ्गच्छत इत्यत आहुः-देवेत्यादि । एवं द्वितीय-स्कन्धानुसारेणावतारत्वमङ्गीकृत्योक्तम् । श्रुत्यनुसारेणाहुः- अथवेत्यादि यत्तेजः स्वस्मिन्नेव निरूपितमिति, यत्तेजोऽधिकं निरूपितं तत्पुरुषोत्तमत्वे गुणावतार-सम्मत्यै स्वस्मिन् श्रीरघुनाथ एव निरूपितम् । तथा च तेन सर्वसामञ्जस्यमिति भावः ॥८७॥॥८८॥ ननु पुरुषोत्तमत्वे वनवाससीताहरणादिलीलानामसङ्गतिरित्यत आहुः कार्यार्थमिति । अहल्याशबर्याद्युद्धारसेतुबन्धरक्षोवधादिकार्यार्थम् । कथं मोहनायेत्यपेक्षायां तथात्वमुपपादयन्ति—सीताया इत्यादि । नर्येणेति गार्हपत्येन । नराणां हितो नर्यः, 'नर्यं प्रजां मे गोपाये'ति गार्हपत्यस्तुतेर्वेदभाष्ये तथा व्याख्या-नात् । अन्तिकं कृतेति स्वनिकटे स्थापिता ॥८९॥ तेनेति गार्हपत्येन, इदं सर्वं ब्रह्मवैवर्ते प्रकृतिखण्डे उक्तम् । अग्निरुवाच 'त्वत्प्रसूं मयि विन्यस्य छायां रक्षान्तिकेऽधुना । दास्यामि सीतां तुभ्यं च परीक्षासमये पुनः । देवैः प्रस्थापितोऽहं च न विप्रोऽहं हुताशनः । रामस्तद्वचनं श्रुत्वा न प्रकाश्य च लक्ष्मणम् । स्वीचकार च स्वच्छन्दहृदयेन विदूयता, वह्निर्योगेन सीताया मायासीतां चकार ह । तत्तुल्यगुण-सर्वाङ्गीं ददौ रामाय नारद । सीतां गृहीत्वा प्रययौ गोप्यं वक्तुं निषिध्य चे'त्यादि ॥९०॥

दोषाभावाय नारीणां लङ्कास्थानान्निरूप्यते ॥९१॥
भाषा तु लौकिकी त्वन्या तथा स्यात्कृतार्थता ।
इति दर्शयितुं रामचरितं तादृशं जगौ ॥९२॥
वैदिकं चापि सुमहदश्वमेधादिकं तथा ।
सहस्रं च शतं चैवमश्वमेधांश्चकार ह ॥९३॥
लौकिकं भावमापन्नो लौकिकानां विमोक्षणे ।
सर्ववेदसयज्ञेन राम एवेष्टवान् भुवि ॥९४॥
ज्ञानाधिकारिविप्रेभ्यो ज्ञानं चैवाऽतुलं ददौ ।
ऊतिन्यायेन भगवान् सीतां निःसारयन् क्वचित् ॥९५॥
लौकिकीं स्थापयन् भाषां लोकवार्तामथाऽशृणोत् ।
भक्तिमार्गप्रभुर्यर्हि लौकिकं चेत्प्रकाशयेत् ॥९६॥

सेतुबन्धनप्रयोजनमाहुः–दोषाभावायेत्यादि । यदि भगवान् सेतुं न बध्नीयात्तदाऽन्यत्र रावणमारणे तासां भगवद्दर्शनाभावेन माहात्म्याज्ञानेन च दोषो नापेयादतस्तदर्थं तथेर्थः ॥९१॥ लौकिकरीतिकान्यचरितकथनतात्पर्यमाहुः–भाषेत्यादि । तथा च यथा 'गोप्यः कामाद्भयात्कंस' इत्याद्युक्त्वाऽग्रे 'तस्मात्केनाऽप्युपायेन मनः कृष्णे निवेषये'दिति कृतार्थत्वायोक्तम्, तथा चात्रापि लौकिकवैदिकरीतिकं चरित्रं नानाजगत्कृतार्थत्वायोक्तमित्यर्थः ॥९२॥९३॥ विमोक्षण इति । विशेषेण मोक्षणार्थम् । सर्ववेदसयज्ञेनेति सर्वस्वदक्षिणेन । ननु सन्तु सर्वा लीलास्तथापि निरपराधसीतानिःसारणप्रयोजकलोकवार्त्ताश्रवणलीला किमर्थेत्यत आहुः–ऊतिन्यायेनेति । देवीरूपाया रमाया अघं मत्स्यपुराणे 'लक्ष्मीर्नारायणं त्यक्त्वे'त्यनेनोक्तम् । पाद्मे पातालखण्डे रामाश्वमेधे शुकमिथुनं सीतया निरुद्धं बाल्ये, तयोः शुकी मृता, तदा शुकः शप्तवान् 'त्वं भर्त्रा वियोक्ष्यस' इति स एव शुको मृतः पुनर्धावको भूत्वोत्पन्नस्तादृशीं वार्तामुक्तवानित्युक्तम् । तत्सूचितवासना निवारणीयेति तदर्थं सा लीला । तथा चैवं भक्तक्लेशदायकतया प्रतीयमानाऽपि सा परिणामसुखदत्वेन गूढेति न दोषलेश इत्यर्थः । एवं लक्ष्मणत्यागलीलाऽपि ज्ञातव्या ॥९४॥९५॥ कपिसङ्ख्यादिलीलातात्पर्यमाहुः–भक्तिमार्गप्रभुरित्यादि ।

तदैव लौकिकैर्भक्तिः कर्तुं शक्या न चान्यथा ।
इति निश्चित्य रामो हि स्थानभक्तौ निरूपितम् ॥९७॥
चतुर्मूर्तेश्चरित्रं हि वंशश्चापि निरूप्यते ।
वंशेऽपि चरितं तस्य तेनाध्यायत्रयं मतम् ॥९८॥
भक्तिमार्गे स्वामिधर्मः सुकृतज्ञत्वलक्षणः ।
रघुनाथे स नाऽन्यत्र तेनेशोऽत्र निरूपितः ॥९९॥
लौकिकोऽत्र गुणः शुद्धो गृहीतो न तु दोषयुक् ।
अतो भ्रातृकथाप्रश्नो भ्रातृसौख्यत्वमुत्तरम् ॥१००॥
गृहे स्थितस्य राज्ञो हि सन्मानं न तु लौकिके ।
अतो लोकस्य सम्मानमन्ते प्राह विशेषतः ॥१०१॥

भरतलक्ष्मणशत्रुघ्नचरित्राणां श्रोतव्यत्वायाहुः-चतुर्मूर्तेश्चरित्रं हीति । हिर्हेतौ । तेन तदपि श्रीरामचरित्रत्वेनैव श्रोतव्यमित्यर्थः ।

(अ. १२) ननु भगवच्चरित्रमत्र द्वाभ्यामुक्तं तृतीये वंश्या[1] वंशश्चोक्त इति तस्येशानुकथात्वमेव न त्वीशकथात्वमित्यत आहुः-वंशोऽपीत्यादि । तथा च सर्गो लीला तथा वंशोऽपीति तस्यापि चरितत्वात्तथेत्यर्थः । नन्वीशानुकथाया लक्षणम-'वतारानुचरितं' तद्यस्मिन्कस्मिन्नवतारचरित्रे निरूपिते सिद्धं भवतीति रामचरित्रमेव कुत उक्तमित्य आहुः–भक्तिमार्ग इत्यादि । अन्यत्रेति अवतारे । ईश इति पुरुषोत्तमः ॥९६॥९७॥९८॥९९॥ ननु राज्ञा कथं स भगवान् राम इति प्रश्नः किमभिप्रेत्य कृत इत्याकाङ्क्षायामाहुः--लौकिक इत्यादि । अत्र श्रीरघुनाथे लौकिको गुणो राजत्वलक्षणः शुद्ध एकरसः सर्वसाधारणो गृहीतः, न तु दोषयुक् कादाचित्कः, अतो यदि पूर्णः प्रादुर्भूतः स्यात् सर्वानेवाविशेषेण रञ्जयेत् सर्वे चाविशेषेण रक्ताः स्युः । भ्रातरोऽपि दायादा न भिद्येरन्निति ज्ञातुं प्रश्नस्तत्र प्रकृतिसौख्यं स्यादपि न तु भ्रातृसौख्यं सति तस्मिन्नन्यदनुक्तसिद्धमेवेति ज्ञापयितुं भ्रातृसौख्यत्वमुत्तरं, सौख्यपदं सुख एव शक्तम्, प्रियतापदं प्रेम्णीव । तेन भ्रातृसुखभावस्तत्रोत्तरम् । मुख्यत्वमिति पाठे तु तेषामेव मुख्यत्वमिति तदेव प्रजानामपि सौख्य उत्तरम् । तथा च लौकिकधर्मविचारेणाऽपि पुरुषोत्तमत्वनिर्द्धारार्थं प्रश्न उत्तरं चेत्यर्थः ॥१००॥ प्रजानां भगवत्यत्यनुरागस्यान्ते यत्कथनं तत्तात्पर्यमाहुः--गृहे इत्यादि । तथा चेदमपि ईशत्वस्यैव ज्ञापकमित्यर्थः । ननु स्वयं भगवान् यत्र प्रादुर्भवति तत्र सेवार्थं देवाः प्रादुर्भवन्ति यथा श्रीकृष्णावतारे

१ वंशस्या ।

कुशप्रभृतिभूपालास्त्रिंशद्भाव्यास्तदन्वये ।
एकाधिका देवगणास्ततो जाता इतीरितम् ॥१०२॥
तत्रोक्ता योगनिष्ठा हि बोधनात्करणादपि ।
ज्ञानशक्तिस्तु सीता हि जनकान्वय सम्भवा ॥१०३॥
ज्ञानशक्तिर्हरेर्वक्तुं जनकान्वय उच्यते ।
ज्ञानमिश्रा तु या भक्तिः सा मुख्येति निरूप्यते ॥१०४॥
निमेः कथा ततः प्रोक्ता ज्ञानवैराग्यसंयुता ।
गुरुवाक्यातिरेकेण यज्ञः सिद्ध्यति नैव हि ॥१०५॥
अतः शापप्रसङ्गो हि ज्ञानित्वात्तस्य चोच्यते ।
भक्तेः प्रकरणार्थत्वाद्वसिष्ठोऽपि विमुच्यते ॥१०६॥
तथा निमिर्ददौ शापं भक्तौ सर्वमबाधकम् ।
अतो गतिर्निमेः श्रेष्ठा न वशिष्ठस्य कर्हिचित् ॥१०७॥
भक्तिमार्गस्य मुख्यत्वाद्वेश्यापुत्रो न दुष्यति ।

यदुष्वित्याकाङ्क्षायामाहुः–कुशप्रभृतीत्यादि। (अ. १२) तृतीयाध्याये ज्ञानमुच्यत इति यदुक्तं तन्निगमयन्ति–तत्रोक्ता इत्यादि। ननु वंश्यानां ज्ञानप्राधान्यं कुत इत्यपेक्षायामाहुः–ज्ञानेत्यादि ॥१०१॥१०२॥१०३॥

(अ. १३) अतः परं त्रयोदशाध्यायतात्पर्यमाहुः–ज्ञानशक्तिं हरेरित्यादि। तत्र पूर्वं निमिसकथाया विशेषतः कथनस्य तात्पर्यमाहुः–ज्ञानमिश्रेत्यादि। निरूपण इति निरूपणार्थम्। ज्ञानवैराग्यसंयुतत्वं दर्शयन्ति–गुर्वित्यादि। तथा चासिद्धिं ज्ञात्वापि यज्ञकरणोक्त्या तस्य वैध्यत्वमात्रेण यज्ञकरणं नत्वासक्त्येति वैराग्यं सूचितम्। ज्ञानित्वं प्रसिद्धमेव एकादशस्कन्धे योगीश्वरसम्वादे तस्य भक्तत्वमपि स्फुटम्। अतो ज्ञानमिश्रभक्तिनिरूपणार्थं ज्ञानवैराग्यसंयुता तत्कथोच्यत इति युक्तमित्यर्थः ॥१०४॥१०५॥ नन्वीदृशत्वे निमेर्वसिष्ठः किमिति शप्तवानित्यत आहुः भक्तेरित्यादि। तथा च भक्तत्वमननुसन्धायैव शप्तवानित्यर्थः। वसिष्ठमोहे भक्तेः कर्मापेक्षया बलवत्त्वे च फलं गमकमाहुः–अतो गतिरित्यादि। ननु यदि वसिष्ठस्यैवं निकर्षस्तदा तत्कुले कथं व्यासावतारः। कर्मापेक्षया च यदि भक्तेरेव प्रबलत्वं तदा भक्तानामुच्छृंखलत्वापत्तिश्चेत्यत आहुः–भक्तिमार्गस्येत्यादि। वेश्यापुत्र इति

भगवद्दर्शने दोषो निमेश्चापि भविष्यति ॥१०८॥
ज्ञानस्य च व्यवच्छेदस्तस्माद्ब्राह्मण उत्तमः ।
लौकिकाः कर्मनिष्ठाश्च पश्चादीशानुगाः स्मृताः ॥१०९॥
ज्ञाननिष्ठास्त्वग्रतो हि तस्मादेवं निरूपिताः ।
पुष्टिमार्गस्थितान् भक्तान् वक्तुं सोमान्वयो मतः॥११०॥
जन्मना कर्मणा शुद्धा यदि भक्ता भवन्ति हि ।
सानुभावास्तदा पुष्टाः सेवका मुरवैरिणः ॥१११॥
सोमो ज्ञानांशसम्भूतो ह्यत्रिनेत्रसमुद्भवः ।

उर्वशीपुत्रः। तथा च वसिष्ठोऽपि भक्तिमार्गीय एवेति न तस्यापि निकर्षः। किन्त्वज्ञानेन भक्तद्वेषाद्गतिमात्रं सकृदपकृष्टं न तु तदग्रे कश्चित्प्रतिबन्धः। भक्त्या निमेरुत्तमगतावप्यज्ञानेन ब्राह्मणद्वेषान्निमेरपि लोकलोचनवास्तव्यतया निमेषप्रयोजकत्वेनाग्रे भगवद्दर्शन इत्यादिनाक्तो दोषो भविष्यतीति भक्तैर्न भक्ता द्वेष्टव्या नाप्युच्छृङ्खलैर्भाव्यमेतद्बोधनायैव ज्ञानवैराग्यवती शापकथोक्ता न तु सा भक्तिपुरस्कृता तस्माद्ब्राह्मणो ब्रह्मज्ञो वसिष्ठ उत्तम एवेति न पूर्वोक्तो दोष इत्यर्थः ॥१०६॥१०७॥१०८॥ तद्वंश्येषु व्यवस्थामाहुः–लौकिका इत्यादि। पश्चादिति निमेरनन्तरं ह्रस्वरोमान्ताः। अग्रत इति अवतारोत्तरं सीरध्वजमारभ्य कृतिपर्यन्ताः। एवं निरूपिता इति यज्ञरूपेण कर्मणाऽवतारात्पूर्वं योगरूपेण कर्मणा च ततः परे, ज्ञाननिष्ठा द्वन्द्वमुक्ता ईशानुवर्त्तिनः सूर्यवंशे इक्ष्वाकुमारभ्य कृत्यन्ता उक्ता इत्यर्थः ॥१०९॥ एवं सार्द्धचतुर्नवतिभिः सूर्यवंशनिरूपिका त्रयोदशाध्यायी विवृता, तेनैकं महाप्रकरणं सम्पूर्णम्।

अतः परं सार्द्धसप्तषष्टिभिर्द्वितीयं महाप्रकरणं विचारयन्ति–पुष्टिमार्गेत्यादि। अत्र पुष्टिः पूर्णा ग्राह्या। 'पुष्टिः स्वार्था परार्था तु भक्तिः सा नवमे मते'ति षष्ठस्कन्धनिबन्धे कथनात्। ननु पूर्णभक्तौ तुल्यायां मोक्षरूपे फले लीलया परमसौख्ये च सर्वेषां तुल्ये मर्यादाभक्तेभ्यः पुष्टिभक्तेषु को वा विशेष इत्यत आहुः जन्मनेत्यादि॥११०॥१११॥ लक्षणाभूतं विशेषमुक्त्वोदाहरन्ति सोम इत्यादिद्वाभ्याम्। एतद्वंशे सोमस्य प्राथम्ये हेतुमाहुः–सोम इति। 'सोमोभूद्ब्रह्मणोंशेने'ति वाक्यात्, स ब्रह्मणोंश इति सृष्टिकर्तृत्वाद्वंशे प्रथम इति न, किन्तु भाविज्ञानं तस्यास्तीत्यतः

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात्प्रथमं विषमोऽभवत् ॥११२॥
कलङ्कभावस्तेनासीद्वस्तुतो यज्ञरूपधृक् ।
तस्माद् बुधाद्यो भक्ताः सानुभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥११३॥
अत्राऽपि नवधा भक्ता द्वाभ्यां भार्गव उच्यते ।
दोषं बलात्तु भक्तानां यो नाशयति सर्वथा ॥११४॥
सोमवंशोद्भवायाश्च पुत्रो रामस्तु भार्गवः ।
मन्त्रैरपि क्षत्रियाणां मन्त्रिताच्च चरोरभूत् ॥११५॥
विपरीता गतिः पुष्टौ तत एकः पुरोच्यते ।

स तथेत्याहुः–ज्ञानांशेत्यादि । अन्यथा 'तस्माद् हम्भ्योऽभवदि'तिचतुर्थस्कन्धोक्ताद्विलक्षणं तस्य जन्म न वदेदित्यर्थः । ननु ज्ञानांशत्वे कथं तस्य कलङ्कित्वमित्यत आहुः–प्रथममित्यादि । विषम इति 'प्रजापतेस्त्रयस्त्रिंशद्दुहितर आसन्नित्यु'पाख्याने तस्य रोहिण्यां प्रीत्या, सोमस्य वैराज्ञ इत्युपाख्याने अमावास्यायां पौर्णमास्यां चाप्रीत्या वैषम्यनिरूपणात्स तथा । तथा च स तस्यागन्तुको दोषो न तु वास्तव इत्यर्थः । वास्तवं रूपमाहुः–यज्ञेत्यादि । अनुभावस्त्वनुपदमग्रे वाच्यः ॥११२॥ ॥११३॥ अत्रैकाध्यायस्य पूर्वं सुद्युम्नप्रसङ्गेनोक्तत्वादेकादशाध्याय्यामवान्तरप्रकरणानि विभजन्ते–अत्रापीत्यादि । तथा च चत्वारि प्रकरणानीत्यर्थः । तत्र भार्गवोत्तंसे क्षत्रियहननरूपातिक्रूरकार्यातिरिक्तकार्यादर्शनात्किं तत्रेशचरित्रम् येन प्रकरणभेदो, ब्राह्मणत्वेन च वंश्यत्वाभावात्तच्चरित्रस्य सामान्यलक्षणानाक्रान्तत्वेन कथं च स्कन्धार्थे निवेश इत्याकाङ्क्षायामाहुः–दोषं बलादित्यादि । तुद्वयं पूर्वपक्षनिरासे ॥११४॥ ननु मातृविचारेण लक्षणे समन्वेतव्ये प्रियव्रतसुतायामूर्जस्वत्यां जातायां देवयान्यां जातानां यदुप्रभृतीनामपि तद्वंश्यत्वं स्यादिति नेदमतिव्याप्त्यादिनिवारकमित्याकाङ्क्षायामाहुः–मन्त्रैरपीत्यादि । तथा च ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वादीनां देवतात्वस्य द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यामुपपादितत्वादत्र मन्त्रितचरुद्वारा क्षत्रियत्वनिवेशे पुत्रिकापुत्रन्यायेन 'अथ तर्हि भवेत्पौत्र' इतिवाक्याद् गाधिपुत्रार्थकक्षत्रियत्वस्यात्र प्राप्तौ मुख्येन तद्वंश्यत्वे दोषपरिहार इत्यर्थः ॥११५॥ एवं करणे हेतुमाहुः–विपरितेत्यादि,
... एकोऽध्याय ईशानुकथाबोधकः पुरोच्यते मध्ये द्वाभ्यां हरेः
... अग्रे च प्रकरणमनुसन्धायाष्टावध्याया वक्तव्याः,

अष्टौ चाग्रे तु वक्तव्या मध्ये द्वाभ्यां हरेः कथा ॥११६॥
अत्राऽऽविष्टो हरिश्चक्रे वंशं सरसमुत्तमम् ।
लक्ष्मीनारायणोत्पन्नो बुधोऽत्र विनिरूपितः ॥११७॥
अन्यथा सर्वदेवानां सम्मतिर्न भवेदिह ।
शुक्राचार्यस्य च तथा शिवस्याऽपि विशेषतः ॥११८॥
स्वकीयायां रसो नैव नापि तस्याः स्वभर्तरि ।
अतो रसमयं द्वन्द्वं ताराचन्द्रमसौ कृतम् ॥११९॥
सर्वेषां सम्मतिं ज्ञात्वा गुरुर्बाले स्पृहायुतः ।

नैवमन्यत्र । तस्मान्मर्यादावैपरीत्यज्ञापनमेवैवङ्करणे हेतुरित्यर्थः॥११६॥(अ.१४)एवमवान्तरप्रकरणानि विभज्य वंशोत्कर्षं भक्तत्वमहानुभावत्वाभ्यां वक्तुं तत्र बीजमाहुः–अत्रेत्यादि । अत्र विनिरूपित इति साग्ग्ये मूलत्वेन निरूपितः । ननु ताराग्रहस्य दर्पमूलकत्वात्कथं तत्र लक्ष्मीनारायणावेश इतिशङ्कायां ताराग्रहस्य तथात्वेऽपि ताराचन्द्रमसोस्तदाविष्टत्वे गमकमाहुः-अन्यथेत्यादि । यदि तयोस्तदाविष्टत्वं न स्यात्तदा स यज्ञे देवगुरुणा याचित इति लिङ्गाद् यज्ञ एव तद्ग्रहणेन यज्ञसचिवानां तत्कारयितुः शुक्राचार्यस्य मेधपतिमिति पावित्र्यपतित्वेन श्रावितस्य शिवस्य च सम्मतिर्न स्यात् । न च सम्मतौ मानाभावः शङ्क्यः, यज्ञनिष्पत्तेरेव मानत्वात् । न च देवेषु पापाभावात्सम्मतिरिति वाच्यम् । देवेष्वपि पापसम्भवस्य विश्वरूपादिहत्यायां श्रुतिसिद्धत्वात् । 'न ह वै देवानां पापं गच्छती' त्यादिश्रुतिस्तु विराडवयवभूतदेवपरेति तस्या एतदविषयत्वात् । अन्यथा तस्याञ्जलिना ब्रह्महत्यामुपागृह्णादित्यादिश्रुतिबाधापत्तेः । अतोत्र भगवदावेश एवास्थेयः । एवञ्च मात्स्योक्तमन्यदपि समर्थितं भवति ॥११८॥ ननु पुष्टावेवं करणे किं बीजमित्याकाङ्क्षायां बीजक्षेत्रयोर्दोषाभावपूर्वकसारस्येन वंशस्य तथात्वकरणं बीजमितिबोधयितुं दोषाभावमुपपाद्य सारस्यमाहुः–स्वकीयायामित्यादि । एवं चन्द्रस्यानुभावभक्ती उक्ते । ननु सारस्यस्य दोषाभावपूर्वकत्वं नोक्तयुक्तिभिः शक्यवचनम्, अग्रे तारकामयसङ्ग्रामादिकथनात् । सम्मतौ च तदसम्भवादितिशङ्कायां गर्भाधानपर्यन्तमेवावेशेन तावत्पर्यन्तमेव सम्मतिर्नत्वग्रेऽपीत्याशयेन सम्मतेस्तावदन्तत्वे गमकमाहुः सर्वेषामित्यादि । तथा च गुरुस्पृहाऽन्यथानुपपत्त्या सम्मतिः सङ्ग्रामाद्यन्यथानुपपत्त्या च तावत्पर्यन्ततेति न सङ्ग्रा-

अतः पूर्वोक्तिभिः साकं विरोधो न भवेद् ध्रुवम् ॥१२०॥
भक्तिर्न ब्राह्मणे पुष्टा तेन राजसुतो बुधः ।
बुद्ध्या चात्यन्तसम्पन्नो निर्व्यलीकस्ततो मतः ॥१२१॥
मातरं च तथा प्राह तस्माज्जातः पुरूरवाः ।
तस्य वेदोद्गमत्वाय ब्रह्मावेशो निरूपितः ॥१२२॥
विष्णुर्बुधस्ततो जातो ब्रह्मात्मा हि पुरूरवाः।
नारायणाद्भक्तिशक्तिरुर्वशी विनिरूपिता ॥१२३॥
मित्रश्च वरुणश्चैव भोगस्थानाधिदैविकौ ।
तयोरासक्तहृदया भक्तिभोगपरा भवेत् ॥१२४॥
देवानां परमा भक्तिः परं भोगविवर्धिनी ।

माद्युक्तिभिर्विरोध इत्यर्थः ॥११९॥१२०॥ ननु चन्द्रस्यात्रिनेत्रोत्पन्नत्वेन विप्रराजत्वेन च तत्सुतस्य बुधस्य कथं क्षत्रवंशोत्पादकत्वमित्यत आहुः भक्तिरित्यादि। चन्द्रे ह्यस्ति द्वयम्, उक्तयुक्तिभिर्ब्राह्मण्यम्। 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेते'ति क्षत्रियकर्तृकयागकरणेन भुवनत्रयजयेन च क्षत्रियत्वम्। तत्र ताराग्रहणे दर्पस्य हेतुत्वेन कथनाद्दर्पस्य चैकादशे क्षत्रप्रकृतिषु गणनात्क्षत्रभावापन्नस्यैवेन्दोर्निषेक्तृत्वम् । किञ्चायं भक्तिस्कन्धः, पूर्णानुग्रहरूपाऽत्र भक्तिर्वक्तव्या, सा च न ब्राह्मणे पञ्चाग्निविद्यायाः क्षत्रिय एव छान्दोग्ये श्रावणात् । तेन हेतुना बुधो राजभावोपगूढस्यैव सुत इति तादृशवंशोत्पादक इत्यर्थः। बुधस्यानुभावभक्ती आहुः—बुद्ध्या चेत्यादिपादत्रयेण, पुरूरवसस्ते आहुः—तस्मादित्यादिभिः सपादैर्दशभिः, वेदोद्गमत्वाय वेदानामुद्गमः पुरूरवस एवासीत्, 'त्रयी त्रेतामुखे नृपे'त्यनेनोक्तो यस्मादसौ वेदोद्गमस्तादृशत्वाय । ब्रह्मावेश इति चतुर्मुखावेशः ॥१२१॥१२२॥ क्षेत्रोत्कर्षायोर्वश्युत्कर्षमाहुः—नारायणादिति। उत्पन्नेति शेषः। भक्तिशक्तिरिति। भगवत्सेवार्थाऽनुग्रहरूपा शक्तिः। नन्वेतादृशत्वे तस्याः कथं शापभागित्वमित्यत आहुः—मित्रश्चेत्यादिभिः सार्द्धैश्चतुर्भिः। मित्रो गुदस्याधिदैविक इन्द्रियदेवतासु प्रसिद्धः। वरुणस्तु रसनदेवोऽपि रेतसा शिश्नमापस्त्वितिकपिलवाक्यादपां पतित्वेन 'वरुणस्य स्कम्भनमसी'ति मृत्तिकास्नानीयमन्त्रप्रकाश्यत्वेन च शिश्नाधिदैविकः। 'वृषणौ च मित्रा'विति वाक्ये विराड्वृषणत्वेन वा भोगस्थानाधिदैविकौ। परमा भक्तिरिति वामनपुराणे

अतो वै सा प्रशस्ता हि मानुषेषु ततः परा ॥१२५॥
अतो यत्र भवेद्भोगो भक्त्या सा न परा मता।
शुद्धां वक्तुं तयोः शापो जात इत्यभिधीयते ॥१२६॥
सकृत्प्रवृत्ता देवत्वरक्षायै नाऽन्यथा क्वचित्।
रसाधिक्यात्पुनस्ताभ्यां प्रार्थिता नाऽभ्यनन्दत ॥१२७॥
अतः शप्ता नरत्वाय ताभ्यां भोगनिवृत्तये ।
ऐश्वर्यादिगुणान् प्राप्तुं गर्भषट्कमधारयत् ॥१२८॥
भोगार्थं न प्रवृत्ता सा ततो निष्ठुरभाषिणी ।
गर्भमात्रं त्वभिप्रेतं तेन द्वयमुवाच ह ॥१२९॥
भोगाभावाय नैष्ठुर्यं गर्भाय ज्ञानसंस्थितिम् ।
तस्यामासक्तहृदयो मुक्तिमेष्यत्यसंशयम् ॥१३०॥
अतो मुक्तिप्रक्रियायां तन्मुक्तिर्विनिरूप्यते ।
भक्तिसामर्थ्यसिद्ध्यर्थं वेदोद्गम इहोच्यते ॥१३१॥

देवस्वभावे गणितत्वात्। परेति भगवत्कृपाजन्यत्वेन स्वाभाविक्याः सकाशादुत्कृष्टा। शुद्धामिति भोगाशक्तिनिवारिकाम्। देवत्वरक्षाया इति स्वाभाविकं स्वस्मिन् यद्देवत्वं तद्रक्षार्थम्। नरत्वायेति नरलोकतापदस्यार्थः। तथा च सा स्वजातिस्वभावादिकं पिङ्गलावदवगत्य तयोः स्वभावं चावगत्य सकृत्प्रवृत्ता, नतु कामादिना, ताभ्यां तत्स्वभावं लौकिकवदवगत्य तस्यां रसाधिक्यात्सा भोगार्थं प्रार्थिताऽपि विरक्तत्वान्न पुनरङ्गीकृतवती तदा ताभ्यां स्वस्य भोगे तया निवारिते तद्भोगनिवृत्तये नरत्वार्थं शप्तेति तस्याः शापभागित्वमिन्द्रद्युम्नवत् न तु दोषादिति तदुत्कर्षो न तेन क्षीण इत्यर्थः। नन्वेवं स्वतो विरक्तत्वे शापेनोपोद्बलिते कथं पुनर्भोग इत्यत आहुः—ऐश्वर्येत्यादि ॥१२३॥१२४॥१२५॥१२६॥१२७॥१२८॥१२९॥

ज्ञानसंस्थितिमिति। 'तेजो वै घृत'मितिश्रुतेस्तस्य प्रकाशकत्वेन ज्ञानस्थापकत्वात्तस्य भक्ष्यत्वकथनेन ज्ञानस्य सम्यक् स्थितिम्। नन्विदं द्वयं क्रमेण वेश्यात्वाद्देवत्वाच्चापि सम्भवतीति न वैराग्यगमकमित्यत आहुः—तस्यामित्यादि। तथा चैकादशे तदासक्तस्य पुरूरवसो मुक्तिबोधनादत्र च तयाऽस्मै वैराग्योपदेशाच्च सा वैराग्यवत्येवेति तस्या उत्कर्षो निर्बाध इत्यर्थः ॥१३०॥१३१॥ एवं तद्वृत्तान्तकथनेन

एवं पुरूरवा भक्तः प्रथमं सुनिरूपितः ।
गाधिपर्यन्तमेतस्य वंशो रामप्रसिद्धये ॥१३२॥
तद्वंशोत्पत्तिकथया भक्तत्वं सिद्धमेव हि ।
पुष्टिमार्गे यदोर्वंशो ब्राह्मणानां च घातकः ॥१३३॥
भक्तिमार्गे तथा पुष्टिर्न युक्तेति हरेर्मतम् ।
दैत्येषु तादृशी पुष्टिर्न देवेष्विति निर्णयः ॥१३४॥
देवांशास्तत्र वक्तव्या दोषनाशार्थमीश्वरः ।
अर्जुनं तस्य पुत्राँश्च तत्सङ्गादितरानपि ॥१३५॥
मुख्यगौणप्रभेदेन द्वयं हन्ति महाबलः ।
भक्तानां गर्वनाशाय दैत्यानां निधनाय च ॥१३६॥
गुणरूपावतरणपर्यन्तं हन्ति बाहुजान् ।
विप्रे मन्त्रा हविर्धेनौ यज्ञात्मा भार्गवो हरिः ॥१३७॥

पुरूरवसोऽपि भक्तत्वं निगमयन्ति एवं पुरूरवा इत्यादि । परिणामे वैराग्यान्मुक्तिरूपफलस्याऽग्रे कथनाच्च स तथेत्यर्थः ॥

(अ. १५) एवं पुरूरवसोऽनुभावभक्ती प्रथमाध्याये निरूप्याऽग्रे ईशकथां वक्तुं द्वितीयाध्याये तद्वंशे तथात्वं बोधयन्ति गाधीत्यादि ॥१३२॥ ननु पुरूरवःपुत्रस्य विजयस्य वंशो यथा रामप्रसिद्धयेऽनुभावभक्तियुक्त उक्तस्तथाऽग्रे कृष्णावतारार्थं यदुवंशोऽपि तादृशो वक्तव्यस्तथा सति भगवतोऽपराधस्ततः कथं युज्यते भगवता तद्धननं चेत्याकाङ्क्षायामाहुः—पुष्टिमार्ग इत्यादिकारिकात्रयम् । पुष्टिमार्ग इति । पुष्टिः स्वार्थानुग्रहः मार्गो भगवत्प्राप्त्युपायो यत्र तादृशः । भक्तिमार्गे परार्थानुग्रहरूपे तथा पुष्टिः सन्मार्गघातकोऽनुग्रहो न युक्त इति हरेर्मतम् । तत्र हेतुः—दैत्येष्वित्यादि । तत्र यदुवंशे देवांशा वक्तव्या अतो दोषनाशार्थं तथा हन्तीत्यर्थः । हेतुपूर्वकं तस्योत्तरावधिमाहुः—भक्तानामित्यादि । तथा चान्तरो दोषो बाह्यसंसर्गश्च श्रीरघुनाथप्रादुर्भावावधिरिति तत्पर्यन्तं तन्नाशयित्वा भोगराहित्यं भक्तौ दृढीकरोतीत्यर्थः ॥१३३॥ ॥१३६॥ (अ. १६) मुख्यगौणभेदेनोभयहनने हेतुं स्फुटीकुर्वन्ति—विप्र इत्यादि ।

१ "घातक" इतिपाठान्तरम्

हविर्नाशे पुरा हन्ता मन्त्रनाशे तत परम् ।
क्षत्रियत्वाय युक्तोऽपि प्रार्थनाद्ब्राह्मणोऽभवत् ॥१३८॥
उभयात्मा न युक्तो हि तेन वध्योऽभवद्रिपोः ।
रेणुका चाऽपि भार्याऽस्य भक्तिरूपाऽऽधिदैविकी ॥१३९॥
उभयात्मकेन सन्तुष्टः पद्ममाली हरेः प्रियः ।
गन्धर्वो नैव दोषाय द्वितीयः स पतिर्यतः ॥१४०॥
भक्त्यर्थं पूर्वभावं सा कृष्णावेशं विबुध्य हि ।
कर्मासक्तिं परित्यज्य कृष्णासक्ता बभूव ॥१४१॥
दुष्टा चेद्भगवान् रामः कथं तस्यां भविष्यति ।
द्विरूपत्वान्मुनेश्चापि क्षान्तिः क्रोधोऽपि जायते ॥१४२॥
क्षान्त्या पुत्रोपदेशस्तु क्रोधो दारेषु संस्थितः ।
क्रोधः क्षत्रियभावो हि तद्रूपो राम उच्यते ॥१४३॥
अतो हता सपुत्रा हि माताऽपि पितृवाक्यतः ।
तत क्रोधपरित्यागं वव्रे राम इति क्वचित् ॥१४४॥
वधार्थो दोषजननं मुख्यार्थो मम सम्मतः ।

ननु यद्गृहे भगवज्जन्म तादृशस्य जमदग्नेः कथमेवं वध इत्याकाङ्क्षायामाहुः—क्षत्रियत्वायेत्यादि । ननु रेणुकाया मनोदोषस्य मूल उक्तत्वात्तत्र कथं भगवत्प्रादुर्भाव इत्याकाङ्क्षायामाहुः—रेणुका चेत्यादि । हरेः प्रिय इति 'गान्धर्वाणां चित्ररथ' इति विभूतिमध्ये पाठात्तथेत्यर्थः । द्वितीयः सपतिरिति 'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तर' इति श्रुतेस्तथा ॥१३७॥१३८॥१३९॥१४०॥१४१॥

नन्वदुष्टत्वे मुनेः कुतः क्रोध इत्यत आहुः—द्विरूपत्वादित्यादि । तथा च स क्षत्रभावः कृत इति न विचारपूर्वक इत्यर्थः ॥१४२॥ ननु यद्येवं निरपराधता तदा रामः कथं हतवानित्यत आहुः—क्रोध इत्यादि, तथा च तत्रापि क्षत्रियभाव एव प्रयोजक इत्यर्थः । अत्राग्रे वरप्रार्थनमुक्तम्, 'वव्रे हतानां रामोऽपि जीवितं चास्मृतिं वध' इति । एतदग्रे क्रोधपरित्यागं वव्रे इति पुराणान्तरेऽस्ति तदनुवदन्ति—तत इत्यादि । अत्र घ्नतैनामित्यस्य ताडनाद्यपमानेनादोषां कुर्वित्यर्थमाहुस्तदनूद्य दूषयन्ति—वधार्थं इत्यादि । एवमर्थोक्तौ मुख्यार्थबाधः स्यात्, स च तदैव युक्तो

सोमवंशेऽवतीर्णस्य तथा न स्यात्पराक्रमः ॥१४५॥
इति शङ्कां निराकर्तुं रावणस्य पराजयः ।
अर्जुनं तादृशं योगैः सिद्धं रावणमोचकम् ॥१४६॥
यो जिग्ये लीलयैवैकः क्षत्रियाणां विनाशकः ।
तत्तुल्यः कोऽपरो लोक इति वक्तुं तथोच्यते ॥१४७॥
षड्गुणैर्द्धर्मिणा चैव तामसाः प्रथमं हताः ।
तथैव राजसाः पश्चात्सात्विकाश्च तथैव हि ॥१४८॥
सगुणेषु विनष्टेषु सर्वभावेषु सर्वशः ।
निर्गुणा भक्तिरुत्कृष्टा लोके ख्यातिं गमिष्यति ॥१४९॥
तत उर्वरिता भक्ता इति ख्यापयितुं ध्रुवम् ।
शूरसेनो महाभक्तो मथुरायां निरूप्यते ॥१५०॥
तादृशाः सर्व एवाग्रे क्षत्रिया इति बोधितम् ।
पूर्ववद्यज्ञसम्पत्ती रामस्याऽत्रापि वर्ण्यते ॥१५१॥

यद्यन्वयस्य वा तात्पर्यस्य वाऽनुपपत्तिः स्यात्, प्रकृते तु नश्वरभावत्वेन योग्यतयाऽन्वयानुपपत्त्यभावात् । 'वत्रे हतानां रामोऽपि जीवितं चास्मृतिं वध' इति जीवितवधास्मरणवरप्रार्थनलिङ्गेन तात्पर्याऽनुपपत्तेरप्यभावाच्च न मुख्यार्थो बाधितुं शक्य इति मम मुख्यार्थः सम्मतस्तथा सति वधस्यार्थः प्रयोजनमदोषजननं निर्दुष्टत्वसम्पादनम्, तथा चार्जुनरीत्यार्थसिद्धौ फले लक्षणा न युक्तेत्यर्थः। ननु क्षत्रियकुलनाशहेतुभूतदोषे पृष्टे अर्जुनपराक्रमवर्णनस्य कुत्रोपयोग इत्याकाङ्क्षायामाहु–**सोमेत्यादिसार्द्धद्वयम्** । अर्थस्तु प्रकटः । तथा चार्जुनदर्पकथनमात्रं न प्रयोजनमपि तु रामवीर्यप्रकटनमित्यर्थः ॥१४३॥१४४॥१४५॥१४६॥१४७॥

ननु सकृद्वधेनाऽपि पितृवधनिर्वेशे त्रिःसप्तकृत्वो बधकरणस्य किं प्रयोजनमत आहुः–**षड्गुणैरित्यादिद्वयम्** । तथा च षड्गुणसहितधर्मिकार्यबोधिका सप्तसङ्ख्या, वध्यानां त्रैविध्यबोधिका त्रित्वसङ्ख्या । तथा च पूर्वं तामसतामसेषु तदुत्तरमुत्पद्यमानास्तामसराजसा इत्येवं क्रमेण षड्गुणो भगवांस्तान्निहतवानिति ज्ञापनं प्रयोजनम् । ततस्तेषु सदोषेषु नष्टेषु निर्गुणभक्तिख्यापनं च प्रयोजनमित्यर्थः । एतदेव फलेन निगमयन्ति–**तत इत्यादिसार्द्धेन** । सर्ववेदसप्रकरणतात्पर्यमाहुः–**पूर्ववदित्यादि**, **अत्रापीति** सोमवंशेऽपि ॥१४८॥१४९॥१५०॥१५१॥

सर्वदानं भक्तिमार्गं बोधयन् पृथिवीं ददौ ।
भारात्मकाः क्षत्रिया हि तन्नाश उपसंहृतिः ॥१५२॥
विश्वामित्रः परावृत्तो रामस्येत्युच्यते कथा ।
पुत्राणां च परित्यागः शुनःशेफस्य सङ्ग्रहः ॥१५३॥
ब्राह्मणस्य प्रतिष्ठार्थं विश्वामित्रे निरूपितम् ।
गोत्राणां बहुधावृत्तिरतोऽस्माद्धिनिरूपिता ॥१५४॥

'एवं भृगुषु विश्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । अवतीर्य परं भारं भुवोऽहन् बहुशो नृपा'निति (श्लो. २७) वाक्यविचारेण क्षत्रियहननस्य प्रयोजनान्तरमाहुः–**भारेत्यादि**, **उपसंहृतिरिति** । भारस्येतिशेषः । विष्णुधर्मोत्तरे एवं कथाऽस्ति । भूमिस्तावत्स्थावरजङ्गमयोरुभयाप्यतिभवनेनोभयभाराक्रान्ता ब्रह्माणं तदभावाय विज्ञापितवती तदैवाग्निरपि मरुत्तस्यान्यस्य वा कस्यचिद्यज्ञेऽत्यन्तमिष्टोऽजीर्णनिवृत्तये विज्ञापितवान् । तदा ब्रह्मावधार्य एकेनैव कार्यद्वयं साधयिष्यन् तं प्रत्यर्जुनं प्राथ्यं तच्छरेषु प्रविश्य वनेषु धक्ष्यमाणेषु तवाजीर्णं नङ्क्ष्यतीत्युक्तवान्, ततोऽग्निस्तं प्रार्थितेनार्जुनेन रथमारुह्य शरेषु मुच्यमानेषु दैवयोगाद्वसिष्ठवने शराः पेतुस्तदा तद्वने दह्यमाने वसिष्ठोऽर्जुनं शशाप तव बाहुच्छेदो भविष्यतीति । तदुत्तरं कतिपयाहस्सु तस्य जमदग्निहविर्धान्यभिलाषो दैवैरुत्पादितस्तेनेदं सर्वक्षत्रनाशनमभूदिति । अत इदं प्रासङ्गिकं देवादिकार्यम, मुख्यं तु भक्तक्लेशनिवृत्तिर्निर्गुणभक्तिस्थापनमिति पूर्वोक्तमेव स्कन्धार्थोपयुक्तत्वादित्यर्थः ॥१५२॥ **एवमीशानुकथयोर्मध्ये ईशकथा निरूपिता ॥**

अतः परमीशानुकथारूपे वंश्यानुचरिते क्षत्रियाणां वक्तव्ये विश्वामित्रब्राह्मण्यादिकथा कुत उक्तेत्याकाङ्क्षायामाहुः–**विश्वामित्र इत्यादि**, **परावृत्ताविति** वधात्परावृत्तौ, हेतुरिति शेषः, तेन तत्कथोच्यत इत्यर्थः । एतेन राजधर्मेषु युधिष्ठिरं प्रति भगवता यद्विश्वामित्रपौत्रेण परावसुनाम्ना 'वृथात्वं कत्थसे रामे'त्यादिना ययातिपत्तने यज्ञकृतां क्षत्रियाणां प्रदर्शनेन पुनः क्षत्रवधार्थं शस्त्रग्रहणमुक्तं तत्कल्पान्तरीयमिति ज्ञापितम् । नन्वस्त्वेवं तत्कथा·तथापि कथान्तरं तदीयं त्यक्त्वा पुत्रत्यागकथैव कुत उक्तेत्यत आहुः–**पुत्राणामित्यादिसार्द्धम्** । **अत इति** ब्राह्मण्यप्रतिष्ठातः । तथा च विश्वामित्रकथाया एव शेषः । यथा पूर्वाध्यायस्था सत्यवत्यन्ता कथा, तेन मध्ये द्वाभ्यामीशकथेति पूर्वोक्तं समर्थितम् ॥१५३॥१५३॥

भक्ता अत्रापि द्विविधा वैदिका भोगतत्पराः।
पुरूरवा अलर्कश्च रजिश्च प्रथमा मताः ॥१५५॥
धन्वन्तरेरत्र जन्म दोषाभावाय पूर्ववत्।
नहुषश्च ययातिश्च पुरुश्चाऽप्यत्र मध्यमाः ॥१५६॥
वीर्याधिक्याच्च नहुषः पूर्वस्माद्धि विशिष्यते।
पुष्टिभक्तपदे स्थित्वा दोषयोगाच्च मध्यमः ॥१५७॥
ययातेर्मानसं शुद्धं प्रमाणं सर्ववस्तुषु।
ब्राह्मणानां च जामाता वयोव्यत्यासतस्तथा ॥१५८॥
मध्यमानां मध्यमस्य बन्धमोक्षौ निरूपितौ।
तेन सर्वत्र ये भक्तास्तादृशा इति बुद्ध्यताम् ॥१५९॥
शुक्राचार्यः पुष्टिकर्त्ता मर्यादायां समन्ततः।

अतः परं पुनरीशानुकथामेव वदन्तोऽवान्तरप्रकरणानि विभजन्ते-**भक्ता अत्रापी**त्यादि। अत्रेति प्राथमिक्यां विधायां सोमवंशे वा। पूर्ववदिति भार्गवरामवत्। तेन येषामत्रोद्देशमात्रं कृतं तेऽप्युक्तसमानकक्षा एव भक्तौ बोध्या इति धन्वन्तर्यवतारोक्त्या ज्ञापितम्। एवमेकेन सप्तदशाध्यायेनेतः पूर्वं चतुर्दशेन चेति द्वाभ्यां प्रथमकक्षोक्तेत्यध्यायद्वयात्मकमाद्यं प्रकरणम्। द्वितीयमाहुः--**नहुष** इत्यादि चतुर्दशभिः ॥१५५॥१५६॥ एतेषु किमाधिक्यं येन मध्यमकक्षत्वमित्याकाङ्क्षायां क्रमेण त्रिष्वपि तदुपपादयन्ति--**वीर्याधिक्या**दित्यादि। नहुषे वीर्यं विद्यातपोयोगबलानां चतुर्णां ग्राह्यम्, 'तावत्त्रिणाकं नहुषः शशास विद्यातपोयोगबलानुभाव' इतिषष्ठस्कन्धवाक्यात्। केवलबलात्मकवीर्यग्रहणे रजेरपि मध्यमकक्षत्वापातात्। तर्ह्युत्तमत्वं कुतो नेत्यत आहुः--**पुष्टी**त्यादि। नहुषस्य परमवैष्णवत्वं ब्रह्मवैवर्त्ते स्फुटम् ॥१५७॥

ययातेस्तथात्वमुपपादयन्ति--**ययाते**रित्यादि। तथा च चत्वार एते धर्माः पूर्वकक्षास्थेभ्योऽधिका इत्यतस्तस्य मध्यमत्वमित्यर्थः। तर्ह्युत्तमत्वमेव कुतो नेत्यत आहुः--**मध्यमाना**मित्यादि, य इति तुर्वसुप्रभृतयः। तथा च पूर्वं बद्धावस्थात्वान्नोत्तमकक्षायां निवेश इत्यर्थः ॥१५८॥१५९॥ ननु मोक्षस्त्वन्ततः सर्वेषामेव

ययातिर्द्विविधः प्रोक्तस्तद्वाक्यं तन्न मन्यते ॥१६०॥
कामो वा कामधर्मो वा हेतुर्नाऽत्र कथञ्चन।
कृष्णेच्छा दिष्टमत्रेति पौरवान्वयशुद्धये ॥१६१॥
बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधौ भक्तिमार्गगौ।
मर्यादायां तु त्रिविधौ तेषु पूरुर्महात्मनः ॥१६२॥
राज्यस्यानर्पणाद्वाक्यं पितुराग्रहसंयुतम्।
तथाऽपि मातृसम्बन्धे वयोदानात्तु मध्यमः ॥१६३॥
बोधनीयः परं युक्त्या ब्राह्मणः प्रार्थ्यते परम्।

भक्तत्वाद्भावीति सोऽत्र नाधिक्यप्रयोजकतया शक्यवचन इत्याकाङ्क्षायां तदर्थं हेत्वन्तरमाहुः द्वाभ्यां--**शुक्रे**त्यादि। द्विविध इति पुष्टौ मर्यादायां च सम्मतः। अत्र सर्वत्र पुष्टिपदेन भगवत्कार्यार्थानुग्रहरूपा भक्तिर्बोध्या। तदिति लुप्तपञ्चम्यन्तमव्ययम्। ननु शुक्राचार्यवाक्यानङ्गीकारे कामो वा कामधर्मौ वा प्रयोजकौ। तत्राद्ये लौकिकतैव द्वितीये मार्यादिकतैवेति कथं द्वैविध्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः--**कामो वे**त्यादि ऋतौ सकामागमनं धर्मः, कामसहितो धर्मः कामधर्मः। कथञ्चनेति। 'धर्मं चावेक्ष्ये'-त्यनेनोक्तोऽपि। तथा च मूले 'दिष्टमेवानुपद्यते'ति कथनेन गमने तदुभयहेतुकत्वस्य निवारणात्तदुभयमपि शुक्रवाक्यानङ्गीकारे हेतुर्न, किन्तु दिष्टं हेतुः, दिष्टं च दैवम्। तच्चात्र पूर्वान्वयजननविषया भगवदिच्छैवेति तत्र भारनिक्षेपान्न ययातेः पुष्टत्वहानिरतस्तथेत्यर्थः ॥१६०॥१६१॥ ननु पञ्चस्वपि ययातिपुत्रेषु पूरोरेव पित्राज्ञानुवर्तित्वात्तस्योत्तमत्वं युक्तं वयसो न गुणाधिकमिति मूले तथोक्तेश्च तदुभयाभावाद्यदोश्च मध्यमत्वमित्यत आहुः--**बाह्ये**त्यादित्रयम्। ननु ययातेरेवं गुणकत्वे कथं भोगासक्तिः किमर्थं चैतत्कथोपक्षेप इत्यत आहुः **ययाति**रित्यादि। तत्र गमकमाहुः--**भोगा** इत्यादि। **प्रतिबन्धनिवृत्तये** इति। 'विप्रस्य वै संन्यसत' इतिवाक्यात्तद्रूपेण देवकृतप्रतिबन्धनिवृत्तये, यत्पृथिव्यामित्यादेस्तात्पर्यमाहुः **यदि**त्यादि। तथा चायमप्येक आसक्तत्यागप्रकार इति बोधनायोपक्षेप इत्यर्थः ॥१६२॥१६७॥ प्रासङ्गिक्यपि सद्वार्ता भक्तानां मुक्तिमेव जनयतीतिज्ञापनाय देवयानीमुक्तिकथेत्याशयेनाहुः--**बोधे**त्यादि

भक्तसङ्गात्तु नहुषो मोक्षं प्राप्स्यति निश्चितम् ॥१६४॥
ययातिर्वासनाशान्त्यै कामसम्पूरणाय च ।
अन्यतारुण्यमादाय भोगान् भुङ्क्तेऽविचार्य हि ॥१६५॥
भोगा दोषात्मका नित्यमिति वक्तुमजाकथा ।
भार्यायाः कामशान्त्यर्थं प्रतिबन्धनिवृत्तये ॥१६६॥
वैराग्यं जनयन् प्राह वस्तुतत्त्वं च बोधयन् ।
यत्पृथिव्यां व्रीहियवमित्यादिवचनं हृदि ॥१६७॥
स्वार्थं प्राह स्वविज्ञानदार्ढ्यं सम्यक् प्रबोधयन् ।
बाधाभावाय भर्त्रैव बोधिताऽपि व्यमुच्यत ॥१६८॥
ययातेः कार्यसंसिद्धिर्बोधनाय निरूपिता ।
पूरोर्मुक्तिस्तु सिद्धैव वंशशुद्ध्या निरूप्यते ॥१६९॥
वैष्णवा ब्राह्मणाश्चैव जायन्ते यत्र सर्वदा ।

(तृतीयमवान्तरप्रकरणम्)

भरतो रन्तिदेवश्च यदुश्चाऽप्युत्तमास्त्रयः ॥१७०॥
सामर्थ्यधैर्यभक्तीनां येषु काष्ठा पुरा स्थिता ।
उत्तरावधिराजानः पूर्वधर्मसभा इह ॥१७१॥
तेन सर्वे नवस्वेव प्रविशन्ति नरोत्तमाः ।

सिद्धमाहुः—ययातेरित्यादि । बोधनायेति अत्रोक्तानामनुक्तानां चैवं मुक्तिबोधनाय। ननु पूरुमुक्तिः कुतो नोक्तेत्यतो गमकपूर्वकम् आहुः--पूरोरित्यादि ॥१६८॥१६९॥ एवं चतुर्दशभिर्द्वितीयं प्रकरणं विचारितम् ।

(अ. २१) तृतीयं विचारयन्ति--सार्द्धैः सप्तभिः--भरत इत्यादि । ननूत्तरावधिस्था राजानो येऽग्रे वाच्या एतत्प्रकरणे तेषामेव तत्तुल्यसामर्थ्याभावात्तत्प्रकरणमन्यदत्र वक्तव्यमित्यत आहुः—उत्तरावधीत्यादि । नन्वत्र समाप्तौ वज्रादयः कुतो नोक्ता भगवानेव कुत उक्त इत्यत आहुः--भक्त्यन्त इत्यादि। भक्त्या हि

भक्त्यन्ते भगवान् साक्षादाविरासीदितीर्यते ॥१७२॥
भक्तिवद्रूपसम्पत्त्या सर्वान् मोचयितुं क्षमः ।
उपाख्यानानि सर्वाणि तत्तद्भक्तेषु राजसु ॥१७३॥
दोषनिर्हरणार्थानि वैदर्भादीनुवाच ह ।
रूपे चरित्रसम्बन्धस्तथा तच्छ्रवणादिकम् ॥१७४॥

अहन्ताममतानाशरूपा प्रलयलीलाऽत्र निरूप्यते, सा चाच्युतात्मानुभवावस्थानान्ता। तत्र स्वयमेव चेदाविर्भूतस्तदा रूपेण तं करिष्यतीति फलसम्पत्तिज्ञापनाय तेऽत्र नोक्ता, अग्रिमवंशस्य चरित्रत्वाभावात् । मुक्त्यर्थमेव तत्र प्राकट्यकथनात् । अतो भगवानेवान्ते उक्त इत्यर्थः । नन्वीशानुकथासूपाख्यानोपबृंहणस्य किं प्रयोजनमत आहुः—उपाख्यानानीत्यादि ॥१७०॥१७१॥१७२॥१७३॥

तर्हि भगवच्चरित्रं गुणाधानार्थमवश्यं वक्तव्यमित्यत आहुः—रूपेत्यादि ।

का.-१७२ निबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

अग्रे चतुर्विंशाध्यायार्थोक्तौ 'तेन सर्वे नवस्वेव प्रविशन्ति नरोत्तमा' एतावदन्तेन त्रयोविंशाध्यायार्थ उक्तः। अतः परं चतुर्विंशाध्यायार्थमाहुः 'भक्त्यन्ते भगवानि'त्यादि यावत्समाप्ति, तथा च भक्तिफलरूपस्य साक्षाद् भगवतः प्राकट्यं चतुर्विंशाध्यायार्थ इत्युक्तम्, ननु अत्रापि विदर्भादिवसुदेवान्तानां निरूपणदर्शनात् कथं भगवत्प्रादुर्भाव एवाध्यायार्थस्तत्राहुः उपाख्यानानीत्यादि, रूपे इत्यन्तम्, त्रयोविंशाध्यायपर्यन्तं ये भक्ता उक्तास्ते राजान उक्तास्तेषु राजत्वप्रयुक्तं दोषं सम्भाव्य तत्तदुपाख्यानैः सानुभावत्वसूचनात् स दोषो निवार्यते, एवं सति ते सर्वे निर्दोषा इत्युक्तम्, अत्राध्याये तु गुणवन्तो भगवत्समा भगवदवतारार्थे उपलक्षणविधया उच्यन्ते तेन ज्यामघपर्यन्तं निर्दोषपरमभक्तिमद्भक्तकथा येषां भयादप्युक्तं वचनं असम्भावितमपि देवपितृसम्मतं सत्यमभूदिति भक्तेरनुभावो ज्ञापितः, विदर्भस्तु स्वजन्मनः पूर्वं जातायाः स्वार्थमेव स्थितायाः भोक्ता, यथा भगवान् कृष्णः स्वप्रादुर्भावात् पूर्वं जातानां स्वार्थमेव स्थितानां गोपिकादीनां भोक्तेतिज्ञापनार्थं विदर्भान् रूपकाध्याये शुक उवाचेतिपदसम्बन्धः, रूपे इति पदमग्रेपि सम्बद्ध्यते। तथा च रूपे चरित्रसम्बन्धो वर्तते, परं रूपे प्रादुर्भूते दर्शनस्पर्शनसेवनादिकं यथा उपयुक्तं तथा चरित्रश्रवणादिकं नोपयुक्तम् इति निश्चित्य चरित्रसम्बद्धां रूपसम्पत्तिं सङ्क्षेपेण शुक आहेत्यर्थः । इति कठिनांशविवेचनम् ।

नोपयुक्तं विनिश्चित्य सङ्क्षेपेणाऽऽह तं बुधः।
अग्रे विस्तारकथनं निरोधार्थं भविष्यति ॥१७५॥

वस्तुतः सकला भक्तिः पुष्टावेवोपयुज्यते।
पुष्टौ रूपं पराकाष्ठा तेनान्ते रूपवर्णनम् ॥१७६॥

क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिर्लौकिकं वैदिकं तथा।
मनःसङ्गप्रसिद्ध्यर्थं सङ्क्षेपेण द्वयं जगौ ॥१७७॥

इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते श्रीभागवततत्त्वदीपनिबन्धे
नवमस्कन्धविवरणे दशमं प्रकरणम्।

तामिति रूपलीलाम्। तर्ह्यग्रिमस्कन्धे किमिति तत्कथनमत आहुः--अग्रे इत्यादि। तया चाहन्तादितो मोक्तव्यानां तावदेवापेक्षितमित्यतोऽत्र न विस्तारितम्। निरोद्धव्यानां तु तदपेक्षितमतस्तत्र तथेत्यर्थः। ननु ये निरोद्धव्या अवतारकालीनास्तेऽप्यत्रोक्ता इति मोक्तव्यार्थमेव रूपवर्णनमित्ययुक्तमित्यरुच्या सिद्धान्तमाहुः-वस्तुत इत्यादि। पुष्टाविति जीवार्थेऽनुग्रहे। नन्वेवं सति सङ्क्षेपेणापि चरित्रं कुत उच्यत इत्यत आहुः-क्रियेत्यादि। तथा च राजाधिकारपराक्षार्थं तदित्यर्थः। एवं प्रकरणं तृतीयं विचारितम् ॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणैः पुरुषोत्तमस्य
दर्शिता नवमस्कन्धनिबन्ध-
योजना सम्पूर्णा ॥

नवमस्कन्धः
समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीभागवतार्थप्रकरणे

दशमस्कन्धविवरणम्।

चतुर्विंशतिधा भिन्ना भक्तिरुक्ताऽतिदुर्लभा।
सप्ताशीतिरथाध्याया निरोधे दशमे मताः ॥१॥
नवत्यध्यायसन्दर्भो जातः कृत्रिमभावतः।

श्रीबालकृष्णाय नमः।

अथ दशमस्कन्धनिबन्धस्य योजना।

अथ दशमस्कन्धार्थं निबध्नन्तो विशेषबोधनाय व्यापाररूपं तदर्थमनुवदन्तः पूर्वस्कन्धे यथासङ्ख्या सतात्पर्या, तथात्रापीत्याशयेनाध्यायसङ्ख्याकथनपूर्वकं दशमार्थमाहुः- चतुर्विंशतीत्यादि। यद्यपि पूर्वस्कन्धे भगवदवतारस्य तदनुवर्तिनां चानुचरितमर्थस्तथापि प्रलयलीलात्वात्फलोपहितस्यैव तस्यार्थता। फलं चाहन्तादिप्रलयरूपं न परार्थानुग्रहरूपभक्तिं विनेति, सा च भगवदधीनेत्यतिदुर्लभा। अतः सैव तन्मुखेनोक्ता। अत्र चार्थो निरोधः स च संस्थाविशेषरूपः, संस्था च 'नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः, संस्थेति कविभिः प्रोक्तश्चतुर्धाऽस्य स्वभावत' इति द्वादशस्कन्धे लक्षिता। तदर्थस्तु निमित्तादिस्वभावजन्यश्चतुर्विधः प्रलयः संस्थेति। अत्र तु निमित्तादिजनकभगवल्लीलाजन्यः संघातप्रलयरूपो विशेषो निरोधत्वेन विवक्षित इति दशमे तस्मिन्वक्तव्येऽथ भिन्नप्रक्रमेणाध्यायाः सप्ताशीतिर्मता देहशक्तयो द्वासप्ततिनाडीरूपा भगवतः शक्तयश्चादयो द्वादशैवं चतुरशीतिः, शयनं जाग्रदादिभेदेन त्रिधेत्येवं सप्ताशीतिर्विचारिता इत्यर्थः ॥१॥

नन्वत्र सन्दर्भो नवतीनां दृश्यत इति कथं सप्ताशीतिरित्यत आहुः-नवतीत्यादि। तथा च त्रयः कृत्रिमा इति तेऽत्र न सङ्गृह्यन्त इति तथेत्यर्थः।

केषाञ्चिदत्र सन्देहः स्कन्धार्थे प्रकटो महान् ॥२॥
तन्निवृत्त्यर्थमधुना सर्वनिर्णयपूर्वकम् ।
दशमार्थः प्रकरणाध्यायार्थश्च विचार्यते ॥३॥
नवलक्षणलक्ष्यो हि कृष्णस्तस्य निरूपणात् ।
आश्रयः क्रमभावित्वान्निरोधो वेति संशयः ॥४॥
लीलानिर्धारको ह्यर्थः क्रममात्रं तु दुर्लभम् ।
यथाकथञ्चिच्छ्रवणं सफलत्वाय कल्पते ॥५॥
निरोधः प्रलयो लोके प्रसिद्धः प्रकृते न सः ।
प्रतीतो द्वादशे चैव महत्त्वाच्छुद्धलीलया ॥६॥
सहितो ह्याश्रयः स्कन्धे प्रतिपाद्य इतीति चेत् ।
न हि सापेक्षरूपस्य प्रथमं सुनिरूपणम् ॥७॥
नवलक्षणसापेक्षो ह्याश्रयो रूप्यते कथम् ।

ते च सुबोधिन्यां स्फुटाः । अत्र दशमस्कन्धार्थः श्रीधरमते आश्रयो, बोपदेवमते दुष्टभूभुक्प्रलयस्तदुभयं न व्याससम्मतमिति दूषणीयं तेनाहुः-केषाञ्चिदित्यादि-सार्द्धम् ॥२॥३॥४॥ श्रीधरमतेन सन्देहं तन्मतं चाहुः-लीलेत्यादिसार्द्धत्रयेण । अत्र सन्देहस्तु स्फुटः । पूर्वपक्षे तु यथा ह्यग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचतीत्यत्राग्निहोत्रहोमः पूर्वमुक्तोऽपि नाद्रियते, आर्थक्रमाच्छान्दस्य क्रमे दुर्बलत्वात्, तथात्रापि लीला येन निर्द्धार्यते स एवार्थः । न च क्रमत्यागे श्रवणफलाभावः शङ्क्यः । ऊतिमन्वन्तरयोरिवाऽत्रापि वैपरीत्ये दोषाभावस्य शक्यवचनत्वात् । न च विरोधाङ्गीकारे किं बाधकमिति शङ्क्यम्, लोकप्रसिद्धतदर्थप्रतीतेरेव बाधकत्वात् । इतिहेतौ । अतो हेतोर्द्वादशार्थो निरोधो, दशमार्थः शुद्धलीलया गुणातीतया सहितो धर्मी आश्रय इति चेदित्यर्थः । एतद्दूषयन्ति-न हीत्यादिचतुर्भिः ॥५॥६॥७॥

कथं सापेक्षत्वावगम इत्यत आहुः-नवेत्यादि । ननु यथा स्वरूपलक्षणेनावगते ब्रह्मणि ततः कार्यलक्षणं पश्चादग्रिमप्रपाठके श्राव्यते, यथा च लोके समवायिकारणत्वेनावगते द्रव्ये गुणाश्रयत्वमुच्यते तथाऽत्रापि सप्तभिर्ज्ञाते भगवत्यग्रे द्वयं

अग्रे लीलाद्वयकथा फलसिद्धौ मृषा भवेत् ॥८॥
पूर्वोत्तरस्कन्धयोश्च नश्येत्कारणकार्यता ।
अर्थस्त्वेकादशेऽप्यस्ति क्रमश्च स्वीकृतो भवेत् ॥९॥
चरित्रं दशमे मुख्यं रूपं पूर्वत्र वर्णितम् ।
निरोधार्थं तथा भक्तिसिद्ध्यर्थं च हरिर्बभौ ॥१०॥
आश्रयो यादृशो ह्यत्र तदर्थं न बभूव ह ।
आश्रयो यादृशो ह्यत्र स वाच्यो द्वादशे स्फुटः ॥११॥
भूभारस्य निरोधो वा तत्कर्तुर्वा न सन्मतः ।
आद्यन्तयोरिहाभावान्मुक्तावप्यनुवृत्तितः ॥१२॥

परिचायनार्थमुच्यत इति चेत्तत्राहुः-अग्र इत्यादि । तथा च यद्येवं स्याद्व्यासः सप्तैव लक्षणानि वदेत्, पश्चात्तदुक्तौ बीजाभावात् । न च राजप्रश्नकृतः प्रतिबन्ध एव बीजमितिवाच्यम् । यत्प्रवेशात् स्त्रीभावस्तदुत्तरत्राभिधास्य इत्यादिलिङ्गेन ग्रन्थानुक्रमस्य पूर्वमेव कृतत्वावगमात् ॥८॥ अथ श्रुताविवात्रापि न दोष इति चेन्नेत्याहुः-पूर्वेत्यादि । मध्य आश्रयेण विच्छेदेऽग्रे हेतुहेतुमद्भावगमकस्याभावात्स नश्येदतोऽत्र श्रौतन्यायो न वक्तुं शक्य इत्यर्थः । नन्वत्रार्थरूपो भगवानत्र प्रतीयत इति तस्य का गतिरित्यत आहुः-अर्थस्त्वित्यादि । तथा चाश्रयस्यार्थत्वाङ्गीकारेऽतिव्याप्तिदोषः स्कन्धैक्यापत्तिर्वा स्यादतस्तन्मतमसङ्गतमित्यर्थः । तन्मतमपाकृत्य सिद्धान्त उपपत्तिमाहुः क्रम इत्यादि । चकाराल्लीला सङ्गृह्यते । तदाहुः-चरित्रमित्यादि । मुख्यमिति । तथा च यथा आलोको धर्म्यविच्छन्न एव धर्मिप्रमितिजनकस्तथा प्रलयलीलाप्यावरणं भजन्ती भगवत्प्रमितिं जनयतीति नवमादित्रयेऽपि *रूपसम्बन्ध इति न तस्य मुख्यत्वं किन्तु चरित्रस्यैवेत्यर्थः । चकारान्मुक्तिसिद्ध्यर्थञ्च ॥९॥१०॥ ननु द्वादशे प्रलय एव स्फुटो नाश्रय इति सोऽनिरूपित एव तिष्ठेदित्यत आहुः-आश्रय इत्यादि ॥

एवं श्रीधरीयं मतं निरस्य बोपदेवीयं निरस्यन्ति-भूभारस्येत्यादि । तत्कर्तुरिति दुष्टभूभुक्समूहस्य । असमन्तत्वे हेतुमाहुः आदि इत्यादि । आद्यन्तयोरितिप्रकरणयोः । नन्वाद्यस्योपोद्घातत्वेन तत्र तदभावेऽप्यदोषात् । अन्ते च वृकवधस्य सत्त्वान्न दोष इपि चेत्तत्राहुः-मुक्तावित्यादि । तथा च वृकस्य

* त्रिष्वपि रूपसम्बन्धः । परं नवमे रूपं मुख्यम्, दशमे चरित्रमेकादशे ज्ञानमितिविवेकः ।

लक्षणस्याप्रवेशश्च लीलाधिक्यं तथा भवेत् ।
तदर्थं जन्मकथनं पृथास्तोत्रविरोधि हि ॥१३॥
पूर्वोत्तरस्कन्धयोश्च नश्येत्कारणकार्यता ।
निरोधोस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः ॥१४॥
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम् ।
निरोधो यौगिकश्चात्र रोधनात्मा सतां मतः ॥१५॥
भक्ताः पूर्वत्र निर्दिष्टास्ते रोद्धव्या विमुक्तये ।
कृष्णे निरुद्धकरणाद्भक्ता मुक्ता भवन्ति हि ॥१६॥
भक्तेश्च शुद्धयतासिद्ध्यै प्रपञ्चाद्विनिवारणम् ।

भूभारकर्तृष्वप्रवेशेनाव्याप्तिपरिहारस्यासङ्गतत्वेऽपि तुष्यतु दुर्जनन्यायेन तदङ्गीकारेऽप्यग्रिमस्कन्धेऽतिव्याप्तिस्तु दुर्वारैवेत्यर्थः ॥१२॥

ननु दुष्टभूभुङ्निरोधस्य विवक्षितत्वेन नातिव्याप्तिरित्यत आहुः लक्षणेत्यादि । निरोधस्य लक्षणं हि शक्तिशयनानन्तरशयनात्मकं तच्च न दुष्टभूभुङ्निरोधोत्तरं दृश्यत इति मूलोकलक्षणासम्भवः । किञ्च, 'अत्र सर्गो विसर्ग' इत्यत्र दशलीलाः प्रक्रान्ताः प्रत्येकं लक्षिताश्चातो लक्षिता एवात्राभिप्रेतास्तास्वलक्षिताया अस्यास्तत्र (अ)प्रवेशे लीलाधिक्यं भवेत्, तत उक्तवाक्यविरोधश्चेत्यर्थः । किञ्च, 'तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगवितानार्थ'मित्यत्र प्रथमस्कन्धे पृथास्तोत्रेऽवतारप्रयोजनमुक्तम् । भूभारहरणार्थं जन्मकथने तद्विरोधः । किञ्च, द्वितीयस्कन्धविवृतौ नवानां लीलानिरूपकाणां स्कन्धानां कार्यकारणभाव उपपादितस्तेष्वत्र पूर्वस्कन्धे भक्तिरुक्ता, अत्र च निरोध इत्यादिनोक्तरीतिको यौगिक एव निरोधो ग्राह्यः, रूढस्योक्तलक्षणरहितत्वात् । अतोऽपि न पूर्वोक्तो निरोधः शक्यवचनः । किञ्च, अग्रिमे मुक्तिर्मध्येत्र निरोधस्तथा च भक्ता एव मोचनीया इति सन्दंशेन मुक्त्यर्थमत्र भक्ता एव निरोद्धव्या इत्यायाति, ते च भगवति निरुद्धकरणा एव मुच्यन्ते करणनिरोधश्च भक्तेः शुद्धया, सा चेतरसङ्गराहित्येन, तच्च प्रपञ्चविस्मृतौ तस्माद्धेतोरत्र प्रपञ्चाद्विरुद्धमेवात्र निरूपणम्, **विनिवारणमिति वा पाठः** । तथा भगवत्यासक्तिरपि करणनिरोधार्थमेवेत्यत्र न संशयः । सर्वत्रैव स्कन्धे तन्निरूपणस्यैव दर्शनात् । तस्मान्न भूभारस्य तत्कर्तुर्वा निरोधो वात्र विवक्षित इत्यर्थः ॥१३॥१७॥ सिद्धान्तमाहुर्द्वाभ्यां

आसक्तिरात्मनि तथा निरोधार्थं न संशयः ॥१७॥
प्रपञ्चविस्मृतिस्तस्मात् कृष्णासक्तिश्च वर्ण्यते ।
'शय्यासनाटनालाप'श्लोके फलितमीरितम् ॥१८॥
रूपान्तरं तु नटवत्स्वीकृत्य त्रिविधान्निजान् ।
प्रपञ्चाभावकरणादुज्जहारेति निश्चयः ॥१९॥
समुदायो जन्मवाची क्रीडायुक्तस्य वै हरेः ।
प्रपञ्चविस्मृतिसक्तिर्भक्तानां चापि योगतः ॥२०॥

प्रपञ्चेत्यादिभ्याम् । तथा चायमर्थः । अत्र भगवत्क्रीडनं करणम्, तेन कृष्णासक्तिस्तया प्रपञ्चविस्मृतिरिति द्वयं वा विशिष्टं वा व्यापारः, स एव 'शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानाशनादिषु, न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतस' इत्यन्ते निगम्यते । तदुत्तरं प्रपञ्चाभावः फलं, स च 'तीर्थं चक्रे नृपोन'मित्यनेन निगम्यते, एवं तत्तत्प्रकरणेऽपि ज्ञातव्यम् । अत्र भक्तानां त्रैगुण्यव्याप्तत्वात्तत्स्वभावपरावर्त्तने तेषां क्लेशात्स्वस्य च श्रमबाहुल्याच्च क्लिष्टकर्मता स्यादिति तदभावाय मायया नटवद्रूपान्तरस्य मानुषभावस्य स्वीकरणम् । तेन तेषां प्रपञ्चविलयात्तत उद्धार इत्येवं प्रकारेण भक्तप्रपञ्चप्रलय एव स्कन्धार्थ इति निश्चय इत्यर्थः । नन्वेतस्यापि निरोधस्य स्कान्धार्थत्वे प्रथमे प्रकरणेऽव्याप्तिर्दुर्वारा क्रीडायास्तस्मिन्नभावादित्याकाङ्क्षायामाहुः—समुदाय इत्यादि । तथाऽपि क्रीडाविशेषत्वात्तत्रापि शक्तिसाह्याच्च समुदायशक्त्या तस्यापि ग्रहणान्नाव्याप्तिरित्यर्थः । ननु करणरूपः स्कन्धार्थः समुदायशक्त्या फलरूपः प्रकरणाद्यनुगृहीतया तया लभ्यते, परं व्यापारलाभोऽत्र कथमित्याकाङ्क्षायामाहुः—प्रपञ्चेत्यादि ॥१८॥१९॥२०॥ **एवं सार्द्धोनविंशतिभिः स्कन्धार्थो निर्णीतः ।**

का. २० निबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

दशमस्कन्धार्थनिर्णये समुदायो जन्मवाचीत्यादि, पूर्वकारिकायां नटवद्रूपान्तरं जन्मापरपर्यायं स्वीकृत्य त्रिविधानां भक्तानां प्रपञ्चं निवार्य निरोधात्मकमुद्धारं करोतीति निश्चितो दशमस्कन्धार्थ उक्तः, तथा सत्यवतारसामयिकानामेव निरोधो भविष्यति नानवतारसामयिकानां तदानीं रूपान्तरस्वीकरणात्मकजन्माभावादित्याशङ्कायामाहुः **समुदायो जन्मवाची**त्येकेन, भगवान् हि सर्वभक्तसम्बन्धिनीः सर्वाः लीलाः कुर्वन् सदा विराजते, न तु तस्य स्वाभाविकं जन्मास्ति, नापि लीलानां कादाचित्कत्वमितिद्धान्तात् सर्वक्रीडायुक्तस्य हरेः सर्वलोकदर्शनार्थं समुदाय एकीभावो बहिर्यः सोवतारसमये **जन्मोच्यते,**

प्रक्रियापञ्चकं ह्यत्र जन्मार्थे प्रथमा मता।
तामसानां तु भक्तानमुद्धृत्यै तु ततः परा ॥२१॥
राजसानां तृतीया तु चतुर्थी सात्त्विकी मता।
अन्तर्याम्यधिदैवादिन्यायेनात्राऽपि वै हरेः ॥२२॥
भगस्य व्यपदेशः स्यादतस्तस्य निवृत्तये।
भगस्य सहजत्वाय पञ्चमी प्रक्रिया मता ॥२३॥
चतुर्भिश्च तथा तत्त्वैस्तत्त्वैर्विंशतिभिस्तथा।
एकाधिकैस्तथा षड्भिरध्यायैः क्रमशो मताः ॥२४॥
चतुर्मूर्त्तिर्हरिर्जातस्तेनाध्यायचतुष्टयम्।
प्रथमे वासुदेवोऽभूद्वसुदेवहृदि स्थितः ॥२५॥
मृत्युवारणसामर्थ्यमन्यथा न भवेत् क्वचित्।

अतः परं त्रिभिः प्रकरणार्थं विभजन्तस्तदर्थमप्याहुः-प्रक्रियेत्यादि। प्रथमप्रकरणेऽध्यायविभागक्रमेण तेषामर्थं सार्द्धैः पञ्चदशभिराहुः—चतुरित्यादि। ननु जन्म तृतीय एव दृश्यत इति कथं चतुर्मूर्त्तिजन्मावगन्तुं शक्यमित्यत उपपादयन्ति—प्रथम इत्यादि। 'यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छम्,' 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दित'मित्यादिषु शुद्धस्य चित्तस्य सत्त्वस्य च वासुदेवाविर्भावस्थानत्वकथनाद्धृदीत्युक्तम्। स्थितोऽभूदिति अवतीर्णः। अवतारोऽत्र मूलस्थानादागमनम्, न त्वलौकिकतेजसः सङ्क्रमणमात्रमिति कार्यतः स्फुटीभविष्यति। स्थितौ गमकमाहुः—मृत्य्विवत्यादि।

तादृशे आसक्त्या तदानीन्तनानां यथा प्रपञ्चविस्मृत्योद्धारः, एवमनवतारसमये यस्य भक्तस्य निरोधश्चिकीर्षितस्तद्धृदये तस्यैव दर्शनार्थं सर्वक्रीडायुक्तस्य हरेः समुदायो जन्म वक्तीत्यर्थः, ततो हृदि प्रादुर्भूतरूपस्यैव सर्वलीलायुतस्य यदा निरन्तरचिन्तनध्यानादिना योगारूढत्वम्, तदा तस्य रूपस्य समुदायो भक्तेन सहैकीभवनं, स एव प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपो निरोध उच्यते, तथा च निरुक्तसायामनेकैकविषयत्वकृतो दर्शने च बाह्याभ्यन्तरकृतश्चैव विशेषोवतारानवतारदशायां नान्योपि कश्चिदिति न कोपि शङ्कालेशः, एवं सति भगवतोन्यलीलावज् जन्माप्येका लीला, सापि नित्यैवेति जन्माष्टम्यां तदभिनयः सूपपन्न एवेतिज्ञेयम्। इति निबन्धकठिनांशविवेचनम्।

सङ्कर्षणो द्वितीये तु स्फुटो दैत्यवधाय हि ॥२६॥
तथा तृतीये प्रद्युम्नश्चतुर्थो तुर्य उच्यते।
न निबद्धो यतः कैश्चिदतः सर्वे विमोचिताः ॥२७॥
धर्मरक्षार्थहेतूक्त्यै धर्मबाधश्च वर्ण्यते।
वसुदेवाद्देवकीतो मथुरातश्च गोकुलात् ॥२८॥
प्रादुर्भूतश्चतुर्मूर्तिर्भगवान्नाऽत्र संशयः।
रूपान्तरस्वीकरणमध्यायत्रितयेन हि ॥२९॥
नटभावश्चतुर्थेन हेतुराद्ये निरूपितः।
त्रिविधानां त्रिधा दुःखं हेतुर्जन्मनि वै हरेः ॥३०॥

क्वचिदिति। बुद्धौ क्रियायां च, तथा च फलोपहिताबुद्धिः क्रिया च तदवगमिकेत्यर्थः। तथेति वंशरूपकार्यार्थम् ॥२१॥२२॥२३॥२४॥२५॥२६॥२७॥

विमोचनं रूपान्तरेणाऽपि सम्भवतीत्यैकान्तिकं तद्गमकमाहुः-धर्मेत्यादि। तथा चैतद्दर्शनाद्विमोचनमपि तत्कार्यत्वेन ज्ञातव्यमित्यर्थः। नन्वेवं ततस्तत्र चतुर्णां भवत्वन्तः प्राकट्यम्, तथापि बहिः प्राकट्यं तु रूपद्वयेनैव दृश्यत इति चतुर्मूर्तिरेको हरिर्बहिः प्रकट इति कथमायातीत्याकाङ्क्षायामाहुः—वसुदेवादित्यादि। यो हृदि स्थितोऽभूत्स एव गर्भसङ्कर्षणोत्तरं वन्ह्ययोगोलकन्यायेन श्रीवसुदेवध्यातदेवक्यां तत आविष्टस्तयोरेको बलभद्रो बभूवेतिवाक्यात्कृष्णकेशो देवकीतः सृष्टिहेतुषु सर्वतत्त्वेषु यः प्रविष्टः सः प्रद्युम्नो मथुरातो यः कैश्चिदपि न निरुद्धः स गोकुलात्, एवं प्रकारेण चतुर्मूर्त्तिर्यः स सर्वत एकीभूय प्रादुर्भूतः स भगवानेव, 'वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः पर' इतिवाक्यात्संशयो नेत्यर्थः। एतेषु पुरुषोत्तमस्तु प्रकट एव, न तु तस्य जन्मेति सूचितम्। अत एव 'सिश्रन्त्यो जनमुज्जगु'रित्यत्र भक्तानामजातत्वज्ञानं वक्ष्यते सुबोधिन्याम्। तृतीयस्कन्धे च 'कृष्णद्युमणी'त्यत्र 'स्वशान्तरूपेष्वि'त्यत्र च श्रीमदुद्धवैरपि तथैवोक्तम् ॥२८॥

एवं सार्द्धैश्चतुर्भिराद्येऽध्यायचतुष्टयस्य तात्पर्यमुक्तं तस्मिन्नवान्तरप्रकरणद्वयं पादोनेनाहुः—रूपान्तरेत्यादि। आद्याध्यायार्थमाहुः सपादैस्त्रिभिः—हेतुरित्यादि। त्रिविधानामिति। सात्त्विकादिभेदेन त्रिविधानाम्। तद्गतमिति। भक्तनि-

भूमिर्माता तथा चाऽन्ये दुःखभाजो हरेः प्रियाः ।
कंसादेः कालतोऽज्ञानात्त्रिधा दुःखं तु तद्गतम् ॥३१॥
कालजं प्रभुसम्बन्धात्कंसजं हेतुवारणात् ।
वाक्यैरज्ञानसम्भूतं शक्यं तत्त्रितयं हरेः ॥३२॥
प्रश्नेन सहिताः पूर्वं चतस्रः प्रक्रिया मताः ।
उद्यमश्च तथा प्रोक्तः सामग्रीबल उच्यते ॥३३॥
मायाशक्तिः स्वविहारे रूपं स्वस्य तृतीयकम् ।
सम्मतिः सर्वदेवानां चतुर्थ्यपि निरूपिता ॥३४॥
रूपसामर्थ्यबोधाय कंसज्ञानादिरुच्यते ।
चतुर्धा स्वीकृतिश्चापि काले मूलस्वरूपतः ॥३५॥

ष्टम् । ननु भूम्युद्यमदर्शनाद्भूदुःखमेवावतारहेतुत्वेन वक्तव्यं न त्वन्यद्दुःखमपि तथात्वेन वक्तुं युक्तं गमकाभावादित्यत आहुः—कालजमित्यादि । कालो द्वापरकलिसन्धिरूपस्तज्जनितं भूमिदुःखं प्रभुसम्बन्धात् 'पुरैव पुंसावधृतो धराज्वर' इत्यनेनावतारहेतुतया गम्यते, कंसजं मातृदुःखं हेतुवारणात् । 'अस्यास्त्वा' मित्याकाशवाणीसिद्धो योऽष्टमगर्भरूपो हेतुस्तस्य न चास्यास्त इत्यनेन वारणाद्धेतुतया गम्यते । अज्ञानसम्भूतं कंसमौर्ख्यजनितमन्येषां दुःखं वाक्यैर्नारदोक्तैर्जातमिति तदपि हेतुतया गम्यते । एतेषां हेतुतावच्छेदकं रूपमाहुः--शक्यमिति निवर्तितुं शक्यम् । तथा च तन्निवृत्त्यर्थमवतार इति त्रयाणां निवर्त्यत्वेन हेतुता पूर्वाध्यायार्थः । यथा दुःखस्यावतरणहेतुता तथा प्रश्नस्य कथनहेतुतेतिचतुःप्रकरणबोधितो हेतुरेव प्रथमाध्यायार्थ इत्यर्थः ॥ ॥२९॥३०॥३१॥३२॥

द्वितीयस्यार्थमुद्यमं पूर्ववद् द्वाभ्यामाहुः--उद्यम इत्यादि, तथेति चतुर्धा । स्वविहार इति सामग्रीत्यनुषज्यते । रूपमित्यादि 'ततो जगन्मङ्गलमच्युतांश'-मित्यनेनोक्तं स्वस्वरूपं व्यूहात्मकतृतीयकं विहारकरणभूतम् । चतुर्थीति । भयनिवारकतया तथेति चतुर्धा सोऽपीत्यर्थः ॥३३॥ कंसज्ञानादिकं रूपस्यैव शेष इति न तेन प्रक्रियाधिक्यमित्याशयेनाहुः--रूपेत्यादि ॥

अतः परं सार्द्धेन रूपान्तरस्वीकरणं तृतीये चतुर्धोच्यत इत्याहुः--चतुर्धा स्वीकृतिरित्यादि । काले मूलस्वरूपत इति । रूपान्तरत्वज्ञानस्य रूप-

वसुदेवस्य सम्मत्या द्वितीयाऽपि निरूपिता ।
देवक्याश्च तृतीयाऽपि चतुर्थी वाक्यनिर्गमैः ॥३६॥
चतुर्धा नटभावोऽपि देवक्या मायया तथा ।
पुनः कंसभयेनाऽपि वसुदेवेन च स्थितिः ॥३७॥
कर्मणो हेतुसिद्ध्यर्थं शेषोऽत्र विनिरूप्यते ।
अन्यथा नटलीलैव कंसाद्दुःखं निवारयेत् ॥३८॥
तावदेवाऽत्र नाट्यं हि यावल्लीलां न बाधते[१] ।
अतो नाट्यस्य सङ्कोचो नाट्याध्याये निरूपितः ॥३९॥
एवं चतुर्भिरध्यायैर्नटवत्प्राकृतोऽभवत् ।

ज्ञानसापेक्षतया पूर्ववद्वक्तव्यमिति काले अथ सर्वगुणेत्याद्युक्ते निशीथे मूलस्वरूपेण सा सूच्यत इत्यर्थः । देवक्याश्चेति सम्मत्येत्यनुषङ्गः । एवं तिसृभिर्मूलरूपं निर्धार्य चतुर्थ्यां सोच्यत इत्यर्थः ॥३४॥३५॥३६॥

सार्द्धैस्त्रिभिश्चतुर्थाध्यायार्थमाहुः--चतुर्धा नटेत्यादि । ननु मायोक्तिपर्यन्तमेव नटभावो दृश्यते न त्वग्रेऽपीति कथं तस्य चातुर्विध्यमित्यत आहुः--पुनरित्यादि । पलायने पुत्रापसारणज्ञानाद् गृहे स्थितौ च तदज्ञानाद्वसुदेवेन कृता स्थितिरपि तृतीयो नटभाव इत्यर्थः । 'तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामि'त्यादिनोक्तं चतुर्थं तमाहुः--कर्मण इत्यादि । यदि कंसो नैवं कुर्यात्तदा वसुदेवाद्यपराधस्य ताभ्यां क्षमापितत्वान्न शीघ्रं वध्यो भवेदतस्तत्कर्मणो वधप्रयोजकत्वसिद्ध्यर्थं तदाहुः—अन्यथेत्यादि । तथा च 'अनयोनयसङ्काश'इतिवद् ब्रह्महिंसादेर्हितत्वभानं शेषश्चतुर्थो भगवत्कृतको नटभावो निरूप्यत इतीहाऽपि चत्वार इति तथेत्यर्थः । नन्वेवं करणस्य किं प्रयोजनमत आहुः--तावदित्यादि । तथा च भगवान् हि नानालीलाकरणाद्यर्थं प्रवृत्तो न तु नाट्यार्थम् । अत एवं प्रकारेण तत्सङ्कोचनमेव प्रयोजनमित्यर्थः ॥३७॥३८॥ ॥३९॥ सिद्धं प्रकरणार्थमाहुः--एवमित्यादि । एवं सार्द्धैः पञ्चदशभिः प्रथमप्रकरणं विचारितम् ।

इतिजन्मप्रकरणम् ।

१ बाधयेत् ।

अतस्तामसभक्तानामष्टाविंशतिभिः क्रमात् ॥४०॥
मानमेयैः साधनैश्च फलैश्चापि पृथक् पृथक् ।
भगवान् सप्तधा लीलां कुर्वन्नुद्धारकः परः ॥४१॥
पुरुषोत्तमरूपेण यच्चकार तदुच्यते ।
तत्र प्रमाणभावेन सप्ताध्यायी निरूप्यते ॥४२॥
भगवच्चरिते यस्मात्प्रमाणमिह मृग्यते ।
अज्ञानमन्यथाज्ञानं प्रमाणं भक्तिहेतुकम् ॥४३॥
पुरुषाणामत्र निष्ठा स्त्रीणां मेये ततः परे ।
साधनं सकलानां च फलं स्त्रीषु प्रतिष्ठितम् ॥४४॥

अतः परं द्वासप्ततिभिर्द्वितीयं तामसप्रकरणं विचारयन्तास्तस्याष्टाविंशत्याध्यायात्मकस्यावान्तराणि चत्वारि प्रकरणानि सप्तसप्ताध्यायात्मकानीति सार्द्धेनाहुः-अत इत्यादि अतः परम् ॥४१॥ अत्रत्या लीला न व्यूहरूपेणेति बोधनायाहुः-पुरुषोत्तमरूपेणेति । तथा च प्राकृतभावं नटवत्कृत्वा तथा लीलां कुर्वन् तामसभक्तोद्धारकः परः पुरुषोत्तमः स्वेन रूपेण यत्कृतवांस्तदत्र प्रकरण उच्यत इत्यर्थः । एतेनास्य प्रकरणस्योपजीवकत्वं पूर्वेण सह सङ्गतिरित्यप्युक्तम्। एतेनेयं न वासुदेवलीलेति बोधितम् ।

अत्राद्यप्रकणार्थमाहुः-तत्रेत्यादि । कथमस्य प्रमाणप्रकरणत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः-भगवदित्यादि । तथाऽत्र भगवच्चरित्रे मत्यध्यायं प्रमाणान्वेषणस्यैव दर्शनादस्य प्रमाणप्रकरणत्वमित्यर्थः । ननु भगवता क्रियमाणस्य तस्य चरित्रस्य तत्र तत्र स्थितैरवगम्यमानत्वात् कस्य प्रमाणस्य मार्गणं येनास्य प्रकरणस्य तदाख्येत्याकाङ्क्षायामाहुः-अज्ञानमित्यादि । प्रमाणमिति । भावे ल्युट् । तथा च भक्तिप्रयोजितं यदज्ञानमन्यथाज्ञानं च तदेवाबाधितत्वात्प्रमाणं तदत्र तैस्तैस्तेषां तेषां भक्तानां चात्रान्विष्यत इति तदाख्येत्यर्थः ॥४२॥४३॥ ननु तामसप्रकरणे तामसानां भक्तानां भगवदासक्तिविशिष्टा प्रपञ्चविस्मृतिर्वक्तव्या । तत्रावान्तरविभागस्य किं प्रयोजनमत आहुः--पुरुषाणामित्यादि । निष्ठेति विवक्षिता आसक्तिः, मेये फले च स्त्रियो भिन्नविधाः। तथा च निरोध्यभेदात्प्रकरणभेद इति निरोध्यस्वरूपादिबोधनं प्रयोजनमित्यर्थः ॥४४॥

अन्यथापि गतः कृष्ण उत्सवान् कुरुतेऽखिलान् ।
अत ऐश्वर्यभावोऽत्र प्रथमे विनिरूपितः ॥४५॥
पूतनामारणं वीर्यं यशस्तु शकटादिनुत् ।
शकटं तामसं प्रोक्तं तृणावर्त्तस्तु राजसः ॥४६॥
लालनं पुत्रभावेन सात्त्विकं मोहनं तथा ।
श्रीस्तु लीला नामयुक्ता ज्ञानं बन्धनबोधनम् ॥४७॥
यमलार्जुनयोर्मुक्तिर्वैराग्यं भगवान् परः ।
सप्ताध्यायास्तु यत्रैव तत्रैवं बुध्यतां क्रमः ॥४८॥
अमेये मेयबुद्धिर्हि प्रमाणमिति केचन ।
अष्टावत्र प्रमाणानि द्वयमेकत्र रूपितम् ॥४९॥

एवमवान्तरप्रकरणप्रयोजनमुक्त्वाऽध्यायार्थप्रयोजनकथनमुखेन सप्तविधत्वं लीलानां स्फुटीकुर्वन्ति--अन्यथेत्यादि । शकटादिनुदित्यादिपदेन तृणावर्तभङ्गः । एकस्मिन्नध्याये लीलाचतुष्टयकथनं चतुर्विधानां निरोधायेत्याशयेनाहुः--शकटमित्यादि । अत्र तामसत्वं गुरुत्वात् । राजसत्वं चलत्वात् सात्त्विकत्वं ज्ञानपूर्वकत्वाद् बोध्यम् । सात्त्विकानामशास्त्रनिष्ठशास्त्रनिष्ठभेदेन द्वैविध्याद्द्वे लीले सात्त्विक्यौ । यशस्तु आधारोत्कर्षाधायकः सर्वजनाल्हादको विसर्पिगुणः सम्यक्त्वेन रूपेण वर्णनयोग्यं गुणक्रियादिपौष्कल्यं वेति प्रथमसुबोधिन्यां स्थितम् । तदत्र लीलाचतुष्टयेऽपि सिद्ध्यतीति चतस्रोऽपि तथेत्यर्थः । तथापदेन गरिमलीलापि सङ्गृह्यते तेन पञ्चाऽपि तथा । नामयुक्तेति । नामकरणलीला तदग्रिमा रिङ्गणादिलीला च । एतासां श्रीत्वं सर्वापन्निवारकत्वाद् बोध्यम्, तच्च गर्गोक्तौ स्फुटम् । बन्धनबोधनमिति । बन्धनं बोधनं यस्य ब्रह्मत्वज्ञानस्य तत्तथा ॥४५॥४७॥

पर इति अग्रिमाध्यायोक्तः । स्वातन्त्र्येण लीलाकरणात्तथेत्यर्थः । एवं क्रममग्रिमेष्वप्यतिदिशन्ति--सप्तेत्यादि । अत्र प्रमाणप्रकरणत्वं कैश्चिदन्यथाङ्गीक्रियते तदनुवदन्ति-अमेय इत्यादि । अत्र यद्यप्यरुचिबीजं कण्ठतो नोक्तं तथाऽप्येतस्या बुद्धेः प्रकरणान्तरेपि दर्शनादतिव्याप्तिरेव तत्त्वेन बोद्धव्या । नन्वस्मिन् प्रकरणे अज्ञानान्यथाज्ञानरूपप्रमाणज्ञानान्वेषणात्प्रमाणाख्याङ्गीकृता सा कथं निश्चेयेत्याकाङ्क्षायां प्रमातृविचारेण निश्चेयेत्याशयेन तानाहुः--अष्टावित्यादि । प्रमाणशब्दोऽ-

प्रथमो वसुदेवो हि द्वितीयो नन्द उच्यते ।
बालास्त्रियस्तृतीया हि चतुर्थो गर्ग उच्यते ॥५०॥
यशोदा पञ्चमी प्रोक्ता षष्ठरूपाविहाऽर्जुनौ ।
उपनन्दस्तु निर्दिष्टः सप्तमो धर्मिबोधकः ॥५१॥
देशदोषभ्रमं कृष्णो वारयामास चित्रधा ।
आद्येन भगवन्मार्गे बाधकानि बहूनि हि ॥५२॥
द्वितीये तदभावो हि कृष्णेनैव भवेदिति ।
साधकः सकलार्थानां तृतीये विनिरूपितः ॥५३॥
भक्तिप्रदश्चतुर्थे हि भक्तिवश्यस्ततः परः ।

बाधितज्ञाने वर्तते बाधयोग्यव्यतिरिक्ते च, तत्सम्बन्धी यः प्रमाता प्रमाविषयः प्रमाकरणं च तत्सर्वं प्रमाणशब्देनोच्यत इति द्वितीयस्कन्धे 'अत्र प्रमाणं भगवान् परमेष्ठी यथात्मभूरि'त्यस्य सुबोधिन्यां स्थितम् । तेनाऽत्र प्रमाणशब्देन ज्ञानं ग्राह्यम् । तत्कथमित्याकाङ्क्षायामाहुः--द्वयमेकत्र रूपितमिति । भगवल्लीलारूपमज्ञानमन्यथाज्ञानं चेति द्वयमेकत्रैकस्मिन्नध्याये उक्तम् । तत एकस्य प्रमाणस्याधिक्यात्तान्यष्टावित्यर्थः ॥४८॥४९॥तद्दर्शयन्ति--प्रथम इत्यादिना । अत्र प्रमातेत्यध्याहृत्य योजना, स हि स्वागमनविषयकाज्ञानं स्वपुत्रे भगवति श्रीनन्दस्यात्मपुत्रत्वेन ज्ञानमेव च तद्वाक्यैर्विचारितवानतस्तदेवान्विष्यते । एवं द्वितीये श्रीनन्दोऽपि 'नन्दः स्वपुत्रमादाये'त्यत्रोक्तं स्वपुत्रत्वमेव प्रमितवानिति तदेवाबाधितत्वात्प्रमाणत्वेनान्विष्यते । एवं तृतीयेऽपि शकटभङ्गस्य बालाः प्रमातारस्तृणावर्तभङ्गस्य स्त्रियः । तत्रान्येषां 'न ते श्रद्दधिर' इति 'हिंस्रः स्वपापेन विहिंसित' इति हेत्वज्ञानेन तत्र प्रमाणस्यान्वेषणम् । चतुर्थेऽपि गर्गः प्रमाता श्रीनन्दनिष्ठे अज्ञानान्यथाज्ञाने एव प्रमितवानिति तयोरेवान्वेषणम् । तथा पञ्चमे श्रीयशोदाऽपि स्वपुत्रत्वमेव प्रमितवती । षष्ठे यमलार्जुनावपि नलकूबराद्यवस्थायां बद्धोलूखलमेवामन्त्रयन्तौ नन्दपुत्रत्वमेव प्रमितवन्ताविति ज्ञायते । सप्तम उपनन्दस्त्वसावन्यतमो वापीति वदन् लौकिकबालत्वस्यैव प्रमाता स्फुट एवेतिप्रमातृविचारेण तन्निश्चय इत्यर्थः ॥५०॥५१॥ सप्तधा लीलाकरणस्य प्रयोजनमाहुः--देशेत्यादिसार्द्धैस्त्रिभिः । तथा च स्वरूपधर्मादिजिज्ञासूनामेतदुक्तं धर्मवत्त्व-

सर्वोद्धारप्रयत्नस्तु सर्वेषां सर्वदोषनुत् ॥५४॥
ततोऽपि परमानन्ददायी सप्तम ईर्यते ।
प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा तदासक्तिः स्फुटैव हि ॥५५॥
प्रमाणबलमासाद्य सर्वेषां गोकुले ह्यभूत् ।

(अथ तामसप्रमेयप्रकरणम्)

प्रमेये बालरूपेऽपि प्रमाणादखिलं स्थितम् ॥५६॥
उत्सवेन भयेनापि कौतुकेन विशेषतः ।
गर्गवाक्यैर्मुग्धभावैरत्याश्चर्यनिरूपणैः ॥५७॥
यमलार्जुनभङ्गेन बकघातादिभिस्तथा ।
सर्वव्यसननिर्मुक्त्या कृष्णासक्तमभून्मनः ॥५८॥
अतः प्रमेयसम्पत्त्या कृष्णासक्तिर्हि वर्ण्यते ।
सर्वतस्त्वधिकः स्नेहः पूर्वत्र विनिरूपितः ॥५९॥
आसक्तिस्तु द्वितीये हि तृतीये व्यसनं मतम् ।
फलप्राप्तिश्चतुर्थे हि सिद्धो रोधश्चतुर्विधः ॥६०॥

ज्ञापनं तत्तल्लीलाकरणप्रयोजनमित्यर्थः । अवतारकालीनेषु सप्तविधलीलासिद्धं फलव्यापारभूतं कार्यमाहुः--प्रपञ्चेत्यादि ॥५२॥५५॥ एवं चतुर्दशभिः प्रमाणप्रकरणं विचारितम् । तत्र प्रायेण प्रत्यध्यायं पुरुषाणामेव भूयो व्यापारकथा दृश्यते इति तेषामेव निष्ठा सिद्धा ॥

अतः परं मातृचरणप्रभृतीनां तां बोधयितुं सार्द्धैस्त्रयोदशभिः--प्रमेयप्रकरणं विचारयन्तः पूर्वं त्रिभिराख्यां साधयन्ति--प्रमेय इत्यादि । प्रमाणात् ल्यब्लोपे पञ्चमी । अज्ञानसहितान्यथाज्ञानरूपं नन्दसूनुत्वज्ञानं प्राप्य अखिलं तत्तल्लीलाकर्तृत्वं स्थितं निर्णीतम् । उत्सवादिसहकृतेन तेन निर्णयेन सर्वेषां मनस्तथाऽभूत् । अतः प्रमाणकार्यानन्तरं प्रमेयसम्पत्त्या सप्तम्यर्थे तृतीया, बालरूपपूर्णतायां पौगण्डावस्थाकृता कृष्णासक्तिर्हि यतो हेतोर्वर्ण्यते । अतः प्रमेयसम्पत्त्यनन्तरभाविकृष्णासक्तिबोधकत्वात्प्रमेयेत्याख्येत्यर्थः ॥५६॥५८॥ नन्वासक्तिः पूर्वप्रकरणेऽपि सिद्धैवेति किं पुनर्निरूपणेनेत्याकाङ्क्षायां सर्वेषामवान्तरप्रकरणानां तात्पर्यमाहुः--सर्वत इत्यादिसार्द्धेन । तथा च फलपर्यन्तावस्थाबोधनार्थं चत्वारि प्रकरणानीत्यर्थं ।

आसक्तिः सप्तधा त्वत्र रूपसौन्दर्यभावतः।
क्रिययाऽभीष्टदानेन स्त्रीगोबाला वशीकृताः ॥६१॥
क्षणं चाऽदर्शने तस्य मृतिः पर्व द्वितीयकम्।
माहात्म्यज्ञानसिद्ध्यर्थं मरणान्मोचनं ततः ॥६२॥
एवं त्रिभिर्दृढासक्तिरध्यायैर्विनिरूपिता।
साधारण्येन सर्वेषां विशेषेण विभागशः ॥६३॥
बालानां च गवां चैव सर्वेषामेव गोकुले।
भोग्यस्त्रीणां क्रमेणैव दृढासक्तिर्निरूपिता ॥६४॥
रूपस्याऽनुभवः स्त्रीषु तेनाऽऽदौ गोपिकामनः।
वचनं चान्तिमे प्रोक्तं कायिकस्तु ततः परम् ॥६५॥
बलभद्रस्य बोधाय भगवद्वचनानि हि।

तद्वैत्र कुतः सप्ताध्यायीत्यत आहुः आसक्तिरित्यादि। पूर्वोक्तरीत्यैश्वर्यादिभावेन लीलाकरणादासक्तिः सप्तधा तेन सप्ताध्याया इत्यर्थः। येन प्रकारेणात्रैश्वर्यादिभावस्तान् पदार्थान् स्फुटीकुर्वन्ति--रूपेत्यादि। स च 'तं गोरजच्छुरिते'ति श्लोकद्वये स्फुटः। 'क्रियाकालीयदमनं' 'अभीष्टदानं कृष्णं हृदा'दित्यादिश्लोकषट्कोक्तम्। एतैस्त्रिभिः स्त्रीगोबालाः साधारण्येनाध्यायत्रये वशीकृता उक्ता इत्यर्थः ॥५९॥६१॥ क्रियाध्याये भक्तक्लेशोक्तेस्तात्पर्यमाहुः-क्षणं चेत्यादि। तथा च पूर्णासक्तिज्ञापनार्थं तन्निरूपणमित्यर्थः। ननु तथाऽप्यभीष्टदानाऽध्याये दावाग्निकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः- माहात्म्येत्यादि। तदभाव आसक्तेर्भक्तित्वं न स्यादतस्तस्यास्तथात्वाय तत्कथनमित्यर्थः। पञ्चदशादिचतुष्टयार्थमाहुः--विशेषेणेत्यादि ॥६२॥६४॥ ननु रूपसौन्दर्यस्य सर्वदृग्गोचरत्वात्कथं मुख्यतया स्त्रीवशीकारकत्वमवगन्तुं शक्यमित्यपेक्षायामाहुः--रूपस्येत्यादि। आदौ द्वादशे 'पीत्वा मुकुन्दे'तिपद्येन, अन्तिमेऽष्टादशे वेणुगीतेन प्रोक्तमिति अनुभवबोधकं प्रोक्तम्। तथा च ताभ्यामवगन्तुं शक्यमित्यर्थः। नन्वेवं द्वाभ्यामेव प्रकरणलीलाभ्यां पूर्णासक्तौ सिद्धायामग्रिमस्य किं प्रयोजनमत आहुः--कायिकस्तु ततः परमिति। तथा चोत्सेकरूपातिपूर्णत्वबोधनाय तदुक्तिरित्यर्थः। प्रथमे भगवता यद्बलभद्रस्य भगवत्त्वं बोधितं यच्चाग्रे धेनुकवधस्तत्कृतस्तस्यात्र कः प्रसङ्ग इत्यत आहुः--बलभद्रस्येत्यादि। तथा च तस्य भगवदाविष्टत्वबोधनं प्रयोजनम्।

स्वधर्माः सकला एव बलभद्रे निरूपिताः ॥६६॥
लोकानां च प्रतीत्यर्थं तेन धेनुकमारणम्।
आसक्तेस्तु परीक्षा हि कालीयदमने मता ॥६७॥
स्नेहमात्रान्न चैतावत्किं तु जीवनदानतः।
युक्तासक्तिरिति प्रोक्तं दावाग्नेर्मोचनं महत् ॥६८॥
ततः कृष्णप्रसादेन कालदुःखनिवारणम्।
बालकानां समस्तानां क्रीडया बाधनाद्रिपोः ॥६९॥
गवां दावाग्निमोक्षेण सर्वेषां कालजैर्गुणैः।
गोपीनां वेणुनादेन दृढासक्तिः स्थिराऽभवत् ॥७०॥

(अथ तामससाधनप्रकरणम्)

अतः परं कायिकेन कृष्णे व्यसनमीर्यते।
दैहिकान् सकलान् भावान् निजां क्रीडां च दैहिकीम् ॥७१॥

तेन तच्चरित्रमपि मूलचरित्रमेवेति ज्ञापनाय तदुक्तिरित्यर्थः। ननु त्रयोदश ईदृशदारुणक्रियायाश्चतुर्दशे च तादृश्या निरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुः-आसक्तेरित्यादि। स्नेहमात्रादिति। स्वविषयकात्स्नेहमात्राद्भगवतो ज्ञापयितुं सम्मतेत्यर्थः। युक्तेति जीवयितरि युक्ता। प्रोक्तमिति ज्ञापयितुं प्रोक्तम् ॥६५॥६८॥

पञ्चदशे प्रलम्बवधस्य श्रीभावादिकृतत्वबोधनायाहुः-तत इत्यादि। सर्वेषामिति। वर्षाशरदृतुगुणवर्णनेन तत्कालवैसादृश्याभावबोधनात्सर्वेषामाध्यात्मिककालजदुःखनिवारणं बोधितमित्यर्थः। अत्र कालस्यैव प्राधान्येन स्वस्य तटस्थत्वाद्वैराग्यभावः। पूर्वत्र दवाग्निपानस्य ज्ञानपूर्वकत्वा[illegible]नभावः। ततः पूर्वमारोहणादिक्रीडायां परिष्ठत्वस्य श्रीप्रयुक्तत्वाच्छ्रीभावः। अष्टादशे तु 'रसो वै स' इति श्रुतिनिरूपितब्रह्मत्वस्य स्फुटीकरणाद्धर्मिभावोऽपि स्फुट एवेति सार्द्धैस्त्रयोदशभिः प्रमेयप्रकरणं विचारितम् ॥६९॥७०॥

अतः परं चतुर्विंशतिभिः साधनप्रकरणं विचारयन्तः प्रकरणसमाख्याबीजमाहुः अतः परमित्यर्द्धेन। व्यसनं नाम तद्विना स्थातुमशक्तिः। तथा च तद्बोधककायिकव्यापारस्यात्र निरूपणादस्य साधनाख्येत्यर्थः। तत्र व्युत्पादयन्तः प्रथमाध्यायस्यार्थमाहुस्त्रिभिः। दैहिकानित्यादि। तदेव हीति।

परित्यज्य हरिप्राप्त्यै यदेव स्यात्तदेव हि ।
वैदिकं लौकिकं चापि तत्कर्त्ता व्यसनी मतः ॥७२॥
अतः कुमारिकाः पूर्वं व्रतं चक्रुरितीर्यते ।
ततो लौकिकभावं हि परित्यज्य तदाज्ञया ॥७३॥
यथोक्तमखिलं चक्रुस्तत ईशोऽन्वतुष्यत ।
सम्बन्धिनां मत्सरादिदोषाभावाय बोधनम् ॥७४॥
प्रशंसा सर्ववृक्षाणां ततः सिद्धास्तु बालकाः ।
सर्वदोषान् परित्यज्य क्षुज्जये शक्तिवर्जिताः ॥७५॥
हरिं विज्ञापयामासुर्व्यसनान्नान्यगामिनः ।
भोगद्वयं हरेरेव स्त्रीबालानां निरूपितम् ॥७६॥
लौकिकास्तु समाख्यातास्तत्रैव न हरेस्तथा ।

हि यतो हेतोः कायिकत्वेन तदेवात्र विवक्षितमित्यर्थः । अत्र **हरिप्राप्त्या** इति फलनिर्देशो व्यसनान्तरनिरासार्थः । नन्वेवं सति तत्र गोपानां किमिति नयनं वृक्षाणाञ्च स्तुतिरित्यत आहु–**सम्बन्धिनामित्यादि** । **बोधनमिति** । *नर्मादिलीलाज्ञापनम् । तथा चैतदग्रिमाऽध्याये बालकानां व्यसनित्वं वक्तव्यमिति तेषामधिकारसम्पत्तिबोधनाय यच्छेषत्वेन नयनं प्रशंसा चेत्यर्थः । प्राकरणिकत्वोपयोगी अध्यायार्थ उक्तः । स्वतन्त्रमर्थमाहुः–**भोगेत्यादि** । **हरेरिति** पञ्चमी । तथा च व्यसनिनामैहिकस्यापि भगवदधीनत्वज्ञापनं तस्यार्थ इत्यर्थः ॥७१॥७६॥

ननु व्यसनिभोगस्य भगवदधीनत्वे निरूपणीये यज्ञपत्नीकृतान्नाहरणमात्रं वक्तव्यं तदासक्तिकथायाः सत्रिकथायाश्च किं प्रयोजनमत आहुः–**लौकिका इत्यादि** । व्यसनित्वं ह्यत्र हरिप्रीत्यर्थकलौकिकवैदिकान्यतरकर्तृत्व-

* सहनीता बालका 'अथ गोपै'रित्यनेन मिलिताश्च भिन्नाः । तत्र सहनीतानान्तु पूतनोदरनिवेशनेन क्षारेण मलनिवृत्तिवत् शोधनम्, तच्च चरणारविन्दसम्बन्धेन मृत्तिकादानेन च, अतस्तेषां परमशुद्धत्वज्ञापनार्थं सहनयनमन्तरङ्गलीलायाम्, 'तदिमे विदु'रित्यनेन प्रशंसा, अतः सहनीतानां तु दोषाभावस्य पूर्वमेव सिद्धत्वात् **नर्मादिलीलाज्ञापनम्**, अन्येषां दण्डवृक्षप्रशंसाव्याजेन व्रजस्थपदार्थजातस्य भगवदर्थत्वबोधनम्, तेनैव दोषनिवृत्त्या शुद्धत्वमितिविवेकः।

वैदिकेऽपीहि विप्राणां तद्भार्याणां निरूप्यते ॥७७॥
तामसाः सर्व एवाऽत्र गोकुलस्था न केवलम् ।
इति दर्शयितुं विप्राः सत्रिणोऽपि निरूपिताः ॥७८॥
एकप्रकारा एते हि तेनैकात्र विमोचिता ।
साधनप्रक्रिया त्वेषा तेन ताः स्वगृहं गताः ॥७९॥
तद्भर्तारोऽपि नाऽऽयाताः सम्बन्धेनैव बोधिताः ।
गोपिकानां प्रसङ्गेन यतस्ता विनिरूपिताः ॥८०॥
अतस्तासां फले चैताः फलं प्राप्स्यन्ति निश्चितम् ।
निर्दुष्टैर्भोजनं कार्यं निर्दुष्टान्नस्य नाऽन्यथा ॥८१॥
भक्त्या हृतानां भक्तानां वृक्षाणां चेति निश्चयः ।
व्रतं वृत्तिपरिज्ञानं दानं माहात्म्यबोधनम् ॥८२॥
द्वाभ्यां चतुष्टयं प्रोक्तं तदीयान्यविभेदतः ।
द्विविधं कर्म लोके हि वैदिकं हेतुसम्भवम् ॥८३॥
आद्ये श्रद्धापरित्यागः पूर्वेण विनिरूपितः ।

लक्षणं विवक्षितम्, तेन ते द्विविधास्तत्र लौकिकानां व्यसनिता कुमारीव्रतकथया **समाख्याता** । तत्रैवाध्याये **न हरेस्तथा**, न हरेः सम्बन्धिनी विषयता वैदिकेपि समाख्याता इति तत्कथनावश्यकत्वाद्धेतोर्विप्राणां तद्भार्याणां च सा **निरूप्यत** इति योजना ॥७७॥ ननु सत्रिणो विप्रत्वात्सात्विकाः कर्मित्वाद्राजसा वेति तेषां कथमत्र कथनमित्याकाङ्क्षायामाहुः–**तामसा** इत्यादि । अत एव सत्रिभिरपि 'मूढा न विद्मह' इति मूढत्वं स्वविशेषणमुक्तमतो नात्र संशय इत्यर्थः । **बोधिता** इति मोक्तव्यत्वेन बोधिताः । बालक्षुन्निवृत्तेः प्रकारान्तरेणापि सम्भवात् किमित्ययं प्रकारो भगवता कृत इत्याकाङ्क्षायामाहुः–**निर्दुष्टैरित्यादि** । 'एकं भगवतः कार्य'मितिन्यायेनान्यदपि प्रयोजनमाहुः–**व्रतमित्यादि** । अत्रापि वरदानमीश्वरधर्मं इत्यैश्वर्येण लीला प्रथमे द्वितीये च माहात्म्यबोधनादिना वीर्येण बोध्या ॥७८॥८२॥

अतः परं चतुरध्यायात्मकमेकं प्रकरणमिति बोधयन्तस्तदर्थमाहुः--**द्विविधमित्यादि** । **वैदिकमिति** वेदोक्तकामप्रयुक्तम् । **हेतुसम्भवमिति** । लौकिकरीतिकतादृशकामहेतुकम् । **पूर्वेणेति** सत्र्यध्यायेन । द्वितीयं तु फलोपधाय-

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुकः सफलो मतः ॥८४॥
तन्निराकरणं कार्यं तेनाध्यायचतुष्टयम् ।
हेतूनाऽऽदौ निराकृत्य यत्सत्तद्धि ह्यकारयत् ॥८५॥
देवता तत्र नियता तेन साऽपि निवारिता ।
गोवर्धनस्य धृत्यैव निस्तम्भा साऽभवद्यतः ॥८६॥
शङ्कादोषोऽपि गोपानां निराकार्यस्तु कर्मणे ।
हविर्मन्त्रेज्यरूपाणां सम्मत्यर्थं तुरीयकम् ॥८७॥
एवं पूर्वं परित्यज्य हर्युक्तं कार्यमीरितम् ।
अवैष्णवानां पूर्वेषां व्रतानां त्याजनं न हि ॥८८॥
वैष्णवान्यपि कार्याणि त्यक्तव्यानीति बोधने ।
नन्दस्यैकादशी प्रोक्ता साधनं पञ्चधा स्थितम् ॥८९॥
एतावदेव कर्त्तव्यं तेन यद्वाञ्छते हृदि ।
हेतुवाद इवाऽत्रापि फलं कृष्णः प्रयच्छति ॥९०॥

कमपि सर्वथा न कार्यमिति सम्यग्बोधयितुं चतुरध्यायीत्याहुः-अन्वयेत्यादि । प्रथमाध्यायार्थमाहुः-हेतूनित्यादि । हि यतो हेतोः हि निश्चयेनादौ हेतून् वृष्टिहेतून् मेघेन्द्रपरम्पराधर्मान् 'कर्मणा जायते जन्तु'रित्यादिना निराकृत्य यत्सिद्धं सत् तद् अकारयत् । तेन कर्मविशेषकारणेन तत्र कर्मणि फले च नियता देवतापि इन्द्ररूपा निराकृता । तत्र गमको द्वितीयाध्यायार्थं इत्याहुः-गोवर्द्धनस्येत्यादि । तृतीयाध्यायार्थमाहुः-शङ्कादोष इत्यादि । यदि भगवति समर्थत्वनिश्चयो न स्यात्तदा पुनर्वर्षान्तरे तत्करणे इन्द्रकोपादिशङ्कया तत्प्रतिबन्धः स्यादतः कर्मणे गिरियागार्थं शङ्कादोषो निराकार्यस्तथा च तन्निवारणं तदर्थं इत्यर्थः। चतुर्थस्याहुः-हविरित्यादि । हविः कामगवी, तस्य तदाधारत्वात् । एवं मन्त्राः सुरर्षयः । इज्यो देवतारूप इन्द्रः । गिरियागे तेषां सम्मत्यर्थं तुरीयकं तदुक्तमभिषेचनमर्थं इत्यर्थः ॥८३॥८६॥

प्रकरणसिद्धमर्थमाहुः-एवमित्यादि । अत्रापि गिरियागकारणं यशः-कार्यम् । गोवर्धनोद्धरणं श्रीकार्यमापन्निवारकत्वात् । शङ्कानिवारणं ज्ञानकार्यं स्फुटमेव, मदत्याजनं वैराग्यकार्यं इत्यपि स्फुटमेव, सप्तमार्थमाहुः-अवैष्णवानामित्यादि प्रोक्तेत्यन्तम् । न हीति किन्त्विति शेषः ॥८८॥ बोधन इति बोधनार्थम् । नन्वस्मिन् प्रकरणे साधनानि निरूप्याणि तत्र वैकुण्ठनयनात्मकफलनिरूपणस्य

इति वैकुण्ठनयनं स्थापितं वाञ्छितं न हि ।
अवान्तरं फलमिदं विश्वासार्थं निरूपितम् ॥९१॥
कृष्णवाक्यं सदा कार्यं मायामोहं निवार्य हि ।
वृक्षवत्तु स्थितिः कार्या शुद्धान्नेन च वर्त्तयेत् ॥९२॥
इच्छां विज्ञाय दातव्यं माहात्म्यज्ञानपूर्वकम् ।
यागादयोऽपि त्यक्तव्या तदिच्छा चेद् व्रतानि च ॥९३॥
मध्ये स्वेष्टस्य पूर्त्यैव तदिच्छामवगत्य च ।
तत्परत्वेन सततं स्थेयं साधनसङ्ग्रहः ॥९४॥

(अथ तामसफलप्रकरणम्)

अतः परं सप्तभिर्वै फलं कृष्णो निरूप्यते ।
षड्गुणैः सहितः पूर्वमैश्वर्यं त्रिविधं मतम् ॥९५॥

किं प्रयोजनमित्यत आहुः--साधनमित्यादि । नयनमित्यन्तम् । नन्वेवं सति तत उद्धरणं कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुः--स्थापितमित्यादि । स्थापितमिति भावे क्तः । स्थापनमित्यर्थः । पाठो वा । तथा च भजनानन्दे दित्सित इदमवान्तरफलत्वेन विवारितमतस्तेषां न तत्र स्थापनमित्यर्थः ॥८९।।९१॥ एतस्यार्थस्य धर्मिलीलात्वं स्फुटमेव । पञ्चधा साधनं स्थितमिति यदुक्तं तद्विवृण्वन्तः प्रकरणमेतदुपसंहरन्ति कृष्णेत्यादित्रिभिः । अत्र साधनचतुष्टयं चतुर्भिरर्द्धैः पञ्चमं मध्य इत्यादिपादोनेनेति बोध्यम् ॥९२॥९४॥ एवं चतुर्विंशतिभिः साधनप्रकरणं विचारितम् ।

अतः परं सार्द्धसप्तदशभिः फलप्रकरणं विचारयन्ति-अन्तः परमित्यादि । प्रकरणसमाख्याबीजमाहुः--फलमित्यादि । तथा च पूर्वोक्तसाधनपञ्चकप्रकरणरूपआसक्त्युद्रेकानन्तरप्राप्यषड्गुणयुतपूर्णभगवद्रूपफलनिरूपणादस्य फलप्रकरणेत्याख्येत्यर्थः। अत्रैश्वर्यादीनां पूर्वोक्तः क्रमो नेतिप्रकारोऽपि विलक्षण इति बोधयितुं प्रथमतः प्रथमाध्यायार्थमाहुः-पूर्वमित्यादि ॥९५॥

'ध्वनिनाऽऽहूय'वाक्येन प्रेषयत्येष निश्चितम्।
फले वाक्यं न कर्तव्यं दोषश्चेद्वारयिष्यति ॥९६॥
इति तासामगमनं गर्वेऽन्तर्भाव ईर्यते।
अयमेव हरेर्मार्गः सर्वोत्कृष्टो हि बुध्यताम् ॥९७॥
सम्बन्धमात्रे सञ्जाते बहिर्वान्तरथापि वा।
कायेन मनसा वापि वचसा वापि सर्वथा ॥९८॥
रमयत्येव हि निजान् सर्वथा नैव मुञ्चति।
अन्तर्धानकथा प्रोक्ता वाक्यं चाऽपि निरूपितम् ॥९९॥
अध्यायद्वितयेनैव सकृद्भोगं निवारयन्।
आविर्भावं करोत्येष तथा वाक्यानि तुष्टये ॥१००॥
रमते च रमातोऽपि विशेषेण रतिप्रदः।
परोक्षोऽपि रतिं चक्रे तेन वीर्यमुदीरितम् ॥१०१॥
यशस्तु वचनैः स्पष्टं श्रीश्चाविर्भावतः स्फुटा।
चतुष्टयं निरूप्याऽग्रे धर्मी कृष्णो निरूपितः १०२॥

त्रैविध्यं स्पष्टयन्ति-ध्वनिनेत्यादि। ऐश्वर्यं हि स्वातन्त्र्यम्। *तत्र कर्तुमकर्तुं च सामर्थ्यमर्द्धेनोक्तम्। ततः पादोनेनान्यथाकर्तुं सामर्थ्यं तुरीयपादेन द्रुतमेवेत्यग्रिमसहितेन समुदितं त्रयम्, क्रमेणैव त्रयं वा। द्वितीय-तृतीययोरर्थमाहुः-हरेरित्यादि। बुध्यतामित्यन्तोऽध्यायद्वयार्थः। तत्र हेतुमाहुः-सम्बन्धेत्यादिसार्द्धेन। तथा च इतिबोधयितुमध्यायद्वयेन द्वयमेव निरूपित-मित्यर्थः। चतुर्थार्थमाहुः-सकृदित्यादि। तुष्टय इति वदतीतिशेषः ॥९६॥१००॥ पञ्चमार्थमाहुः-रमत इत्यर्द्धेन। प्रयोजकविभागं स्पष्टयन्ति-परोक्ष इत्यादि। क्रमं भिदन्तः पञ्चमार्थमाहुः-चतुष्टयमित्यादिसार्द्धेन। एवमिति क्रमं भित्वा।

* ध्वनिना आह्वानं कर्तुं समर्थः, अहगमनबोधकवाक्यैरगमनमकर्तुं समर्थः, प्रबलान्यपि स्ववाक्यानि दुर्बलानि कर्तुं दुर्बलान्यपि जीववाक्यानि प्रबलानि कर्तुमेवमन्यथाकर्तुं समर्थः। भगवद्वाक्यानङ्गीकारे जातं दोषं रमणहेतुत्वेन गुणरूपं कर्तुं समर्थश्च। असम्भावितं गर्वं कर्तुं सम्भावितां सर्वभावप्रपत्तिं अकर्तुं, जातमपि बहिःप्राकट्यं बाह्यरमणं च अन्तर्भूतं कर्तुं समर्थ इति च त्रयमित्यर्थः।

भोगे मध्ये महत्सौख्यं तस्मादेवं निरूपितम्।
स्वरूपेण रतिः प्रोक्ता न धर्मै रसरूपतः ॥१०३॥
ततो वैराग्यभावेन फलदाता निरूप्यते।
कौतुकेनाऽपि पूर्वेषां करणं न सुखाय हि ॥१०४॥
अतः कौतुकरीत्याऽपि गताः सर्वे हरान्तिके।
कालेनाऽऽग्रस्तमूर्धानः कृष्णेनैव विमोचिताः ॥१०५॥
अतस्तत्कर्म हरिसात्कृत्वा व्रजमुपाययुः।
तमसि त्रितयं प्रोक्तं हरिस्तत्राधिदैविकः ॥१०६॥
स तु तूष्णीं भवत्यत्र कालस्त्वाध्यात्मिको मतः।
हरभूत्यास्तु भूतानि स्त्रीणां हर्त्ता ततो निशि ॥१०७॥
शङ्खचूड इति प्रोक्तस्तं च हत्वा विमोचिताः।
सुदर्शनो यथा जीवस्तथा सत्त्ववरो मणिः ॥१०८॥
कर्म स्वस्मिन् प्रतिष्ठाप्य रामे रत्नं न्यरूपयत्।
एवं कालादिसम्बन्धात्तामसान् स्वान् न्यवारयत् ॥१०९॥
पूर्वसिद्धपरित्यागो वैराग्यं कालदोषतः।
ज्ञानं तु गुणगानं हि परोक्षे तत्प्रतिष्ठितम् ॥११०॥

षष्ठार्थमाहुः सार्द्धैः षड्भिः-तत इत्यादिभिः। वैराग्येण फलदातृत्वं व्युत्पादयन्ति कौतुकेत्यादिसार्द्धेन। पूर्वेषामित्यवैष्णवकर्मणाम्। मूर्द्धपदं मुख्यबोधकम्। विमोचनेन सिद्धं फलान्तरमाहुः-अतस्तत्कर्मेत्यर्द्धेन। एतेन कदाचिद्दैवगत्या मौर्ख्यादिना कृतमप्यन्यदैवतं कर्म, 'यत्करोषि यदश्नासी'त्याज्ञां ह्यनुसन्धाय भगवदर्पणं कर्तव्यमित्युक्तम् ॥१०१॥१०५॥ द्वितीयफलदानस्यापि वैराग्यहेतुकत्वं व्युत्पादयन्ति तमसीत्यादिद्वाभ्याम्। काल इति शिवरात्रिरूपः। सत्त्ववर इति। सत्त्ववृत्तिषु श्रेष्ठः ॥१०६॥ ॥१०९॥ वैराग्यस्वरूपं सहेतुकमाहुः-पूर्वेत्यादि, पूर्वसिद्धपरित्याग इति भगवत्परत्व-

प्रत्यक्षे भजनं श्रेष्ठमेवं चेद्रोधनं स्थिरम् ।
पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रात्रौ च दिवसे तथा ॥१११॥
ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत्परिवर्त्तते ।

(अथ राजसप्रकरणम्)

अतः परं राजसानां प्रक्रिया पूर्वसङ्ख्यया ॥११२॥
अष्टाविंशतिभिः प्रोक्तास्तथाऽध्यायैश्चतुर्विधैः ।
यादवा राजसाः प्रोक्तास्तेषां पूर्वस्थितस्य हि ॥११३॥
त्याजनं सर्वथा कार्यं देशादेः षड्विधस्य च ।
तत्राऽऽदौ दुःखकर्त्तारो मारणीया गुणैरिह ॥११४॥
ततः कालविमुक्तिर्हि देशद्रव्यैस्ततोऽपि हि ।
ख्यात्या पूर्वाणि नामानि कर्माण्यपि पुरा यथा ॥११५॥
त्याजितानि समस्तानां तथा ख्यातिं ददौ हरिः ।

परित्यागः । एतस्य यावदन्याश्रयस्तावदिति न्यायेन भगवदुपेक्षाहेतुत्वाद्वैराग्यत्वमित्यर्थः । सप्तमार्थमाहुः–ज्ञानमिति पादेन । प्रकरणे यत्सिद्धं तदाहुः-परोक्ष इत्यादि । तामसप्रकरणीयमुद्धारप्रकारमाहुः--ज्ञानं भक्तिश्चेत्यादि ॥१११३॥ **एवं द्विसप्ततिभिस्तामसप्रकरणं विचारितम् ।**

॥ तामसप्रकरणं समाप्तम् ॥

अतः परं सार्द्धद्विनवत्यधिकशतेन राजसप्रकरणं पूर्ववदेव चतुःप्रकरण्या विचारयन्ति–अतः परमित्यादि । पूर्वं सङ्ख्ययेति सप्तसङ्ख्यया ॥११०॥११२॥

तत्र के राजसाः कथं तेषामुद्धरणमित्यपेक्षायां तत्प्रकारमाहुस्त्रिभिः--यादवा इत्यादि । **सर्वथा कार्यमिति** । रजसो विक्षेपकत्वेन तन्निवृत्तये तथा कार्यम् । सप्ताध्याय्याः प्रयोजनमाहुः–तत्रेत्यादि । दुःखकर्तारोऽरिष्टाद्यास्तदर्थं षट् । ततस्तदनन्तरं कालविमुक्तिर्हि निश्चयेन देशद्रव्यैः देशो द्वारकादिः द्रव्याणि अनुलेपनादीनि तैः । ततोऽपि धर्मिणाऽपि । अत्र गमकमाहुः हि यतो हेतोः ख्यात्या लोकप्रसिद्ध्या तथा तेनैव ज्ञायत इत्यर्थः ॥११३॥११५॥ अध्यायचातुर्विध्यं स्फुटीकर्तुं प्राथमिकानां सप्तानां प्रमाणप्रकरणत्वाय पूर्ववत्प्रमातॄन् वदन्तः प्रकरणसमाख्यां तत्कृतनिरोधं च विश-

(अथ राजसप्रमाणम्)

प्रमाणं नारदः प्रोक्तस्तथाऽक्रूरो द्वितीयकः ॥११६॥
नन्दस्तृतीयः क्षत्ता तु चतुर्थो गोपिकास्तथा ।
हर्याविष्टो हरिश्चैव कुब्जा चाऽत्र मताः पुरा ॥११७॥
एते प्रमाणभूता हि राजसे सगुणो हरिः ।
एतैः सिद्धो राजसानां स्नेहः सर्वोत्तमः स्थितः ॥११८॥
नारदो देवगुह्यस्य कर्त्ता भयविवर्धनः ।
येन स्नेहः समुत्पन्नस्तथाऽक्रूरस्तु पोषकः ॥११९॥
सन्देहजननाच्चित्तं कृष्णार्थं तरलं यतः ।
स्नेहे द्वितीयमेतद्धि पर्व लोकेऽपि बुध्यताम् ॥१२०॥

दीकुर्वन्ति-प्रमाणमित्यादिसार्द्धाभ्याम् । प्रथमे नारदः कंसस्य भगवति देवकीपुत्रत्वमिमितिमुत्पादितवान् । द्वितीयोऽक्रूरः श्रीनन्दे वसुदेवसुतत्वं ज्ञापितवान् । यद्यप्यत्र न प्रत्यध्यायं प्रमाणकथा, तथापि द्वितीये नारदस्य, तृतीयेऽक्रूरस्य प्रसङ्गो वर्तत इति तद्द्वारा प्रकरणे निवेशस्तयोः । श्रीनन्दः क्षत्ता च व्रजे, गोपिकाः स्वयूथे, हर्याविष्टो हरिर्व्यूहरूपोऽक्रूरे, (यादवेषु ज्ञातित्वादिसम्बन्धबोधनेन स्वस्मिन् वसुदेवपुत्रत्वं) पुरुषोत्तमत्वं ख्यापितवान्, कुब्जा च मथुरास्त्रीषु एवमेतेष्वध्यायेषु प्रमातृसम्बन्धेन तत्तत्प्रेमोत्पत्ते राजसे प्रकरणे एते प्रमाणभूताः । **हि यतो हेतोः** सगुणो हरिर्वासुदेवस्तैः प्रकर्षेण सिद्धोऽत' सगुणहरिः प्रमाजनकत्वात्प्रमाणप्रकरणेति समाख्या । यतश्च राजसानां यादवानां सर्वोत्तमः स्नेहो निर्णीत इति प्रकरणस्य निरोधोपयोगित्वमित्यर्थः ॥११६॥११८॥ नन्वेतेन कथं स्नेहनिर्णय इत्यतस्तत्प्रकारमाहुः-नारद इत्यादिसार्द्धैः षड्भिः । येनेति भयवर्द्धनेन । (अ. ३) 'माभूद्भयं भोजपतेर्मुमूर्षो'रिति ब्रह्मवाक्यविस्मरणान्मातापित्रोः स्नेहः सम्यग्भयजनकतयोत्पन्नः। तथा च नारदस्य तथोत्पादकतया स्नेहनिर्णायकत्वम् । एवमक्रूरस्याऽपि 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समं कुर्या'दिति (अ. ३३) कंसाज्ञप्रमार्जने सन्देहोत्पादनादिह भगवदागमे भविष्यतीति चित्तं तयोस्तरलमभूदिति तदपि तथा । एतस्य तथात्वे लोकप्रसिद्धिं प्रमाणयन्ति–स्नेह इत्यादि ॥११९॥१२०॥ ननु श्रीनन्दवाक्यस्य कथं स्नेहोपयोग

नन्दस्तु पूर्वभावस्य निन्दां चक्रे विनिश्चिताम् ।
तेन मिश्रपरित्यागान्निर्दोषस्य भविष्यति ॥१२१॥
उत्कण्ठा परमा क्षत्त्रा गोपिकाभिश्च जायते ।
पुरुषाणां तथा स्त्रीणामाविष्टेनाभयं महत् ॥१२२॥
ततः सन्देहगमनात्स्थिरः स्नेहो भविष्यति ।
कृष्णेन पुरुषैर्योगः स्नेहवृद्धिः प्रदायकः ॥१२३॥
तथैव कुब्जया स्त्रीणामेवं स्नेहो निरूपितः ।
प्रमाणबलमासाद्य तथाऽऽसक्तिः प्रमेयके ॥१२४॥

इत्यत आहुः **नन्दस्त्वि**त्यादि। **तेने**त्यादि। श्रीनन्दवाक्यतः कंसीयस्वभावनिश्चयेन **मिश्रपरित्यागा**त्कंसाश्रयमिश्रस्नेहपरित्यागान्**निर्दोषस्य** कंससम्बन्धरहितस्याक्रूरस्य चित्तं मथुरागमनोत्तरं तरलं भविष्यतीति 'नाहं भवद्भ्यां रहित' (अ. ३८) इत्यादिभिस्तद्वाक्यैरवसीयत इति तस्यापि दूरतस्तन्निर्णायकत्वम्। **पुरुषाणां तथा स्त्रीणा**मिति। गोकुलस्थानामिति शेषः। एतेषां तामसत्वपरित्यागे राजसत्वमग्रे वक्तव्यमतो न प्रकरणविरोधः। **आविष्टेन भयं महदि**त्यादि। व्यूहात्मकेन त्यागभयं कथं पुनर्नः प्रतियास्यत इति वाक्योक्तं महदुत्पादितम्। तत उत्तरं कालं प्राप्य श्रीमदुद्धवानीतसन्देशैस्त्यागसन्देहगमनात्स्थिरः स्नेहो भविष्यतीत्याविष्टस्यापि दूरतस्तन्निर्णायकत्वम्।*(यद्वा वसुदेवादिषु स्वनिमित्तस्य कंसाद्दुःखस्य कथनेन स्वस्मिन्नसामर्थ्यं बोधयित्वाऽसमर्थं स्वशत्रुं कंसः कथं न मारयिष्यतीत्याकारकं महद्भयमक्रूरे व्यूहात्मकेनोत्पादितम्। तदनन्तरं ब्रह्महृदे वैकुण्ठे दर्शिते स्वस्मिन् पुरुषोत्तमत्वे ज्ञापिते पूर्वसन्देहगमनात्स्थिरः--स्नेहो भविष्यति। अत एवाग्रेऽक्रूरस्य माहात्म्यज्ञानस्नेहोभयख्यापकानि 'नाहं भवद्भ्यां रहित' इत्यादीनि वाक्यानि।) **पुरुषैरि**ति वायकसुदामादिभिः ॥१२१॥१२३॥

एवं चापूर्वसम्बन्धभाजां भगवति स्नेहः पूर्वसम्बद्धानां त्वासक्तिरिति द्वयीविधा प्रमाणप्रकरणे निरूपितेत्याहुः **प्रमाणे**त्यादि। ननु राजसेषु निरोद्धव्येषु तद्दुःखदातॄणां हननं तद्देश एव कर्तव्यम्, न तु व्रजे, तस्य तामसनिरोधस्थानत्वात्। अत्र वधे च व्रजस्थानामेव दुःखनिवृत्त्या तदन्तं पूर्वप्रकरणं

* नास्तीदं (   ) चिन्हान्तर्गतं मूले ।

अरिष्टो राजसानां हि गोकुले निधनं गतः ।
वासनालेशमात्रेण तत्र स्थास्यति सर्वदा ॥१२५॥
इतोऽपि चेद्धरिर्गच्छेन्नीत्वा सर्वस्य तामसम् ।
राजसास्ते भविष्यन्ति गोकुलस्था न संशयः ॥१२६॥
उभये च ततस्त्वग्रे सात्त्विका निर्गुणास्ततः ।
त्रयोऽपि सम्भाविष्यन्ति मुक्तौ तेषां निरूपणम् ॥१२७॥
देवगुह्यस्य कर्त्ता हि नारदो देवसम्मतः ।
भगवत्सम्मतिस्त्वत्र नास्तीत्येवेति मे मतिः ॥१२८॥
यतः प्रबोधयत्येनं प्रद्युम्नत्वान्न दुष्यति ।
पूर्वं भावस्तु न ज्ञातः स्वाधिकारस्तु मध्यमः ॥१२९॥
पूर्वक्रुद्धा देववाणी पुत्रत्वाय यतो हरिः ।

वक्तव्यम्, तत अक्रूरोऽपि च 'तां रात्रिमि'ति पञ्चत्रिंशाध्यायमारभ्य राजसप्रकरणं युक्तमित्याकाङ्क्षायामाहुः **अरिष्ट** इत्यादित्रयम्। **राजसानामि**ति प्रलम्बबकेत्यत्र यादवकदनकर्तृषु गणितत्वाद्राजसानां दुःखकर्तेति शेषः। **हिर्हेतौ**। **तामसमि**ति। अवज्ञादिजनकं मौढ्यम्। तथा च यत एवमतो हेतोर्गोकुलस्था राजसा भविष्यन्तीति ज्ञापनाय तस्यात्र वधः। पूर्वभावत्यागप्रयोजनं मुक्तिलीलाप्रवेशः, तज्ज्ञापिका च तत्र द्वादशेऽध्याये 'अथैतत्परमं गुह्य'मित्यादिना तेषां त्रयाणामपि निरूपणम्। अतो न प्रकरणविरोधादिदोष इत्यर्थः। ननु नारदस्य भगवद्भक्तत्वाद्भक्तभयवर्द्धकत्वं न युज्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः—**देवगुह्यस्ये**त्यादि। देवानां स्वक्लेशनिवृत्तिः शीघ्रमिष्टेति कलिप्रियेण नारदेन तत्कारयितुं तं प्रेषितवन्त इति तेन तथेत्यर्थः ॥१२४॥१२७॥

ननु तर्हि भगवत्सम्मतिरपि भविष्यतीति शङ्कायामाहुः—**भगवदि**त्यादि। इत्येवेति निश्चितमिति शेषः। तत्र नान्यस्य सम्मतिरित्याहुः—**इति मे मतिः**। अभ्युपगमे बीजमाहुः—**यत** इत्यादि। प्रबोधयतीति। अग्रिमाऽध्याये 'कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्म'न्नित्यादिना यतः प्रबोधयत्यतो ज्ञायते नात्र भगवत्सम्मतिरिति। तेन देवप्रेरणादेव तथाकरणमित्यर्थः। ननु भगवत्त्वं जानतः प्रबोधनं न युक्तमत आहुः-**प्रद्युम्ने**त्यादि। ननु कथमज्ञानमत आहुः--**स्वाधिकारे**त्यादि। नन्वस्त्वेतदेवं तथापि यद्गृहे पूर्णस्य भगवतः प्राकट्यं तयोरेवं क्लेशो न युक्त इत्यत आहुः—**पूर्वमि-**

प्रार्थितो वसुदेवाभ्यां ततो गमनयाञ्चया ॥१३०॥
अध्यात्मा नारदः क्रुद्ध उभाभ्यां बन्धनं तयोः।
मायया प्रथमे मुक्तिः कृष्णेनाऽग्रे भविष्यति ॥१३१॥
मायावशात्तदा याञ्चा कृष्णार्थे गमनं मतम्।
अधिकारान्नाऽपराधो नारदस्य भविष्यति ॥१३२॥
तथाऽपि प्रीयते नैव हरिरित्येव मे मतिः।
कंसादयो राजसा हि बुद्ध्या कार्यस्य साधकाः ॥१३३॥
तामसं केशिनं तेन प्रेषयामास राजसः।
मथुरायां तामसस्य वधो युक्तो न च क्वचित् ॥१३४॥
अतो गोकुलमासाद्य सोऽपि नष्टो विमुक्तये।
ज्ञाने तु बाधकः केशी तेनाक्रूरादयस्तथा ॥१३५॥

त्यादिसार्द्धम्। वसुदेवाभ्यामिति। 'पुमान स्त्रिये'त्येकशेषः। बन्धनमिति। वारद्वयं बन्धनम्। तथा चापराधादेव तथा भाव इत्यर्थः। न चैवं सति नाभ्यादीनामपराधः शङ्क्यः। तत्र पूर्णप्राकट्यस्यानभिसंहितत्वेन तदभावादिति फलबलादवसीयते ॥१२८॥१३१॥ ननु प्रथमं मायया कुतो मुक्तिरित्यत आहुः* मायावशादित्यादि। नन्वेवं सति तथैव कंसः कुतो न मारित इत्यत आहुः—कृष्णार्थमित्यादि। स्वयं कंसमारणस्य भगवता विचारितत्वात्तदर्थं तस्यास्ततो गमनमित्यर्थः। नन्वस्त्वेवं तथापि भगवदनभिप्रेतकरणान्नारदस्यापि क्लेश उचित इत्यत आहुः—अधिकारादिति। तथा च भगवत्प्रीत्यभाव एव तत्र क्लेशो न त्वधिको हरीतकीरूपत्वादित्यर्थः। प्रीत्यभावस्त्वननुमोदनाद् बोद्धव्यः। एवं प्रथमार्थ उक्तः। अत्रैश्वर्यकार्यत्वं स्वातन्त्र्यादेव स्फुटम्।

द्वितीयार्थं विचारयन्ति-कंसादय इत्यादि। हि यतो हेतोर्बुद्ध्या कार्यस्य साधका न तु मौढ्यादतो राजसा इत्यर्थः। केशिनस्तामसत्वे गमकमाहुः—ज्ञाने इत्यादि ॥१३२॥१३५॥

* ननु मायाकृष्णाभ्यां क्रमेण बन्धनान्मोचने को हेतुरित्यत आहुर्मायावशादित्यादि. 'न वध्याथेपवर्गौ मे मोहितौ आत्ममायया'इति भगवद्वाक्यात् पूर्वप्रार्थनायां मायाया हेतुत्वान् मायया पूर्वं मोचनम्। कृष्णस्य प्राणाधिकप्रियत्वात् तस्मिन् कंसभये शङ्किते स्वस्थानादन्यत्र गमनप्रार्थनायाः कृष्णार्थत्वाद् द्वितीयवारं बन्धनात् कृष्णेन मोचनमित्यर्थः।

तथा भक्तावरिष्टोऽपि तावुभौ गोकुले हतौ।
अन्यथा गोकुलस्थानां जीवनं न भवेत्क्षणम् ॥१३६॥
ज्ञानभक्तिप्रसिद्ध्यर्थमक्रूरागमनं पुनः।
गोकुले बाधको व्योमो लीलायां कर्मणि स्थितः ॥१३७॥
परोक्षेऽपि हरेः सिद्ध्यै लीलायाः सोऽपि वै हतः।
द्वाभ्यां त्रयोऽत्र निहताः परोक्षेण त्रयोऽत्र हि ॥१३८॥
मार्गाः पुष्टा भविष्यन्ति तेन राजसता स्थिता।
सात्त्विकोऽप्युभयैर्दोषैरक्रूरः कंससङ्गतः ॥१३९॥
उभयोस्तु ततो नाशे भक्त्या कृष्णान्तिकं गतः।
सिद्धान्तस्य परिज्ञानादासुराणां तथाऽभवत् ॥१४०॥
भगवच्छास्त्रविज्ञानात्सन्दिग्धं स उवाच ह।

ज्ञानबाधकत्वे गमकमाहुः अत इत्यादि। उभयोर्गोकुले हनने हेतुमाहुः—तथेत्येकेन। तथा च जीवनार्थं ज्ञानभक्त्योरपेक्षितत्वात्तत्रत्यानां तत्प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं तत्र तौ हतावित्यर्थः। एतेन पूर्वशेषताऽप्यनुमता, तेषां राजसत्वभवने प्रकारश्चोक्तः। नन्वस्त्वेवं लीलान्तरस्य गोकुलोपयोगस्तथाऽप्यक्रूरागमनमत्र किमर्थमुक्तम्, तस्यैव तत्प्रतिकूलत्वादित्यत आहुः—ज्ञानभक्तीत्यादि। प्रसिद्ध्यर्थमिति विरहे जाते ज्ञानभक्त्योर्या प्रकृष्टा सिद्धिस्तदर्थम्। तथा च तदपि तेषामुत्कर्षायैव न तु निकर्षायेत्यर्थः। व्योमवधस्याप्येतदर्थत्वं वदन्तोऽध्यायद्वयोक्तलीलाया उपयोगं द्वाभ्यां स्फुटीकुर्वन्ति गोकुल इत्यादि। हरेः सिद्ध्यै लीलाया इति। हरेर्लीलाः सिद्ध्या इति योजना। द्वाभ्यामिति ऐश्वर्यवीर्याभ्याम्। तथा च परोक्षेण मार्गत्रयपोषणद्वारा राजसत्वनिर्णयार्थमत्रैतत्कथनमित्यर्थः ॥१३६॥१३८॥ एवं द्वितीयाध्यायो विचारितः। अत्र वीर्यकार्यं स्फुटमेव।

तृतीयाध्यायं विचारयन्ति—सात्त्विक इत्यादि। नन्वक्रूरस्य भक्तत्वात्कथं कंसानुरोधित्वमित्यत आहुः—उभयैर्दोषैरिति। राजसतामसैस्तैः। तत इति भगवद्विषयकैर्मनोरथैः। ननु तथापि भगवदानयनार्थोऽनुरोधस्तु सर्वथा अयुक्त इत्यत आहुः—सिद्धान्तस्येति आकाशवाण्युक्तस्य। अत्राग्रिमश्लोके वक्ष्यमाणस्य वा। तथेति आकारणात्मकनियोगकर्त्ता ॥१३९॥१४०॥ भगवच्छास्त्रविज्ञानादिति। भगवदिच्छा ज्ञातुमशक्या भगवान् स्वतन्त्र इति भगवच्छास्त्रं

यथाकथञ्चिद्दुष्टस्य परित्यागे तु सात्त्विकः ॥१४१॥
भक्तः सन् भगवत्पार्श्वे याति कृष्णश्च तुष्यति ।
मार्गत्रये ततः प्रोक्ता तस्य निष्ठा विशेषतः ॥१४२॥
कृष्णमाहात्म्यविज्ञानं भक्तिमार्गोपयोगि हि ।
स्वरूपबोधो ज्ञानार्थः कामना कर्मणि स्थिता ॥१४३॥
त्रिभिस्त्रयोऽपि सन्तुष्टा नन्दरामौ तथा हरिः ।
हरेर्निर्गमनं तस्मान्न युक्तमिति वै शुकः ॥१४४॥
गोपिकावाक्यरीत्यैव भगवद्गमनं जगौ ।
प्रतिबन्धादरिष्टादेर्न गोपीकायिकोद्यमः ॥१४५॥
वाक्येनैव च सन्तुष्टा वाचि तास्तु प्रतिष्ठिताः ।
अक्रूरे त्रितयं जातं वैकुण्ठे स्थापनाय हि ॥१४६॥

तस्य विज्ञानात् । एतत्कथोपनिबन्धनसिद्धं सिद्धान्तमाहुः-यथाकश्चिदित्यादि । अत्र ज्ञापकमाहुः–मार्गेत्यादि । निष्ठायाः फलमाहुः-कृष्णेत्यादिसार्द्धेन । अत्र श्रीनन्दस्य 'यो नन्दः परमानन्द' इति श्रुतेस्तत्प्रसादोऽपि मुक्त्युपयोगी ॥१४१॥१४३॥ एवं तृतीयाध्यायो विचारितः । अत्रापि माहात्म्यज्ञानादिकं यशःकार्यम् ।

चतुर्थाध्यायं विचारयन्तः एवमाघोषयदित्यन्तः पूर्वाध्यायशेष इत्याशयेनाहुः–हरेरिरित्यादि । दुष्टत्रयवधेन व्रजस्थानां राजसत्वसम्पत्तौ तस्माद् व्रजाद्धरेर्निर्गमनं न युक्तम् । वै निश्चयेन, तत्र स्थित्वाऽत्रत्यनिरोधवदत्र स्थित्वा तत्रत्यनिरोधस्यापि कर्तुं शक्यत्वाद्राजसत्वस्य जातत्वेन तौल्याच्चेति ज्ञापयितुं तथा गमनं जगौ । तथा च व्रजस्थानां भावोत्कर्षस्यैव बोधनायैव गमनमित्यर्थः । तदग्रिमस्कन्धे भगवतैव 'रामेण सार्द्धमि'त्यादिना वक्तव्यम् । नन्वेवं सति कुतो भगवान्न कायेन निवारित इत्याकाङ्क्षायामाहुः प्रतीत्यादि । वासनायाः प्रतिबन्धकत्वं सप्तमे निर्णीतम्, तास्वियमागन्तुकी तत्राप्यल्पा तथापि दुष्टत्येतावत्प्रतिबन्धं कृतवती, अत एव वाक्यमात्रेण तोषोऽपि । न च तर्हि न्यूनत्वं शङ्क्यम्, तुः शङ्कानिरासे, ताः वाचि प्रतिष्ठिता ऋपित्वादुपनिषद्रूपत्वाच्च भगवद्वचन एव विश्वस्ता इति न न्यूनतेत्यर्थः । ननु त्रयाणां तोषेणाक्रूरस्य किं सिद्धमित्याकाङ्क्षायामाहुः–अक्रूर हीत्यादि । तत्र गमकमाहुर्हीत्यादि । ननु प्रसादस्यारादुप-

ब्रह्महृदे निमग्नस्य तथा दर्शनमीर्यते ।
अन्यथा भगवत्सङ्गं न त्यजेच्च कथञ्चन ॥१४७॥
माहात्म्यं ज्ञापितं त्वर्थात्तेन स्तोत्रमुदीरितम् ।
संस्कारमात्रतस्तस्मिन् स्नेहभक्तिः प्रतिष्ठिता ॥१४८॥
व्यवहारो महद्भिः स्यात्यथा कृष्णे तथाऽभवत् ।
कुब्जानिःशङ्कवचनैः स्वेच्छां पूरयते हरिः ॥१४९॥
उभयोरन्तरा दण्डप्रसादौ सुनिरूपितौ ।
श्रुतमाहात्म्ययुक्तानां सन्देहविनिवारकौ ॥१५०॥
रजको दण्डनीयो हि पूर्वधार्ष्ट्यादिहाऽपि हि ।
सीताया विप्रियं वक्ता रङ्गशोभार्थमुद्यतः ॥१५१॥
अन्त्यजा दैत्यपक्षीया रजकस्तेषु चाऽऽदिमः ।

कारकत्वे किं गमकमत आहुः–अन्यथेत्यादि ॥१४४॥१४७॥ एवं चतुर्थाध्यायो विचारितः । अत्र श्रीकार्यं भक्तानां विरहोद्बोधः स्फुट एव ।

पञ्चमं विचारयन्त इदानीं तेषां फलानुपधायकत्वे भगवन्माहात्म्यज्ञानेन स्तोत्रकरणमपि न स्यादित्यत आहुः–माहात्म्यमित्यादि । नन्वेवं सति माहात्म्यज्ञापनादिकं किमर्थमित्यत आहुः–संस्कारेत्यादि । संस्कारमात्रतायां गमकमाहुः व्यवहार इत्यादि । तथा च पितृव्यत्वाभिमानपरित्यागपूर्विका भगवति सन्नतिस्तद्धर्मिकेत्यर्थः । अत्र द्वाभ्यां वासनाभ्यां सर्वनिर्वाहादक्रूरे जीवान्तरप्रवेशपक्षो नाङ्गीकृत इतिबोधितम् । एवं पञ्चमाध्यायो विचारितः । अत्र ज्ञानकार्यं स्फुटमेव ॥

अथ षष्ठं विचारयन्तोऽक्रूरस्य गृहं प्रति प्रेषणे वैराग्यकार्यत्वस्य स्फुटत्वादग्रिमेष्वस्फुटत्वात्तेषु तथात्वं वक्तुमग्रिमाध्याये धर्मिकार्यं बोधयितुं तदर्थकथनपूर्वकं तदाहुः-कुब्जेत्यादि । अग्रिमाध्याये उक्तैर्वैराग्यबोधकैः कुब्जानिःशङ्कवचनैः स्वेच्छां पुरान्वेषणविषयां पूरयतो हरेरक्रूरं प्रति वचनैः कृत्वा उभयमध्यगाववर्थौ सन्देशपतितत्वाद्भक्तानां भगवत्त्वज्ञानोत्पादनद्वारा वैराग्यसन्देहनिवारकावुक्तावित्यर्थः ॥१४८॥१५०॥ ननु दण्डस्य कथं वैराग्यबोधकत्वमित्यतस्तदुपपादयन्ति–रजक इत्यादिसार्द्धेन । इहापीति धार्ष्ट्यादित्यनुषङ्गः । धार्ष्ट्यद्वयं स्फुटीकुर्वन्ति प्रातिलोम्येन । सीताया इत्यादि । नन्वेतादृशे दौष्ट्ये भगवान् दातुः श्रेयः किमित्यु-

कर्ममार्गे फलं सर्वैः प्राप्यते तत्तथोक्तवान् ॥१५२॥
वस्त्रदातुः फलं ते स्यादन्यथा तु वधः स्मृतः।
मालाकारः प्रियो लोके भक्तानां सुतरां प्रियः ॥१५३॥
उभौ परीक्षितौ सम्यक् ततो दण्डादिकं कृतम्।
तयोर्मध्ये वेषकर्त्ता नटानां सुतरां प्रियः ॥१५४॥
प्रसादः त्रिषु वक्तव्यस्ततस्तस्मिन् पुरोदितः।
धनुषो भञ्जनं चैव रक्षकाणां वधस्तथा ॥१५५॥
निग्रहोऽपि द्विधा जातस्तैः सर्वं प्रकटीकृतम्।

(अथ राजसप्रमेयम्)

प्रमेयबलमासाद्य ततः सप्तभिरुच्यते ॥१५६॥
आसक्तिर्यादवानां च दुष्टानां च वधस्तथा।
प्रमेये सप्त भक्ता हि तावन्तश्चाऽपि विद्विषः ॥१५७॥
देवकी वसुदेवश्च सर्व एव च यादवाः।
आध्यात्मिकप्रकारेण द्वावेतौ परिकीर्तितौ ॥१५८॥

क्तवानित्यत आहुः कर्मेत्यादि। ननु प्रसादस्य कथं वैराग्यकार्यत्वमित्यत आहुः **मालाकार** इत्यादि। तथा च परीक्षैवोभयत्रापि वैराग्यबोधिकेत्यर्थः। नन्वेवं सति रजके किं परीक्षितं येन तस्मिन् प्रसादवाक्यानि वायके चेत्यत आहुः तयोरित्यादि। तयोरिति मालाकारवायकयोः। तथा च नटप्रियत्वाद्वायके प्रसादो न तु स्वतः। कर्मित्वाद्रजके तथावाक्यमिति सर्वं वैराग्यकार्यमेवेत्यर्थः। एवं षष्ठाध्यायो विचारितः।

सप्तमार्थमाहुः धनुष इत्यादि। द्विधेति स्थावरजङ्गमभेदेन द्विधा। तैरित्यादि कुब्जारूपकरणद्विविधनिग्रहैः। सर्वं वसुदेवपुत्रत्वब्रह्मत्वादिकं प्रकटीकृतं यादवानां प्रमितिविषयीकृतमित्यर्थः। एवमूनपञ्चाशद्भिः प्रमाणप्रकरणं विचारितम्॥

अथ राजसप्रमेयम्।

अतः परं प्रमेयप्रकरणं सार्द्धत्रिंशद्भिर्विचारयन्तः समाख्या-बीजमाहुः प्रमेयबलमित्यादि। तथा च प्रमेयभूतस्य भगवतो यद्बलं तद्बोधकत्वात् प्रमेयप्रकरणेतिसमाख्येत्यर्थः। सप्ताध्यायात्मकत्वे बीजमाहुः-प्रमेये सप्तेत्यादि ॥१५१॥१५७॥ उभयान् गणयन्ति-देवकीत्यादिभिस्त्रिभिः।

१ त्रिषु।

अधिदेवो गुरू प्रोक्तः पुत्रदानात्स मोचितः।
नन्दः पत्नीयुतश्चैव गोपिकाः कुब्जया युताः ॥१५९॥
अक्रूरः पाण्डवाश्चैव सप्तैते निःप्रपञ्चिताः।
गजः पञ्च तथा मल्लाः सप्तमः कंस उच्यते ॥१६०॥
भ्रातरस्तत्प्रसङ्गेन हताः सप्तैव दोषतः।
एतावानेव रूपे हि स्नेहद्वेषविनिर्णयः ॥१६१॥
जीवन्तो मुक्तिमायान्ति भक्ता द्विष्टा हताः पुनः।
रूपं सर्वविमोक्षाय स्नेहासक्तिनिवारकम् ॥१६२॥
भयं यस्मात्तस्य वधः कारणं तत्पुरोदितम्।
अध्यायद्वितयेनैव बहिरन्तर्व्यवस्थया ॥१६३॥
ततः कालस्य सर्वेषां भयहेतोर्निवारणम्।
तेनैव सिद्धं माहात्म्यमासक्तः स्याद्भयादपि ॥१६४॥

ननु कंसभ्रातरोऽष्टौ हता' इति कथं सप्तेत्यत आहुः--भ्रातर इत्यादि। तथा च तेषां वधस्य प्रासङ्गिकत्वान्न तेन वध्याधिक्यमित्यर्थः। नन्वत्र निरोद्धव्यत्वाद्भक्ता एव वक्तव्या द्वेषिनिरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुः--एतावानित्यादि सपादश्लोकम्। तथा च रूपप्राकट्यस्य सर्वमोक्षार्थत्वात्प्रमेयबलसूचनार्थं तन्निरूपणमित्यर्थः। नन्वेवं सति यत्र क्वचिद्वक्तव्या अत्रैव कुत उक्ताः? किञ्च, साधनाभावे कथं विमोक्षोऽपीत्यत आहुः--स्नेहेत्यादि। पुरेति सप्तमे, 'गोप्यः कामाद्भयात्कंस' इत्यत्र। 'तदि'त्यस्याग्रिमार्द्धेन सह योजना। उदितपदमत्राप्यनुषज्यते। तथा च स्नेहवृद्ध्यर्थमत्र निरूपणमित्यर्थः ॥१५८॥
१६३॥ नन्वत्र 'तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवान' इत्यादिनिरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुः-तत इत्यादि। तथा च माहात्म्यज्ञानपूर्वत्वं विना स्नेहस्य भक्तित्वं न स्यादिति पूर्वाङ्गसम्पत्तिबोधनाय तन्निरूपणमित्यर्थः। ननु भयनिवृत्तेः स्नेहाङ्गत्वेऽपि भयस्य तद्विरोधित्वादन्यत्रैव निरूपणं युक्तं नात्रेत्यत आहुः-आसक्त इत्यादि। आसक्तिर्ह्येकतानत्वम्, सैवात्र मोक्षं प्रति व्यापारः। तथा च सा यथा स्नेहात्तथा भयादपि पेशस्कृद्रुद्धे कीटे तथा दर्शनात्। अत्र स्कन्धे सैव प्रतिपाद्यते। अतो भयस्य स्नेहविरोधित्वेऽपि कथनमत्र नायुक्तमित्यर्थः ॥१६४॥

एवं त्रिभिरिहाऽध्यायैरासक्तौ साधनं जगौ।
स्निग्धानां सान्त्वनाभावे प्रतिबन्धो भवेदिह ॥१६५॥
अतश्चतुर्भिर्भूतानां त्रिविधानां च सान्त्वनम्।
कालजं सान्त्वने व्यर्थमतः सद्भिर्निवारितम् ॥१६६॥
अज्ञाने सान्त्वनं युक्तं तेन द्वाभ्यां व्रजे जगौ।
यशोदा वाऽथ नन्दो वा गोपिका वा यदा यदा ॥१६७॥
कृष्णासक्तैकहृदयास्तदाऽऽविर्भावमेति हि।
बहिर्मुखदशायां तु न पश्यन्तीति दुःखिताः ॥१६८॥
अतः प्रबोध एवाऽत्र कर्त्तव्यो न ततोऽधिकः।
लोकवत्तु व्यवस्थानं लोकधर्मविनाशनः ॥१६९॥
नन्दादीनां न कर्तव्यः पिष्टपेषो न युज्यते।
प्रपञ्चपातने सक्तास्ते कृष्णस्य न सर्वथा ॥१७०॥

एवं चात्रावान्तरं प्रकरणद्वयमन्यत्सिद्ध्यतीत्याहुः-एवमित्यादि। सार्द्धेन। इहेति आसक्तौ। त्रिविधानामिति तामसराजससात्विकानाम्। ननु माहात्म्यज्ञापनाय क्रियमाणस्य कालनिवारणस्य भयाध्याये किमिति निरूपणमित्यपेक्षायामाहुः--कालजमित्यादि। सान्त्वने कृते कालजं दुःखं चेत्स्यात्तदा सान्त्वनं व्यर्थमिति योजना। कालजे सान्त्वनमिति वा पाठः। नन्वासक्तिप्रतिबन्धाभावो हि सान्त्वनप्रयोजनम्, सा तु पूर्णा अनपनोद्या चेत्तत्सान्त्वनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः–अज्ञान इत्यादि। जगाविति। भगवत्स्थित्यज्ञानं जगौ। तथा च स्थित्यज्ञाने दोषारोपसम्भावात्तदभावार्थं सान्त्वनं युक्तमित्यर्थः। ननु बहुधापि सान्त्वने कृते दोषारोपो न निवारयितुं शक्यः शब्दापेक्षया लोके प्रत्यक्षस्य बलिष्ठत्वादित्याकाङ्क्षायां सान्त्वनस्य युक्तत्वं तत्कार्यनिरूपणद्वारा बोधयन्ति–यशोदा वेति द्वाभ्याम्। ततोऽधिक इति बहिः स्वानुभवः। तस्याकर्तव्यत्वे हेतुमाहुः–लोकवदित्यारभ्य नेत्यन्तम्। अतो बहिः स्वानुभावरूपः पिष्टपेषो न युज्यत इत्यर्थः। अयुक्तत्वमुपपादयन्ति–प्रपञ्चेत्यादि। न सर्वथेति न प्रपञ्चविस्मृतिपर्यन्तम्। तथा च बहिरनुभवे तावत्पर्यन्तत्वाभावात्तादृशमनुभावनं न युक्तमित्यर्थः ॥१७०॥

अन्तर्मुखे त्वाविरासीत्ततो बोधनमुत्तमम्।
चौर्यादिकं यथापूर्वं प्रपञ्चस्मृतिशान्तये ॥१७१॥
तथा बहिर्मुखत्वेऽपि दुःखं यच्छत्यबोधतः।
मथुरास्था नाऽधुनाऽपि निःप्रपञ्चा न सर्वथा ॥१७२॥
अतः प्रपञ्चधर्माणां सङ्ग्रहस्तां विचार्य हि।
जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषभावं नयन्ति हि ॥१७३॥

नन्वेवं सति क्रूरत्वमापद्येतेत्यत आहुः-अन्तरित्यादिति। आविरासीदिति आविरास्ते। पक्षे प्राप्तमपि तन्निरस्यन्ति चौर्यादिकमित्यादि। तथा चात्र क्वापि दोषलेशाभावात्काऽपि लीला नायुक्तेत्यर्थः। ननु यथा व्रजस्थानां प्रपञ्चनिवृत्त्यर्थं भगवता यत्नो भूयान् क्रियते, तथा मथुरास्थानामर्थे कुतो न क्रियते निरोद्धव्यत्वस्यात्रापि तुल्यत्वादित्याशङ्कायामाहुः–मथुरास्था इत्यादि। नाधुनापीति सम्यगासक्ता इति। तत्र गमकम्–निःप्रपञ्चेत्यादि। अतो हेतोः तामपूर्णासक्तिं विचार्य प्रपञ्चधर्माणां पुत्रत्वादीनां सङ्ग्रहः। स्वस्मिन् प्रत्यायनं भगवता हि निश्चयेन कार्यते इति शेषः। हि यतो हेतोः स्वभावतो दुष्टा जीवा दोषसत्त्वमेव

का. १७३ निबन्धकठिनांशविवेचनम्।

का. १७३ अग्रे चतुश्चत्वारिंशाध्यायार्थोक्तौ जीवाः स्वभावतो दुष्टा इत्यादि स्फुट इत्यन्तम्। जीवाः स्वार्थपरायणाः, स्वार्थे सिद्धे सर्वपरित्यागेन तज्जनितदुःखमप्यनुभूय स्वार्थसाधकं नोपकुर्वन्ति, नापि स्मरन्तीति जीवगतो दोषः कृष्णसङ्गताभिर्गोपिकाभिः कृष्ण आरोप्यते, यथा वा ज्वराभिभूतरसनेन्द्रियेण सितायां कटुकत्वारोपः। तादृशदोषाभावाय पूर्वं प्रपञ्चविस्मृतिः संयोगलीलया कारिता, निरन्तरं भक्ताधीनतया स्थितो न स्वार्थमात्रपरायण इति भक्तैर्ज्ञातः, स्वरूपलीलारसनिमग्नानामन्यविस्मरणान् महारसत्वमपि भगवतो ज्ञातं, परं भगवतो रसात्मकस्य द्विदलरूपत्वेन यदा भगवान् द्वितीयं दलमनुभावयति तदा तस्य तीव्रत्वेन सोढुमशक्यत्वाज् ज्ञापितेपि दोषाभावे दोषः पुनः प्रत्यवतिष्ठते, स्मरणेन च दुःखं जायत इति स्मरणमेव न कर्तव्यमिति भक्तानां भाति, तत् सर्वमुपदेशेन निवार्यते, वस्तुतस्तु भगवानात्मा सर्वाश्रयः भक्तवश्यः सत्यवाक्, अतस्त्यक्त्वा नैव गच्छतीति बोधेन पूर्वदोषनिवृत्तिः, संयोगलीलायां प्रकटरूपस्तु देहेन्द्रियादिगामी, विरहे निरन्तरं स्मृतस्तु मनोघर्षणेन मनोवृत्त्यात्मगामी भवतीति दूरस्थित्यभिप्रायज्ञापनेनापि पूर्वदोषनिवृत्तिः, एतदेवोक्तं जीवा स्वभावत इत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैः। इति।

सर्वमेव स्वसम्बन्धात्तथा कृष्णेऽपि सङ्गताः।
प्रपञ्चविस्मृतिः पूर्वं दोषाभावाय कारिता ॥१७४॥
कृष्णविस्मरणं तत्र न युक्तमिति बोधनम्।
प्रबोधे दोषहानिः स्यादात्मत्वे सुतरामपि॥१७५॥
तदुद्धवेन गुरुणा बोधयामास केशवः।
य एव स्यादुपायोऽत्र स कर्त्तव्यो न चेतरः ॥१७६॥
अतो बोधनमत्रोक्तं न तु साक्षात्स्वयं गतः।
आगतः सर्वदैवाऽऽस्ते तदा चाऽऽयाति सत्यवाक् ॥१७७॥
इदं च बोधनात्सिद्धे दोषोऽपि विनिवर्त्तते।
दोषश्चतुर्धा टीकायां विस्तरेण प्रपञ्चितः ॥१७८॥
तत्क्षान्तिश्चाऽपि बोधेन तेन नात्रोच्यते स्फुटः।
कुब्जा तु राजसी नारी तथाऽक्रूरश्च यादवः ॥१७९॥
उपलक्षणभावेन द्वावेतौ विनिरूपितौ।

मापयन्ति। तत्प्रसिद्धं महाभारते राजधर्मेषु बभ्रुग्रसेनादिकर्तृकम्। तथाऽधुनापि ज्ञातव्यम्। तथा च पूर्णासक्तेरजातत्वान्नेदानीं तत्प्रपञ्चाभावयत्नः किन्तु व्रजस्थानामेवार्थे इत्यर्थः ॥१७१॥१७२॥ ननु व्रजस्थानां भगवदासक्तिप्रपञ्चविस्मृत्योः पूर्णतया जातत्वे कार्यस्य पूर्त्तेः पुनः प्रबोधनस्य किं प्रयोजनमत आहुः प्रपञ्चेत्यादि-त्रयम्। अत्रेति विप्रयोगदशायाम्। दोषहानिरिति। सात्त्विकभावप्रतिबन्धक-दोषहानिः। आत्मत्व इति ज्ञात इति शेषः। तदिति तस्माद् आत्मत्वं वा। तथा च स्वाविस्मरणार्थं सात्त्विकाभावप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं प्रबोधोपदेशनमित्यर्थः। ननु यथेदं बोधनेनाऽभूत्तथा स्वतोऽपि स्यादिति स्वयमेव कुतो नागादित्यत आहुः-य एवेत्यादि। नन्वनागमने एष्याम इति आयास्य इति वाक्यबाधप्रसङ्ग इत्यत आहुः-आगता इत्यादि। अयमित्यस्य पूर्वार्द्धेन सम्बन्धः। इत्थमितिपाठश्चेत्तदा उत्तरार्द्धे एव सम्बन्धः। ॥१७३॥१७४॥

एवं सार्द्धत्रीदशभिस्तामसानां सान्त्वनं समर्थितम्, राजसानामाहुः कुब्जेत्यादि। निरूपिताविति। एकस्मिन्नध्याये उक्तौ। सात्विकानामाहुः-

१ स्ति। २ सदा।

कुन्ती च पाण्डवाश्चैव सात्विकौ पूर्ववन्मतौ ॥१८०॥
धृतराष्ट्रकृते दुःखे तस्यापि स्यात्तु बोधनम्।
स तु सात्विकवर्यो हि पुत्रस्नेहात्तथाऽकरोत् ॥१८१॥
अतः प्रबोध उचितस्तस्यापि स्यान्न संशयः।
एवं चतुर्भिरध्यायैः सान्त्वनं विनिरूपितम् ॥१८२॥
प्रमाणेऽपि प्रमेयेपि भगवान् सप्तरूपधृक्।
क्रमेणैवाऽत्र संयोज्यस्तेन नोक्तो विशेषतः ॥१८३॥
अलौकिकेन भावेन यावद्धि भगवत्कृतः।
स पूर्वार्धो हरेः स्वस्य धर्मस्तादृश उच्यते ॥१८४॥
लोकधर्मं पुरस्कृत्य यच्चकार यदूद्वहः।
अस्वभावादुत्तरार्द्धे कार्यं तत्तु प्रकीर्तितम् ॥१८५॥
प्रमेयं च तथा चार्द्धे राजसप्रक्रियार्द्धतः।
एवं प्रमेयबलतः कृष्णासक्ताऽभवन्मुदा ॥१८६॥

(अथ राजससाधनम्)

ततो व्यसनसिद्ध्यर्थं साधनान्याह सप्तभिः।

कुन्तीत्यादि। पूर्ववदिति। निरोद्धव्यत्वात्सान्त्वनीयौ ॥१७९॥१८०॥ ननु तत्सान्त्वने कर्तव्ये धृतराष्ट्रज्ञानोपदेशः कुत उच्यत इत्यत आहुः-धृतेत्यादि। अयं चरणः पूर्वत्रापि सम्बध्यते। तस्य दुःखहेतुताया वारणीयत्वात्तस्याप्युपदेश इत्यर्थः। ननु योग्यताभावे कथं स इत्यत आहुः-स त्वित्यादि। तथाऽकरोदिति। राजसभावे-नाकरोत्। अत इति राजसभावस्य निवर्त्तनीयत्वात्। न संशय इति प्रथम स्कन्धे तन्मुक्तेरप्युक्तत्वात्तथेत्यर्थः। प्रकरणार्थं निर्णीयोपसंहरन्ति एवमित्यादि। नन्वत्राध्यायार्थो विशेषतः कुतो नोक्त इत्यत आहुः-प्रमाणेऽपीत्यादि। अत्र पूर्वार्द्धमपि समाप्तं तत्र बीजमाहुः-अलौकिकेनेत्यादि। स्फुटमन्यत् ॥१८१॥१८६॥ एवं सार्द्धत्रिंशद्भिः प्रमेयप्रकरणं विचारितम्। दशमस्कन्धस्य पूर्वार्द्धं समाप्तम्॥

अथोत्तरार्द्धम्। अथ राजससाधनप्रकरणम्।

अतः परं षष्ठिभिः साधनप्रकरणं विचारयन्तः समाख्यां समर्थयन्ति ततो व्यसनेत्यादि, तथा च व्यसनसाधनबोधकत्वादिदं साधनप्रकरणमित्यर्थः।

लौकिके व्यसने प्राप्ते तस्मिंश्च विनिराकृते ॥१८७॥
व्यसनासक्तहृदयाः कृष्णव्यसनिनोऽभवन् ।
जरासन्धश्च यवनः पुनर्ब्राह्मणसंयुतः ॥१८८॥
शिवप्रसादपुष्टश्च जरासन्धो विशिष्यते ।
राजसस्तामसश्चैव सात्विकश्च प्रकीर्तितः ॥१८९॥
केवलः पौरुषापोह्यः स सप्तदशधोदितः ।
प्रजापतिप्रसूतत्वात्तावद्वारं समागतः ॥१९०॥
अष्टादशे द्वन्द्वभावमापन्नः सहजो महान् ।
ततो व्यसनकर्त्ता हि तदैश्वर्येण वै हरिः ॥१९१॥
विश्वकर्माणमाहूय मथुरासमभावतः ।
द्वारकां निर्ममे तत्र योगवीर्यं चकार ह ॥१९२॥
ततो व्यसननिर्मुक्ताः कृष्णव्यसनमागमन् ।
एवमेकेन भूतानां व्यसनं विनिवर्तितम् ॥१९३॥
आध्यात्मिकानां च तथा तदर्थं यवनो हतः ।

किं तत्साधनमित्याकाङ्क्षायामाहुः–लौकिक इत्यादि। व्यसने दुःखे। व्यसनासक्तहृदया दुःखासक्तहृदयाः। कृष्णव्यसनिनः कृष्णैकतानाः। तथा च दुःखनिवारकभगवदेकतानत्वं साधनमित्यर्थः। व्यसनप्रापकानाहुः-जरासन्ध इत्यादि। तथा च जरासन्धस्यावस्थाभेदेन द्वैविध्यात्त्रयस्ते इत्यर्थः ॥१८७॥१८९॥

नन्वेवं त्रैविध्यं न युक्तं, जरासुतस्याष्टादशवारं युद्धायागमनादित्यत आहुः-केवल इत्यादि। प्रजापतिप्रसूतत्वादिति। जरया कृते सन्धाने तस्यैव प्रयोजकत्वात्तथा। तथा च द्वन्द्वभावापत्तिकृतव्यसनस्य प्रकारान्तरापन्नत्वेन तन्निवारणस्यापि तथात्वादुक्तमेव त्रैविध्यमित्यर्थः। शेषमतिरोहितार्थम्। निष्कृष्टं प्रथमाध्यायार्थमाहुः-एवमेकेनेत्यादि ॥१९०॥१९३॥

द्वितीयाध्यायं विचारयन्तः सर्वेषां द्वारकायां नयने मथुरायां कस्याप्यभावेन क्लेशस्याभावाद्यवनहननं किमर्थमित्याशङ्कां परिहरन्ति-आध्यात्मिकानामित्यादि। आध्यात्मिकानां च दुःखानां विद्यमानत्वात्तन्निवृत्त्यर्थं यवनोहतः। तेषां स्थान-

अद्याऽपि मथुरायां हि तिष्ठन्त्याध्यात्मिकाः सदा ॥१९४॥
दैविकाश्चापि तिष्ठन्ति त्रिभिस्तान् मोचयत्यसौ ।
रुक्मिणीव्यसनं तत्र नियामकमिति स्थितिः ॥१९५॥
त्रिभिस्तस्य निवृत्तिर्हि वाक् शरीरं मनस्तथा ।
मानसं वाचिकं वाऽपि कायिकं वा निराकृतम् ॥१९६॥
आध्यात्मिकेऽधिकं किञ्चिद्दैविकाभेदसिद्धये ।
व्यसनी मुचुकुन्दोऽपि निद्रया तन्निवारितम् ॥१९७॥
फलप्रकरणं नैतत्तेन स्तुत्याऽपि नोऽभवत् ।
साधनं परमुद्दिष्टं वीर्याध्यायो यतो मतः ॥१९८॥

माहुः अद्यापीत्यादि। त्रिभिरिति अध्यायत्रयोक्तचरित्रैः। तथा च श्रीरामस्यान्येषां च लोकानां तत्र विद्यमानताया धननयनादिलिङ्गेनावगमात्तत्र क्लेशस्थितिः शक्यवचनेति तृतीयाध्याये मागधनिवृत्तिपर्यन्तं चरित्रमाधिदैविकदुःखनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः। नन्वेवं सति तत्र श्रीरुक्मिण्यादिकथायाः किं प्रयोजनमत आहुः-रुक्मिणीत्यादि। तत्रेति आध्यात्मिकादिदुःखे। तथा चैवं सर्वराजभिर्विरोधे यादवकुमाराणां वा बलभगवतोर्वा विवाहः कथं कुत्र भावीति चिन्तारूप आध्यात्मिकदुःखाकारस्तन्मूलभूतदैवानुकूल्यचिन्तारूपो दैविकाकार इति प्रतिभाति तेनात्र तत्कथेत्यर्थः ॥१९४॥१९५॥ ननु श्रीरुक्मिणीव्यसननिवृत्तिस्त्रिभिः कुत उच्यत इत्यत आहुः-त्रिभिरित्यादि। तथेति दुःखहेतुभूतम्। अत्र वागन्येषां ज्ञेया। निवृत्तिविभागमाहुः मानसमित्यादि। आध्यात्मिके यादवानां दुःखे दूरीकर्त्तव्ये तस्य रुक्मिणीव्यसननियमितत्वाद्ब्राह्मणोक्तभगवद्वचनानुवादेन मानसं वाचिकं वा तद्दुःखं निराकृतम्। तदग्रिमाध्याये कायिकं यदात्र हरणात्कायिकं निराकृतमुच्यते तदाग्रिमे रुक्म्यादिजयाद्वाचिकं मानसं चेति ज्ञेयम्। एवं प्रसङ्गं समर्थयित्वा प्रस्तुतमाहुः आध्यात्मिक इत्यादि, अधिकं किञ्चित् मुचुकुन्दाय स्वरूपप्रदर्शादिरूपं कार्यं प्रस्तुतव्यतिरिक्तम्। तस्य प्रयोजनमाहुः-दैविकेत्यादि। प्रदर्श्यमानस्य स्वरूपस्याधिदैविकाभेदज्ञापनार्थमित्यर्थः। ननु यादवव्यसननिराकरणे प्रस्तुते मुचुकुन्दस्य कः प्रसङ्ग इत्यत आहुः-व्यसनीत्यादिसार्द्धचतुष्टयम्। तदिति व्यसनम्। नोभवदिति मुक्तो नोऽभवत्। उद्दिष्टमिति उपदिष्टम् ॥१९६॥१९८॥ ननु मुचुकुन्दस्यानुद्धारे साधन-

बलेन मोचितः स्वास्थ्यं न प्राप्स्यति कथञ्चन ।
अतः साधनमुद्दिष्टं प्रवृत्त्यै मृगयाकथा ॥१९९॥
प्रारब्धकर्म तद्वृत्तं तेन वा तन्न नाशितम् ।
तत्तद्धर्मप्रधानत्वाल्लीलायास्तत्र तत्र हि ॥२००॥
तेन वीर्यगुणाद् बुद्धः सामर्थ्यं प्राप्य साधने ।
तेनाऽर्थान् मुक्तिरेवास्मै तदा भवति सर्वथा ॥२०१॥
यवनोऽपि प्रविष्टस्तं ततः सिद्धिमवाप्स्यति ।
यवनैर्दूषिते स्थाने न नित्या मथुरास्थिता ॥२०२॥
व्यसनं च ततस्तेषां वारितं यवनार्दनात् ।
जरासन्धजयार्थाय यवनानां धनं हृतम् ॥२०३॥
दुष्टद्रव्यात्तु तस्याऽपि बुद्धिनाशो भविष्यति ।

मात्रोपदेशात्कथं वीर्यचरित्रत्वं येनाध्यायस्य तदाख्येत्यत आहुः बलेनेत्यादि। बलेनेति बलात्कारेण प्रमेयबलेन वा। तथा च तस्य सुखार्थमिदानीमनुद्धारो न त्वसामर्थ्यादतो नास्य वीर्याध्यायत्वहानिरित्यर्थः। ननु यद्येवं तदा 'क्षात्रधर्मस्थितो जन्तूनि'त्यादिकं कुत उक्तमित्याशङ्कायामाहुः-प्रवृत्त्या इत्यादि। ननु तदपि भगवता निवर्त्तितुं शक्यत एवेति नेदमुत्तरमित्यतः पक्षान्तरमाहुः-प्रारब्धेत्यादि। प्रारब्धस्य नाशाभावश्चतुर्थ-(मर्यादा)स्कन्धे उपपादित इति मर्यादानुरोधात्तथेत्यर्थः। नन्वेवमप्यत्र वीर्यलीलात्वे गमकं नोपलभ्यत इत्यत आहुः-तत्तदित्यादि। हिर्निश्चये। तेनेति भगवता। तेनेति हेतुना। तथा च प्रकरणाभावादत्र फलानुक्तिः। वस्तुतस्तु फलमपि तावन्महाकाल-सुप्तस्य क्षुत्तृड्क्रोधादिदोषसम्भवं निवार्य साधनकरणसामर्थ्यप्रापणेनाग्रे मुक्तिदानं सिद्धमिति तदेवात्र गमकमित्यर्थः। तेन कार्यान्तरस्यापि सिद्धिमाहुः यवन इत्यादि। तथा च मुचुकुन्दकथायां वीर्यनिरूपणार्थत्वमेव प्रसङ्ग इत्यर्थः। एवं द्वितीयाध्यायो विचारितः।

तृतीयाध्यायं विचारयन्ति-यवनैरित्यादि। नित्येति। सन्निहित-भगवत्का। 'सर्वेषामंशानां भगवत्येव समागमा'दिति सुबोधिन्यां स्थितत्वात्। तत इति सन्निधानाभावात्। धनहरणादिप्रयोजनमाहुः-जरासन्धेत्यादिसार्द्धेन।

१ सामर्थ्यप्राप्यसाधने।

प्रवर्षणगिरिस्थानां जीवानां च विनाशनात् ॥२०४॥
अग्नेः सम्प्रार्थनात्कृष्णः प्रवर्षणमथारुहन् ।
बलात्मा बलभद्रोऽयमतः सोऽपि निरूप्यते ॥२०५॥
अतो विवाहस्तस्याऽपि लोकरीतिश्च सम्मता ।
बलभार्या निराधस्था नेति भक्तौ निरूपिता ॥२०६॥
अतस्तस्याः कथामन्यामतिदेशान्न चोक्तवान् ।
विवाहो द्विविधो लोके धर्मार्थो भोगसाधकः ॥२०७॥
आद्यो धर्म्यस्तु कर्त्तव्यः पश्चाद्भोगार्थसाधकः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥२०८॥
विधिश्च वैदिकश्चैव सह सर्वैः स्वबान्धवैः ।
रुक्मिण्यां प्रथमायां तु विवाहत्रयमुक्तवान् ॥२०९॥
गान्धर्वो ब्राह्मणद्वारा स्तोत्रं भावावबुद्धये ।
प्रसह्य कन्याहरणं द्वितीये स्पष्टमेव हि ॥२१०॥
तत्सिद्ध्यर्थं तथा चक्रे कालः सत्सेवको यतः ।
उत्तरोत्तरभावस्य वृद्ध्यर्थं रुक्मिणीवचः ॥२११॥

प्रवर्षणारोहो बलसहभावश्चेत्यपि प्रासङ्गिकमेवेत्याहुः अग्नेरित्यादि ॥१९९॥२०५॥

बलविवाहस्तु श्रुतप्राय इत्याहुः सार्द्धेन-अत इत्यादि। अत्राध्याये यशसः कार्यमिति ज्ञापयन्ति विवाह इत्यादित्रिभिः। स्तोत्रं भावबुद्ध्य इति। श्रीरुक्मिणीकृतं श्रुत्वा'गुणानि'त्यादिनोक्तं स्तोत्रं स्वभावस्य भगवति बोधनायेत्यर्थः। तृतीयार्थ उक्तः।

चतुर्थाध्यायार्थमाहुः प्रसह्येत्यादि। तत्सिद्ध्यर्थं हरणसिद्ध्यर्थम्। तथा चक्रे विवाहकालः। 'अहो धिगस्मद्यश' इत्युक्तं तद्धिकारं चक्रे यतः समीचीनो मुख्यः सेवकः। तथा च भगवदिच्छामवगत्य तेषां धिक्कार्यत्वबुद्धि-जनकमहङ्कारमुत्पादितवानित्यर्थः। ननु 'नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्ण'मित्यादि प्रार्थनस्य किं प्रयोजनमत आहुः उत्तरोत्तरेत्यादि ॥२०६॥२११॥ एवं सर्वसम्मतमित्यन्तेन चतुर्थाध्यायो विचारितः। अत्र श्रियो नयनात् श्रीकार्यं स्फुटमेव।

विवाहकालात्पूर्वं यद्धरणं सर्वसम्मतम्।
समुद्रस्तु पिता तस्याः कालकूटोऽग्रजः स्मृतः ॥२१२॥
स दैत्यानां हिताकाङ्क्षी हराविष्टो बलोऽहनत्।
जिघांसन्तं जिघांसीयात्तथाऽपि न हरिः स्वयम् ॥२१३॥
जघान रुक्मिणं मूढं दैत्यानां बुद्धिनाशकम्।
वधानुकल्पः स्वद्रोहे भक्तद्रोहे वधः स्मृतः ॥२१४॥
वधानुकल्परूपं हि मुण्डनं तच्चकार ह।
सर्वात्मा भगवान् कृष्णो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥२१५॥
यो यथा यं प्रपद्येत सोऽपि तन्मन्यते तथा।
रुक्मिण्यर्थं समागत्य तथा रुक्मी चकार ह ॥२१६॥
अतः कृष्णं प्रार्थयित्वा रुक्मिणी तं व्योमचयत्।
भगवद्व्यतिरिक्तानामन्यधर्मः प्रवर्त्तते ॥२१७॥
नटवत्कपटाद्वाऽपि ततः प्राह बलस्तथा।
द्वारकायां तु नेतव्यः सुखं[1] बध्वाऽल्पबन्धनैः ॥२१८॥

पञ्चमं विचारयन्तो बन्धूनां भीष्मकप्रभृतीनां भगवते दित्सायां केवलस्य रुक्मिणः कथं विरुद्धो यत्न इति शङ्कायामाहुः समुद्र इत्यादि। तर्हि भगवता कुतो न हतस्तत्राहुः हराविष्ट इत्यादिसार्द्धद्वयम्। तर्हि श्रीरुक्मिण्या कुतस्तस्य मोचनमित्याकाङ्क्षायामाहुः–सर्वात्मेत्यादि। तथा च श्रीरुक्मिण्या भगवति श्रद्धावत्त्वेन भगवद्रूपत्वात्तन्मोचनार्थं रुक्मिणः प्रवृत्तत्वेन श्रीरुक्मिण्या भगवद्रूपया तन्मोचनमित्यर्थः। ननु तथापि बलदेवेन भगवान् किमित्युपालब्ध इत्याशङ्कायामाहुः–भगवदित्यादि। अन्यधर्मो रजस्तमोधर्मो गुणक्षोभवशात् प्रवर्त्तते, भगवति तु मायया नटवदविद्यया कपटाद्वा तदुभयमपि नोचितम्। शुद्धसत्त्वेऽवतीर्णत्वाद् गुणातीतत्वाद्वा। ततो हेतौ बलभद्र उपालम्भं प्राह यथा मृत्स्नाभक्षणे। तथा च भगवदाशयाबोधात्तथा वचनमित्यर्थः। ननु भगवतः करुणत्वात्प्रार्थनेन यथा वधान्निवृत्तिस्तथा बन्धनादेरपि प्रार्थनया स्यादिति तदभावोऽपि कुतो न प्रार्थित इतिशङ्कायां बन्धनं श्रीरुक्मिण्या अभिमतम्। ननु तत्प्रकारकमिति बोधयितुं तदाशयमाहुः द्वारकायामित्यादि ॥२१२॥२१९॥ ननु

[1] सुखम्।

ततो मया प्रबोध्यश्च नाऽन्यथेत्यन्तरं श्रियः।
तदभावाद्वैमनस्यं तद्रामेण निवारितम् ॥२१९॥
तथा चेत्कुरुते कृष्णस्तदा लोको विरुध्यते।
अस्मान् वञ्चयितुं रुक्मी कृष्णपक्षोऽप्युपाद्रवत् ॥२२०॥
यावज्जीवं तदा दुःखी दैत्यो दैत्यविसम्मतः।
ज्ञानाध्याये तथा युक्तं दैत्यानां मुण्डनं मतम् ॥२२१॥
अत एव पुनः स्थानं कुण्डिनं न विवेश ह।
रुक्मिणीसहितः कृष्णः सर्वेषां सुखदोऽभवत् ॥२२२॥
एवं त्रिविधजीवानामुद्धर्त्ता व्यसनार्णवात्।
ततः कृष्णव्यसनिनो जाताः साधनमीरितम् ॥२२३॥
कामेन व्यसनं लोके स स्वयं व्यसनं गतः।
देहनाशात्सर्वनाशाद्भार्याहरणतोऽपि हि ॥२२४॥
व्यसनं तद्वदेहाज्जातं चेन्नैव नश्यति।
यदा मुक्तिप्रदानार्थं वासुदेवः समुद्गतः ॥२२५॥
तदा माया च कामश्च तस्माद्दन्वार्थमुद्गतौ।
मायया मोहितो जीवः कामैर्नानाविधोऽभवत् ॥२२६॥
कामोत्पत्तिर्यदा कृष्णात्तदा तद्व्यसनं हतम्।
स्वस्थः स्मृत्या विरक्तश्च सर्वानेव प्रबाधते ॥२२७॥

भगवतः सर्वज्ञत्वेन तदाशयस्यापि ज्ञानात्तथैव कुतो न भगवता कृतमिति शङ्कायां भगवदाशयमाहुः- तथा चेदित्यादिसार्द्धेन। मुण्डनस्यान्यदप्याशयमाहुः ज्ञानाध्याय इत्यादि। अत एवेति दैत्यत्वादेव। अध्याय[illegible]थमुपसंहरन्ति रुक्मिणीत्यादिसार्द्धेन ॥२२०॥२२३॥ एवं पञ्चमाध्यायो विचारितः।

षष्ठं विचारयन्ति – कामेनेत्यादिसार्द्धैश्चतुर्भिः। सर्वनाशादिति धन्वादिपरिकरनाशात्। नैव नश्यतीति शम्बरस्य शिवप्रसादवत्तया बलिष्ठत्वान्नैव नश्यति। तस्मादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी, तन्निवृत्त्युपायमनुसन्धाय। उद्गताविति अलौ-

कृष्णसम्बन्धिदेहेन रुद्धो वा न तथाविधः ।
एवं षड्भिः समस्तानां व्यसनाभाव ईरितः ॥२२८॥
दुष्टव्यसनभावत्वात्ते कृष्णेऽपि तथा जगुः ।
तेषां वा व्यसनं कृष्ण आधिदैविकमात्मनि ॥२२९॥
पश्चात्तं नाशयामास धर्म्यध्यायेन सिद्धता ।
फलसाधनयोरैक्यं वक्तुमेका कथोच्यते ॥२३०॥
मणिश्च व्यसनं हन्ति लोके ख्यातस्ततोऽपि चेत् ।
व्यसनानि विनश्येरंस्तदा नैकान्तिको हरिः ॥२३१॥
इति तस्य निराकृत्यै ततो व्यसनमुच्यते ।
तच्चाऽपि चेत्कृष्णवाक्यात्साद्ध्यते सर्वभावनः ॥२३२॥

किंप्रकारेण कार्यं कुर्वाणात्रभूताम् । व्यसनस्मृत्या विरागे कमपि न बाधेतेत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः कृष्णेत्यादि । तथा च भगवद्विचारितानेव न बाधत इत्यर्थः । अत्र विचारितभिन्नानां बाधनं वैराग्यकार्यं बोध्यम् । एवं षष्ठो विचारितः ।

षड्विधलीलया भौतिकाध्यात्मिकनिवृत्तिरुक्तेत्याहुः एवमित्यादि ॥२२४॥ ॥२२८॥ ननु समस्तव्यसननिवृत्तौ किं व्यसनं शिष्टं यदर्थं यत्न इत्याकाङ्क्षायां मायाकृतस्य तस्यावशिष्टत्वं बोधयन्तस्तन्निवृत्त्युपायो धर्मिणा क्रियत इति सप्तमाध्यायार्थबोधनाय तद्विचारयन्ति–दुष्टेत्यादि । तथा जगुरिति मणिहर्तृत्वं जगुः । तथा चेदं मायामोहकृतमाधिदैविकमित्यर्थः । नन्वेवं निरुद्धानां कथमीदृशो भावः सम्भवतीत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः–तेषां वेत्यादि । तथा च लोकाः कथामबुध्वा मणिहरणस्य भगवत्प्रयुक्तत्वं वदन्तीत्येतद्वा आधिदैविकं व्यसनमित्यर्थः । सिद्धतेति भगवद्व्यसनशालित्वमित्यर्थः । नन्वत्र प्रकरणे श्रीरुक्मिणीविवाहो व्यसनात्मकसाधनोपोद्घाततयोक्तः । तेन दुःखनिवृत्तौ सत्यां साधनं सम्पूर्णं सिद्धमेवेति तत्प्रकरणे सत्राजित्कन्यादानादिप्रकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः–फलेत्यादि । फलं विवाहस्तदेव दुःखनिवृत्तौ साधनमिति बोधनप्रयोजनमित्यर्थः । प्रयोजनान्तरमाहुः–मणिश्चेत्यादि । कथोच्यत इत्यन्तम् । तच्चाऽपीति । मणेर्व्यसननाशकत्वमपि । भगवद्वचनाकारमाहुः–मणेर्यावदित्यादि । कथेति मणिकथा । ननु तथापि भगवतो मणियाचनस्य को वाऽशय इत्याकाङ्क्षायामाहुः–सूर्येत्यादि । तत इति अन्यभक्तत्वाद्धेतोः । एतस्य

तदा व्यसननाशाय कल्पते नाऽन्यथा तु तत् ।
इति निश्चित्य भगवान् सत्राजितमुवाच ह ॥२३३॥
मणेर्यावद्धनं प्राप्यं तद्राजा दास्यतीति हि ।
अविश्वासं कृष्णवाक्ये कृत्वा तं नैव दत्तवान् ॥२३४॥
ततः सर्वक्षयो जात इति वक्तुं कथोच्यते ।
सूर्यभक्तस्तु सत्राजित्ततो लक्ष्मीं सरस्वतीम् ॥२३५॥
मणिरूपां कन्यकां च द्वयं भोग्यं हरेः परम् ।
तयोरन्यत्र सत्राजिद्विनियोगं हि वाञ्छति ॥२३६॥
अक्लिष्टकर्मा भगवान् कन्यार्थं तत्तथाऽकरोत् ।
यादवोऽप्यन्यभक्तत्वान्न निरुद्धः प्रसेनकः ॥२३७॥
मणेरतिक्रमाच्चैव मायाभृत्येन मारितः ।
सोऽपि वक्त्रेण संस्पर्शाद्रामभक्तेन मारितः ॥२३८॥
भक्तबालकसौख्याय मणिश्रीस्तत्र तिष्ठति ।
ततः सा कन्यका प्राप्ता केवलोऽभून्मणिस्तदा ॥२३९॥
तदुच्छिष्टं न शुद्धं हि कृपया तदुपानयत् ।
कन्यार्थमेव गमनं कालीयहृदवत्पुनः ॥२४०॥
राजसानां परीक्षार्थं बहुकालं न चाऽऽगतः ।

पदस्य तयोरित्यनेनान्वयः ॥२२९॥२३६॥ तर्हि प्रसेनस्य कथमेवं मरणमित्यत आहुः–यादवोऽपीत्यादि । अतिक्रमादिति । पूज्यस्य तस्याभरणत्वेन विनियोगात् । मायाभृत्येनेति । देवीवाहनेन सिंहेन । तर्हि सिंहः कुतो मारित इत्याकाङ्क्षायां तत्राप्यतिक्रममेव हेतुमाहुः–सोऽपीत्यादि । केसरिणो हि चर्मनखाश्च पवित्रा न तु वक्त्रं तत्स्पर्शेन मणेरुच्छिष्टीभावादतिक्रम इति तथेत्यर्थः ॥२३७॥२३८॥ ननु भवत्वेवं तथापि दुर्यशःप्रमार्जनस्य जातत्वाद्भगवतो बिलप्रवेशस्य किं प्रयोजनमत आहुः–भक्तेत्यादि गमनमित्यन्तम् । उत्तानमग्रिमम् । तत इति भगवद्गमनोत्तरम् । केवल इति निःश्रीकः ॥२४१॥ सत्त्वमिति साधुत्वम् । नन्वन्ययाचितां

जाम्बवद्बोधसिद्ध्यर्थमात्मतत्त्वं विहाय हि ॥२४१॥
सप्तविंशतितत्त्वानि मुष्टिभिर्निहतानि वै ।
ततः स्वरूपनिष्ठस्तु भगवज्ज्ञानमेयिवान् ॥२४२॥
लक्ष्मीं च कन्यकां बुध्वा लीलार्थे चाऽऽगतिं तथा ।
सत्त्वं सम्पाद्य पूर्वं हि मणिं कन्यां ददौ ततः ॥२४३॥
उच्छिष्टत्वान्मणिं कृष्णः सत्राजिद्दत्तमप्युत ।
न गृह्णादात्मजां वार्णीं युक्तां स्वां जगृहे मुदा ॥२४४॥
सर्वात्मनान्यहृदयं न गृह्णाति हरिः स्वयम् ।
सर्वात्मना प्रपन्नं च नाशयेव कलिं यथा ॥२४५॥
उच्छिष्टं भक्तभोग्यं[१] हि फलं भक्ताय दास्यति ।
एवं सप्तभिरध्यायैर्व्यसनं सुनिरूपितम् ॥२४६॥

(अथ राजसफलप्रकरणम्)

अतः फलं सप्तभिर्वै राजसानां निरूप्यते ।
अक्रूरो यादवानां हि मुख्यस्तस्य फलं पुरा ॥२४७॥
ततः पञ्च विवाहाश्च विद्यापर्वस्वरूपकाः ।
नायिकाः फलरूपा हि कृष्णसम्बन्धतो मताः ॥२४८॥

कन्यां कुतो भगवान् गृहीतवानित्याशङ्कायामाहुः-सर्वात्मनेत्यादि। तथा च यद्यपि मूले नोक्तं तथापि मुदाग्रहणरूपात्कार्यात्तथात्वमनुमीयत इत्यर्थः। तर्हि मणिं कुतो न गृहीतवानित्यत आहुः-उच्छिष्टमित्यादि। अत्र चाध्याये धर्मिलीला स्फुटैव ॥२४२॥२४६॥ एवं सप्तमाध्यायो विचारितः। एवं षष्ठिभिः साधनप्रकरणं विचार्योपसंहरन्ति-एवं सप्तभिरित्यादि।

अथ राजसफल--प्रकरणम् ॥

अतः परमष्टपञ्चाशद्भिः फलप्रकरणं विचारयन्ति-अत इत्यादि। अत इति अतः परम्। एतेन फलनिरूपकत्वात् फलप्रकरणमित्यादिसमाख्याबीजमुक्तम्। तत्र किं फलमित्याकाङ्क्षायामत्र पूर्वप्रकरणवन्नैकविधं फलं किन्तु नानाविधमिति बोधयितुं तत्तदध्यायोक्तं प्रकारमाहुः—अक्रूर इत्यादि। पुरेति प्रथमाध्याये। तत इति। द्वितीयाध्याये ॥२४७॥२४८॥ ननु भगवत्सम्बन्धस्य फलत्वं पूर्वप्रकरणे सिद्धमिति तस्य तथात्वं युक्तम्, कथमेतासां तथात्वमित्यत आहुः-

१ भक्तभोग्यं भक्तयोग्यम् ।

तासां फलं हरिः कृष्णतत्सम्बन्धात्तथेतरे ।
कृष्णं फलमुपासाद्य दुःखग्रामाद्विनिर्गताः ॥२४९॥
ततोऽग्रे षोडशकलवृत्तिरूपाः सहस्रशः ।
सम्बन्धेन हरिं प्राप्तास्तत्सम्बन्धात्तथेतरे ॥२५०॥
फलं चतुर्विधं तत्र कृष्णप्राप्तिः पुरा फलम् ।
स्वप्राप्तिः कृष्णदेवस्य द्वितीयं फलमुच्यते ॥२५१॥
अन्योन्याध्यासवच्चैतत्फलद्वयमुदाहृतम् ।
ततो भगवदंशस्य पुत्रभावेन कार्यवत् ॥२५२॥
लोकवेदप्रकारेण पुत्रपौत्रादिकं फलम् ।
तेषां च सर्वभावेन देवगुह्यादिना तथा ॥२५३॥
कार्यसाधनमत्यर्थं चतुर्थं फलमुच्यते ।
यथा लोके सर्वभावो लौकिकेषु प्रजायते ॥२५४॥
तथा कृष्णे सर्वभावस्तेषां जात इतीर्यते ।

तासामित्यादि। कृष्णतत्सम्बन्धात्, कृष्णेन सह तासां सम्बन्धः कृष्णतत्सम्बन्धस्तस्मात्। तथेति सम्बन्धिरूपेण। एवमधिकारिभेदेन फलभेदो द्वितीयाध्याय उक्तः।

तृतीयाध्याय आहुः-ततोऽग्र इत्यादि। षोडशकलवृत्तिरूपा इति षोडशकलं मनश्छान्दोग्ये सिद्धम्, तद्वृत्तिः नानाप्रकारकः सङ्कल्पविकल्पस्तद्रूपाः। तत्रेति। तेषु चतुःप्रकारेषु फलेषु पूर्वं फलं तं प्रविष्टं 'स्त्रियो वीक्ष्ये'ति श्लोकद्वयेनोक्तम्। द्वितीयं 'अथो मुहूर्त एकस्मि'न्निति श्लोकेनोक्तम्। एतदेव यथाधिकारमक्रूरे प्रथमं तथैव महिषीषु द्वयं बोध्यम् ॥२४९॥२५१॥ द्वितीये विशेषमाहुः-अन्योन्येत्यादि। उदाहृतमिति तत्तदध्याये उक्तम्। अत्र च 'इति सर्वाः पृथक् कृष्णे भावेन हृदयं दधु'रिति। 'गृहेषु तासामनपायी'त्यनेन चोक्तम्।

चतुर्थाध्याय फलशेष इति पञ्चमस्थं तदाहुः-ततो भगवदित्यादि। पूर्वोक्तादाप्यरूपात्फलद्वयादस्य वैलक्षण्यमाहुः-कार्यवदिति ॥२५२॥

षष्ठसप्तमाध्यायद्वयोक्तं फलमाहुः-तेषां चेत्यादि। नन्वस्य लौकिकत्वेन भगवत्सम्बन्धाभावात्कथं फलत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः--यथा लोक इत्यादि।

कृष्णोऽपि चेत्तथा कर्त्ता तदा स्वप्नो मनोरथः ॥२५५॥
प्रपञ्चाद्वैतवत्तत्र कृष्णाद्वैतं फलं मतम् ।
अर्थधर्मौ धर्मकामौ काममोक्षौ निरूपितौ ॥२५६॥
केवलाश्चान्यसंयुक्ताः पुरुषार्थाः फलं मतम् ।
अक्रूरस्य फलं सिद्धमर्थो धर्मेण संयुतः ॥२५७॥
तदर्थं तादृशीं लीलां लोकाद्भिन्नां करोति हि ।
स्वतस्तेषां कृतिश्चेत्स्यात्कृष्णस्तोषं कथं व्रजेत् ॥२५८॥
दुर्योधनादिहन्तारो यथा वै पाण्डवाः प्रियाः ।

नन्वेवं सति फलत्वं दुर्घटं सर्वभावस्य साधनकोटिनिविष्टत्वादित्यत आहुः—कृष्ण इत्यादि । यथा लौकिकाः सर्वभावविषयाः सन्तः स्वप्नादिप्रयोजका भवन्ति, तथा कृष्णो भगवानपि सर्वभावविषयः सन् तथा कर्त्ता स्वप्नादिकं प्रयोजयिता, तदा तेषां भगवद्विषयकः स्वप्नो मनोरथश्च, 'पिता ममैवं कर्ता' 'श्वसुरो ममैवं दाता लालयिते'त्यादिरूपो भवेत् । ततश्च लौकिकसर्वभाववतां यथा प्रपञ्चाद्वैतं तथा तेषां कृष्णाद्वैतं भवतीति हि सर्वभावस्य स्वरूपम् । एतदेव साधनाध्यायतृतीयपादे 'स एवाऽधस्ता'दित्यादिछान्दोग्यश्रुतिमुपन्यस्य विचारितम् । तद्यद्यपि मुख्यफलाधिकारिणां साधनरूपं तथापि सायुज्याधिकारिणां तत्फलं मतं फलत्वेन सम्मतम् । तथा च साधनकोटिनिविष्टत्वेऽपि अधिकारिभेदात् फलं नान्तरीयकत्वाच्च फलत्वमप्यविरुद्धमित्यर्थः । प्रकारान्तरेण फलचातुर्विध्यमाहुः--अर्थेत्यादि । द्वितीयं चातुर्विध्यविभागप्रकारमुदाहृत्य विशदीकुर्वन्ति--अक्रूरस्येत्यादि । तादृशीं दुर्यशोलेपनरूपाम् । लोकाद्भिन्नाम् लोकविलक्षणाम् । ननु बीभत्सानुभवः प्रकारान्तरेणापि भवेदिति किमर्थमेवं करणमित्याकाङ्क्षायामाहुः स्वत इत्यादि । कृतिः सत्राजिद्वधकृतिः ॥२५३॥२५८॥ ननु तद्वधेन किं भगवत इत्यत आहुः-दुर्योधनादीत्यादि । अयमर्थः । भगवान् हि मुक्त्यर्थमवतीर्णोऽन्यसम्बन्धस्य राहित्येन स्वमात्रैकतानत्वे तां ददात्यन्यसम्बन्धं च न सहते, वध्यानां च हननेन तां ददाति । प्रकृते च दुर्योधनादय इव सत्राजिदादयोऽप्यन्यसम्बद्धा इति तद्धन्तारोऽपि अन्ते स्वधर्मेति न्यायेन वध्यमुक्तिप्रयोजकतया भगवदभिमतकरणात् प्रिया इति तदर्थं तथेत्यर्थः ॥२५९॥ ननु तर्हि पाण्डववत् सोऽपि कुतो न रक्षित इति

१ पालयिता ।

सत्राजिद्घातकास्तद्वच्छतधन्वादयो मताः ॥२५९
युद्धेन मारणं मुख्यं वने वा गुप्तभावतः ।
न तु सुप्तस्य सर्वासां समक्षं मारणं मतम् ॥२६०॥
शतधन्वा ततो वध्यो मुक्त्यर्थं मारितः स्वतः ।
गुप्तलीला फले वाच्या तेनाज्ञानप्रकाशनम् ॥२६१॥
विद्यया बोधनं चापि विलम्बश्च पलायने ।
अक्रूरवत्सोऽपि तिष्ठेल्लीनो वा तत्र वै भवेत् ॥२६२॥
तदा वध्यो न चैव स्यात्परं पापेन दूषितः ।
युद्धार्थं कृष्णदेवेन मित्रयोः प्रार्थनां तथा ॥२६३॥
कृत्वा ज्ञात्वाऽपि माहात्म्यं शरणं न स आगतः ।
अलौकिकं फलं ह्येतन्मर्यादायां न युज्यते ॥२६४॥
अतो हि बलदेवस्य ना[illegible] सम्मतिरुत्तमा ।
अत्रैव बलदेवस्थं भिन्नमासीन्निवेशितम् ॥२६५॥
भगवद्धर्मजातं हि ततः स मिथिलां गतः ।
अरुचिश्च हरावासीदन्यधर्मप्रवेशतः ॥२६६॥
अतः परं तु रामेण नैकमत्यं क्वचित्क्वचित् ।
लोकेऽपि फलमेतादृक् सेवकानां न रोचते ॥२६७॥
अतस्तद्गोपनार्थाय मारयित्वाऽन्यथैव हि ।
मण्यर्थं मारणं वक्तुं वृथा मारणमाह हि ॥२६८॥

चेत्तत्राहुः—युद्धेनेत्यादि । नन्वेवं सति भगवतः सर्वं विदितमेवेति विलापादिकं कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुः-गुप्तेत्यादि । बोधनम् अक्रूरादिकर्तृकम्, विलम्बः शतधन्वकर्तृकः । तर्हि तदैव कुतो न मारित इत्यत आहुः-अक्रूरेत्यादि । ननु तर्हि मुक्तेरेवं देयत्वात् श्रीरामस्य कुतो वैमनस्यमित्यत आहुः अलौकिकमित्यादि ॥२६०॥२६४॥नन्वेवं सत्यपि बलदेवो भगवन्तं विहाय किमिति मिथिलायां गत इत्यपेक्षायामाहुः–अत्रैवेत्यादि, निवेशितमिति । द्वादशाध्याये निवेशितम् । भगवद्वाक्यतात्पर्यमाहुः–लोकेपीत्यादिसार्द्धेन । एतेनेयमैश्वर्यलीलेति बोधितम् ॥२६५॥॥२६८॥ एवं

सोऽपि ज्ञात्वा व्यवसितं क्षोभशान्त्यै ततो गतः।
काश्यादितीर्थे धर्मस्य सिद्धिरर्थेन साधिता ॥२६९॥
पुनः स्वस्थानमायातौ मणिं चाऽवापतुः प्रभोः।
एवं यादववर्येषु फलमेतेन बोधितम् ॥२७०॥
तथैव पाण्डवानां च फलं दातुं विनिर्गतः।
सान्त्वने तेऽपि निर्दिष्टास्ततो गर्वत्रयं ददौ ॥२७१॥
आमुष्मिकं फलं सूर्यात्स हि वेदात्मको यतः।
तत्सम्मतिं ज्ञापयितुं कालिन्दीप्राप्तिरुच्यते ॥२७२॥
तदर्थगमनं ज्ञाननिवृत्त्यै प्राप्य तां पुनः।
इन्द्रप्रस्थे स्थितः कालं तत्कार्याणां हि साधकः ॥२७३॥
आत्मबोधस्वरूपेयं तेन व्यावर्तितोऽर्जुनः।
मित्रविन्दा तपोरूपा तेनानीता बलान्निजात् ॥२७४॥
अन्तस्तापबहिस्तापौ भ्रातराविव बोधितौ।
स्वभागत्वाद्धृता तस्या बन्धूनां चाऽखिलार्थदः ॥२७५॥

प्रासङ्गिकं शेषं निरूप्य शेषिणं निरूपयन्ति–सोऽपीत्यादिद्वाभ्याम्। सोऽपीति अक्रूरोऽपि। आयातावियिति अक्रूरकृतवर्माणौ आयातौ। तेनाक्रूरस्यार्थधर्मयोः प्राप्तिरुक्ता। एवं सार्द्धत्रयोदशभिः प्रथमाध्यायो विचारितः॥

द्वितीयाध्यायं विचारयन्ति तथैवेत्यादिभिः। ननु यादवानां फले वक्तव्ये पाण्डवानां कः प्रसङ्ग इत्यत आहुः--सान्त्वन इत्यादि। गर्वत्रयमिति। गर्वजनकं त्रयं विश्वकर्मकारितं नगरम्, अग्निदत्तं गाण्डीवादिकम्, मयकृता सभा चेति। एतेषां यथायथं धर्मार्थकामसाधकत्वात्फलप्रकरणत्वाच्च वर्गत्रयमिति पाठः प्रतिभाति॥ ॥२७०॥२७१॥ प्रस्तुतं फलं वक्तुं तेषां स्वरूपादिकमाहुः-आमुष्मिकमित्यादि, ज्ञापयितुमिति यादवानामामुष्मिके फले वैदिकीं सम्मतिं ज्ञापयितुम्। आप्येति भिन्नं पदम्। कालमिति अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। यावता कालेन पाण्डवकार्यसिद्धिस्तावत्कालमित्यर्थः। एतेन तेषां फलस्य प्रासङ्गिकत्वं स्फुटीकृतम्। अन्यथा तत्रैव कालिन्दीमुद्वहेत्। द्विर्हेतौ। द्वितीयस्वरूपमाहुः--मित्रविन्देत्यादि ॥२७२॥२७४॥ तपोरूपत्वे गमकमाहुः अन्तरित्यादि। स्वभागत्वादिति। 'भागस्ते पैतृष्वसेयो'ति श्रुत्युक्तभागत्वात्। तस्या इत्यादि।

योगात्मिकां नाग्नजितीं सूर्यवंशसमुद्भवाम्।
व्यसनान्यग्रतो जित्वा तां जग्राहाऽखिलर्द्धये ॥२७६॥
सिद्धिरूपं पारिबर्हमतस्तत्र निरूपितम्।
व्यसनाविष्टचित्तानां तत्रेच्छा न तु लभ्यते ॥२७७॥
इति दर्शयितुं पश्चाद्युद्धमाह नरेण हि।
नित्यानित्यविवेकाख्या भद्रा स्वयमुपागता ॥२७८॥
भक्तिरूपा लक्ष्मणाऽपि बलाद् बुद्ध्या च सङ्गता।
तस्या विस्तारकथनं सात्त्विकानां फले जगौ ॥२७९॥
सर्वार्थसाधनैर्युक्तः स्वतोऽपि फलदायकः।
फलप्रकरणे प्रोक्तः कृष्णः सर्वहितप्रदः ॥२८०॥
विषयाणामिन्द्रियाणामनन्तत्वं यदा भवेत्।
ज्ञानसाध्ये कर्मसाध्ये फले स्यान्निर्वृतिः पुरा ॥२८१॥
इति ज्ञापयितुं कृष्णः सहस्राणि च षोडश।

भ्रात्रोरेव निषेधकत्वेनान्येषामनुकूलत्वात्तथेत्यर्थः। इदमपि तपोरूपत्वगमकम्। तृतीयस्वरूपमाहुः–योगेत्यादि। गमकमाहुः--सूर्येत्यादि। नवमे स्कन्धे तद्वंश्यानां योगित्वस्य दर्शितत्वात्तद्वंशजत्वेन तथेत्यर्थः। गमकान्तराण्याहुः–व्यसनानीत्यादि। तज्जयस्य योगाङ्गत्वादित्यप्येकं गमकम्। अखिलर्द्धये इति। यादवानामिति शेषः॥ ॥२७५॥२७६॥ अत्रापि गमकमाहुः–सिद्धीत्यादि। चतुर्थस्वरूपमाहुः–नित्यानित्येत्यादि। नित्यानित्यविवेकस्याख्या प्रसिद्धिर्यतो वैराग्यात्तद्रूपा। तत्र गमकं स्वयमुपागतेति। ज्ञानयोगतपसां सिद्धौ वैराग्यस्य स्वत एव प्राप्तेस्तथेत्यर्थः॥ ॥२७५॥२७८॥ पञ्चमस्वरूपमाहुः–भक्तीत्यादि। गमकमाहुः- हीत्यादि। हिर्हेतौ। बलं माहात्म्यज्ञापकम्। बुद्धिः स्नेहज्ञापिका। प्रमाणमाहुः–तस्या इत्यादि। तथा च विस्तारेण प्रकरणेन च तदुभयरूपतायाः फलभक्तिरूपतास्फुटीभावादित्यर्थः। अत्र महिषीणां काममोक्षयोर्धर्मकामयोर्वा सिद्धिं स्फुटीकुर्वन्ति–सर्वार्थेत्यादि। अत्र वीर्यलीला स्फुटैव ॥२७९॥२८०॥ एवं दशभिर्द्वितीयो विचारितः॥

सार्द्धाष्टभिस्तृतीयं विचारयन्ति विषयाणामित्यादि। स्यादिति।

१ गर्व। २ यथा।

नराणां कं सुखं हत्वा देवांश्च परिभूय हि ॥२८२॥
महिषीवृत्तिरूपास्ताः कालदोषनिवृत्तये ।
उद्वाहयामास मुदा लोकवेदौ समर्थयन् ॥२८३॥
अविद्याकार्यरूपो हि मुरो नरकरक्षकः ।
तत्पुत्राः पीठसहिताः प्राकृताः खादिवन्मताः ॥२८४॥
नरको भगवत्पुत्रश्चतुर्मूर्तेस्तपस्स्थितः ।
तपसोऽन्ते तपस्विभ्यः फलदातुस्तु याचनात् ॥२८५॥
भूम्यां जातो वरः प्राप्तो न वध्यः सकलैरपि ।
नारायणास्त्रयुक्तश्चेत्परं पुत्राय तद्ददौ ॥२८६॥
तेन वध्यो हरेर्जातस्तथैव सुखमैहिकम् ।
दैवाधीनं तथा पुत्रफलं तत्र निवारितम् ॥२८७॥
दैवाधीनत्वमेतेन विरक्तो भक्तिसंयुतः ।
ऐहिकामुष्मिकफलं कृष्णात्प्राप्नोत्यसंशयम् ॥२८८॥

तदेति शेषः। उद्वाहयामासेति। स्वार्थेणिच्, रामो राज्यमचीकरदितिवत्। मुदा कालदोषनिवृत्तये लोकवेदौ समर्थयन्नुदुवाहेत्यर्थः। एतेन यशोलीलेयमिति बोधितम्। खादिवदिति इन्द्रियादिवत्। वरः प्राप्त इति तेनेति शेषः। वराकारमाहुः-नेत्यादि चेदित्यन्तम्। वध्यत्वे प्रकारमाहुः-परमित्यादि। पुत्राय भगवद्दत्ताय। तथैवेति। अविद्याकार्येणाहन्तादिना रक्षितमिन्द्रियादिपोषितं भूम्यां जातं भगवदाज्ञाविरुद्धकृतिसहितं यदैहिकं सुखं नराणां तद्भगवन्नाश्यं दैवाधीनमिति तत्तुल्यता। एतास्वन्यमपि विशेषमाहुः-तथेत्यादि। तासु आमुत्रिकं फलं दैवाधीनम्, तत्र हेतुः--निवारितमिति। अष्टावक्रेण शप्तत्वान्निवारितमित्यपि विशेष इत्यर्थः। स च'न वयं साध्वि साम्राज्य'मिति सात्त्विकफलप्रकरणे स्फुटीभविष्यति। एतेनैतासां धर्मकामौ केवलः कामो वा सिद्धः ॥२८१॥२८६॥ एतल्लीलाप्रयोजनमाहुः--दैवेत्यादि। एतेनैतद्व्यतिरिक्तानां दैवाधीनत्वं निवारितमिति सम्बन्धः। सिद्धमाहुः--विरक्त इत्यादि, तथेति। कृतवानिति शेषः। २८८½। एवं सार्द्धाष्टभिस्तृतीयो विचारितः।

यादवानां समस्तानामेवं दातुं हरिस्तथा ।
परिहासविलासस्तु रुक्मिण्या यदिहोदितम् ॥२८९॥
तद्वाचिकतिरोधानं गोपीनामिव कायिकम् ।
अभिमानादिदोषाणां निवृत्त्यै मध्यमत्वतः ॥२९०॥
अन्तिमे च तथाऽध्याये मानसं च प्रवक्ष्यति ।
एवं त्रिधा तिरोभावो दोषाभावाय बोध्यते ॥२९१॥
अत्यन्तं कोमला भक्ता न कृष्णरसभोजने ।
समर्था इति दार्ढ्याय तिरोधानं करोति हि ॥२९२॥
अनेन सर्वभक्तानां सामर्थ्यं चाऽपि यच्छति ।
फलभोगे फलं चाऽपि तथा दोषं निवारयन् ॥२९३॥
पुत्रपौत्रादिसम्पत्तिः फलपूर्वमुदाहृतम् ।
तत्र दोषसमुद्भावे दैत्येष्वेव नियोजयेत् ॥२९४॥
इति दर्शयितुं रुक्मी हतो रामेण मङ्गले ।
अधर्मोद्वाहजं पापं तत्रैव निहतं यतः ॥२९५॥
अतः पापे प्रतिहते सुखिनस्ते समागताः ।
अतः परं सर्वभावैः कृष्णो भक्तार्थसाधकः ॥२९६॥

चतुर्थं विचारयन्ति सार्द्धैश्चतुर्भिः- परिहासेत्यादि। मध्यमत्वत इति मध्यमाधिकारित्वात्। भगवद्विप्रयोगस्येषदसहिष्णुत्वं प्रथमाधिकारित्वम्, अधिकासहिष्णुत्वं मध्यमाधिकारित्वं मध्यमत्वम्। अत्यन्तासहिष्णुत्वं चोत्तमत्वम्। अन्तिम इति स्कन्धसमाप्त्यध्याये। प्रवक्ष्यतीति 'स्त्रिय ऊचु'रित्यादिना कथयिष्यति। निवारयन्निति यच्छतीत्यनुषङ्गः। एतेनात्र फलानुक्तावपि तच्छेषनिरूपकत्वेनास्याध्यायस्य फलप्रकरणान्तःपातित्वमित्यर्थः। अत्र श्रीलीला स्फुटैव ॥२८८॥२९३॥

पञ्चमाध्यायं विचारयन्ति सार्द्धाभ्याम्--पुत्रेत्यादि। तत्रेत्यादि। पुत्रपौत्रादिषु सम्बन्धादिवशेन दोषोत्पत्तौ तद्दोषफलं 'एष भगवान् द्विषन्तः पापकृत्या'मिति श्रुत्युक्तन्यायेन दोषप्रयोजकेषु दैत्येष्वेव योजयेदित्यर्थः। इयं च ज्ञानलीलेति ज्ञापनायाहुः--अधर्मेत्यादि ॥

इति दर्शयितुं प्रोक्तमूषाख्यानं महाद्भुतम्।
अध्यायद्वितयेनैव वैराग्येणाऽपि धर्मिणा ॥२९७॥
तूष्णीं स्वधर्मान् संहृत्य ज्ञात्वाऽप्यास्ते सदा हरिः।
यदोत्कृष्टं भक्तकार्यं कुतश्चित्सिद्धिमेति हि ॥२९८॥
इत्यूषाहरणं ज्ञात्वा रक्षकांश्च निवारयन्।
अनभिप्रेतकर्ता च नारदेन निवारितः ॥२९९॥
एतदर्थं यतो लोके मुग्धभावस्थिरोऽभवत्।
महादेवादिभिर्युद्धं नाट्यमत्र न संशयः ॥३००॥
महादेवोक्त एवाऽर्थो यतोऽयं हरिणा कृतः।
भक्तेषु पक्षपातो हि सर्वदेवेषु बोधितः ३०१॥
तथाऽप्यशक्ता निखिला इति बाहूंश्चकर्त ह।
भक्तप्रियेषु सर्वेषु ये केचिद्विमताः क्वचित् ॥३०२॥
यावता ते भविष्यन्ति सम्मतास्तत्करोति हि।
अनिरुद्धकथा प्रोक्ता यादवानां च सूचिका ॥३०३॥
राजसानां फलं ह्येतत्फलं कृष्णात्तु निर्गुणम्।
एवं फलप्रकरणं राजसेषु निरूपितम् ॥३०४॥

षष्ठसप्तमौ विचारयन्ति-अतः परमित्यादि। वैराग्यलीलत्वं स्फुटीकुर्वन्ति-**तूष्णीमित्यादि**। सदेत्यत्र यदेति यदेत्यत्र तदेति पाठः प्रतिभाति। धर्मिलीला शिवस्तुत्यादिभिः स्पष्टैव। इतीति। ज्ञापयितुमिति शेषः। **निवारयन्निति**। तूष्णीमासेत्यनुषङ्गेन योजना। अशक्ता इति स्ववरदत्तार्थरक्षणे अशक्ताः। एतेन कर्तव्येन यज्ज्ञापितं तदाहुः-**भक्तप्रियेष्वित्यादि**। अनिरुद्धकथोपसम्बन्धप्रयोजनमाहुः-**अनिरुद्धेत्यादि**। **सूचिकेति**। उद्वेलत्वसूचिका। सिद्धमर्थमाहुः--**राजसानामित्यादि**, राजसानां विचारे फलं हि निश्चयेन एतत्परिदृश्यमानं सर्वभावैः सर्वार्थसाधनरूपम्। त एतावदेव फलत्वेनाविदन्नित्यर्थः। तर्हि तत्त्वविचारे किं फलमित्याकाङ्क्षायामाहुः-**फलमित्यादि**। निर्गुणं विश्वमायानिवृत्तिरूपमित्यर्थः। उपसंहरन्ति एवमित्यादि। **एवं सार्द्धद्विनवत्यधिकशतेन राजसप्रकरणं विचारितम्** ॥

॥ राजसप्रकरणं समाप्तम् ॥

१ सर्वदैव।

(अथ सात्त्विकप्रकरणम्)

अतः परं सात्त्विकानां प्रक्रिया विनिरूप्यते।
नृगमोक्षादियज्ञान्ता वसुदेवस्य धीमतः ॥३०५॥
प्रमाणानां बलं त्वत्र सात्त्विकानां न मृग्यते।
प्रक्रियात्रितयं त्वत्र प्रमेयादि निरूप्यते ॥३०६॥
स्नेहस्तेषां पूर्वसिद्ध आसक्तिश्चापि वै दृढा।
व्यसनेनाऽभवन् शुद्धा राजसाः किन्तु दोषतः ॥३०७॥
संस्कारमात्रात्पुष्ट्या च सम्परया चोद्धृताः सदा।
अतो दोषनिवृत्तिर्हि सर्वेषामत्र वर्ण्यते ॥३०८॥
नृगः पूर्वतनो भक्तः सात्त्विको धार्मिकस्तथा।
अतिदानेन दुःखं स प्राप्य कृष्णेन मोचितः॥३०९ ॥
आज्ञेच्छाऽभावतो दोषमभिमानात्तु केचन।

अतोऽग्रे त्रयोदशाधिकशतेन सात्त्विकप्रकरणं **सप्ताध्यायैस्त्रिभिरवान्तरप्रकरणैर्निरूपयन्ति** अतः परमित्यादिभिः। कुत एतस्य प्रकरणस्य न्यूनतेत्याकाङ्क्षायामाहुः प्रमाणानामित्यादि। सत्त्वं हि प्रमाणं ज्ञानरूपत्वाज्ज्ञानजनकत्वाच्च। अत्रोच्यमानास्तु तदुद्रिक्ता इति तेषां प्रमाणज्ञानस्य स्वाभाविकत्वेन तज्जनकप्रमाणानां बलं तत्प्रक्रियायां न मृग्यते, ते हि भगवन्तं नन्दकुमारं वसुदेवपुत्रमीश्वरं जानन्तीत्यतस्तथेत्यर्थः ॥३०५॥३०६॥ ननु भवत्वेवं तथाऽप्यस्मिन् **प्रकरणे राजसास्तामसाश्च** कुतो निरूप्यन्ते सङ्कीर्णत्वापादका इत्यत आहुः **स्नेह** इत्यादि। **व्यसन** इति व्यसनार्थम्। **दोषत** इत्यस्य विशेषणम्। **संस्कारमात्रादिति**। **दोषस्तु** रजःकृतो विक्षेपोऽत्र बोध्यः। तथा च तेषां निरूपणस्य दोषनिवारणार्थत्वेन प्रासङ्गिकत्वान्न तेन रूपेण तेषां प्रकरणित्वम्। किन्तु **निवृत्ते दोषे सात्त्विकत्वेनेति** तथैव तामसानामपीति न साङ्कर्यप्रयोजकतेत्यर्थः। तर्हि नृगात्कुतः प्रकरणारम्भ इत्यत आहुः-**नृग** इत्यादि। **प्राप्येति**। स्थित इति शेषः। **प्राप्त** इति वा पाठः। **मोचित** इति प्रमेयबलेन मोचितः। **अनेन प्रमेयबलकरणकस्य दोषनिवारणस्यात्र निरूपणादस्य प्रमेयप्रकरणेतिसमाख्या सेत्स्यतीति बोद्धव्यम्** ॥३०७॥३०९॥ नन्वेतादृशस्य धार्मिकस्य कुतो दोषोत्पत्तिर्येन मन्वन्तरप्रथमयुगोत्पन्नस्याष्टाविंशद्वापरान्तं दुःखमित्याकाङ्क्षायामाहुः-**आज्ञेत्यादि**। **आज्ञा चेच्छा**

अत्यन्तमाग्रहो धर्मे विचारादेरभावतः ॥३१०॥
दुःखभोगाय भवति कृष्णादन्यत्र सर्वथा।
भक्तियोगे तु भगवांस्तादृशं चापि मोचयेत् ॥३११॥
तथा यथा न कुरुते तदर्थं तादृशं हरिः।
कृकलासं सर्ववध्यं सर्वक्षोभाच्चकार ह ॥३१२॥
यथैको ब्राह्मणः क्रुद्धस्तथैवैकत्र कर्मणि।
यावन्तो योगमापन्नास्तावतां क्लेशदं तु तत् ॥३१३॥
अतोऽन्यत्र व्यसनिनो धर्मादिषु यथायथम्।
दुःखभाजो भवन्त्येव तस्मात्कृष्णे तदाचरेत् ॥३१४॥
असङ्ख्यातत्वकथने दृष्टान्तत्रयमीरितम्।
तामसादिविभेदेन गुणाश्चाऽपि त्रिधा मताः ॥३१५॥
अतस्तामसधर्मेषु भ्रमस्तस्य फलिष्यति।
अतोऽत्र धर्मनिर्धारे दोषाभावो गुणः स्मृतः ॥३१६॥

चाङ्गच्छे तयोरभावतः। दोषमिति। माहुरिति शेषः। एतत्कथोपनिबन्धनप्रयोजनमाहुः- अत्यन्तेत्यादिसार्द्धैः पञ्चभिः। न कुरुत इति। भगवदतिरिक्ते आग्रहं न कुरुते। सर्ववध्यं सर्वक्षोभादिति। तदुक्तं बृहदारण्यके सप्तान्नब्राह्मणे 'प्राणभृतः प्राणं न छिन्द्यादपि कृकलासस्ये'ति। अर्थस्तु अमावास्याया रात्रौ कस्यापि प्राणिनः प्राणविच्छेदं न कुर्यात्, किं बहुना कृकलासस्यापि प्राणं न विछिन्द्यात्। स हि पापात्मा दृष्टोऽप्यमङ्गल इति कृत्वा स्वभावेनैव सर्वैः प्राणिभिर्हिंस्यते इति तद्व्याख्यानात् ॥ ॥३१०॥३१२॥ ननु तत्रैव सर्वक्षोभाभावात्कथं कृकलासत्वमित्यत आहुः-यथैक इत्यादि। ननु यदि तस्य नाभिमानस्तदा 'यावत्यः सिकता भूमे'रित्यादिदृष्टान्तं कुत उक्तवानित्यतआहुः-असङ्ख्यातेत्यादि। त्रिधा मता इति। 'ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्ये'त्यनेनोक्ताः। अत इति त्रैविध्यकथनात्। यदि तस्य तेषु भ्रमो न स्याद्दास्यरूपमेकमेव गुणं वदेत् न तु त्रयम्। तेन सिद्धमाहुः-अतोऽत्रेत्यादिद्वाभ्याम्। दोषाभाव इति आग्रहाभावः। तथोदितमिति दोषजनकत्वेनोदितम्, अत्रैश्वर्यैकार्यत्वं स्फुटम् ॥३१३॥३१६॥ एवं प्रथमध्यायो विचारितः।

गुणस्तु दोष एव स्यादिति दानं तथोदितम्।
धर्ममार्गे ब्राह्मणानां क्षोभं नैव समाचरेत् ॥३१७॥
मुख्ये तु सर्वभूतानां न किञ्चित्तस्य नश्यति।
तथाऽर्थे बान्धवानां च कामे स्वात्मनि तत्तथा ॥३१८॥
मोक्षे त्वीशस्य सततं चतुर्भिस्तन्निरूप्यते ॥
यथा नृगस्य धर्मो न यमुनायास्तथा निजः ॥३१९॥
स्वार्थः सिद्धस्तथा कामः पौण्ड्रकस्य तथा गतिः।
द्विविदस्याऽपि नो सिद्धस्तत्तन्मूलविरोधतः ॥३२०॥
अनिरुद्धे द्वयोः कार्यं तेन कृष्णो बलस्तथा।
अन्तरान्तरभावेन भिन्नार्थविनिवारकौ ॥३२१॥
यमुनाकर्षणं कार्यं पश्चाज्जाताश्च गोपिकाः।
श्रुतपूर्वाबलं दृष्ट्वा रेमिरे लौकिकास्तु ताः ॥३२२॥
सात्विकास्तु परं सङ्गाद्दोषस्तासां च नाश्यते।

द्वितीयाध्यायं विचारयन्तश्चतुरध्यायीसिद्धं निषेध्यमर्थमाहुः- धर्मेत्यादि। मुख्य इति भगवद्धर्ममार्गे। उदाहरणं स्फुटीकुर्वन्ति यथेत्यादिसार्द्धेन। ब्राह्मणक्षोभेन नृगस्य धर्मासिद्धिः। बान्धवो यमस्तस्य क्षोभः श्रौते यमयमीसम्बादे, तेन यमुनाया निजः स्वार्थो भगवत्प्राप्तिरूपो न सिद्धः। तथा स्वात्मनि मात्सर्यरूपात् क्षोभात् पौण्ड्रकस्य कामो लोकप्रतिष्ठारूपो न सिद्धः। ईशस्य श्रीबलदेवस्य क्षोभान्मोक्षो गतिर्द्विविदस्य न सिद्धा। तथा चैतच्चतुष्टयनिवारणार्थमेतदध्यायचतुष्टयमित्यर्थः। नन्वत्र भगवल्लीलामध्ये बलदेवचरित्रं किमित्युच्यते तत्राहुः-अनिरुद्ध इत्यादि। अनिरुद्धव्यूहे द्वयोः सङ्कर्षणानिरुद्धयोः कार्यम्, नहि धर्मरक्षारूपं कार्यं प्रतिपक्षिनिग्रहं विना सिद्ध्यति, तेन कृष्णो बलस्तथा बलभद्रश्च अन्तरान्तरेत्यादिना प्रकारेणोक्तावित्यर्थः। तथा शब्दश्चकारार्थः। तथा चात्र व्यूहद्वयकार्यं सङ्कीर्णत्वबोधनायैवं कथनमित्यर्थः। अध्यायार्थमाहुः-यमुनेत्यादि। कार्यमिति वीर्यकार्यम्। लौकिका इति। लौकिक्यः ब्रह्मशप्तवाकूरूपास्तत्तुल्या वा इति प्रतिभाति ॥३१७॥३२२॥ प्राथमिकीनां किमत्र सिद्धमित्याकाङ्क्षायामाहुः-सात्विका इत्यादि। श्रीबलदेवसङ्गात्तद्वाक्यैर्भगवत्प्रमितिशालिन्यः सत्यः सात्विक्यो जातास्तासां गोपीनां दोषः कृष्णदेवस्य कृतघ्नताद्यापादनरूपः सोऽपि

गोपीनां कृष्णदेवस्य शिष्टानां सात्विकत्वतः ॥३२३॥
सत्सङ्गात्सुखमुत्पन्नं नित्यं कृष्णकथा यतः ।
देवादीनां तु सम्मत्यै दैत्यानां देवरूपिणाम् ॥३२४॥
मधुधारादिकं प्रोक्तं वस्त्रदानादिकं तथा ।
कामो लोके हि सन्मानं कृष्णत्वे तद्भवेद् ध्रुवम् ॥३२५॥
पौण्ड्रकस्तु ततो जातो मात्सर्यात्कृष्णरूपधृक् ।
मूले कृत्वा विरोधं हि लोके नष्टस्तथाऽनुगः ॥३२६॥

नाश्यत इति सिद्धमित्यर्थः। श्रीनन्दादीनां यत्सिद्धं तदाहुः-**शिष्टानामित्यादि**। इयं गोपिकाभिः सह लीला न केवलस्य बलस्य, किन्तु भगवदाविष्टस्येति ज्ञापनायाहुः-**देवादीनामित्यादि**। देवादीनामित्यस्य वस्त्रदानादिकमित्यनेन सम्बन्धः ॥३२३॥ ॥३२४॥ **एवं द्वितीयाध्यायो विचारितः** ॥

तृतीयं विचारयन्ति-काम इत्यादि । तत इति बालमस्तोभनात् ।

निबन्धकठिनांशविवेचनम्

का--३२६. उत्तरार्धे सप्तदशाध्याय आरम्भतस्त्रिषष्टितमेध्याये वा पौण्ड्रको हि वासुदेवत्वेन लोके प्रतिष्ठाकामः **कृष्णरूपधृगुजातः**, तदन्तरं **मात्सर्यात्** स्ववेषमूले कृष्णे **विरोधं कृत्वा लोके नष्टः**, अलौकिके तु तस्य फलं जातं प्रमेयबलेन, यतः अवतारसमये कामादीनामसाधनानामपि साधनत्वं, 'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवशयेदिति-सिद्धान्तात्। परन्तु भगवद्विरोधिनामनुगमनं ये कुर्वन्ति तेषु व्यवस्थास्ति, यद् भगवद्वचनेन भगवदविरोधेन वा कर्तव्यं यथामृतमन्थनप्रसङ्गे देवैर्दैत्यानुगमनं वचनेन, यथा दुर्योधनादीनामनुगमनं भगवदविरोधेनैव विदुरेण कृतं तथा सति न कोपि विनाशस्तेषां अन्यथा तु विनाशः स्यादेव, यथा काशिराजस्य लौकिकाकारेण अनुगमनं कुर्वतः, अलौकिकप्रकारेणानुगमनं कुर्वतां काश्यादिनां चेति, एवं सति मूलश्लोकयोजना त्वेवं कर्तव्या, **तीर्थदेवक्षेत्रैः स्वभक्तभक्त्या तुष्टैरपि कुत्रापि कार्यें** भगवद्विरोधिनां स्वभक्तानामनुगमनं **वाक्येनाविरोधेन वा कर्त्तव्यं न त्वन्यथा,** अतो वचनाविरोधाभावेपि कृष्णविरोधिसुदक्षिणानुगमनकरणात् तीर्थरूपा **काश्यपि निर्दग्धा, महादेवोपि** वैदिकरूपवानग्न्यात्मको **वारितः अन्यान्यपि शिवरूपाणि** भूतप्रमथादीनि वारितानीत्यर्थः, फलितं सिद्धान्तमाहुः **प्रकटेत्यादि, प्रकटे मुरवैरिणि दोषोत्पत्तिमात्रेणैव** तीर्थदेवादिभिरपि स्वभक्ता अपि दुष्टास्त्याज्या एव न तु दोषजकार्यकरणप्रतिक्षा कर्तव्या, भगवतः कृष्णस्य देवदेवत्वादितिभावः, तेन काश्यादीनां कृष्णविरोध्यनुगतत्वेन देवदेवेन कृष्णेन काशीदाहकरणं शिवप्रतिघातश्चात्र श्रीभागवत उक्तः, भक्तिसिद्धान्ते **दूषणं नेत्यर्थः** ॥

प्रमेयबलमासाद्य मुक्तः पूर्वो न चाऽपरः ।
वाक्येनैव तु कर्त्तव्यमविरोधेन वा क्वचित् ॥३२७॥
न त्वन्यथा तीर्थदेवक्षेत्रैर्भक्त्यापि कुत्रचित् ।
अतः काश्यपि निर्दग्धा महादेवोऽपि वारितः ॥३२८॥
तथाऽन्यान्यपि रूपाणि प्रकटे मुरवैरिणि ।
दोषोत्पत्त्यैव ते त्याज्यास्तेन नाऽत्रोक्तदूषणम् ॥३२९॥
पाण्डवादिसमस्तानां दोषोऽप्यत्र निवार्यते ।
तथा वैष्णवमुख्यस्य नारदस्य विरक्तये ॥३३०॥
धर्मस्य कारणात्स्त्रीणां नीत्वा यादवभूभुजाम् ।
एवं प्रमेयरूपो हि हरिर्दोषं न्यवारयत् ॥३३१॥

अनुगः काशिराजः **पूर्वः** पौण्ड्रकः। काशीदाहकथासूचितमर्थमाहुः **वाक्येनेत्यादि**। देवादिभिर्यत्साहाय्यं कर्तव्यं तद्भगवद्वाक्येनाविरोधेन वा कर्तव्यं न त्वन्यथा। **अन्यथे-**त्यस्यैव विवरणम्। **तीर्थदेवेत्यादि**। **अत इति** सार्वविभक्तिकस्तसिः। **एतद्बोध-**नार्थमित्यर्थः। एतद्यशःकार्यं फलकथनादवसीयते। **एवं तृतीयाध्यायो विचारितः** ॥

चतुर्थाध्याये द्विविदवधमात्रदर्शनात्तस्यैव दोषनिवृत्तिः प्रमेयबलेन। श्रीकार्यं तु बलदेवक्रीडा स्फुटैवेति विशेषाभावान्न स विचारितः ॥

पञ्चमाध्यायं विचारयन्ति दोषेत्यादि। त इति कुरवः। अत्रेति गतदोषेषु प्रसादे, **उक्तदूषणम्** तत्सङ्ग्रहरूपं दूषणं नेत्यर्थः ॥३२८॥३२९॥ **नन्वनिरोध्यानां** कुरूणां दोषनिवर्त्तनमनावश्यकम्। न च द्विविदस्यापि तथेति वाच्यम्, तस्य जगद्व्यतिकरावहत्वेन तद्दोषनिवृत्तेरावश्यकत्वादत्र च तदभावादित्याकाङ्क्षायामाहुः–**पाण्डवादीत्यादि**। 'कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिः भीष्मद्रोणार्जुनादिभि'रिति कथनात्पाण्डवा अपि तस्मिन् मिश्रा इति तद्दोषोप्यत्र निवार्यत इति नानावश्यकत्वमित्यर्थः। **इदं ज्ञान-कार्यं ज्ञानजननात्** ॥

षष्ठसप्तमयोरर्थमाहुः–तथेत्यादि। दोषोऽप्यत्र निवार्यत इत्ययं चरणो देहलीदीपवदत्रापि सम्बध्यते। विर...य इति। स्ववैराग्यस्य नारदे बोधनार्थं तत्र 'ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहं'मित्यत्र स्फुटीभवति दोषश्चैतदज्ञानमेव ।३३०। **स्त्रीणां** यादवीनां दोषो धर्मप्रत्यूहकारित्वम्, स च कुकुटशापाद्गम्यते। यादवभूभुजां दोषो राजसूयसाहाय्यमुपेक्ष्य जरासुतविजिगीषादिरूपः। सोऽपि तत्र तेष्वित्यत्रोक्तः। **भूभुक्पदं** क्षत्रियपरम्। एवं सर्वं निरूप्य प्रकरणसमाख्याबीजमाहुः–**एवमित्यादि**। **तथा चैतादृशभगवन्निरूपणादस्य प्रमेयप्रकरणत्वम्**। अत्र दोषं न्यवारयदिति

साधनप्रक्रियां वक्तुं साधनान्तरमुक्तये।
राज्याद्भ्रंशस्तथा दुःखं राज्ञामत्र निरूप्यते ॥३३२॥
साधने नारदो मुख्यस्तस्यापि प्रार्थनोच्यते।

(अथ सात्विकसाधनप्रकरणम्)

सामर्थ्ये विद्यमानेऽपि स्वयं ज्ञात्वाऽपि सर्वथा ॥३३३॥
कृष्णाज्ञां वा सहायं वा लब्ध्वैवेष्टपरो भवेत्।
तदा तु हरिरागत्य हितं वक्ति करोति च ॥३३४॥
साधने सर्वथा नीतिः कर्तव्येति प्रबोधयन्।
उद्धवं मुग्धभावेन पृच्छति स्म करोति च ॥३३५॥
यावत्कर्तुं हि जीवानां शक्यं तावद्वदत्ययम्।
साहाय्यं वाऽत्र कुरुते तावद्येन भवेत्क्रिया ॥३३६॥
इति बोधयितुं कृष्णः सम्भृत्या सर्वया गतः।
सर्वभावेन पूजार्थं श्रद्धादीनां च वृद्धये ॥३३७॥

सप्ताध्यायीफलकथनेन। सुबोधिन्यामर्थधर्मकाममोक्षप्रतिपादनार्थश्चतुःप्रकरणीपक्षो य उक्तः 'चतुर्धा रूप्यते षड्भिः षड्भिः षड्भिस्त्रिभिस्तथे'त्यादिना। स न त्रिप्रकरणीपक्षे विरुद्ध्यते, प्रकारप्रयोजनयोर्भेदादितिबोधितम्। ननु दोषाभावप्रसङ्गे राजदुःखं कुतो निरूपितमित्याकाङ्क्षायामाहुः साधनप्रक्रियामित्यादि। तथा चोपोद्घातत्वान्निरूपितं परं तत्र राज्यभ्रंशरूपदोषाभावस्यापि निरूपणान्न तावन्मात्रतेति न प्रकरणबहिर्भावापत्तिरित्यर्थः। **एवं नारदप्रार्थनाप्युपोद्घात इत्याहुः-साधने**-त्यादि ॥३३०॥३३२॥ **एवं सार्द्धाष्टाविंशतिभिः प्रमेयप्रकरणं विचारितम्।**

(अथ सात्विकसाधनप्रकरणम्)

अतः परं चतुस्त्रिंशद्भिः साधनप्रकरणं विचारयन्तः समाख्याहेतुं सार्द्धेनाहुः-सामर्थ्येत्यादि। तथा च भगवदुक्तसाधनबोधकत्वादेवं सादनमर्यादाबोधकत्वाच्च साधनप्रकरणेति समाख्येत्यर्थः। ननु सर्वज्ञस्य भगवत उद्धवं प्रति कुतः प्रश्नः समर्थस्य कुतश्च सर्वसम्भृत्या तत्र यानमुच्यत इत्यत आहुः **साधने सर्वथे**त्यादिसार्द्धद्वयम्। तथा च साधनोपोद्घातत्वेनेदमुच्यते तेनास्य साधनप्रकरणीयत्वमित्यर्थः। **सर्वया गत** इत्यत्र सर्वयेति पदच्छेदः। इति प्रथमस्य उपोद्घातप्रकार उक्तः, इयमैश्वर्यलीला। अग्रे द्वाभ्यां वीर्ययशसोर्लीले उच्येते, ते अपि प्रकरणे उपोद्घाततयैव प्रविशत इत्याशयेनाहुः-**सर्वभावेने**त्यादि।

शत्रूणां दृष्टिदोषाय भक्तमाहात्म्यसिद्धये।
क्वचिदेकोऽपि वेषेण दृष्टादृष्टप्रकारतः ॥३३८॥
यथा भीमस्य सामर्थ्यं दत्वा मृत्युश्च बोधितः।
प्रथमे तु मनःप्रीतिर्द्वितीये शत्रुमारणम् ॥३३९॥
तेनैव यज्ञदेहानां बन्धनं विनिवारितम्।
ततो बोधनमेकेषां लौकिकं चापि कारयन् ॥३४०॥
साधनं कारयामास तथाऽन्यत्रागतस्तथा।
ततस्तु यज्ञसंसिद्धिस्तत्र दैत्यस्य सन्निधौ ॥३४१॥
न निःशङ्कं देवचर्यास्तत्रोपायो हरेर्भजिः।
तदैव प्रकटा दैत्याः स्वात्मानं दर्शयन्ति हि ॥३४२॥
अतः कृष्णस्य पूजायां शिशुपालो हतोऽसुरः।
मानभङ्गस्तथाऽन्येषां दुर्योधनहितैषिणाम् ॥३४३॥
पूर्वं तु बलभद्रोऽत्र न यागार्थं समागतः।
प्रद्युम्नप्रमुखास्तत्र समायाता महारथाः ॥३४४॥
मुख्ये यागे निवृत्ते तु तान् प्रस्थाप्य कुशस्थलीम्।
पाण्डवानां प्रार्थनया कियत्कालं तथाऽवसत् ॥३४५॥

दृष्टादृष्टप्रकारत इति। बहुधा भवतीतिशेषः ॥३३३॥३३८॥ **अदृष्टप्रकारो** न स्फुट इति तमुदाहृत्य स्फुटीकुर्वन्ति-यथेत्यादि। **क्रमेणाध्यायार्थमाहुः**-प्रथम इत्यादि। 'तेनैव यज्ञदेहाना'मिति यज्ञः प्रमथनाथमखो जरासन्धचिन्तितस्तदर्थं देहो येषां राज्ञां तद्बन्धनं शत्रुमारणेनैव द्वितीयेऽध्याये विनिवारितमित्यर्थः। तृतीयाध्यायार्थमाहुः-तत इत्यादि। **एकेषामिति राज्ञाम्।** **साधनमिति।** 'यथान्वशास'दित्यादिनोक्तं चतुर्थार्थमाहुः-**ततस्त्वादिद्वाभ्याम्। तत्र** दैत्येत्यादिनोक्तं प्रमेयं प्रासङ्गिकं शिक्षार्थमित्याशयोऽत्र बोधितः। **पञ्चमार्थमाहुः-मानभङ्गस्तथे**त्यादि। तथा चाभक्तसङ्गत्यागबोधनायेयं लीलेत्यर्थः ॥३३९॥३४५॥

१ दुःखाय।

दुर्योधनादिमानस्य भङ्गे तत्र समागतः ।
मिलितः कृष्णदेवेन रामो नोवाच किञ्चन ॥३४६॥
अन्यथा पाण्डवान् सर्वान् हन्यादेवाऽविचारयन् ।
एतदर्थं स्थितः कृष्णः प्रार्थनां जनयन् हृदि ॥३४७॥
महादेवाधिदैवस्तु शाल्वस्तत्र सहायवान् ।
द्वारकायां यथा पूर्वं ददौ क्लेशं सुदुःसहम् ॥३४८॥
यावत्तत्त्वानि पुरुषव्यतिरिक्तान्यहानि हि ।
अत आज्ञां विना किञ्चिन्न कर्तव्यं कथञ्चन ॥३४९॥
यतो रामे समायाते द्वारकात्यन्तपीडिता ।
कालादिरनुरोधेन भगवांश्चाऽपि मन्यते ॥३५०॥
आत्मानमन्यथाऽन्यत्र का शङ्का कार्यसाधने ।
एवं सप्तभिरुद्दिष्टं साधनं यद्धरिर्विदेत् ॥३५१॥
अन्यथा सेवनं तस्य कर्तव्यमिति निश्चयः ।

यज्ञानन्तरं भगवत इन्द्रप्रस्थस्थितेः प्रयोजनमाहुः-दुर्योधनादीत्यादिद्वाभ्याम् । एवं चात्र श्रीकार्यं यज्ञसंसिद्धिः । ज्ञानकार्यं मानभङ्गः । भूभारजिहीर्षया प्रयुक्तत्वात् । प्रार्थनामित्यादि । पाण्डवहृदि बलदेवप्रार्थनामुत्पादयन्नित्यर्थः । एवं पञ्चभिरध्यायैर्भगवदाज्ञसं सपरिकरमेकं साधनं निर्दिष्टम् ॥

द्वाभ्यामध्यायाभ्यामन्यत्साधनं वक्तव्यं तन्न स्फुटमित्यतस्तदुपपाद्याहुः-महादेवेत्यादिसार्द्धैस्त्रिभिः । तत्र सहायवानिति । तस्मिन सौभे तिष्ठति तेन शाल्वस्तत्सहायवानित्यर्थः । अहानीति । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अत्र यत्साधनसिद्धं तदाहुः अत इत्यादि । समायात इति इन्द्रप्रस्थाद् द्वारकामायाते । 'तत्स्थितिश्च कथं राममसम्भ्रान्तमिति भगवद्वाक्याज्ज्ञायते । मन्यत इत्यस्य आत्मानमन्यथेत्यनेन सम्बन्धः । तेन भगवदाज्ञापालनमेव कर्तव्यमिति साधनमस्मिन्नपि सन्दर्भे सिद्धमित्यर्थः । प्रकरणसिद्धमाहुः–एवमित्यादि । तथा चाज्ञायां तत्करणमनाज्ञायां भगवत्सेवनमिति द्वयमवान्तरप्रकरणादत्र सिद्धमित्यर्थः । प्रकरणसमाप्तिबोधनायाहुः-

* अतः परं सात्विकानां फलं सप्तभिरुच्यते ॥३५२॥
उभयोरैक्यसिद्ध्यर्थं कथाश्लेषो विधीयते ।
प्रद्युम्नस्य जयस्मृत्या भगवत्स्मरणादपि ॥३५३॥
शाल्वे प्रविष्टो रुद्रो हि तेन प्रद्युम्नमारणम् ।
कामजेता यतः प्रोक्तस्तेनाऽत्राप्यभवज्जयः ॥३५४॥
द्युमत्यभूत्तदावेशः प्रद्युम्नस्याऽपकर्षणे ।
अनेन तस्मिन् समये सर्वेषामेव रुद्रतः ॥३५५॥
पाण्डवानां यादवानां सर्वेषामेव कालतः ।
फलं तदैव भगवान् प्रयच्छति यदाऽखिलाः ॥३५६॥
अत्यन्तं तापमायन्ति नोचेत्स्वादु फलं न हि ।
इति केचिद्विचार्यात्र कृष्णेऽपि परमात्मनि ॥३५७॥
साक्षादुद्भूतरूपेऽपि प्राकृतत्वप्रतीतितः ।

अतः परमित्यादि ॥३४६॥३५२॥ नन्वत्र पूर्वाध्यायसमाप्तावुक्तस्य दन्तवक्त्रागमनस्य प्रकार आरम्भे दृश्यते, तेन तच्छेषसात्कथमितः प्रकरणान्तरारम्भ इत्याकाङ्क्षायामाहुः–उभयोरित्यादि । दोषभावफलयोः सङ्कीर्णत्वज्ञापनार्थम् । तथा चैतावता न प्रकरणान्तरारम्भविघटनमित्यर्थः । ननु शाल्ववधप्रकरणस्य तात्पर्यमन्यथासेवनमित्यर्द्धेनोक्तं तत्र किं गमकमित्यत आहुः–प्रद्युम्नस्येत्यादि । ननु प्रद्युम्नस्य भगवत्पुत्रज्येष्ठस्य देवरूपस्य शम्बरजेतुः कथं पराजय इत्यत आहुः–शाल्वे इत्यादि । सुद्युम्न इत्यत्र द्युमतीति पाठः प्रतिभाति । रुद्रत इति पराजय इति शेषः । एवं षष्ठे वैराग्यकार्यमुक्तम्, द्वारकामुपेक्ष्य भगवत इन्द्रप्रस्थे स्थानबोधनात् ।

सप्तमार्थमाहुः-पाण्डवानामित्यादि । अत्र धर्मिलीला स्फुटैव । तत्र रुद्रात्पराजयसम्भवाभावेन कथं तदानीं हस्ताच्छार्ङ्गपातादीत्याशङ्कायामाहुः–पाण्डवानामित्यादिसार्द्धम् । तथा च फलस्य स्वादीयस्त्वसम्पादनाय तथाकरणम् । अन्यथा माहात्म्यज्ञानांशभूयस्त्वे स्नेहन्यूनत्वेन तथा रसालता न स्यादिति । ननु यद्येवं तदा ऋषय अलौकिकार्थद्रष्टारो मोहलीलां कुतोऽङ्गीकुर्वन्ति ? कुतश्च शुकस्तन्मतं दूषयतीत्यत आहुः–इतीत्यादि । इतीति । इदं रसालतासम्पादनार्थत्वं विचार्य । उद्भूतरूपे इति । 'स्वशान्तरूपेष्वि'तिन्यायेन स्वेच्छया प्रकटे । यद्वदिति

* इयं कारिकाग्रे सात्विकफलप्रकरणारम्भे स्यादिति श्रीपुरुषोत्तमचरणाः सूचयन्ति ।

अवतारान्तरे यद्वत्तथा वक्तुं विचारणाम्[1] ॥३५८॥
कुर्वन्ति लोकमोहाय तदर्थं तन्मतं क्वचित् ।
फलात्पूर्वं पूर्वपक्षरीत्योक्त्वा दूषयत्यतः ॥३५९॥
शुकः परमतत्त्वज्ञः केचित्प्रक्षेपमूचिरे ।
पूर्वपक्षकथायां तु मोहलीलेति निश्चयः॥३६०॥
महादेवस्य तोषार्थं क्वचित्कल्पे तथाऽभवत् ।
तत्स्मृतिर्योगधर्मेण तत आहुर्मुनीश्वराः ॥३६१॥
तत्राऽपि न शुको मेने भक्तियुक्ताच्च योगतः ।
हृदिस्थदुष्टभावेन सहितं स्मरणं तथा ॥३६२॥
न तु शुद्धेन योगेन तथा दृष्टमतो न हि ।
एतस्य कथनादेवं ज्ञापितं सर्वथा यदा ॥३६३॥
कार्यावेशं वितनुते तदा मोहो भवेदिति ।
तेन केनाऽपि लीलाऽपि न कर्तव्या कथञ्चन ॥३६४॥

यथा सत्वांशे शुद्धसत्वे वा अवतरणम् । तदर्थमिति । तस्य पक्षस्य निवृत्तये । अत इति । ल्यब्लोपे पञ्चमी । इदं साक्षात्पाकव्यमनुसन्धाय ॥३५३॥ ॥३५९॥

एवं तत्त्वार्थं न जानन्ति ये माध्वाद्यास्तन्मतमनुवदन्ति-केचित्प्रक्षेपमूचिर इति । सिद्धान्तमाहुः–पूर्वेत्यादि, क्वचिदिति यस्मिन् कल्पे पूर्णस्य नावतरणम् । ननु यद्येवं कल्पान्तरेऽभूत्तदा शुकेन कुत इदं नाङ्गीकृतमित्याकाङ्क्षायामाहुः–तत्रापीत्यादिसार्द्धम् । तथा च 'विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिना'मिति वाक्यान्न सर्वे योगिनो भगवल्लीलादिकं ज्ञातुं शक्नुवते किन्तु 'भक्त्या मामभिजनाति' इतिवाक्याद् भक्ता एव शक्नुवते । शुकस्तु तादृश इति परमं तत्त्वं विचार्य तन्मतं दूषितवानिति तथेत्यर्थः । नन्वेतत्कथोपनिबन्धस्य किं प्रयोजनमत आहुः–एतस्येत्यादिचतुष्टयम् । किं ज्ञापितमित्यपेक्षायां तदाहुः–सर्वथेत्यादि । 'कार्यावेशं वितनुते' इति भगवान् जीवस्येति शेषः । इतीति । इदं ज्ञापितमित्यर्थः । तेनेति हेतुना । तथा चैतल्लीलानुकरणेऽप्यनिष्टं भवतीति तदपि न कार्यमिति ज्ञापितमित्यर्थः । नन्वनुकरणे देवानां हृदि कुतो दोषदृष्टिरित्यत

[1] विचारणात् ।

तदाऽधिकारिणो देवा मन्यन्ते दुष्टभावनाम् ।
सत्त्वावतारपक्षे हि भवेदेतन्न चाऽन्यथा ॥३६५॥
निर्गुणस्तु हरिः कृष्णः स्वयमाविर्बभूव ह ।
सन्देहे तस्य भक्तैस्तु निर्णयो ज्ञायतां यथा ॥३६६॥
तं शस्त्रपूगैरित्यादि शुद्धं नान्यत्ततोऽधिकम् ।

(अथ सात्त्विकफलप्रकरणम्)

आदौ त्रिविधदुष्टानां वधोऽत्र विनिरूप्यते ॥३६७॥
शाल्वस्य हरभक्तस्य दन्तवक्रस्य चात्मनः ।
तद्भ्रातुश्च द्वितीयस्य राजसस्य वधः स्मृतः ॥३६८॥
एवं दोषप्रणाशो हि फले पूर्वमुदीरितः ।
तेनैव यादवानां हि सर्वव्यसननाशतः ॥३६९॥
कृष्णात्मकं फलं सिद्धं यत एवं करोति हि ।
ततः सर्वसुखार्थाय बलदेवविनिर्गमः ॥३७०॥
तीर्थे स्वधर्मनाशाय दोषे याते सुखं स्वतः ।
स्वयं तु पाण्डवानां हि दुःखनाशं चकार ह ॥३७१॥
एवं त्रिभिरिहाध्यायैर्दुःखनाशो निरूप्यते ।

आहुः–सत्वेत्यादि । यथेति यथावत् ॥३६०॥३६६॥ एवं चतुस्त्रिंशद्भिः साधनप्रकरणं विचारितम् ॥

॥ अथ सात्विकफलप्रकरणम् ॥

अतः परं सार्द्धपञ्चाशद्भिः फलप्रकरणं विचारयन्ति–आदावित्यादिभिः । अतः परं सात्त्विकानामितिकारिका इतः पूर्वस्थेति प्रतिभाति । कथाश्लेषं स्फुटीकुर्वन्ति–आदावित्यादिभिः पादोनैस्त्रिभिः । अत्रेति कथाश्लेषे, आत्मन इति भक्तस्येतिशेषः । राजसस्येति तद्भ्रातुर्विशेषणम् । श्रीबलदेवतीर्थयात्राकथाप्रयोजनसङ्गती आहुः–यत इत्यादि । तेन सुखप्रकारमाहुः–तीर्थ इत्यादि । स्वधर्मनाशाय दोष इति । वर्णाश्रमधर्मनाशाय विद्यमाने दोषे याते निवारिते । दुःखनाशमिति दुःखानुत्पत्तिम् । त्रिभिरिति साधनप्रकरणीया-

स्पष्टास्पष्टविभेदेन त्रिविधानां विशेषतः ॥३७२॥
कालदोषात्तु ऋषयो वक्तारं मेनिरेऽधमम्।
अतो ज्ञात्वैव रामेण सूतो धर्मार्थमाहतः ॥३७३॥
सन्तोषार्थमृषीणां च स्वावतारं विधाय हि।
तत्र तं स्थापयामास कार्यं भागवते स्थितम् ॥३७४॥
शुकोक्तमन्यथा वाक्यं हृदयं न विशेत्क्वचित्।
बल्वलस्य वधो मुख्यो दोषस्तेषां च नाशितः ॥३७५॥
बल्वलो दोषसूतौ च त्रयोऽत्र विनिवारिताः।
ज्ञानोपदेशो लीलार्थो यथा तीर्थाटनं तथा ॥३७६॥
शुद्धिस्तीर्थैस्तथा यज्ञैर्ज्ञानेनाऽपि भवेद् ध्रुवम्।
ऋषीणां त्रितयं सिद्धमग्रे मोहनिवृत्तये ॥३७७॥
ज्ञानोपदेशोऽनन्यार्थो दोषा एवं विनाशिताः।
द्वाभ्यां पञ्चभिरग्रे तु गुणैर्दोषनिवारणम् ॥३७८॥
दारिद्र्यनाशः सम्पत्त्या द्वाभ्यां तत्र निरूप्यते।
त्रिभिश्च त्रिविधानां च पूर्वोक्तानां च सर्वशः ॥३७९॥

न्तिमाध्यायसहितैस्त्रिभिः। अस्पष्टदुःखमन्येषां पाण्डवानां च ज्ञेयम् ॥३६७॥३७२॥ ननु सूतवधः कुतः प्रकरणविरुद्ध उच्यत इत्यत आहुः-कालेत्यादि। तर्हि पुत्रः कुतः स्थापित इत्यत आहुः-सन्तोषेत्यादि। विधायेत्यत्र विचार्येति पाठः प्रतिभाति। तमिति पुत्ररूपिणम्। कथं स्थितमित्यपेक्षायामाहुः-शुकेत्यादि। अन्यथेति। तदासने उग्रश्रवसः अनिवेशे परीक्षित्सभायां तस्य श्रोतृत्वेनाप्रवेशात्। एवं साधारणदोषनाश उक्तः। मुख्यदोषनाशमाहुः--बल्वलस्येति। ज्ञानोपदेशप्रयोजनमाहुः--ज्ञानेत्यादि। द्वाभ्यामिति। एतेन प्रथमे धर्मिलीला द्वितीये ज्ञानलीलेति ज्ञापितम्। यथाक्रमं वा। अग्रिमेषु दोषनाशफलयोर्भवनप्रकारं बोधयन्ति-पञ्चभिरित्यादि। तत्रावान्तरप्रकरणविभागमाहुः- दारिद्र्येत्यादि। त्रिभिरध्यायैश्च पूर्वोक्तानां त्रिविधानां तामसादिप्रकरणत्रयोक्तभक्तानामेव सर्वप्रकारेण दोषनाश-

सुदामा ब्राह्मणः कश्चिदर्धे च ऋषिसम्मतः।
भार्या तु ब्राह्मणी तस्य नर्षी दारिद्र्यदर्शनात् ॥३८०॥
विरुद्धमुभयं कालात्तत्रैकस्य निवारणम्।
तत्र कृष्णः पुष्टिमार्गे स्त्रीणां चैव हिते रतः ॥३८१॥
अतोऽर्धजरतीयं तं भक्तं चक्रे स्वसङ्गिनम्।
यथा हि भगवानत्र पूर्णकामोऽपि तिष्ठति ॥३८२॥
तत्सङ्गिभिस्तथैवाऽत्र स्थेयमित्येव निश्चितम्।
नाशो न कोऽपि भविता ऋषीणां चाऽपि मोचकः ॥३८३॥
अलौकिकं च प्रददौ न दूषणमिहाण्वपि।
स्वतुल्यत्वाय तु कथा पूर्वजाता निरूपिता॥३८४॥
समक्षं भगवाँस्तन्तु ऋषिमेवाऽकरोत्स्वतः।
अतो न किञ्चित्प्रददौ भार्यायै तत्र दत्तवान् ॥३८५॥

पूर्वकं फलमुच्यते। तथा चैवमत्र द्विप्रकरणी तेन सप्ताध्याय्यां पूर्वाभ्यां सह त्रिप्रकरणीत्यर्थः ॥३७३॥३७९॥

प्रकरणानि विभज्य पञ्चस्वाद्ययोरर्थमाहुः-सुदामेत्यादि। नाम पुराणान्तरे प्रसिद्धम्। अर्द्धमिति। ग्रामवासादिति प्रतिभाति। ननु मूले तथाविधत्वेन कथनात्कथं नर्षीत्यत आहुः-दारिद्र्यदर्शनादिति। कालादित्यादि। मूले भगवन्निकटगमनप्रार्थनाया बहुश उक्तत्वात्। भगवत्सखित्वादियदृच्छयोपपन्नेन वर्त्तमानत्वान्तधर्मवतस्तत्र गमनाभावस्य कालकृतत्वेन एकस्यर्षित्वस्य कालान्निवारणं प्रतिबन्ध इत्यर्थः। तत्रेति कालिके प्रतिबन्धे। अत इति पुष्टौ तस्याङ्गीकृतत्वात् स्वस्य स्त्रीहितत्वाच्च। अर्द्धजरतीयमिति। ऋषित्वानृषित्वोभयधर्मवन्तम्। निश्चितमिति अनेन कथोपनिबन्धनेन निर्णीतम्। ननु भगवान्मोचको बन्धहेतुभूतां सम्पत्तिमेतादृशाय कुतो दत्तवानित्यत आहुः-नाशो नेत्यादि। नाशः परलोकहानिः। इयमेव लीला बृहदारण्यके 'अन्नादो वसुदान' इत्यनेन श्राविता। ननु यद्येवं न दोषलेशस्तदा 'प्रायो गृहेष्वि'त्याद्यनिष्टानुवादस्य किं प्रयोजनमत आहुः-स्वतुल्यत्वेत्यादि। तर्हि समक्षं कुतो नादादित्यत आहुः-समक्षमित्यादि। ननु धनार्थमागताय समक्षमृषित्वेऽपि धनादाने वैमनस्यं स्यादित्यत आहुः-अत

अनभिप्रेतपक्षे हि दानाभावो विशिष्यते।
अतो दाने तस्य तोषो गच्छतो वर्ण्यते पथि ॥३८६॥
सांसर्गिकस्य दोषस्य निवृत्त्यै भगवत्परः।
भक्तिमार्गानुसारेण विषयान् बुभुजे वशः ॥३८७॥
एवं ऋषित्वं भक्तत्वं धनं दारिद्रमेव च।
विरुद्धं स्थापयामास स्वकीयत्वप्रसिद्धये ॥३८८॥
त्रिभिरग्रे तु भगवान् पूर्णं फलमुदीर्यते।
द्वाभ्यां द्वाभ्यां त्रिभिश्चैव फलत्रयमुदीरितम् ॥३८९॥
दुःखाभावसुखोत्कर्षौ कृष्णश्च त्रिविधस्तथा।
सर्वेषां वाञ्छिताकारः स्त्रीणामत्यन्तवल्लभः ॥३९०॥
ऋषिदेवपितॄणां च लौकिकालौकिकत्वतः।
फलदाता सर्वभावैः सर्वतोऽत्र निरूप्यते ॥३९१॥
तत्कालस्थाः सर्व एव वर्णा एते च मानुषाः।

इत्यादि। ल्यब्लोपे पञ्चमी। तस्येमं स्वभावं विचार्य। तथा च पूर्वमर्द्धर्पित्वेन धनलिप्साभावाद्भार्यया धनार्थिन्या बहुशः प्रार्थनेऽपि कृष्णदर्शनमेव लाभत्वेन मन्यमानस्यागमनात्। तस्य च सम्पन्नत्वेन पूर्णमनोरथत्वात्समक्षं पूर्णर्पित्वकरणेन धनलिप्सायाः सुतरामपगमाद्धनादानमित्यर्थः। धनादानेन तस्य स्वस्य चाभिप्रायं प्रकटीकृतवानित्युभयार्थं समक्षादानमित्याहुः–अनभीत्यादि। तस्येति धनस्य ॥३८०॥३८८॥ एवं नवभिर्द्वयोरर्थ उक्तः। अग्रिमत्रयाणां वक्तुं तत्सिद्धस्य फलस्य स्वरूपमाहुः–त्रिभिरित्यादि। त्रिप्रकरणसिद्धं फलं बोधसौकर्यायानुवदन्ति द्वाभ्यामित्येकेन। एतदध्यायत्रयोक्तं भगवत्स्वरूपत्रैविध्यं स्फुटीकुर्वन्ति सर्वेषामित्यादिसार्द्धेन। सत्वत इति सात्विकान् विधाय। प्रथमाध्यायसिद्धं सर्ववाञ्छिताकारत्वं स्फुटीकुर्वन्ति तत्कालस्था इत्यादिभिर्नवभिः। अत्र सार्द्धाभ्यां साधारणानां वाञ्छिताकारत्वरूपं फलं बोधितम्। तच्च 'आसन्नच्युतसन्दर्श परमानन्दनिर्वृता' इत्यनेनोक्तम्। वाञ्छिताकारत्वं विना तद्दर्शने

सर्वतस्ते समागत्य कृष्णसान्निध्यदर्शनैः ॥३९२॥
शुद्धसात्विकभावं ते प्राप्ता रोधनमागताः।
देहादिकं जगत्सर्वं विस्मृत्य भगवत्पराः ॥३९३॥
जाता इति फलं तेषां हरिरेव न संशयः।
अन्ते च गोपिकाः प्रोक्ताः शुद्धसत्त्वप्रसिद्धये ॥३९४॥

आनन्दाभावादिति। तामसानां राजसभावस्य पूर्वमुक्तत्वादिदानीं सात्विकत्वं तेषां वक्तुमन्ते व्रजस्थानां कथेत्याहुः अन्ते चेत्यादि। शुद्धसत्त्वप्रसिद्धये इति। सत्वस्य प्रमितिजनकत्वेन तस्य शुद्धौ भगवत्स्वरूपयाथात्म्यावगतिरिति तदर्थमित्यर्थः ॥३९४॥

निबन्धकठिनांशविवेचनम्

(का· ३९४) अग्रे त्रयस्त्रिंशेध्याय एकोनाशीतितमे वा अन्ते च गोपिकाः प्रोक्ताः शुद्धसत्त्वप्रसिद्धय इति एतस्यार्थस्त्वावरणभङ्गे स्फुटतयोक्त इति ततोवधेयः। अतः परमनेनाध्यायेन सिद्धं फलितार्थमाहुस्तदन्ताः सर्व एवैते तत्फला इतिनिश्चितमित्यनेन, सर्वे भक्ता गोपिकावधयः सर्व फलं गोपिकाफलावधीत्यस्मिन् सन्दर्भे निश्चितं विद्या भागवतावधिरित्यादिवदित्यर्थः। एतद् विविच्य दर्शयन्ति संसार इत्यादि तद्धियामित्यन्तेन, फलस्यावधित्वं ह्यन्यत्र तदभावे अत्र तत्सद्भावे, दुःखासम्भिन्नत्वे पूर्णत्वे न तु न्यूनत्वे, परमोत्कृष्टत्वे न तु निकृष्टत्वे च सति भवेत्, एवं भक्तानामप्यन्यत्र तादृशत्वाभावेत्र तादृशत्वसद्भावेन्यभावराहित्ये भगवद्भावस्य पूर्णत्वे परमोत्कृष्टभाववत्त्वेवधित्वं स्यादिति फलावधित्वेनैव भक्तावधित्वमर्थात् सिद्ध्यत्यतः फलावधिमाहुः संसार इत्यादिना, अन्यत्र विरोधादेव तदभावः, भगवता परमानुग्रहरूपपुष्ट्या गोपिकासु दानात् तत्सद्भावः, आहुश्च 'ते नलिननाभे'ति गोपिकानां प्रार्थना तज्ज्ञापिकेत्याहुः तथैव प्रार्थितं ताभिरिति, अस्मिन् प्रार्थनाश्लोके भगवतो नलिननाभत्वेन जगत्कर्तृत्वात् पदस्य चारविन्दत्वेन सुखकरत्वात् तापहारकत्वाच्च भक्तानां सुखकरं दुःखनाशकं तदेव तद्धेतु सृजतीत्युक्तम्, तेन फलस्य दुःखासम्भिन्नत्वमुक्तम्, अगाधबोधैः पूर्णज्ञानैर्वशीकृतयोगैर्योगेश्वरैरपि हृदि चिन्त्यमेव न तु प्राप्तमित्यनेन फलस्य परमोत्कृष्टत्वमुक्तम्, 'गेहं जुषा'मित्यनेन गेहस्य प्रीत्या सेवनमुक्तम्, तच्च न अहन्ताममतां विनेति संसारो निरूपितः, संसारस्यावश्यं दुःखहेतुत्वेन कूपपात उक्तः, चरणस्योक्तचरणावलम्बनत्वेनाहम्ममाभिमानजन्यदुःखसम्भावनायामपि तेनैव तन्निवृत्तिः, अनेनापि फलस्य दुःखासम्भिन्नत्वमुक्तम्, दैहिक ऐन्द्रियश्च सम्बन्धो न सदा तिष्ठति, अतः 'मनस्युदिया'दित्यनेन योगिवत् सार्वदिकः सम्बन्ध उक्तः, अनेन फलस्य पूर्णत्वमुक्तम्। 'न' इत्यनेन स्वस्मिन् तत्प्रार्थनोक्ता। ननु ताभिः प्रार्थनेपि भगवताऽदाने कथं तत्सिद्धिः स्यात् तत्राहुः सम्मतं चापि वै हरेरिति, यद्यपि मनसि

निरोधश्चापि तासां हि सर्वभावेन रूपितः ।
तदन्ताः सर्व एवैते तत्फला इति निश्चितम् ॥३९५॥
संसारो भगवांश्चैव विरुद्धं द्वितयं फलम् ।
उभयैर्यत्सुखं तद्धि तासां पुष्ट्याऽभवत्तदा ॥३९६॥
तथैव प्रार्थितं ताभिः सम्मतं चाऽपि वै हरेः ।

ननु तस्याः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः-**निरोध** इत्यादि । ननु स्वरूपसम्बन्धात्मकफलावधिनिरोध एतासां सर्वभावेन प्रागेव सिद्ध इति पुनः किं तत्कथयेत्यत आहुः-**तदन्ता** इत्यादि । एते सर्व एवादित आरभ्य ज्ञानोपदेशान्ता उपायाः । **तत्फला** ज्ञानसहितसर्वभावपूर्वकनिरोधफलाः । तथा च पूर्वं सर्वभावे सत्यपि तदुत्तरं परोक्षोपदेशेन परोक्षज्ञाने जातेऽपि यावत्तत्प्रत्यक्षं न भवति तावत्सर्वभावदार्ढ्याभावान्न सम्यङ्निरोधसिद्धिः सर्वभावानुभवाभावात् । एतत्कथयेदं निश्चितमित्यर्थः । तदेतद्विविच्य दर्शयन्ति **संसार** इत्यादिभिः सार्द्धश्चतुर्भिः । अभवदिति सर्वात्मकेन भगवता अभवत् । अत्र गमकमाहुः-**तथैवे**त्यादिभिः । 'आहुश्च ते नलिननाभे'तिप्रार्थनावाक्ये तथा सिद्धेरित्यर्थः । ननु भगवत्सम्मत्यभावे प्रार्थनामात्रं न गमकमित्यपेक्षायामाहुः **सम्मत**मित्यादि । यतो हेतोर्भगवानेकादशे 'जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु । वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ।

पदोदयमात्रप्रार्थनं न हरेः, तथा सति पदस्यैकदेशत्वान् न पूर्णं फलं स्यात्, तथापि पूर्वं भगवतोपदेशवाक्येषु 'दिष्ट्या यदासीन् मत्स्नेहो भवतीनां मदापन' इति कथनादेतासां स्नेहः सम्पूर्णभगवत्प्रापक एव न त्वेकदेशप्रापक इति, अत्र पदोदयप्रार्थनं तु तद्दैन्यज्ञापकव्याजेन सम्पूर्णोदयार्थमितिज्ञेयम्, एतेन यत्रैव परमं दैन्यं तत्रैव भगवान् शीघ्रं हरित्वज्ञापनाय प्रकटो भवति गजेन्द्र इवेतिज्ञापनाय हरेरित्युक्तम् । ननु भगवतः सम्मतौ किं ज्ञापकमित्याशङ्क्य भगवद्वाक्यमेवेत्याशयेन श्रीभागवतगीतास्थानि वाक्यान्येवाहुर्न **ज्ञान**मित्यादि, उक्तवानित्यन्तेन, एकादशे विंशाध्याये भक्तिप्रकरण इदं वाक्यम्, "तस्मान् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह", अत्र स्नेहात्मकभक्तियोगादेव योगित्वं, न त्वष्टाङ्गयोगेन, 'मदात्मन' इत्यत्र मय्यात्मान्तःकरणं यस्य, अहञ्चान्तःकरणे यस्येत्यर्थः, द्वयमप्यभिप्रेतम्, तादृशे भक्ते ज्ञानवैराग्योरभावेपि फलविलम्बः फलाभावश्च नेति तयोरसाधनत्वमुक्तम्, तथा सति ज्ञानाभावादहन्ता वैराग्याभावान् ममता चोक्तेति पूर्वश्लोकोक्तसंसारो ज्ञापितः । इतः पूर्वेष्वेकादशस्कन्धवाक्येषु 'मयि हृदि स्थित' इत्युक्तत्वात् फलरूपो भगवान् प्राप्त एवेत्युक्तम्, भगवत्प्राप्तावपि भगवत अनन्तानि रूपाणि सन्ति, तत्र कस्य रूपस्य प्राप्तिरितिसन्देहवारणार्थमक्षरपर्यन्तस्य निरासं वक्तुं **अव्यक्ता हि गतिर्दुःख**मितिगीतावाक्यमुपन्यस्तम्, अक्षरप्राप्तौ साधनकाले भूयान् क्लेशः फलकाले च भगवत औदासीन्यरूपं भक्तानां महद् दुःखम्, अतोक्षरप्राप्तिर्भक्तानां नाभीप्सिता, नापि पूर्णपुष्टिमार्गे भगवता दीयते, अनेन फले दुःखासम्भिन्नत्वमुक्तम्, यत्राक्षरप्राप्तिरूपमपि दुःखं न, तत्रान्यदुःखस्य का वार्ता, अतः परं फलस्य परमोत्कृष्टत्वं पूर्णत्वं च ज्ञापयितुमेतदग्रिमाणि गीतावाक्यान्युपन्यस्यन्ति, **ये तु सर्वाणि** चेति, अत्र प्रतीकमात्रेणात्रयत्यं श्लोकद्वयं ज्ञेयम्, तु शब्देन पूर्णपुष्टिस्थभक्तेतरभक्तनिरासः, येषां मदर्थं लौकिकवैदिककर्मपरित्यागपूर्वकं मत्परत्वं भगवत एव फलत्वेन ध्यानपूर्वकमनन्यतया भगवदुपासनम्, तदा मृत्युसंसारसागरादुद्धारकत्वस्वभावोहमक्षरात् परस्तेषां भवामीति तद्वश्यो भवामीत्यर्थः, अत्राक्षरान् परत्वेन फलस्य सर्वोत्कृष्टत्वं वश्यत्वेन पूर्णत्वं च ज्ञापितम्, तथासत्येतादृशभगवद्वचनैर्गोपिकाप्रार्थितं भगवतः सम्मतमितिसिद्धमन्यथैतादृशभक्तेभ्योप्येतादृशफलादाने भगवतोनृतवादित्वं स्यादिति । अतः परं ज्ञानवैराग्याभावसूचिताहम्ममत्वेन जीवतामेव भक्तानामीदृशं फलं सूचितमितितद्विवेचनायाहु**र्जीवत** इत्यादि, अहम्ममाभिमानेन जीवतां स्थित्यर्थं गृहं जीवनार्थं **वृत्त्यादिकं** च **सर्वथा**पेक्षितम्, तत्रेह लोके मनुष्याणां परलोक इन्द्रादीनां च स्वस्वगेहेषु स्थितानां स्वस्ववृत्त्या जीवतामेव परमं सुखं नान्यत्र, अतः **स्वाभाविकं** गृहवित्तादिकं **न दुःखाय**, अतो भगवानपि परतन्त्रत्वदुःखं निवारयितुं स्वतन्त्रत्वसुखञ्च सम्पादयितुं गोपिकानामेव गेहेषु गोपरूपेणैव स्थित्वा मनोरथान्तमानन्दं ताभ्यः प्रयच्छति, न तु ताः स्वगेहेषु स्थापयित्वा स्ववृत्या च जीवयन्निति, तथा सति रूक्मिण्यादिमहिषीतुल्यतया भक्तावधित्वं फलावधित्वं च न स्यात्, भगवतो व्यापिवैकुण्ठेपि गोपरूपत्वम्, तत्रत्यभक्तानां गोपीत्वं च बृहद्वामनीयकथासन्दर्भे स्फुटमिति तद् **गृहं स्वाभाविक**मिति न परतन्त्रतादुःखम् किन्तु परमसुखमेवेति तादृशं गोपिकाभिर्याचितमित्यर्थः ॥

'न ज्ञानं च वैराग्यं' यतः प्राह हरिः स्वयम् ॥३९७॥
'अव्यक्ता हि गतिर्दुःख' यतः सर्वाणि चोक्तवान् ।
जीवतश्च स्थितिर्मृग्या तथा वृत्त्यादि सर्वथा ॥३९८॥
स्वाभाविकं न दुःखाय परत्रेह च निश्चितम् ।

१ येन । ये तु ।

लोकद्वयेष्टदं तुल्यं हरेर्नाऽन्यत्परं सुखम् ॥३९९॥
विरोध्यन्योन्यमन्यत्र याचितं तेन तद्विधम्।
अतिदेशार्थमन्येषां निकटे कथनं मतम् ॥४००॥

'ततो भजेत मां भक्त्या श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः। जुषमाणश्चः तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्। प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मनेः। कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते। भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि। तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'तिसन्दर्भेण स्वस्मिन् जातश्रद्धस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकवैदिकसर्वकर्मसु जातारुचेरैहिककामस्वरूपज्ञानेऽपि तत्त्यागाशक्तस्य स्वस्मिन् श्रद्धोत्कर्षपूर्वकं ममेदमेव कर्तव्यं नान्यदिति निश्चयदार्ढ्यपूर्वकं कामगर्हापूर्वकतद्भोगपूर्वकं भक्त्या श्रवणादिनवकावृत्तिं विधाय असकृत्तद्विचारे तथाभजने च क्रियमाणे तादृशस्य हृदये स्वस्य स्थितिं तया हार्दसर्वकामनाशं ततः स्वदर्शनं तेन हृदयग्रन्थिभेदं सर्वसंशयच्छेदं चोक्तवान्। ततोऽखिलात्मकभगवत्साक्षात्काररूपफलस्य जातत्वे साधनभूतज्ञानवैराग्यप्रयोजनाभावात्तयोरश्रेयस्त्वमुक्तवान्। तेन सर्वात्मभावपूर्वकभजनस्य सर्वात्मकभगवत्साक्षात्कारान्तता भजनानुवृत्तिश्च सिद्ध्यति। तदत्र 'मयि भक्तिर्ही'त्यारभ्य 'पश्यताभातमक्षर' इत्यन्तेन वरप्राप्तिवत्सिद्धम्। तदेव शुकेन जीवकोशात्मकतत्प्रतिबन्धकध्वंसपूर्वकमनूदितम्। न चात्र ज्ञानान्ततामात्रं भगवदभिप्रेतम्। गीतायां 'अव्यक्ता हि गति'रित्यनेन तत्फलापकर्षोक्तिपूर्वकं 'ये त्वि'तिसन्दर्भेण स्वस्यैवोत्कर्षस्य फलत्वस्य च कथनात्। अत एवं ज्ञायते यदुक्तं प्रनाडीसिद्धैवंप्रकारकस्वदर्शनोत्तरभावितादृशानुसन्धानपूर्वकनिरोध एवात्र फलत्वेनाभिप्रेत इति। तदेतदुक्तम् 'न ज्ञान'मित्यारभ्यो'क्तवानि'त्यन्तेन ॥३९५॥३९७॥ ननु कोशध्वंसस्योक्तत्वाच्छिदेहकैवल्यमेव फलत्वेनाभिप्रेत न निरोध इति शङ्कायामाहुः जीवत इत्यादि। 'आहुश्च त' इत्यारभ्य 'ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धव' इत्यन्तग्रन्थेन तेषां देहस्थितेरवगमान्न तथा, किन्तु निरोध एव विवक्षितरूपः फलमित्यर्थः। ननु यद्येवं तदेदानीमेतादृशनिरोधस्य सिद्धत्वात्प्रार्थनायाः किं प्रयोजनमित्यत आहु–**स्वाभाविकेत्यादि**। **स्वाभाविकमिति**। 'आत्मा तद्धर्मश्च तुल्य'मिति स्वाभाविकभिन्नत्वादुःखजनकम्। अन्यत्रेति। एवं प्रकारकनिरोधरहितस्थले ॥३९८॥३९९½ **एवं सार्द्धाष्टभिस्त्रिषु प्रथमो विचारितः।**

द्वितीयं विचारयन्ति अतिदेशार्थमित्यादि। अध्यायारम्भे तथेति

१ अहम्।

स्त्रीणां स्वस्वपतौ स्नेहः सहजस्तन्निवृत्तये।
कृष्णस्त्रीणां विवाहानां कथा त्वत्र निरूप्यते ॥४०१॥
लोकाद्भयं गोपिकाभिः पूर्वमेव निवारितम्।
पुरुषोत्तमभावेन वैदिकं च निवारितम् ॥४०२॥
उत्कर्षे तु श्रुते स्त्रीणां पूर्वभावो विनश्यति।
पश्चात्तापश्च जायेत विवाहख्यापनं ततः ॥४०३॥
कृष्णे कामाद्यभावाय दास्यं सर्वत्र वर्ण्यते।
सर्वभावेन सर्वासां विवाहकरणे क्षमः ॥४०४॥
सुतरां भक्तियुक्तानां लक्ष्मणायाः कथा तता।
द्रौपदी पुष्टिमार्गस्था ततः पृच्छति यत्नतः ॥४०५॥
तदुत्कण्ठापराः सर्वा रुक्मिण्याद्याश्च देवताः।
जाता इति पुरा प्रोक्तात्फलादेतद्विशिष्यते ॥४०६॥
विस्मयाविष्टचित्तानां भविष्यति तथा हरिः।
पूर्वोक्तानामपि तथा क्रमवृद्ध्या क्षणे क्षणे ॥४०७॥
महिषीणां यथा भावस्तथा साधु भविष्यति।
लौकिकानखिलानेवं समुद्धृत्य मनीषया ॥४०८॥
वैदिकानृषिदेवांश्च पूर्वभावस्य सिद्धये।

पद्मद्रोपिकायुधिष्ठिरादीनां स्त्रीणां च यथाधिकारं निरोधबोधनार्थमनुवादपूर्वकं कथनमित्यर्थः। स्वस्वपतिस्नेहनिवृत्तौ प्राप्तस्य (लोकवेदनिवृत्तौ प्राप्तस्य) लोकवेदविरोधदोषस्य परिहारायाहुः–**लोकादित्यादि**। **विशिष्यत इति**। 'तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुराप'मिति पूर्वाध्यायवाक्यादन्यत्रापि तदतिदेशस्य समानन्यायप्राप्तत्वात्तथेत्यर्थः। साधनाभावेऽन्यासां कथमेवं भाव इत्यत आहुः–**विस्मयेत्यादि**। तदुक्तमग्रिमारम्भश्लोके 'श्रुत्वा पृथे'त्यादिना। शेषग्रन्थ उत्तानार्थः। **एवमष्टाभिर्द्वितीयो विचारितः।**

तृतीयं विचारयन्ति–लौकिकानित्यादि। 'मनीषये'त्यस्य 'स्तोत्रं चकार-'त्यनेनान्वयः। **पूर्वभावस्येति** पूज्यत्वस्य। *न्यायस्तु **भारते पाद्मादिषु च**

* भगवद्भक्त्या भगवदावेशे जाते भगवता तस्य सन्मानने कृते स जीवस्तत आरभ्य सर्वलोकानां पूज्यो भवति।

१ दिवेदेव ताः

ततः प्रभृति पूज्यन्त इति न्यायेन वै हरिः ॥४०९॥
स्तोत्रं तेषां चकाराऽऽद्ये निरोधार्थं तु ते पुनः ।
विपरीतं सर्वमाहुः शास्त्रार्थोऽयं हि पुष्टितः ॥४१०॥
सान्निध्यादेव सर्वेषां हृद्येवं समुपागतम् ।
अनेनैवोपदेशोऽभूत्फलं चाऽपि समं मतम् ॥४११॥
प्रमेयबलमासाद्य यादवानां फलं पुनः ।

प्रसिद्धः । तुः पूर्वपक्षनिरासे । अयमेवात्राभिप्राय इत्यत्र गमकमाहुः- ते पुनरित्यादि हिर्हेतौ । तेनान्यदपि कार्यं भगवता साधितमित्याहुः--अनेनेत्यादि । उपदेश इति । सभासत्प्रभृतीनाम् । फलं चापि स्वसम्मतमिति यथाधिकारो निरोधः । ॥४०८॥४११॥ नन्वेवं सर्वेषां पूर्णे फले कथिते पुनः किमवशिष्टं येन वसुदेवयज्ञकथावतारितेत्याकाङ्क्षायां तत्प्रयोजनं वक्तुं प्रथमतः प्रश्नप्रयोजनमाहुः- प्रमेयेत्यादि ।

॥ निबन्धकठिनांशविवेचनम् ॥

(का. ४११) अग्रे पञ्चत्रिंशाध्याय एकाशीतितमे वा सान्निध्यादेव सर्वेषां हृद्येवं समुपागतमिति कृष्णसान्निध्यान् मुनिसान्निध्याच् चैव सर्वेषां कुरुक्षेत्रे समागतानां हृदये एवं समागतम, कृष्णवचनैर्ब्राह्मणानां साधनेषु प्राथम्येन गुरुत्वेन सर्वलोकपूज्यत्वं ब्राह्मणवचनैश्च कृष्णस्यैव पुरुपोत्तमत्वात् । सब्राह्मणसर्वलोकपूज्यत्वं परमफलत्वं चेति, एवं सर्वेषां हृदि समागतमित्यर्थः ।

अत्रैवाग्रे अनेनैवोपदेशोभूदितिपादत्रयम्, अनेन कृष्णस्य मुनीनां च वचनप्रतिवचनेन सर्वेषां भगवन्मार्गोपदेशोभूत्, यथा नामकरणप्रस्तावे गर्गवचनैर्नन्दस्य नन्दवचनैश्चान्येषां गोपानामितिवदित्यर्थः, अथ प्रमेयबलमासाद्य सर्वेषां समं मतं फलं चापि ह्यभूदित्यर्थः ।

(का. ४१२) प्रमेयबलमासाद्य यादवानां कृतं यद् राजसप्रकरणे फलं तदुद्धवप्रश्नरूपया नीत्या पुनः सन्देहजननात् पुनः प्रमाणेनोज्यत इतिपदयोजना ।

(का. ४१३)अग्र ईशलीलां सुदुर्बोधामित्यादि, वसुदेवे कर्मनिर्हारार्थ पृच्छति सति ते मुनयः को वेद ईश्वरो लीलार्थं वसुदेवे बाधकं कर्मापि स्थापितवानितिसंशयं गताः, तदा नारदः सन्देहवारकः, पूर्ववद् यथा चैद्यमुक्तौ युधिष्ठिरस्य मायावत्याः प्रद्युम्नविषयः प्रद्युम्ने द्वारकां नीते वसुदेवादीनां प्रद्युम्नविषयकः सन्देहो निवारितस्तद्वन् मुनीनामपि ॥

कृतं सन्देहजननात्प्रमाणेनोच्यते पुनः ॥४१२॥
वसुदेवस्य सम्प्रश्नस्ततो यागार्थमुच्यते ।
ईशलीलां सुदुर्बोधां मत्वा ते संशयं गताः ॥४१३॥
नारदः पूर्ववत्प्राह सर्वसन्देहवारकः ।
सात्विकप्रक्रियायां हि प्रमाणं न हि दर्शितम् ॥४१४॥
ततः कृष्णकृतं सर्वं लौकिकं मेनिरेऽखिलाः ।
अतो यागोत्सवो जातो लौकिकं वैदिकं तथा ॥४१५॥
एकीभूयाऽभवद्भक्तौ तेन सर्वेऽभवन्समाः ।
सर्वेषां सर्वभावो हि फलादपि हरिः फलम् ॥४१६॥
सात्विकप्रक्रियायां हि सर्वे एव निरूपिताः ।
निर्गुणत्वं समापन्ना निरोधोऽत्रैव रूपितः ॥४१७॥

एतत्प्रकरणीयप्रमेयप्रकरणे प्रमेयबलमासाद्य यादवानां दोषाभावरूपं फलं नीत्यालम्बेन सन्देहजननात्पुनः सदोषं कृतम्, तत्पुनः प्रमाणेनोच्यते ततो हेतोः सम्प्रश्न इत्यर्थः । कृतमित्यत्र गतमित्यर्थः प्रतिभाति । ते इति सात्विकाः यादवाः । ननु तावन्मात्रेण कथमेवं संशय इत्यत आहुः–सात्विकेत्यादि । खला इति यादवो नितरामपीतिवत् । संशयनिवृत्तिप्रकारमाहुः- अत इत्यादि । अत इति । एतस्य संशयस्य निवृत्त्यर्थम् । अभयद्भक्ताविति भक्त्यर्थमभवत् । फलितमाहुः–तेन सर्वेऽभवन्समा इति । सर्वस्य लौकिकवैदिकस्य भक्त्यर्थत्वभवनेन सर्वे राजसा यादवा निवृत्तचित्तवैषम्यास्तुल्यरूपाः सात्विका अभवन् । तथा चैव राजसादीनामैकरूप्यभवनस्यावशिष्टत्वात्तदर्थमेतत्कथावतारणमित्यर्थः । एवं सर्वमाफलं निरूप्योपसंहरन्तो निगमयन्ति सर्वेषामित्यादि । तथा च छान्दोग्योक्तरीतिकाहङ्कारादेशात्मादेशाभ्यां यदुक्तं तदत्र निष्पन्नं यदा तदात्र निरोधः स्कन्धप्रतिपाद्यः पूर्णः सिद्ध इत्यर्थः ॥४१२॥४१७॥
एवं त्रयोदशाधिकेन शतेन सात्विकप्रकरणं विचारितम् ।

॥ इति सात्विकप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ गुणप्रकरणम् ।

हरिणा केवलेनैव धर्मेणैवाखिलं कृतम् ।
इति संशयनाशाय गुणानां प्रक्रियोच्यते ॥४१८॥
निर्धर्मको वा भिन्नो वा निरोधं कुरुते यदि ।
तदा व्यर्थं समस्तं स्यादिति षड्गुणवर्णनम् ॥४१९॥
येनैतावत्कृतं सर्वं स कृष्णो भगवान् परः ।
इति दर्शयितुं षड्भिरध्यायैः षड्गुणान् जगौ ॥४२०॥
ऐश्वर्येण समग्रेण प्रथमं ज्ञानदो हरिः ।
पश्चात्पुत्रप्रदश्चाऽपि बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥४२१॥
ज्ञानेनान्तर आनन्दः पुत्रादिभ्यस्तथा बहिः
पितृमातृविभेदेन वैदिकं लौकिकं तथा ॥४२२॥
ऐश्वर्यभक्तिसिद्ध्यर्थं प्रकटीकृतवान् हरिः ।
गुरुत्वं देवतात्वं वा न स्वीकृत्य सुतत्वतः ॥४२३॥
तदुक्तमेव निखिलं सर्वं ब्रह्मेति बोधितम् ।

(अथ गुणप्रकरणम्)

अतः परमेकपञ्चाशद्भिर्गुणप्रकरणं विचारयन्तः प्रकरणप्रयोजनं त्रिभिराहुः-**हरिणे**त्यादि । ननु केवलधर्मिणा करणे को दोषो येन तच्छङ्कापाक्रियत इत्यत आहुः-**निर्धर्मक** इत्यादि । तथा च निर्धर्मकेन करणे सर्वस्य मायिकत्वापत्त्या वैयर्थ्यम्, भिन्नरूपेण करणे मुख्यफलाभावेन सर्ववैयर्थ्यमतस्तदुभयनिरासायेयं प्रक्रियेत्यर्थः । तर्हि सधर्मकः कथा विधयोच्यत इति शङ्कायामारम्भे प्रकरणविभागे अन्तर्याम्यधिदैवादीत्यादिना यदुक्तं तत्स्मारयन्तस्तां विधामाहुः-**येने**त्यादि ॥४१८॥४२०॥ **एवं त्रिभिः प्रयोजनकथनेन प्रकरणस्यावश्यकता निरूपिता।**

अतः परं प्रथमार्धमैश्वर्यं विविच्य दर्शयन्ति, ऐश्वर्येणेत्यादि-सार्द्धद्वादशभिः । अत्र प्रथमं वसुदेवस्तुतिस्तत उपदेशस्ततो देवकीप्रार्थनम्, ततः पुत्रानयनं ततस्तत्प्रसङ्गपतितमुक्तम् । तेन कथमैश्वर्यबोध इत्याकाङ्क्षायां कार्यद्वारेत्याहुः । **बाह्याभ्यन्तरभेदत** इत्यस्य **समग्र**पदेनान्वयः । कथमवगम इत्यत आहुः **ज्ञानेने**त्यादि । तथा च द्विविधानन्दस्य विभज्यदानेन तयोस्तस्य बोधनात्तथेत्यर्थः । तत्र ज्ञानदानेनैश्वर्यप्रकटनमुपपादयन्ति- **गुरुत्वमि**त्यादि ।

क्वचित्तु ब्रह्मभावो हि खण्डज्ञानमिहोच्यते ॥४२४॥
लोकेऽधुना तदेवास्ते जीवेश्वरविभेदतः ।
मायाविनस्तु मन्यन्ते जीवमात्मानमीदृशम् ॥४२५॥
वसुदेवोक्तमखिलं वैष्णवाः पुरुषोत्तमम् ।
वस्तुतो यादृशं सर्वं तत्कृष्णेन निरूप्यते ॥४२६॥
अतिदेशप्रकारेण स्थापितं चाऽपि वैष्णवम् ।
दृष्टान्तार्थं यतः साधुर्जीवोऽप्येतेन सिद्ध्यति ॥४२७॥

अयमर्थः । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थो हीश्वरः । साधनं विनापि कर्तुम्, फलोपधानानुकूलसामग्रीसत्तायामपि प्रतिबद्धुम्, विरुद्धसाधनेन कर्तुं समर्थं इति तदर्थः । एतादृशत्वमत्र प्रकटीकर्तव्यम् । तत्र श्रीवसुदेवै 'यत्र येने'त्यादिना सर्वरूपत्वसर्वशक्तिमत्त्वं सर्वकारणत्वं सर्वनियामकत्वादिकं च भगवत उक्तम् । भगवता तु तदुक्तमङ्गीकृत्य स्वस्मिन्सुतत्वस्थापनपूर्वकं सर्वेषां तथात्वं नानात्वेऽप्येकत्वेन बोधितम् । तथा च न ह्येकः साधनं विना नाना भवति, न वा नानात्वसामग्रीसत्तायामपि तद्रूपे विद्यमानेऽप्येकं सर्वं भवति । न चैवं विरुद्धसाधनेनाविरुद्धं सर्वं भवतीत्यादि । साक्षात्कारितं तदपि फलोपहितं येन श्रीवसुदेवस्य नानाधीविनाशः । तस्मात्समग्रैश्वर्यमेव ज्ञानरूपकार्येण बोध्यमित्यर्थः । तदेतद्विशदीकुर्वन्ति सार्द्धैश्चतुर्भिः-**क्वचि**दित्यादिभिः । क्वचिदिति । उपासनासूत्रेषु **जैमिनीयेषु बोधायनवृत्तौ** चेति प्रतिभाति । **ब्रह्मभाव** इत्यत्र **ब्रह्मवाद** इति पाठश्च प्रतिभाति ॥४२१॥४२४॥ तयोः सूत्रवृत्त्योरिदानीमप्रसिद्धत्वात्तादृशमतसत्तायां तदनुसारिमतप्रसिद्धिं प्रमाणयन्ति-**लोक** इत्यादि । लोक इति । **मध्वरामानुजयोर्मते** यथायथं तयोर्मते जीवेश्वरयोरत्यन्तभेदस्य शरीरशरीरिभावेन भेदघटिताभेदस्य च प्रतिपादनादित्यर्थः । **मतान्तरमाहुः-मायाविन** इति **मायावादिन** इत्यर्थः । तृतीयं **पञ्चरात्रमतमाहुः-वासुदेवे**त्यादि । एवं मतान्तराण्यनूद्य भगवन्मतस्वरूपमाहुः-**वस्तुत** इत्यादि । **वसुदेवैर्यादृक्त्वं** भगवतः प्रतिपादितम्, भगवता तत्सर्वं स्वस्मिन्नङ्गीकृत्य 'सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचर'मिति स्वातिदेशेन सर्वस्य तथात्वमुक्तम् । तेनोभयव्यपदेशन्यायेन भेदाभेद उक्तो भवतीति वस्तुस्थित्या ब्रह्मस्वरूपं निरूप्यते । **किञ्च, अतिदेशेनैव** प्रकृतिविकृतिभावस्यापि सूचनाद्वैष्णवं मतमाधिदैविकवादरूपमपि **स्थापितम् । तस्य** प्रयोजनं दृष्टान्तसिद्धिः । यतो हेतोरेतेन दृष्टान्तेन जीवोऽपि साधुः सिद्ध्यति । ईश्वरात्मकः सिद्ध्यति । तेन सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि **ब्रह्माखण्डमिति** भगवन्मतस्वरूपमित्यर्थः ॥४२५॥४२६॥४२७॥

एतेन सर्ववेदानामर्थो ज्ञानाधिकारतः ।
प्रच्युतानामीश्वरत्वबलादेव निरूपितः ॥४२८॥
गुरुपुत्र इवाऽत्रापि कालग्रस्ता विमोचिताः ।
षडेते षड्गुणत्वाय देवकीसुतदेहिनः ॥४२९॥
समानत्वनिवृत्त्यर्थं स्नेहस्तस्यास्तु वर्ण्यते ।
नन्दादिवदिदानीं हि देवक्यपि पुरा स्थिता ॥४३०॥
अतः स्नेहदशायां हि स्तन्यं नित्यं हरिः पपौ ।
पीतशेषमतः प्रोक्तं वैष्णवत्वाय मुक्तये ॥४३१॥

एतेनैश्वर्यसिद्धिमाहुः--एतेनेत्यादि । अर्थ इति अर्थज्ञानम् । एवं सार्द्धैश्चतुर्भिरनधिकारेऽपि ज्ञानदानं 'तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहादि'तिन्यायेन बोधितम्, तेन समग्रैश्वर्यं साधितम् । क्रियया तद्वत्त्वं साधयन्ति गुरुपुत्रेत्यादि । **समानत्वनिवृत्त्यर्थमिति** । सर्वेषां तुल्यवयस्कत्वनिवृत्त्यर्थम् । तथा च कालग्रस्तानां स्वस्पर्शमात्रेणात्मदर्शनोत्पादनरूपविमोचनक्रियया जन्मान्तरमन्तरेणैव तद्देहस्यासुरयोनिनिवृत्तिपूर्वकं मातृस्नेहोत्पादकयथावस्थितपूर्वरूपसम्पादनक्रियया च समग्रैश्वर्यं बोधितम् । अतःपरं **प्रासङ्गिकं विचारयन्ति** । ननु भगवानेकादशवर्षो व्रजादागतः, इदानीं च बृहद्वया इत्युभयथापि स्तनपानासम्भवात्पीतशेषत्वकथनं कथं सङ्गच्छत इत्यत आहुः--**नन्दादिवदित्यादि** । हि यतो हेतोरिदानीं नन्दादिवत्कुरुक्षेत्रस्थदर्शनजन्यदशायां यथा नन्दादयो निरोधपूर्णा जातास्तथा देवक्यपि पुरा पूर्वकाले

प्राकृतत्वदशायां वा सद्यः पीतं विनिर्गमे ।
उच्छिष्टभोजिनो मायां तरन्त्येव न संशयः ॥४३२॥
एवमैश्वर्यचरितमेकेन विनिरूपितम् ।
ततो वीर्यकथां प्राह तथैवैकेन सा त्रिधा ॥४३३॥
एतेषां सङ्गतिः षण्णां न परस्परमुच्यते ।
गुणत्वाय कथापक्षः पूर्वमेव निवारितः ॥४३४॥
बुद्धिवीर्यं क्रियावीर्यं क्रिया च द्विविधा मता ।
सिद्धमात्मानमेकं हि द्विरूपं कुरुते यतः ॥४३५॥
अतर्क्यभावमापन्नस्तथाऽन्येषां च तान् प्रति ।
मायाविवाहे भगवान् बुद्धिवीर्यं चकार ह ॥४३६॥
माया तु त्रिविधा प्रोक्ता शक्तिर्वै वासुदेवगा ।
अभिभूता समस्तानां मोहिकैव स्थिता भुवि ॥४३७॥
मायावती तु कामस्य द्वितीया विनिरूपिता ।
दैविकी त्वियमाख्याता पतिस्तस्याः स्वयं हरिः ॥४३८॥

निरोधपूर्णा स्थिता, अतस्तथेति तथोक्तं सुखेन सङ्गच्छत इत्यर्थः । नन्वेवं सति तदैवमुक्तं स्यान्नात्रेत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः--**प्राकृतत्वेत्यादि** । अर्थस्त्वतिरोहितः ॥४२८॥४३१½॥ एवं **सार्द्धद्वादशभिः प्रथमाध्यायो विचारितः**

द्वितीयं वीर्याध्यायं विचारयन्ति षोडशभिः--ततो वीर्येत्यादिभिः । ननु तर्हि कथाद्वयं कुत इत्यपेक्षायामाहुः--**तथैवेति** । यथा पूर्वाध्याय ऐश्वर्यं कथाद्वयेन द्विविधमुक्तं तथा च वीर्यमपीत्यर्थः । नन्वत्र राज्ञः प्रश्नात्सुभद्राविवाह उच्यते इति कथामात्रतैवोचिता, न तु वीर्यबोधकत्वमपीत्याशङ्कायामाहुः--**कथापक्ष इत्यादि** । पूर्वमिति । प्रथमस्कन्धविमर्शे कथामात्रमित्यादिभिस्त्रिभिः समाध्युपलब्धत्वविचारे । तथा च न वीर्यबोधकत्वहानिरित्यर्थः । * द्वैविध्यं विभजन्ति **बुद्धी**त्यादि । द्वैविध्यं मैथिलकथायां सेत्स्यतीत्याशयेनाहुः-- **सिद्धमित्यादि** । **अन्येषा**मिति मुनीनाम् । **तान् प्रतीति** मैथिलान् प्रति । बुद्धिवीर्यमुत्पादयन्ति--**मायेत्यादि**, **मायाविवाह** इति । मायाया विवाहे । सुभद्राया मायात्वादिकं व्युत्पादयन्ति--

॥ निबन्धकठिनांशविवेचनम् ॥

(का. ४३०) षट्त्रिंशाध्याये द्व्यशीतितमे वा पीतशेषत्वोपपादने **नन्दादिवत्यादि**, इदानीं कृष्णस्य मथुरायां द्वारकायां च स्थितिसमये नन्दादीनां विरहदशास्ति, तद्दशायां परमस्नेहोद्रेकेण यदा बाह्यप्रपञ्चमननुसन्धायान्तर्मुखा कृष्णैकनिष्ठा भवन्ति ते नन्दादयस्तदा भगवानपि प्रकटो भवति, सर्वां च लीलां दर्शनस्पर्शनादिव्यवहारविषयो भूत्वा करोति, तद्वत् पुरा भगवतो व्रजस्थितिसमये देवक्यपि विरहदशां प्राप्य स्थिता आसीत्, तदा परमस्नेहोद्रेकेणान्तर्मुखत्वे भगवानपि प्रकटो भूत्वा **नित्यं स्तन्यं पपौ**, **अतः पीतशेषत्वम्**, अस्य पक्षस्य केवलभावुकवेद्यत्वात् सर्वलोकवेद्यं पक्षान्तरमाहुः **प्राकृतत्वदशायां वा सद्यः पीतं विनिर्गम** इति ॥

* त्रैविध्यम् पाठः ।

ईश्वरत्वात्तु दासी सा कन्यैव भवितुं क्षमा ।
सा पुनर्देवकीमोहात्तस्यां जाता निजेच्छया ॥४३९॥
तस्या भोक्ता न वै जीवो भगवान् पुरुषोत्तमः ।
सम्बन्धान्नैव भोक्ता स्याल्लोकदोषान्न कन्यका ॥४४०॥
सर्वदा स्थातुमुचिता वेदस्तस्या न युज्यते ।
अतो विवाहः कठिनो लोकोऽप्यत्र न दुष्यति ॥४४१॥
अत आवेशिनं कृष्णं नरं प्रव्राजिनं तथा ।
वेषात्पाषण्डिनं कृत्वा चौर्येणैतां ददौ हरिः ॥४४२॥
बलस्तु मूलवार्तां हि गृहे गुप्तांशसंयुतः ।
न जानाति ततः क्रुद्धः कृष्णेन च निवारितः ॥४४३॥
एतद्बुद्धिबलं प्रोक्तं येन लोकेऽपि सम्मतिः ।
जनकः श्रुतदेवश्च भगवद्वीर्यबोधकौ ॥४४४॥
प्रार्थनां चक्रतुरतो द्विरूपोऽभूत्तदिच्छया ।
मुनीनां च द्विरूपत्वं तेषां स्मृत्या च सम्मतम् ॥४४५॥
न च ते द्विविधा जाता नाऽपि कृष्णस्तथाऽभवत् ।
किन्तु कृष्णेच्छया जातास्तेषां चाऽप्यत्र विस्मयः ॥४४६॥
अतः क्रियाबलं प्रोक्तं यथा स्वप्ने तथाऽभवत् ।

माया त्वित्यादि । आधिदैविक्याः कुत उत्पत्तिरित्यत आहुः--देवकीमोहादिति । 'उपगूह्यात्मजामेव'मित्यत्रोक्तान्मोहात् । न युज्यत इति । श्रुतिगीतौ हन्तव्यत्वेन प्रार्थनान्नानुकूलो भवतीत्यर्थः । गुप्तांशसंयुत इत्यत्र गुप्तामसंयुत इति पाठः प्रतिभाति ॥४३९॥४४४॥ जनकश्रुतदेवयोः क्रियावीर्यबोधकत्वं व्युत्पादयन्ति– प्रार्थनामित्यादिना । अत इति प्रार्थनातः । हरिरिति शेषः । तदिच्छयेति भगवदिच्छया । स्मृत्या च सम्मतमिति । गौतमो वृद्धगौतम इत्यादिप्रसिद्ध्येति प्रतिभाति । तथाऽभवदिति । सत्यत्वेऽपि तथाऽभवदित्यर्थः । अत्र 'कृत्वा तावन्त-

१ द्वितीयो ।

एकत्राऽवस्थितः कालमन्यत्रैकं दिनं तथा ॥४४७॥
अग्रे कालद्वयं तुल्यं तेन सर्वस्य विस्मयः ।
एतदर्थं तु मुनयः सह नीताः स्वपौरुषम् ॥४४८॥
प्रदर्शिता यतः सर्वे तद्वाक्याद्वीर्यवेदिनः ।
श्रुतिगीता यशः प्राह सर्वसन्देहवारिका ॥४४९॥
लौकिकं चेद्युक्तिसिद्धं कर्तृत्वादि भवेद्धरेः ।
अलौकिकस्य करणाद्यशो जातमलौकिकम् ॥४५०॥
*अष्टाविंशतितत्त्वानि यथारूपे हरीच्छया ।
तथैव नाम्नि यशसि तावत्यः श्रुतयो मताः ॥४५१॥
तस्मात्सन्देहनिर्धारो मनसश्च निवेशनम् ।
निर्गुणे भगवद्रूपे वेदैरेवेति निश्चयः ॥४५२॥
श्रीशक्तेरग्रिमाध्यायस्तत्रैवं निर्णयः कृतः ।
हरिरेव स्वयं भुङ्क्ते श्रियं नाऽन्यस्तु कश्चनः ॥४५३॥
यस्तु मोहात्क्वचिद्भुङ्क्ते तं दुःखे पातयत्यजः ।
भक्तस्य तन्न युक्तं हि तस्मात्तां विनिवारयेत् ॥४५४॥
अन्ये देवाः श्रियं दत्वा तथाऽन्यानपि वै वरान् ।
स्वयं सङ्कटमायान्ति तस्माच्छ्रीर्नैव युज्यते ॥४५५॥

मात्मानं' 'तावन्ति बिभ्रद्रूपाणी'तिवद्रूपकरणभरणयोरनुक्तत्वादेकेनैव रूपेण परिच्छिन्नेनैककालिकभिन्नदेशिककार्यकरणं क्रियावीर्यबोधकं सिद्ध्यति । कालमिति । 'दिनानि कतिचिद् भूमन्नि'त्युक्तं बहुदिनात्मकं कालम् ॥४४७॥४४८॥ एवं षोडशभिर्वीर्याध्यायो विचारितः ।

सार्द्धैस्त्रिभिर्यशोऽध्यायं विचारयन्ति–श्रुतिगीतेत्यादि । लौकिकमित्यादि । लौकिकं चेद्भवेद्युक्तिसिद्धं भवेदित्यन्वयः । शेषं स्फुटम् ।

सार्द्धैस्त्रिभिरग्रेऽध्यायं विचारयन्ति-श्रीशक्तेरित्यादि । तदिति । दुःखे पातनम् । नैव युज्यते इति । अन्यदत्ता न युज्यत इत्यर्थः ।

* अत्रत्यं निबन्धकठिनांशविवेचनं स्कन्धान्ते २२४तमे पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।

शाकुनेयकथा प्रोक्ता तदर्थं हरसङ्कटे।
ततः परं तु ज्ञानस्य निर्णयो हरिमेधसः ॥४५६॥
क्षमा तस्योत्तमं लिङ्गं कृष्ण एव प्रतिष्ठिता।
तस्या निर्णयसिद्ध्यर्थं भृगूपाख्यानमुच्यते ॥४५७॥
तथा ब्राह्मणवार्ताऽपि सर्वयादवसन्निधौ।
क्षमा कृष्णे परा प्रोक्ता समर्थे ज्ञानसम्भवे ॥४५८॥
उपदेशेऽपि नाऽन्यस्य ज्ञानमस्तीति बोधितम्।
अर्जुनस्य कथा प्रोक्ता सर्वगीतार्थवेदिनः ॥४५९॥
अतः परन्तु वैराग्यं कथाऽध्याये निरूप्यते।
तेनैव पूर्णतां याति निरोधः सकलोऽपि हि ॥४६०॥
कृष्णो विरक्तः किं वाच्यस्तत्सम्बन्धात्स्त्रियोऽपि हि।
कामैकरसपूर्णाश्च विरक्ताः सर्वथा मताः ॥४६१॥
एतावदर्थनिर्धारे कथा यावत्य ईरिताः।
तासां चाऽत्रोपसंहारः क्रीडया विनिरूप्यते ॥४६२॥
एवं सर्वान् समुद्धृत्य क्रीडत्यस्माकमीश्वरः।
क्रीडायां प्राप्तसंसारः स्त्रीणामपि निर्वायते ॥४६३॥

ज्ञानाध्यायं विचारयन्ति सार्धैस्त्रिभिस्ततः परं त्वित्यादि। प्रोक्तेति तदर्थं प्रोक्ता। स्फुटमन्यत् ॥४४९॥४५९॥

सप्तभिर्वैराग्याध्यायं विचारयन्ति अतः परमित्यादिभिः। स्कन्धसमाप्तौ वैराग्यनिरूपणप्रयोजनमाहुः–तेनैवेति इतरनैरपेक्ष्येण। नन्वत्र कथं भगवद्वैराग्यबोध इत्यत आहुः–कृष्ण इत्यादि। अत्र वैराग्ये निरूप्ये क्रीडानिरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुः एतावदित्यादि। एतावदर्थनिर्द्धार इति। करणात्मकव्यापारात्मकफलात्मकनिरोधस्य सपरिकरस्य निर्द्धारे। तथा च निरोधोपसंहारं बोधयितुं तदुक्तिरित्यर्थः ॥४६०॥४६३॥

१ क्रियावतां।

कुरर्यादिदशार्थास्तु निर्गुणेन युता गुणाः।
महिषी हृदयापन्नाः सन्देहं वारयन्ति हि ॥४६४॥
मनसा तु तिरोधानाद्विह्वलास्ता निरूपिताः।
तेन कृष्णार्थता प्रोक्ता तासां सर्वक्रियासु हि ॥४६५॥
स्कन्धार्थस्तु निरोधो हि ततस्तेनोपसंहृतिः।
अग्रेऽपि ये भविष्यन्ति कीर्त्तनात्तेऽपि तादृशाः ॥४६६॥

(इति गुणप्रकरणम्)

प्रकरणमिह पूर्यतेऽनवद्यं
त्रयमपि विश्वजयाय मादृशानाम्।
निजपदसमवाप्तये च नित्यं
निजगुरुणा हरिणैव लोकवन्द्यम् ॥४६७॥

इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वदीपनिबन्धे
श्रीभागवतार्थप्रकरणे दशमस्कन्ध-
विवरणं सम्पूर्णम्।

ननु संसारनिवृत्तौ किं गमकमित्यत आहुः–कुररीत्यादि। सन्देहमिति संसारसन्देहम्। यदि संसारः स्यादेवं भगवदासक्ता न स्युः। आसक्तौ गमकमाहुः–मनसेत्यादि। समाप्त्यध्याय एतन्निरूपणप्रयोजनमाहुः–स्कन्धार्थ इति। उपसंहारप्रकारसूचितमर्थमाहुः–अग्रेऽपीत्यादि। त्रयमिति। इतः प्राक्तनं प्रकरणत्रयम्। विश्वजयायेति। 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रिति श्रुत्युक्तविश्वमायानिवृत्तये॥४६४॥४६७॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणैः पुरुषोत्तमस्य
दर्शिता दशमस्कन्धनिबन्ध-
योजना सम्पूर्णा॥

का०-४५१ (निबन्धकठिनांशविवेचनम्) ५२१ तमे पृष्ठेनुसन्धेयम् । (उत्तरार्धे) अष्टत्रिंशेध्याये चतुरशीतितमे वा वेदस्तुतौ श्रुतीनां ब्रह्मपरत्वनिर्णयः, तत्राष्टाविंशतितत्त्वनिरूपिकाणां श्रुतीनामत्रत्यैर्वाक्यशेषरूपैरष्टाविंशतिभिः श्लोकैर्निर्णय इत्थं ब्रह्मपरत्वमिति प्राथमिकानां चतुर्णां श्लोकानां तु प्रकृतिपुरुषाहङ्कारमहत्तत्त्वप्रतिपादकश्रुतिनिर्णायकत्वं सुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैरेव स्फुटं निरूपितम्, अनेन न्यायेनाग्रेपि ज्ञेयमितिसूचितं च, परं स्फुटं नोक्तमित्याधुनिकानां बुद्ध्यारूढं न भवतीतिगुरुचरणप्रसादाद् यथामतिभातं लिख्यते ।

तत्र-**उदरमुपासत** इत्यनेनाकाशप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः,आकाशशरीरस्य ब्रह्मण उपासना कर्मयोगादिभ्यः श्रेष्ठा, कर्मयोगयोरुदरहृदयरूपत्वेनाधःस्थितत्वात् तस्य शिरोरूपत्वेनोर्ध्वस्थितत्वात् साक्षाद् भगवद्धामत्वेन कृतान्तमुखे पातनिवर्त्तकत्वादिति । पद्यं ५ तत्त्वं ५ ।

स्वकृतविचित्रेत्यनेन तेजःप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः विरजबुद्धीनां त्यक्तव्यवहाराणां सर्वत्र स्थितो भगवानग्निवदेकरसत्वात् समानप्रीतिदायक इति । पद्यं ६ तत्त्वं ६ ॥

स्वकृतपुरेष्वित्यनेन वायुतत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, ताः श्रुतयो वायुवज् जीवस्य विषमं प्रवेशं ज्ञापयित्वा तदर्थिनो जीवस्य भगवद्भजनं साधयन्तीति । पद्यं ७ तत्त्वं ७॥

दुरवगमात्मेत्यनेन जलतत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः,यथा मेघादिजलस्य सर्वानन्ददायकत्वमेवं भगवच्चरितामृताब्धेरपीति । पद्यं ८ तत्त्वं ८ ॥

त्वदनुपथमित्यनेन भूततत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः । भूकार्यभूतानि शरीराणि भगवद्भजनेनुगुणत्वान् न बाधकानि किन्तु तदभिमानस्तदभिमानवतां दुष्टानां सङ्गस्तन्निष्ठानि दुष्टानीन्द्रियाणि चेति । पद्यं ९ तत्त्वं ९ ॥

निभृतमरुन्मनोक्षेत्यनेन मनस्तत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, भगवच्चरणे प्रविष्टं दृढं मन एव भगवत्प्रीतिसाधनं न तु प्रकारविशेषः प्रयोजक इति । पद्यं १० तत्त्वं १०॥

क इह न्वित्यनेन चक्षुस्तत्त्वप्रतिपादकश्रुतीनां निर्णयः, भगवद्भजनेन भगवदावेशसहितान्येव चक्षूंषि भगवद्दर्शनसाधनानि, न केवलानीति । पद्यं ११ तत्त्वं ११ ॥

जनिमसत इत्यनेन श्रोत्रतत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, ज्ञानैकघनपरब्रह्मप्रोक्ताद् वेदाद् भिन्नानि मतानि श्रावयित्वा जीवं भगवद्विमुखमपि करोति, अतः सावधानतया स्थेयमिति । पद्यं १२ तत्त्वं १२ ॥

सदिव मन इत्यनेन त्वगिन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, त्वगिन्द्रियं हि परमार्थपर्यवसायि यथार्थवस्तुग्राहि स्वदृष्टान्तेनात्मविदामनुभवस्यापि परमार्थपर्यवसायित्वं स्थापयति दोषास्तु पश्चादन्यकल्पिता एवेति । पद्यं १३ तत्त्वं १३ ॥

तव परि य इत्यनेन हस्तेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, तद्धि येषां सर्वात्मभावेन भगवत्परिचर्यायां व्यापृतं तेषां सर्वत्र जय एव, न तु कुतोपि पराजय इति । पद्यं १४ तत्त्वं १४॥

त्वमकरण इत्यनेनैव रसनेन्द्रियवागिन्द्रियोभयप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः स्थानैक्यात्, **रसनेन्द्रियं** भगवद्भोगावशिष्टं चेद् भुङ्क्ते, तदा स्वयं पूतं सत् स्वसम्बधिनं जीवमपि पुनाति, **वागिन्द्रियं** च भगवद्गुणगानपरं तथेत्यर्थाज् ज्ञेयम्, **भगवन्निष्ठं तु** भगवदंशरूपानधिकारिणः स्वस्वाधिकारे प्रवर्तयन् सर्वेषां भयेन भगवदाज्ञाधीनत्वं ज्ञापयतीति । पद्यं १५ तत्त्वे १५-१६ ।

स्थिरचरजातय इत्यनेन गुदेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, गुदेन्द्रियं हि देहांशं मलं देहात् पृथक्कृत्य सदोषं करोति, न तु देहस्थितम्, तद्वत् भगवतः पृथग्भूता एव दोषभाजो भवन्ति न तु भगवत्सम्बद्धा इति । पद्यं १६ तत्त्वं १७ ।

अपरिमिता ध्रुवा इत्यनेन गन्धतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, तद्धि द्रव्याधिकदेशवृत्तित्वात् स्वदृष्टान्तेन चैतन्यगुणकं जीवमणुं बोधयित्वा तस्य भगवन्नियम्यतां ज्ञापयतीति । पद्यं १७ तत्त्वं १८ ।

न घटत उद्भव इत्यनेनोपस्थेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः,तद्ध्युभययोगेन सर्वोत्पादकम्,तद्वद् भगवानपि प्रकृतिपुरुषसंयोगेन सर्वोत्पादक इतिज्ञापयतीति । पद्यं १८ तत्त्वं १९।

नृपु तवेत्यनेन चरणेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, तद्धि सुबुद्ध्या भगवत्समीपगमने व्यापृतं जीवस्य संसारपरिभ्रमणादिसर्वदुःखनिवारकम्, दुर्बुद्ध्यान्यत्र व्यापृतं जीवस्य सर्वदुःखहेतुरिति । पद्यं १९ तत्त्वं २० ॥

त्रिजितहृषीक इत्यनेन स्पर्शतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, स्पर्शसुखप्रधाने संसारसिन्धौ वर्त्तमानाः परमार्थसुखहेतुं गुरुचरणस्पर्शं विहाय योगादिसाधनैरपि यतमाना विघ्नविहता मरणान्तदुःखहेतुमेव स्पर्शं लभन्ते, न तु सुखहेतुमिति । पद्यं २० तत्त्वं २१ ॥

स्वजनसुतेत्यनेन रसतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, स्वजनादीनां जीवनसम्पादकत्वाज् जीवतस्त्वदनमावश्यकमिति लौकिको रसनेन्द्रियैकवेद्यो मधुरादिरसोनुभवकाले सुखं चानुभावयन्नपि परिणामे प्रायो दुःखहेतुरपि भवति, भगवद्रसस्तु सर्वेन्द्रियवेद्योविरतं सुखहेतुरेवेति । पद्यं २१ तत्त्वं २२ ॥

भुवि पुरुपुण्य इत्यनेन घ्राणेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, घ्राणेन्द्रियं हि गुप्तमपि स्वसुखहेतुवस्तु स्वग्राह्यगुणेन जानाति, पश्चात् तत् तल्लग्नं कमले भ्रमर इव ततो न निवर्त्तते, एवं घ्राणसदृशबुद्धयो नराः कीर्त्तिगन्धेनानुभावेन च तीर्थप्र्यादिषु गुप्तं भगवन्तं ज्ञात्वा तल्लग्नास्तत्सुखमनुभूय न ततो निवर्त्तन्ते, नान्यं वाञ्छन्तीति । पद्यं २२ तत्त्वं २३ ॥

सत इदमुत्थितमित्यनेन शब्दतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, शब्दतन्मात्रं हि ध्वन्यात्मकमर्थरहितमनुभवकाले क्वचिद् गानादौ किञ्चित् सुखं ददाति, न तु परमार्थे,

तद्वद् वेदभगवन्मतविरुद्धानि सर्वमतानि कुतर्कबहुलान्यापातसुखजनकान्यपि ध्वनिवत् परमार्थशून्यानि न भगवत्पदप्रापकानीति । पद्यं २३ तत्त्वं २४ ॥

न यदिदमग्र इत्यनेन रूपतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, रूपतन्मात्रं हि द्रव्याकृतिरूपं कारणात् कार्यस्य भेदं बोधयित्वा भ्रान्तिहेतुर्भवति, एवं जगन्निष्ठानखिलान् पदार्थान् कारणाद् ब्रह्मणो भिन्नान् बोधयित्वा भ्रान्तिजनकम्, अतो न रूपात्मकाकृतिज्ञाताः पदार्थाः सत्यत्वेन (भिन्ना) ज्ञेयाः, किन्तु वेदादिशब्दबोधिता (अभिन्ना) एवेति । पद्यं २४ तत्त्वं २५ ॥

स यदजयेत्यनेन तमोगुणप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, तमो ह्यज्ञानरूपं प्रलयहेतुः, तद्धि जीवेषु संसृष्टं स्वरूपाज्ञानं सम्पाद्य जडभावं प्रापयित्वा सर्वसुखनाशं कृत्वा, अन्ते तेभ्यो मृत्युमपि प्रयच्छति, अतः सुधिया सत्सङ्गेन सत्त्वसेवनपूर्वकं निर्गुणप्रभुचरणोपसरणेन च तन्निवृत्त्यर्थं यतितव्यमिति । पद्यं २५ तत्त्वं २६ ॥

यदि न समुद्धरन्तीत्यनेन रजोगुणप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, रजो विक्षेपकं, इष्टविस्मरणहेतुः, अत इष्टालाभजदुःखजनकं तदन्वेषणादिबहुक्लेशदायकं च, अतस्तन्निवृत्त्यर्थमपि सत्सङ्गादिना सुधिया यतितव्यम्, अत्र गद्ये अनिवृत्तरजोगुणानां कामजटोद्धृतिरहितानां निर्व्यलीकं यतिधर्ममाचरतां चेत् पूर्वार्धोक्तव्यवस्था, तदा किमु वक्तव्यमुत्तरार्धोक्तानां प्राणपोषकयतीनामुत्तरार्धोक्तव्यवस्थायामिति । पद्यं २६ तत्त्वं २७ ॥

त्वदवगमीत्यनेन सत्त्वगुणप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः । अत्र **त्वदवगमी**त्कथनेन यादृशं तमोरजोभ्यामसम्भिन्नं भगवत्प्रमितिजनकं तादृशं सत्त्वमुच्यते, तादृशे सत्त्वे सम्पन्ने भगवदनुभवजनितानन्दात् सततश्रवणादिजनितानन्दाच्चान्यसांसारिकसंसर्गाभावान्न कदाचिदपि दुःखं किन्तु निरन्तरं परमं सुखमवेति । पद्यं २७ तत्त्वं २८ ॥

द्युपतय इत्यनेन सत्त्वस्य निर्गुणतापर्यवसायित्वनिर्णयः, सत्त्ववृद्ध्या भगवदनुभवे जाते निरन्तरं भगवत्सेवनेन श्रवणादिना चागणिततदानन्दोद्रेकात् सत्त्वस्यापि निवृत्तौ पूर्णानन्द एवावशिष्यत । इति पद्यं २८ ॥ इति श्रुतिगीताया निबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

दशमस्कन्धः समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीभागवतार्थप्रकरणे

अथैकादशस्कन्धविवरणम् ।

सप्ताशीत्या तथाऽध्यायैर्निरोधो दशमे त्रिधा ।
तामसादिविभेदेन भौतिकादिविभेदतः ॥१॥
अथैकत्रिंशताध्यायैर्मुक्तिरेकादशे स्फुटा ।
जीवेशयोर्द्विधाभेदाच्चतुर्धाऽपि निरूप्यते ॥२॥

श्रीबालकृष्णाय नमः ।

अथ एकादशस्कन्धनिबन्धस्य योजना ।

अथैकादशस्कन्धार्थं निबध्नन्तः सङ्गतिबोधनाय सर्वस्कन्धार्थमनुवदन्ति सप्तेत्यादि । तथा च दशमस्कन्धे त्रिविधानामाभीक्ष्ण्येन यन्निरोधकथनं तदेकैकस्याधिभौतिकादिभेदेन त्रिविधनिरोधबोधनार्थम् । तेन तादृशनिरोधे जाते ततः स्वरूपावस्थानम्, न तु न्यूने, अतस्तथा कार्यकारणभावोऽत्र सङ्गतिरित्यर्थः ॥१॥

एवं सङ्गतिं बोधयित्वा प्रस्तुतं स्कन्धार्थं निरूपयन्त एकदेशे तत्प्रतिपादनव्यावृत्त्यर्थमध्यायसङ्ख्याकथनपूर्वकं विशेषलक्षणत्वबोधनाय नामनिर्देशपूर्वकश्चाहुः--अथेत्यादि । सङ्ख्यातात्पर्यं द्वितीयसुबोधिन्यां मुक्तिलक्षणव्याख्याने उक्तम् । अन्यथारूपं तत्स्वरूपं तस्य परित्यागः । स्वरूपमेकम् । अवस्था द्विविधा । तत्त्वान्यष्टाविंशतिः । एवमेकत्रिंशद्भेदा भवन्तीति । 'हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्या कर्मकारकः । यं चानुशायिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे' इति द्वादशे स्कन्धे महापुराणसामान्यं नवमं लक्षणं लक्षितम् । तदर्थस्तु, अस्य जगतः सर्गादेः अविद्याकृतजीवाऽदृष्टजन्यतया तत्कर्मकर्त्ता जीवो हेतुरित्युच्यते । तं हेतुं केचन चैतन्यप्राधान्येनानुशायिनमाहुः, अपर उपाधिप्राधान्येनाव्याकृतमाहुरिति । तथा च हेतुस्वरूपं जीव इतिसिद्धम् । जीवस्तु 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु । भागो जीवः स विज्ञेय' इत्यादिश्रुतावुत्क्रान्तिपादे च केवलचिदंशरूपः सिद्धः । 'एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्षोडशविस्तृतम् । एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयत' इति चतुर्थस्कन्धीयनारदवाक्ये उपाधि-

जीवमुक्तिर्द्विधा प्रोक्ता सायुज्याद्ब्रह्मभावतः ।
ब्रह्मणोऽपि द्विधा ज्ञेया नाट्यत्यागात्स्वकात्स्वतः ॥३॥
आद्या पञ्चभिरध्यायैर्द्वितीया तत्त्वसम्मितैः ।
एकैकेन तथा शिष्टावभिनेयौ परं यतः ॥४॥
विद्यया प्रथमा मुक्तिः प्रकृतेस्त्यागतः परा ।
ज्ञानेन पूर्वा भक्त्याऽन्या प्रथमे दश बोधकाः ॥५॥
गुणनिर्गुणभेदेन द्वितीये भगवान् परः ।
ब्राह्मणश्च तथा हंसो भीष्मो भिक्षुः पुरूरवाः ॥६॥
पञ्चाऽन्ये भगवाँश्चापि द्विरूपः सप्त बोधकाः ।
ऐश्वर्यादियुतः कृष्णः पूर्णो बोधक ईर्यते ॥७॥
नारदो निर्गुणस्तत्र कविप्रभृतयः परे ।

सहितः सिद्धः । अत्रापि मतभेदेन द्विधोक्तः । एकादशेऽपि भगवद्वाक्येषु 'जीवो जीवेन निर्मुक्तो गुणैः स्वाशयसम्भवै'रित्यत्र तथाङ्गीकृतः । तत्र प्रकृते 'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिरि'ति लक्षणात्केवलो विवक्षित इति चैतन्यप्राधान्येन सोऽपि ब्रह्मात्मक इति ब्रह्मैव जगन्मूलकारणमिति मुक्तिर्हेतुविशेषत्वेनैकादशे स्फुटा, न तु जीवत्वेन । हेतोर्द्विरूपत्वादत्रोक्तरीत्या चतुर्धा निरूप्यत इत्यर्थः ॥२॥ एतेन प्रकरणविभागोऽप्युक्तः । चातुर्विध्यं स्फुटीकुर्वन्ति जीवेत्यादि । 'सायुज्याद्ब्रह्मभावत' इत्यत्र क्रमो न विवक्षितः । एकादशीयसुबोधिन्यामुपपत्त्या तथोक्तत्वात् । स्वकादिति नाट्यत्यागस्य विशेषणम् । स्वत इति नित्यमुक्तस्वभावत्वात् । प्रकरणद्वयेप्यध्यायान् विभजन्ते--आद्येत्यादि । आद्या ब्रह्मभावरूपाः । द्वितीया सायुज्यरूपा । तत्त्वसम्मितैरिति चतुर्विंशतिभिः । ननु तर्हि शिष्टयोर्द्वयोः किं प्रयोजनमत आहुः--एकैकेनेत्यादि । शिष्टौ ममताहन्तानाशौ एकैकेनाभिनेयवतोभिनयः प्रयोजनमित्यर्थः । स्वतो मुक्तिस्तु 'राजन्परस्य तनुभृत्यादि'श्लोकत्रयेण ज्ञेया । तथा चाध्यायद्वयं ब्रह्ममुक्तिबोधकमित्यर्थः ॥३॥४॥ प्राकरणिकाध्यायसङ्ख्याबीजमाहुः--विद्ययेत्यादि । तयोर्यथायथं साधने आहुः--ज्ञानेन पूर्वा भक्त्यान्येति । वक्तॄनाहुः--प्रथम इति ज्ञाने । द्वितीय इति भक्तिरूपे साधने । द्वितीये षड्वक्तार इति भ्रमं वारयन्ति--पञ्चेत्यादि । द्विरूप इति मूलरूपोऽवताररूपश्चेत्यर्थः । सप्तप्रयोजनमाहुः--ऐश्वर्येत्यादि ॥५॥७॥ प्राथमिकानां दशानां प्रयोजनमाहुः--नारद इत्यादि ।

वैराग्यं भगवद्धर्माः सर्वनिर्णय एव च ॥८॥
नित्यं कथायाः श्रवणं पूजा चेत्यङ्गपञ्चकम् ।
अभिप्रायात्तु वैराग्यं पूर्वत्राङ्गं निरूपितम् ॥९॥
प्रक्रिया बोधिका ज्ञेया शेषयोर्बीजभावतः ।
द्वितीयस्य तु मुख्याङ्गं यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१०॥
चतुर्मूर्त्तिर्हरिः प्रोक्तस्त्रयाणां पूर्वमीरितम् ।
सङ्कर्षणस्य चरितमत्र स्पष्टं निरूप्यते ॥११॥
ज्ञानशक्तिस्तस्य मुख्या वासुदेवस्तु मोक्षदः ।
अर्थकामौ द्वितीयस्तु धर्मं यच्छति मध्यमः ॥१२॥ *
उपदेष्टा क्रियायां च निर्दोषत्वाय युक्तितः ।
अक्लिष्टकर्मा कालादेस्तथोपायं करोति हि ॥१३॥

विद्यया प्रथमेत्यत्रोक्ताया विद्यायाः पञ्चाङ्गानि बोधयितुं पञ्चाध्याया इति । तदर्थानाहुः--वैराग्यमित्यादि । ननु प्रथमेऽध्याये यदुकुलशापमात्रमुच्यत इति कथं तत्र वैराग्यबोधकतेत्यत आहुः--अभिप्रायादित्यादि । शेषयोर्ज्ञानाङ्गभूतयोरहन्ताममतानाशयोर्बीजभावतो वैराग्यस्य बीजभूतत्वेन पूर्वत्राध्यायेऽभिप्रायाद्वैराग्यमङ्गं निरूपितम् । यदि नैवमभिप्रेयाद्वसुदेवनारदसम्वादोत्तरं देवस्तुत्याद्यारम्भ एव वदेदतः प्रक्रियाबोधिका ज्ञेया, ज्ञानप्रकरणमेवाभिप्रायबोधकं ज्ञेयमिति तथेत्यर्थः । द्वितीयप्रकरणारम्भे भगवत्स्तुत्यादेस्तात्पर्यं वदन्ति--द्वितीयस्येत्यादि । द्वितीयस्येति, भक्त्याख्यस्य साधनस्य । मुख्याङ्गमिति विषयत्वेन तत्स्वरूपनिर्वाहकत्वान्मुख्याङ्गम् । यत्रेति मूलभूते परब्रह्मणि । तथा च तद्बोधनाय स्तुत्यादिकमित्यर्थः । ननु तर्हि भक्तिस्तद्विषयं ब्रह्म च वक्तव्यम्, ज्ञानाद्युपदेशकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः--चतुर्मूर्त्तिरित्यादि । ईरितमिति चरितमिति शेषः । तस्येति सङ्कर्षणस्य । द्वितीय इति मोक्षलीलोत्तरं प्रसङ्गतः सर्गकथने विवक्षितत्वात्तत्कर्ता प्रद्युम्नो द्वितीयः । धर्ममित्यादिपादत्रयेणानिरुद्धचरित्रमुच्यते । तथा च ज्ञानादिनिरूपणस्य चतुर्मूर्त्तिचरित्रबोधनं प्रयोजनम् । तस्यापि प्रयोजनं भक्तिविषयनिष्कर्ष इत्यर्थः । नन्वस्मिन् स्कन्धे मुक्तिस्तत्साधनं च वक्तव्यं तत्त्वत्र सम्वादद्वयेनैव सिद्ध्यतीति मौसलकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः--अक्लिष्टेत्यादि । तर्हि वारद्वयं किमित्युक्त-

१ न्याय । *

तदर्थं मौसलं प्रोक्तं संक्षेपेण पुरोदितम् ।
अन्ते चतुर्णां चरितं सर्वमेवोपसंहृतम् ॥१४॥
द्वयं निर्गलितं ह्यत्र भगवच्चरितेन हि ।
तदा स्थितास्तु निर्द्वन्द्वाः सुखं प्राप्य परं गताः ॥१५॥
नामारूढचरित्रस्य कीर्तनाच्चाऽपरे तथा ।
लोकदृष्ट्या चरित्रस्य ग्रहणं बोधितं भवेत् ॥१६॥
अतो विशेषं विज्ञातुं पुनः पृच्छति तत्त्वतः ।
भगवानेव सर्वस्य कर्त्तेत्यत्र निरूपितम् ॥१७॥
उपक्रमेण निर्दुष्टः कथया चाऽपि बोधितः ।
ज्ञानं पुरा भगवता वसुदेवाय बोधितम् ॥१८॥
गुरुत्वभावनाभावाद्विस्मृतस्तत्पुनर्हरिः ।
नारदं स्थापयित्वाऽऽह मन्यते तं यतः पिता ॥१९॥
गोपिकावद्बहिर्दृष्टौ व्यसनत्वं हि भासते ।
संसारे निखिले तस्य त्यागेच्छा च प्रजायते ॥२०॥
अतः सम्यक्प्रबोधाय नारदोऽत्र निरूपितः ।

मित्यत आहुः-सङ्क्षेपेणेत्यादि । ननु भगवच्चरित्रत्वेन कथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-द्वयमित्यादिसार्द्धम् । तथा चैतत्कार्यद्वयार्थं चरित्रत्वेन कथनमित्यर्थः । अत्राद्यं पाण्डवेषूक्तमिति तद्वदन्येष्वपि देशान्तरीयेष्ववगन्तव्यम् । निरोधस्य सर्वत्र तुल्यत्वात् । द्वितीयं तु 'य एतां मातरुत्थाये'तिवाक्याद् बोध्यम् ॥११॥१५॥ एवं सार्द्धैः पञ्चदशभिः सपरिकरः स्कन्धार्थः प्रकरणार्थश्च विचारितः ।

(अ. १) प्रथमाध्यायार्थं विचारयन्तो 'ब्रह्मण्यानामि'ति राजप्रश्नस्य 'विभ्रद्वपुरि'त्यादेस्तदुत्तरस्य च तात्पर्यमाहुः-लोकेत्यादि । निरूपितमिति । उत्तरग्रन्थेन निरूपितम् । बोधित इति भगवानित्यनुषज्यते । एवं द्वाभ्यां प्रथमाध्यायो विचारितः ।

(अ. २) द्वितीयाध्यायार्थं विचारयन्तो वसुदेवे ज्ञानस्य पूर्वमुपदिष्टत्वान्नारदेन किमत्र कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः-ज्ञानमित्यादिसार्द्धचतुष्टयम् । व्यसनित्वं दुःखित्वम् । तथा च गुणातिक्रमेण वहिर्दृष्टिनिवृत्तिर्नारदकार्यमित्यर्थः । नन्वत्र द्विविधा वक्तारो युक्तास्तथाप्येकेनैवाध्यायेन तदुक्तं कुतो नोक्तमित्याकाङ्क्षायामाहुः-

पुष्टिमार्गेस्थितं मत्वा कदाचिन्नैव मन्यते ॥२१॥
अतो मर्यादया सिद्धानत्र योगीश्वरान् जगौ ।
त्रैगुणातिक्रमे जाते नारदोक्तं हि भासते ॥२२॥
नवानां भूमिकाः प्रोक्ताश्चतस्रो ह्यधिकारतः ।
अतोऽध्यायैश्चतुर्भिर्हि तदुक्तं विनिरूप्यते ॥२३॥
तत्र सर्वोत्तमो यस्तु तस्य कार्यद्वयं मतम् ।
भगवद्धर्मकरणं ततो भागवतो भवेत् ॥२४॥
अथवा भगवद्भक्तैस्तद्धर्मास्तु समाचरेत् ।
उत्तमस्य तु चत्वारि कर्त्तव्यानीति रूप्यते ॥२५॥
आदौ मायापरिज्ञानाद्वैराग्यं सुदृढं मतम् ।
ततस्तत्तरणोपायं गुरुसेवादिकं चरेत् ॥२६॥
ततो ब्रह्म परं ज्ञात्वा यज्ञान् कुर्यादहर्निशम् ।
वैदिकांस्तान्त्रिकान् वाऽपि तदर्थं वेदनिर्णयः ॥२७॥
तत्राऽशक्तस्य सततं कथाश्रवणमीर्यते ।
सर्वावतारैर्यज्जातं तस्मिश्चेत्तः सुखी भवेत् ॥२८॥
ततोऽपि प्रथमो यस्तु प्राकृतः स निगद्यते ।
तस्या भजननिन्दायां सन्निवेशः पुरा भवेत् ॥२९॥
ततो युगानुरूपेण भजेत् स्वस्याऽधिकारतः ।

नवानामित्यादि । हि यतो हेतोरधिकारतो जनकप्रश्नसिद्धः श्रोत्रधिकारविचारेण भूमिकास्तद्वृत्तयः प्रकारा वक्ष्यमाणसर्वोत्तमादिभेदेन चतस्रः प्रोक्ता अतस्तथेत्यर्थः । तत्र प्रथमां मुख्यां विद्यां प्रदर्शयन्ति सार्द्धेन तत्रेत्यादिना । भगवद्भक्तैरिति । सहार्थे तृतीया । इयं प्रथमाध्यायसिद्धा । द्वितीयस्यामाहुः-उत्तमस्येत्यादिसार्द्धाभ्याम् । रूप्यत इति द्वितीयाध्याये रूप्यते ॥१६॥२५॥ तत्तरणोपायमिति । मायातरणोपायम् ।

(अ. ३-४) तृतीयस्यामाहुः-तत्राशक्तस्येत्यादि ।

(अ. ४-५) चतुर्थस्यामाहुः-ततोऽपीत्यादिसार्द्धेन । सन्निवेश इति अभिनिवेशः । आग्रहदार्ढ्यमिति यावत् । स्वस्याधिकारत इति ।

भक्तिं चाऽग्रे स्वयं प्राह कृतार्थत्वं च पुष्टितः ॥३०॥
ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वात्कार्यमत्र निरूपितम्।
मोहाभावस्तु तेनैव सिद्धमेवाऽखिलं यतः ॥३१॥
चतुर्विंशतिभिः प्रोक्ता द्वितीया प्रक्रिया यतः।
अतः प्रकृतिनाशाय षष्ठाध्यायो निरूप्यते ॥३२॥
आद्यो मूलेन हरिणा स्वीकृतं त्याज्यतेऽमरैः।
त्यागस्वीकरणे जाते तदुच्छिष्टोपजीविनाम् ॥३३॥
भक्तानां तज्जिहासेच्छा तत्र ज्ञानं क्रियाऽथवा।
बोधनीयौ हि हरिणा तत उद्धवसङ्कथा ॥३४॥

प्राकृताधिकारानुसारेण। नन्वेवं जघन्येऽधिकारे कथं मुक्तिरित्यत आहुः- **भक्तिमित्यादि**। **प्राहेति** पदं देहलीदीपवदुभयत्र सम्बद्ध्यते। तथा च भगवदुक्तकरणाद्भगवदनुग्रहाच्च मुक्तिरित्यर्थः। नन्वियं वसुदेवनारदसम्वाद-कथा ब्रह्मवादबोधनायोपन्यस्ता। तत्र श्रोतुः स चेच्छुकस्येव भवेत्तदा युज्येत, तथा त्वत्र न दृश्यते इति कथमस्यास्तादर्थ्यमित्यत आहुः-**ज्ञानस्येत्यदि**। **कार्य-मिति** ज्ञानिनः कर्त्तव्यम्। **तेनेति** कार्यश्रवणेन, तथा च तच्छ्रवणेन 'यतोजह्-तुर्मोहमात्मन'इति मोहाभाव उक्तस्तेनैवाखिलं साधनकदम्बकं सिद्धमतो ब्रह्मभावे कः सन्देह इत्यर्थः। तेनेतः परमभिमानस्थितिस्तु भगवदिच्छया विवक्षितलीलार्थमिति भावः ॥२६॥३१॥ **एवं लोकदृष्टेत्येत्यादिभिः प्रथमं प्रकरणं विचारितम्** ॥

(अ. ६) **अतः परं सार्द्धपञ्चषष्ठिभिर्द्वितीयं प्रकरणं विचारयन्ति- चतुर्विंशतीत्यादि**। **तत** इति ब्रह्मभावप्रक्रियोत्तरम। तेन तस्मात्प्रकारादयं प्रकार उत्कृष्यते। अत्र भगवत एव साधनत्वेन पुष्ट्याधिक्यादित्याशयेनाहुः-**अत इत्यादि**। अत्र गमकमाहुः-**आद्य इत्यादि**। सृष्ट्यादौ विभागोत्तरम। जीवस्य मूलप्रकृति-संसर्गः केवलया मूलेच्छया, प्राकृतसंसर्गस्तु तयाभिमानजननात्। अत आद्यो मूलप्र-कृतिनाशो मूलेन हरिणेति। तद्बोधनाय ब्रह्माणं प्रति यादवान् प्रति भगवदुक्तयो बोधितास्तेन सोऽध्यायस्तथा। ततः स्वीकृतं स्वत्वेनाभिमन्यमानं परैरग्रिमाध्यायोक्तैः साधनैस्त्याज्यत इति। तत्रापि गुरुत्वेन भगवानेव साधनमित्याशयेनाहुः-**त्याग इत्यादि**। **तज्जिहासेच्छेति** प्राकृतजिहासोत्पादिका भगवदिच्छा। **बोधनीयाविति**। हेतू इति शेषः। **द्विहेतौ**। **तत** इति तथा भगवदुद्यमबोधनार्थम्। तथा च

३ नरैः।

त्रयोविंशतिभिः प्रोक्ता प्राकृतो हि तथा गणः
प्रश्नस्तु कृष्णवाक्यार्थस्तेनाऽऽदावेव रूपिता ॥३५॥
प्राकृताङ्कुरवत्पूर्वं हरिः सङ्क्षेपतो जगौ।
सर्वत्र सुलभत्वाय भक्त्यै ज्ञानं निरूपितम् ॥३६॥
तदिच्छां तु पुरस्कृत्य न तु तस्याऽधिकारतः।

स्वकृतसाधनजन्यप्रकृतिप्राकृतसंसर्गनाशापेक्षया भगवत्कृततन्नाशस्य विलक्षणत्वात्तत्फले-ऽपि वैलक्षण्यमिति पूर्वस्मादयं प्रकार उत्कृष्ट इत्यर्थः। एतेन निरोधेऽपि यत्र तत्त्वातिक्रम उक्तस्तत्राप्येषैव दिगनुसन्धेयेति बोधितम्। ननु त्रयोविंशतिभिश्चेत्सा कथा निरूप्या, तदा प्रश्नस्तेष्वेव कुतो नोक्त इत्यत आहुः-**प्रश्न इत्यादि**। **रूपितेति** पाठे एतस्य कथापदेन योजना, **एवं सार्द्धैस्त्रिभिः प्रथमाध्यायो विचारितः**।

(अ. ७) **द्वितीयं विचारयन्ति-प्राकृतेत्यादि**। **प्राकृताङ्कुरवदिति**। महत्तत्त्ववत्। 'विश्वमात्मगतं व्यञ्जन् कूटस्थोजगदङ्कुर' इतिवाक्यात्। अत्रैतद्बोध्यम्। 'एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रह' इति भगवता सम्वादोपसंहारे वक्तव्यम्। तेनात्रोपक्रमेऽपि स एवोपक्रान्त इति ज्ञायते। तत्र भगवता 'यदात्थे'त्यादिभिस्त्रिभि-रुद्धवोक्तानुवादमुखेन स्वाभिप्रायमुक्त्वा 'न वस्तव्य'मितिद्वाभ्यां बाह्यं साधनमुप-दिश्य 'यदिदं मनसे'त्यादिद्वाभ्यां प्राकृताङ्कुरवत्सर्वमुक्तम्। तत'स्तस्माद्युक्तेन्द्रिय-ग्राम' इत्यादिभिश्चतुर्भिः प्राकृताङ्कुरनाशायान्तरं ज्ञानरूपं साधनमुपदिशता 'पश्यन्म-दात्मकं विश्वमि'ति ब्रह्मवादः सङ्क्षेपेणोक्तः। एवं सति 'यदिद'मित्यत्र यन्मायिक-त्वमुक्तं तद्बोद्धे प्रपञ्चे पर्यवसास्यति। स च विषयतारूपो **द्वितीयस्कन्धे** ऋतेर्थ'मित्यस्य **सुबोधिन्यां विचारितः**। श्रुतौ च 'न तं विदाथे'तिमन्त्रे 'माया ह्यन्यदिवे'तिब्राह्मणे चान्तरालिकः सिद्धः। अत्र च 'इन्द्रियायनसृष्टे,'त्यत्र 'ईक्षेत विभ्रम'मित्यादौ 'त्वय्युद्धवे'त्यादौ च वक्ष्यते। तस्य च प्राकृतत्वं 'द्वे अस्य बीजे' इत्यत्र वक्ष्यते। स च साङ्ख्यादिस्मृतिसिद्ध एवात्र पुरःस्फूर्तिमादाय वैराग्यर्थमनूद्यते। वैदिकस्तु 'स एष जीव' इत्यादिभिः सार्द्धैश्चतुर्भिर्वेदोत्पत्तिपूर्वकं वक्ष्यते। 'कालेन नष्टा प्रलय' इत्यादिना प्रपञ्चयिष्यते च, तज्ज्ञानं च 'प्राकृताङ्कु-रनाशक'मिति। तेनात्र सङ्क्षिप्तज्ञानेन महत्त्वाभिमाननाशोऽध्यायार्थ इतिसिद्ध्यति। नन्वस्मिन् प्रकरणे भक्त्या ब्रह्मभावरूपमुक्तौ वक्तव्यायां ज्ञानं किमित्युपदिश्यत आहुः-**सर्वत्रेत्यादि** ॥३२॥३६॥ ज्ञाने भक्त्यर्थत्वेन मुख्यभक्तेरेव प्रकरणित्व प्रकरणसमाप्तौ व्युत्पादयिष्यामः। **तदिच्छामिति**। 'वातरशना ये ऋषय' इति-वाक्यसूचितां ब्रह्माख्यधामयानेच्छां पुरस्कृत्य ज्ञानस्य भक्त्यर्थतायाः ('परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्' इति चतुर्दशाध्यायेन ज्ञानं निरूप्य पञ्चदशेऽध्याये स्वस्मिन्पुरुषोत्तमत्वज्ञानपूर्वकभजनमुपसंहृतम्। 'यो मामेवमसम्मूढो जानाति

तथाऽपि सेवको मुख्यः स्वाधिकारं न दृष्टवान् ॥३७॥
अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशयः।
इति निश्चित्याऽधिकारे यदुक्तं तद्धि पृच्छति ॥३८॥
ततस्तु भगवान् प्राह स्वतः सर्वं विचिन्त्य ताम्।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदा प्रोक्तं फलिष्यति ॥३९॥
अन्वयादिदिदृक्षायामशक्तिश्चेत्तदोच्यते।
गुरुशिष्यौ सदा तुल्यौ तदा ज्ञानं फलिष्यति ॥४०॥
इदानीं यदुतुल्योऽयं गुरुस्तेन जडो मतः।
पञ्चविंशतितत्त्वानामध्यासविनिवृत्तये ॥४१॥
तावन्तो गुरवः प्रोक्ता येनाऽवस्था दृढा भवेत्।
वैराग्यं समता चैव सर्वैरेव फलिष्यति ॥४२॥
त्रिभिर्जडकथा प्रोक्ता कायवाङ्मनसां यथा।
दोषा नष्टा भविष्यन्ति तथावस्थात्रयस्य च ॥४३॥

पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते'त्यनेन) गीतायामुक्तत्वात्तदर्थं ज्ञानमुपदिष्टम्। अधिकारविचारेण त्वग्रे भक्तिरेवोपदेष्टव्येत्यर्थः। नन्वधिकार उत्कृष्यमाणे कुतो ज्ञानेच्छेत्यत आहुः-तथापीत्यादि। न दृष्टवानिति नानुसंहितवान्। तथा चाधिकाराननुसन्धानादिच्छेत्यर्थः। अननुसन्धानं कुत इत्यत आहुः-अयोग्येत्यादि। तथा च भगवान्भजतां मुकुन्द' इतिवाक्येन मुख्यभक्तेरदेयत्वेन तद्दित्सासन्देहादधिकाराननुसन्धानम्। अतस्तत्र यद्दातुं युक्तं हि निश्चयेन तज्ज्ञानं पृच्छतीत्यर्थः ॥३७॥३८॥ तर्हि भगवान् किमित्यधिकारमनुसृत्य नोक्तवानित्याकाङ्क्षायामधिकारमनुसृत्यैवोक्तवानित्याहुः-तत इत्यादि। तदेति। अनुमानैरन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञायमाने मयि प्रोक्तं फलिष्यति तन्मदुक्तं ज्ञानं त्वदधिकारानुसारेण भक्तिं ब्रह्म वा प्रापयिष्यतीतिभावः। तर्ह्यवधूतसम्वादं कुत उक्तवानित्यत आहुः-अन्वयादीत्यादि। इदानीमिति अधिकाराननुसन्धानदशायाम्।

अतः परमवधूतप्रकरणमध्यायात्मकं[1]**मिति तदनुसारेण विचारयन्ति पञ्चेत्यादि। अवस्थेति** जडावस्था। अत्र 'पञ्चविंशः स्वात्मोपशिक्षितामि'त्यनेनोक्तो देहो ज्ञेयः। तस्य च तत्त्वत्वं जीवाधिष्ठितत्वेन ज्ञेयम्। त्रिभिः कथने बीजमाहुः-**त्रिभिरित्यादि। अवस्थात्रयस्येति** जाग्रदादिबुद्ध्यवस्थात्रयस्य। एवमध्यायत्रय-

१ सप्तमादित्रयाध्यायात्मकमित्यर्थः।

उभयत्र ततो युक्तिं वक्ष्यति स्नेहभावतः।
ततोऽपि भगवान् प्रीतः पुष्टिं वक्ष्यति युक्तितः ॥४४॥
एवं षड्भिरिहाध्यायैरेकं ज्ञानं निरूप्यते।
मर्यादापुष्टिभेदेन नाऽधिकारस्तदा यदि ॥४५॥
तदा तत्सिद्धये चैव प्रक्रियान्तरसङ्कथा।
एवं सर्वत्र विज्ञेयं ब्रह्मा हंसो द्वितीयके ॥४७॥
कपोतान्ताः शरीरस्य प्रकृत्यष्टनिवृत्तये।
मनसश्चन्द्रमाः प्रोक्तो बुद्धेश्चापि तथा रविः ॥४७॥
अहङ्कारनिवृत्त्यर्थं कपोता विनिरूपितः।
गुणत्रयनिवृत्त्यर्थं द्वितीये नवधोच्यते ॥४८॥
कामस्येन्द्रियवर्गस्य तथाऽऽशाया निवृत्तये।
कर्ममार्गे तथाकर्मभावात्कर्म विशिष्यते ॥४९॥

प्रयोजनमुक्तम्। तेनैतैर्वैराग्यसमते एव, न तु तत्त्वनाशः, तत्त्वनाशस्तु भगवदुक्तत्वेनैव रूपेणेति बोधनायाग्रिमाध्यायत्रयप्रयोजनमाहुः-उभयत्रेत्यादि। उभयत्रेति अध्यायद्वये। प्रीत इति उत्कृष्टाधिकारं प्राप्यापि तदनभिमन्य दीनभावावलम्बनेन ज्ञानप्रश्नात्प्रीतः। एकमिति स्वरूपप्रापकं स्वरूपविषयकं ब्रह्मवादरूपम्। तर्ह्येतावतैवोत्तरसिद्धेरग्रिमग्रन्थस्य किं प्रयोजनमत आहुः-**नाधिकार** इत्यादिना। तदेति तादृशः। **तदा तत्सिद्धये** इति तादृशे न्यूनाधिकारे तादृशाधिकारसिद्ध्यर्थं 'ब्रह्मा हंसो द्वितीयक' इति न्यूनेऽधिकारे ब्रह्मा प्रश्नकृत् हंस उत्तरवक्तेत्यर्थः। एवमग्रिमकथाप्रयोजनमुक्त्वा **द्वितीयाध्यायार्थं विशेषेण विचारयन्ति कपोतान्ता** इत्यादि। तेनेह पृथिव्यादयः पार्थिवाद्यध्यासनिवृत्त्यर्था इत्यर्थात् सिद्धम् ॥४७½॥

(अ. ८) अग्रिमं विचारयन्ति-गुणत्रयेत्यादि। त्रिवृतोऽहङ्कारस्य निवृत्त्यर्थमिति भावः ॥४८॥ तत्र प्रकारमाहुः-कामस्येत्यादि। अत्र कामनिवृत्त्यर्थं पतङ्गः। इन्द्रियवर्गनिवृत्त्यर्थमजगरसिन्धुप्रभृतयः। आशानिवृत्त्यर्थं पिङ्गला। नन्वत्राजगरेण कर्मनिवारणे किं बीजमत आहुः-**कर्ममार्ग** इत्यादि। **कर्मभावादिति।** साधनत्वेन कर्मण एव विद्यमानत्वात्। तथाऽकर्मेत्यत्राकर्मेतिपदच्छेदः। तथा

ज्ञानमार्गे तथा कर्म क्रियातोऽपि विशिष्यते ।
गीतया न विरोधोऽत्र साध्यावस्था तु सामता ॥५०॥
सिद्धावस्था त्विह प्रोक्ता परीक्षार्थं तु भोजने ।
सोऽपि चेत्तुल्यभावः स्यादन्तरेण ततो गुणः ॥५१॥
अतः समुद्रं प्रोवाच तस्य चन्द्रेण वर्धनम् ।
दृष्ट्वा तद्विनिवृत्त्यर्थं स्त्रियं प्रोवाच तादृशीम् ॥५२॥
ततो निवृत्तोऽप्यशनाद्दशमायाति दुर्मतिः ।
ततस्तद्विनिवृत्त्यर्थं मधुकारादिरूपणम् ॥५३॥
ततो भिक्षार्थगमने स्त्रियं बाधकमाह हि ।
तया साऽपि परित्याज्या सर्वनाशोऽन्यथा भवेत् ॥५४॥
पौनरुक्त्यं ततो नास्ति प्रसङ्गादपि वारिता ।
सर्वस्य मूलं जिह्वेति ततः सा विनिरूपिता ॥५५॥
ततोऽप्याऽऽशा तु महती राजसोऽयं तु मध्यमः ।
सात्त्विकस्याऽपि सद्बुद्धेर्विद्यादेः सङ्ग्रहो यदि ॥५६॥
तदाऽपि सर्वनाशः स्यात्कुररस्तन्निरूपितः ।

चापकृष्टत्वमेव बीजमित्यर्थः । नन्वेवं सति 'ज्यायसी चे'दिति गीतायामर्जुनप्रश्ने भगवता 'संन्यासः कर्मयोगश्चे'त्यादिना कर्मयोगस्य विशिष्टत्वं यदुक्तं तस्य विरोध इत्यत आहुः—गीतयेत्यादि । ननु सिद्धावस्थाया अजगरेणैवोक्तत्वात्सिन्धुनिरूपणस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुः—परीक्षार्थमित्यादि । भोजन इति । केन चित्कारिते इतिशेषः । सोऽपीति भुक्तवानपि । गुण इतिसिद्धावस्थोत्कर्षः । तदग्रे पतङ्गनिरूपणप्रयोजनमाहुः तस्य चन्द्रेणेत्यादि । मधुकारादीत्यादिपदेन मीनः । ननु वारद्वयं स्त्रिया बाधकत्वं किमित्युच्यत इत्यत आहुः—ततो भिक्षेत्यादि । अयं त्विति । एतदध्यायोक्ताधिकारी तु ॥४९॥५५॥ **एवं सार्द्धाष्टभिः सम्वादद्वितीयाध्यायो विचारितः ।**

(अ. ९) **तृतीयं विचारयन्ति—सात्त्विकस्येत्यादि ।** अत्र विद्यादिसङ्ग्रहनिवृत्तिबोधनाच्छब्दतन्मात्रनाशोऽध्यायार्थः प्रतिभाति । तदिति तस्मात् ।

१ अत्र "सपाद" इतिपाठः प्रतिभाति । सम्वादपाठे तु अवधूतसम्वादरूप इत्यर्थः ।

तत्सिद्ध्यै गुरुर्बालस्तथाऽपीष्टं न सिद्ध्यति ॥५७॥
ततस्त्वटनमेकस्य मनः कृष्णे निवेश्य च ।
अपेक्षितानां सर्वेषामन्यथा सिद्धिरुच्यते ॥५८॥
सर्वाभावे हरिः सर्वं सर्वकर्त्ता प्रदास्यति ।
वस्त्वन्तरत्वे जीवस्य ब्रह्मभावोऽपि साध्यते ॥५९॥
विवेकसहितो देहः सर्वत्रैव च साधकः ।
युक्तिस्तु द्विविधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥६०॥
बाह्याः सर्वेऽत्र लोका हि जीव आन्तर उच्यते ।
बाह्ये प्राह क्वचिद् ग्राह्यान्नाऽन्यथा शक्यता भवेत् ॥६१॥
अतः साधुरिहोद्दिष्टः स्वयं सङ्ग्यथवा भवेत् ।
कदाचित्ते भक्तिमार्गं वदेयुरिति तां जगौ ॥६२॥
मार्गद्वयस्य श्रवणात्सन्देहो जायते ध्रुवम् ।

कुमारीशरकृतोस्तात्पर्यमाहुः—ततस्त्वित्यादिपादद्वयेन । सर्पोर्णनाभिपेशस्कृतां त्रिभिरर्द्धैराहुः—अपेक्षितानामित्यादिभिः । स्वात्मोपशिक्षितामित्यादेराहुः- **विवेकेत्यर्द्धेन** ॥५६॥५८॥ **एवं चतुर्भिस्तृतीयो विचारितः ।**

(अ. १०-११-१२) **अतः परं पौष्टिकत्रयीं विचारयन्तो द्वाभ्यां युक्तिकथने हेतुमाहुः—युक्तिस्त्वित्यादि ।** तथा च लोकजीवयोर्हेयत्वे युक्तिर्यथायथं द्वाभ्यामुच्यते । तत्र लोकानां संस्पर्शजभोगप्रधानत्वात्तद्धेयबोधनेन स्पर्शतन्मात्रनाशस्तदर्थः । एवं बद्धजीवहेयत्वबोधनेन रूपतन्मात्रनाशोऽर्थः । लिङ्गरूपवैशिष्ट्याल्लिङ्गत्याजनस्यात्राभिप्रेतत्वादिति । 'अन्तरायैरविहत' (अ. १० श्लो० २२) इत्यादेस्तात्पर्यमाहुः प्राहेत्यादि । क्वचिदेति पुरुषविशेषे । **अशक्यतेति** त्यागाशक्यता । एवं पूर्वो (दशमः) विमृष्टः । द्वितीयं (एकादशं) विमृशन्ति **अत इत्यादि ।** अतस्त्यागस्यावश्यकत्वात्साधुर्वक्ष्यमाणविध इह युक्तिप्रकरणे उद्दिष्टो बोधनार्थमुक्तः। अन्यथा ज्ञानं स्थिरं न स्यादिति । साधुमाहुः **स्वयमित्यादि, सङ्गीति** भगवत्सङ्गी । एकादशे सङ्गी द्वादशे स्वयमिति विभागः । नन्वत्र भक्तिं किमित्युक्तवानित्यत आहुः—कदाचिदित्यादि । भगवदिच्छायां सत्यां ते भगवत्सङ्गिनो **भक्तिमार्गं वदेयुरिति** हेतोस्तां गौणमुख्यभेदेन द्विविधां भक्तिं **जगौ** तदुक्तविश्वासार्थमधिकारमनुसृत्योपदिदेशेत्यर्थः ॥५९॥६१॥

नन्वेवं गुह्यतमसुगोप्यश्रवणेऽपि कथं सन्देह इत्यत आहुः—**मार्गेत्यादि ।**

१ सर्वत्र । २ ना ।

सन्देहविनिवृत्तिर्हि वचनान्नैव जायते ॥६३॥
अतो यथा न जायेत तत्र युक्तिर्निरूपिता।
मूलमध्यावसानैश्च तत्स्वरूपनिरूपणम् ॥६४॥
तत्स्वरूपपरिज्ञाने सत्त्वादिविनिरूपणम्।
अन्तःकरणधर्मादेरेवं दोषा निवारिताः ॥६५॥

उपक्रमे ज्ञानस्य सुगोप्यत्वेन भक्तेश्च श्रवणेन तुल्यत्वानुसन्धानात्सन्देहः। किञ्च, जायते ध्रुवम्। तत्र त्यागार्थं दृश्यमानस्य मायिकत्वं विपर्ययभावाय विश्वस्य स्वात्मकत्वं चोक्तम्, अत्र तु बाह्यः सत्सङ्ग आन्तरभावार्थं सर्वात्मभावेन शरणगमनं चोक्तमत उभयत्र साधनयोर्विरोधान्निश्चयो न जायत इत्यर्थः। उत्तरप्रकारतात्पर्यमाहुः--सन्देहेत्यादि। वचनादिति युक्तिरहितादाज्ञारूपाद्वाक्यात्। तत्रेति तदर्थम्। युक्तिरिति 'अयं हि जीव' इति सार्द्धश्लोकोक्ता। एतया एकस्य शक्तिविश्लेषान्नानात्वेऽवगते तस्य मूलैक्याबाधकत्वाज्जिज्ञासया सुखेनैव नानात्वभ्रमापोह इति। द्वितीयं साधनमाहुः-मूलेत्यादि। मूलं स्वयं 'मे व्यक्तिरि'तिकथनात्। मध्यं वेदवाणीप्रभृति। अवसानं विश्लिष्टशक्तित्वावस्था। इदं भगवदात्मके विश्वे 'य एष' इत्यादिनोक्ते द्वितीये 'मायामये तु प्रकृतिपुरुषौ मूलं द्वे अस्य बीजे' इतिकथनात् मध्यं 'शतमूल' इत्यादिनोक्तम्। अवसानं मायामयत्वम्। एवं मूलमध्यावसानैस्तयोः पूर्वमुपक्रान्तयोर्विश्वयोः स्वरूपनिरूपणं च सन्देहनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः। अनेनोत्तरग्रन्थेन श्रीमदुद्धवस्य ज्ञानमार्गे एव सन्देहो न भक्तिमार्गे इति तदधिकारोत्कर्षः सिद्धः। एतदभिसन्धायैव भगवता परमगुह्यरूपा सुगोप्या चेति द्विविधा भक्ति'राज्ञयैवमि'त्यादिना द्विविधाः सङ्गिनः सत्तमत्वेन भक्ततमत्वेन चोपदिष्टाः। अन्यथा तु ज्ञानानुकल्परूपामुपासनाशेषभूतां भक्तिं 'यद्यनीशो धारयितुम' इत्यादिभिश्चतुर्भिरुक्त्वा ततः 'कृपालुरकृतद्रोह' इत्यादित्रिभिः साधुं चोक्त्वा तेन ज्ञानस्य तदनुकल्पस्य तत्साधकस्य च स्वरूपे सपरिकरे बोधिते, उपक्रान्तस्योत्तरस्य च सिद्धत्वान्न वदेत् प्रयोजनाभावात्। 'तस्मात् सत्तम'मारभ्य 'शरणगमन'पर्यन्त उपदेशस्तदधिकारानुसारेणेति निश्चयः। तेन 'सर्वत्र सुलभत्वाये'त्यारभ्य 'पृच्छती'त्यन्तग्रन्थे ज्ञानस्य भक्त्यर्थत्वं यदुक्तं तन्निर्विवादम्। अत्र समाप्तौ वदन्तीति कथनाद्रसतन्मात्रनाशस्तत्र प्रतिभाति ॥६२॥६३॥ **एवमध्यायत्रयार्थमुक्त्वा सप्तमादिषडध्यायी विचारिता॥**

(अ. १३) अतः परं त्रयोदशारम्भेऽप्येतस्यैव शेष इत्याहुस्तत्स्वरूपेत्यादि। सप्तम्यत्र तादर्थ्ये। मायिकप्रपञ्चस्वरूपपरिज्ञानार्थमित्यर्थः। तेन सिद्धमाहुः अन्तःकरण-

तदात्मकत्वाद्दोषो हि न पूर्वैर्विनिवार्यते।
अतो गुरुरिहान्यो हि वक्तव्यः पूर्वतो महान् ॥६६॥
तदर्थं प्रश्नकर्तारस्तादृशा सनकादयः।
हंसो हि सहजं नीरं त्यक्त्वा गृह्णाति तत्पयः ॥६७॥
निर्णयस्तत्र हंसेन कृतः सर्वत्र सम्मतः।
उभयस्य परित्यागः स तु कृष्णो यदा भवेत् ॥६८॥
परमश्रद्धया भक्त्या तदावेशात्प्रवेशतः।
चतुर्धा तद्धि भवति सर्वदोषनिवृत्तितः ॥६९॥

धर्मादेरित्यादि। अन्तःकरणे धर्माः सङ्कल्पादयः, आदिपदेन बाह्यं कर्म, तस्य दोषा बन्धकत्वरूपाः। एवं तत्त्वप्रकारयोर्बोधनेन निवारिता इत्यर्थः। तदग्रे हंसगीताकथनं कुत इत्यत आहुः- तदात्मकत्वादित्यादि। अन्तःकरणस्य बोधनप्रकारस्य च सात्त्विकत्वेन गुणात्मकत्वात्। पूर्वैरुक्तैः साधनैर्दोषो भेदबुद्धिरूपो न निवार्यते। अतस्तथेत्यतः कथनमित्यर्थः। तादृशा इति अवतारत्वादवधूततुल्याः तथा च तद्गुरोर्हंसस्य पूर्वस्मादाधिक्यमर्थसिद्धमित्यर्थः। आधिक्यज्ञानप्रकारमाहुः हंसो हीत्यादि। विरुद्धयोर्मिश्रितयोरनपेक्षितादपेक्षितोद्धरणं बोधनप्रकारे विशेषः। दत्तस्य देहे पारक्यबुद्धिरेव। 'देहो गुरुरि'तिश्लोके तथासिद्धत्वात्। अत्र तु देहानुसन्धानाभावः। 'देहं च नश्वरमि'त्यत्र तथा बोधनात्। अतोऽपि विशेष इति प्रकार इत्यर्थः। हंसोत्कर्षमुक्त्वा तदुक्तानामुत्कर्षायाहुः--निर्णय इत्यादि। सर्वत्रेति भक्तौ ज्ञानादौ च। निर्णयस्वरूपमाहुः--उभयस्येत्यादि। उभयस्येति गुणत्रयस्य स्वचित्तस्य च। स इति जीवः। कृष्णत्वभवनोपायमाहुः--परमेत्यादि। एतैर्हेतुभिश्चतुर्धा दोषनिवृत्तितो हि निश्चयेन तत्कृष्णत्वं भवति तदोभयपरित्यागो भवतीत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्। 'परमा श्रद्धा फलमुख्यमङ्ग'मिति सर्वत्रैव प्रसिद्धम्। भक्तिश्च गुणातीतत्वोत्तरं ब्रह्मभावसाधिकेति गीतायां 'मां च योऽव्यभिचारेणे'त्यत्र सिद्धम्। तदत्र 'इति मे छिन्नसन्देहा' इत्यादिद्वयेनोक्तम्। प्रवेशश्च भक्तेः परत्वे तदप्यत्र 'परये'तिभक्तिविशेषणेन सिद्धम्। तत्र प्रवेशः परया भक्त्या तादृशी भक्तिश्च ब्रह्मभावोत्तरम्, स च ज्ञानस्य परमकाष्ठापन्नत्वे ज्ञानस्य तादृक्त्वं च 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्त' इत्युक्तप्रणाड्या शान्तत्वे इति तदर्थं पूर्वं बुद्धिशोधनमावश्यकम्। तत्रोपायश्च गुणचित्तयोरन्योन्यसंत्यागः। स च तदैव

निश्चयार्थोऽयमेवेति वक्तुं श्रेयोनिरूपणम् ।
अन्यच्चेच्छ्रेय एतादृगुपायो वा भवेत्तदा ॥७०॥
न कृष्णत्वं फलं पूर्णं नाऽपि त्यागस्तथोभयोः ।
अतो निर्णयसिद्ध्यर्थं प्रमाणस्योच्यते गतिः ॥७१॥
प्रमेयबलमासाद्य युक्तिश्चाप्यत्र रूप्यते ।

भवति यदा बुद्धौ भगवदावेशेन नानात्वनिवृत्तिः। सा च च सर्वं भगवानिति परोक्षे ज्ञाने । तदत्र युक्तिभिः साधनीयमिति । तदर्थं 'मनसा वचसा दृष्ट्ये'त्यनेन सर्वस्य स्वाभिन्नत्वमुपदिश्य तत्राहं पदेन किं जीवात्मा परामृश्यत उत ब्रह्मेति सन्देहनिवृत्त्यर्थ-मग्रिमे श्लोकद्वये जीवस्य स्वात्मकत्वकथनेन पूर्वोक्ताहंपदार्थो ब्रह्मैवेति बोधयित्वा गुणचित्तयोस्त्यागार्थं बुद्धेर्जाग्रदादिवृत्तित्रयं जीवस्य तद्वैलक्षण्यं च वृत्तित्रयसाक्षित्वेन बोधयित्वा त्यागोपायं 'त्यागः सगुणचेसा'मिति त्यागस्वरूपं चोक्त्वा 'यावन्नानार्थ-धीरि'ति द्वाभ्यां भेदबुद्धेर्मिथ्यात्वं तद्वतोऽज्ञत्वं चोक्त्वा जीवस्य वृत्तित्रयवैलक्षण्य-ज्ञानाय 'यो जागर' इत्यनेन स्मृत्यन्वयादिति युक्त्या साक्षित्वं निर्णीयाग्रिमेण शिष्टसंशयलेशनिःशेषनिवृत्त्यर्थं स्वभजनं कार्यमिति बोधयित्वा 'ईक्षेत विभ्रम'मित्यनेन गुणसर्गादिमिथ्यात्वे युक्तीराह। एवं सत्यत्र चित्तप्रभवगुणानामुपक्रान्तत्वादग्रे चोपदेशस्वरूपस्य सांख्ययोगगुह्यत्वेनोक्तत्वात्तत्तन्मुनिमनःकल्पितभेदवादसिद्धत्रिगुण-सर्गस्यैव नश्वरत्वादिधर्मकस्यैव मिथ्यात्वं तद्बीजयोः स्वात्मभिन्नत्वादिति सिद्ध्यति। नत्वभेदवादसिद्धस्यैच्छिकस्य। एवं च 'मनसा वचसे'त्यनेन यदुक्तं तदाञ्जस्येन सिद्ध्यति। अत एव 'तत्राञ्जसे'तिपदं 'ईक्षेते'त्यत्र चेदमितिपदम्। एवमेव सप्तमे द्वादशे च बोध्यमित्येतदर्थमेव हंसगीताया उपक्षिप्तत्वात् । अतो **गीतायामप्येता-दृशमेव ज्ञानं भक्तिहेतुत्वेनाभिप्रेतं श्रुतौ ब्रह्मसूत्रेषु च,** तद्भाष्यविद्वन्म-ण्डनादिभ्योऽवगन्तव्यम् । अत एवं परोक्षज्ञाने युक्तिभिर्जाते ततो भजनेन निःशेषसंशयनिवृत्तावावेश इति बोधनाय दृष्टिं ततः प्रतीत्यादित्रयेण विद्यमानस्यापि भ्रमाजनकत्वमभेदनिष्ठया सिद्धस्य देहाननुसन्धानं देहस्य कर्मवशेन स्थितिं चोवाच। एवं सर्वसाधनसम्पत्तौ संशयच्छेद इति छिन्नसंशया इत्यनेनावेशस्यापि लाभ इति पूर्वोक्तमत्रोक्तं चाविवादम् ॥६४॥६८॥ **एवं त्रयोदशाध्यायो विचारितः ।**

एतस्य निर्णयस्य श्रुत्यभिप्रेतत्वज्ञापनायाग्रिमाध्याय इत्याशयेनाहुः-- **निश्चयेत्यादिद्वयम् । उपायो वेति ।** अन्य इति शेषः । **नापि त्याग** इति । पूर्णं साधनमिति शेषः । **उभयोरिति ।** गुणचेतसोः । एवं द्वाभ्यां 'नियमान् यमा'-नित्यन्तस्यार्थ उक्तः । अतः परमुक्तार्थपोषार्थम् 'आद्यन्तवन्त 'इत्यारभ्य मद्विनाऽन्य'-

१ मुक्ति ।

सेवकत्वे हीनभावदोषोऽपि विनिवार्यते ॥७२॥
श्रद्धा त्वेतावता सिद्धा ततो भक्तिर्निरूप्यते ।
स्वरूपतः साधनतः फलतश्चाऽपि रूपिता ॥७३॥
तस्याश्च साधनं ध्यानं ततस्तदपि रूपितम् ।
तत्र बाधकहानाय ध्यानभेदा निरूपिताः ॥७४॥*
आवेशार्थं प्रवेशार्थं कृष्णात्सर्वं भवेदिति ।
एतावता द्वितीयस्तु खण्डः पूर्णो निरूपितः ॥७५॥
ज्ञानेनाऽपि प्रवेशो हि भजेदिति पुनर्हरिम् ।

दित्यन्तग्रन्थ इति तस्य तात्पर्यमाहुः-प्रमेयेत्यादि । **प्रमेयबलम्** स्वस्वरूपबलम् । **युक्तिरिति** । फलान्तरस्याद्यन्तवत्त्वादिरूपा स्वार्पितात्मनोन्यानिच्छारूपा च । यदि पूर्णं साधनात्मकं श्रेयोऽन्यत्स्यात्, तदा तत्फलरूपा लोका आद्यन्तवत्त्वादिधर्माणो न स्युः । यदि पूर्णं फलमन्यत् स्यात् मय्यर्पिताप्यन्यदिच्छेदिति । यतो नैवमतो नैवमिति । तथा च श्रुतौ कर्मफलानां तथात्वकथनादात्मलाभस्य सर्वत उत्कर्षकथनाद्वाक्यान्वयाधिकरणविचारितरीत्या भगवत एवात्मत्वात्तत्रैव फले श्रुतेस्ता-त्पर्यमित्यर्थः । नन्वस्त्वेवं फलांशे तथापि भक्तौ नानात्वस्य विद्यमानत्वादस्वातन्त्र्या-दीश्वराद्भयं तु स्यादेवेति न साधनोत्कर्ष इत्यत आहुः-**सेवकत्व** इत्यादि । एतेन 'न तथा मे प्रियतम' इत्यादिश्लोकत्रयतात्पर्यमुक्तम्, तथा चास्वातन्त्र्येप्यत्र न भयरूपो दोष इत्यर्थः । एतावता ग्रन्थेन यत्सिद्धं तदाहुः-**श्रद्धेत्यादि । सिद्धेति** पूर्वाध्याये सङ्क्षेपेणोक्ता निर्द्धारिता । 'बाध्यमानोऽपीत्या'देस्तात्पर्यमाहुः-**ततो भक्तिरित्यादि ।** 'बाध्यमान' इत्यारभ्य 'भुवनं पुनाती'त्यन्तेन स्वरूपतः, 'यथाग्निने'ति द्वाभ्यां साधनतः, 'विषयानि'त्यादिभिः फलतः । **निवारिता** इति 'मयैतद्ध्यानमङ्गलम्' इतिकथनान्निवारिताः । ध्यानस्य प्रयोजनमाहुः-**आवेशार्थं प्रवेशार्थमिति ।** चित्तस्य भगवत्यावेशार्थं भगवतश्चित्ते प्रवेशार्थमित्यर्थः । **सर्वं भवेदिति** द्रव्यज्ञान-क्रियाभ्रमनिवृत्तिर्भवेत् । अत्र द्रव्ये 'स्वयं पारक्य'मिति ज्ञाने विषयो मायिक इति भगवद्भिन्न इति क्रियायां भगवद्भजनादन्यत्कर्तव्यमिति भ्रमो बोद्धव्यः सप्तमस्कन्धीय-मायाद्वैतवाक्यात् । एवं सर्वभवनोक्त्या यत्सिद्ध्यति तदाहुः- एतावतेत्यादि। **एतावता** ग्रन्थेन भ्रमनिवृत्त्या कृष्णत्वे द्वितीयः **खण्डः** सुदृढस्नेहरूपो भक्ते-र्विशेषांशः **पूर्णो निरूपित** इति सिद्ध्यतीत्यर्थः । तत्र प्रकारं स्फुटीकुर्वन्ति **ज्ञानेनापि प्रवेशो हि भजेदिति । हरिं** हरौ । तथा चात्र क्रियाभ्रमनिवारणोक्त्या भक्त्यर्थता निश्चीयत इति भावः । **एतेन पञ्चदशाध्यायस्याप्यर्थ उक्तः ।**

* अत्रत्यं निबन्धकठिनांशविवेचनं स्कन्धान्ते २५८ तमे पृष्ठेनुसन्धेयम् ।

यावानित्यादि विज्ञातुं विभूतिं पृच्छते पुनः ॥७६॥
ततः स्वात्मानमेवाऽह गुरुमर्जुनसारथिम् ।
विभूतिः सकला प्रोक्ता भक्त्यैवाऽहं भवेदिति ॥७७॥
तदर्थं धर्मसम्प्रश्नः शुद्धो भक्तो भवेदिति ।

तत्रापि समाप्तौ 'सर्वासामपि सिद्धीनामि'त्यादिद्वयेन सर्वप्रभुत्वसर्वात्मत्वयोः कथनात् । तेन सिद्धिपूत्कर्षभ्रमवारणार्थेवान्तरायतया तदुपस्थितिकथनमिति सोऽप्यध्यायो भक्तिबोधनस्यैव शेष इति । एवं चतुर्दशे मनोनाशः। पञ्चदश आकाशस्य वायोर्वेति प्रतिभाति।

(अ. १६) षोडशे 'येष्वि'त्यनेनोक्तः गकारप्रश्नो विभूतिप्रश्नश्च प्रकृतानुपयुक्त इवेति तत्प्रयोजनमाहुः- पुनरित्यादि। पृच्छत इति चतुर्थ्यन्तम् । अयमर्थः। गीतायां 'भक्त्या मामभिजानाती'त्यत्र यद्यावत्त्वादिरूपेण ज्ञानं प्रवेशहेतुभूतमुक्तं तदेवात्र 'ज्ञात्वाऽज्ञात्वाऽथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृश' इत्यनेन भजनात्पूर्वकालिकत्वेन परामृष्टम् । एतावान् परं विशेषः। तत्र यावत्त्वादिरूपेणऽभिज्ञानं भक्त्योक्तम् । अत्र तु तेन रूपेण यतः कुतश्चिज्ज्ञानमभिज्ञात्वाभावादनावश्यकमितिबोधितम् । तेन तादृशज्ञानस्याभिज्ञात्वे एव प्रवेशं प्रति व्यापारता नेतरथेतिफलति । तथा तत्त्वत इत्यस्य तत्प्रकारवत्त्वत इति चार्थः फलति, तथाभिज्ञानं परया भक्त्या ब्रह्मभावे इति। ततः पूर्वं विवक्षितज्ञानं दुर्घटमतो यादृशमभिज्ञातुं 'येषु येषु च भावेषु यथा त्वां परमर्षय' इत्यनेन प्रकारविशिष्टस्वरूपं हरिं पुनः पृच्छते 'स्वयमेवात्मानमिति' वाक्येनान्यस्य तत्स्वरूपाभिज्ञत्वाभावात् । यावत्त्वयत्त्वे च विज्ञातुं विभूतिं पृच्छते उद्धवाय ततस्तज्ज्ञापनाय स्वात्मानमेवाह 'अहमात्मोद्धवामीषा'मितिश्लोकेनाह । 'गुरुमर्जुनसारथिमेवमेतदहं पृष्ट'इत्यादिना भक्तप्रियत्वायाह । यच्च ज्ञानाय सर्वेषामात्मत्वादिकं यादृशत्वज्ञानाय सर्वरूपत्वादिकं यावत्त्वज्ञानाय विभूतिं चाहेत्यर्थः ॥७०॥७६३॥ नन्वभिज्ञानाभावे केवलस्य ज्ञानस्यानावश्यकत्वात् किमर्थं सर्वविभूतिकथनमित्याकाङ्क्षायामाहुः—विभूतिरित्यादि । तथा च मुख्यभक्त्यर्थं भगवद्रूपताया विवक्षितत्वात्तस्याश्च विभूतिरूपत्वाभवनात्तन्मात्रतानिवृत्त्या भक्त्या भगवत्त्वाय तत्कथनमित्यर्थः । एवं चात्र विभूतिकथनोत्तरं 'मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयत'इतिवाक्ये येन लोकसिद्धेन प्रकारेण वाचाऽभिधीयते तेन प्रकारेण 'अपागादग्नेरग्नित्वमि'तिवन्मनोविकारा एव, न तु तद्रूपाः, किन्तु मद्विभूतिरूपा मदंशरूपा एवेत्यर्थाद्विभूतिज्ञाने यावत्त्वयत्त्वज्ञानं भवतीति बोध्यम् ॥७७॥ एवं षोडशाध्यायो विचारितः ।

(अ १७-१८) सप्तदशाष्टादशावपि भक्तिशेषौ स्फुटावित्याहुः– तदर्थमित्येकेन । सप्तदशस्यारम्भे 'यस्त्वयाऽभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षण' इति

वर्णाश्रमवतां धर्मस्तदर्थं विनिरूपितः ॥७८॥
तथाऽपि ज्ञानमार्गस्य परिज्ञानमिहेच्छति ।
तदा भीष्मो गुरुः प्रोक्तो धर्मराजश्च पृच्छति ॥७९॥
तत्र सर्वपदार्थानां निर्णयः सर्वकर्मणाम् ।

'यथाऽनुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् । स्वधर्मेणे'तिकथनाद्धर्मसम्प्रश्नो भक्त्यर्थम्, स्वधर्मस्य भक्तावुपयोगस्तु तद्धर्मस्य सप्तमस्कन्धे दुर्वासनानिवारकतायाः स्थापित्वेन शुद्धिजनकत्वादिति। एतदुत्तरे समाप्तौ 'इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक् । सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दतेऽचिरादि'तिकथनाच्च भक्त्यर्थमेव निरूपित इत्युभावप्यध्यायौ भक्तेरेव शेषावित्यर्थः । अत्र साध्यरूपा भक्तिः प्रेमात्मिका, साधनरूपा तु श्रवणाद्यात्मिका'नन्यभागि'त्यनेन सूचिता। अन्यथा साध्यसाधनभावलोपापत्तेः। स्वधर्मस्तु साधनभूताया एव भक्तेरङ्गभूतः। न च स एव भक्तिसाधनमिति शङ्क्यः, 'अनन्यभागि'तिविशेषणवैयर्थ्यापत्तेः। अतो भजेदनन्यभागित्युभयकथनादुक्त एवार्थः। अत एव 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसा'मित्यादीनि वाक्यानि। एवं सप्तदशाष्टादशौ विचारितौ ॥

(अ. १९) ऊनविंशाध्यायं विचारयन्ति-तत्र वर्णाश्रमधर्मस्य भक्तिशेषत्वकथनोत्तरमूनविंशारम्भे 'यो विद्याश्रुतसम्पन्न' इत्यादिना ज्ञानिनस्तपस्तीर्थेत्यनेन ज्ञानं च प्रशस्य 'तस्माज्ज्ञानेन सहितमि'त्यनेन ज्ञानस्य भजनाङ्गत्वं पूर्वाध्यायोक्तधर्मस्येवोक्त्वा 'ज्ञानविज्ञाने'त्यनेन मुनीनां ज्ञानयज्ञेन संसिद्धिं चोक्त्वा ज्ञानिप्रशंसायां 'मायामात्रमिदं ज्ञात्वे'ति दृश्यमानस्य मायामात्रत्वं यदुक्तं तदुद्धवदेहेऽप्यस्तीतिबोधनाय 'त्वय्युद्धवाश्रयती'त्युक्तम् ।

तथा पूर्वाध्यायेऽपि 'नैतद्वस्तुतया पश्ये'दिति 'यदेतदात्मनि जग'दितिद्वाभ्यां दृश्यमानस्यावस्तुत्वं स्वात्मनि विद्यमानस्य शरीरात्मकस्य जगतो मायात्वं च विचार्य यतिनेत्युक्तम् तच्छ्रुत्वात्र सन्देह उत्पन्नः किं जगतो मायिकत्वेन ज्ञानं भजनाङ्गमुत ब्रह्मात्मकत्वेनेति तेन पृच्छतीत्याहुः- तथापीत्यादि । इह भगवद्वाक्ये तथापि मायिकत्वेन प्रकारेणापि ज्ञानमार्गस्य परिज्ञानं भक्त्यङ्गत्वेन सन्देहनिवर्त्तकं सम्यग् ज्ञानमिच्छतीत्यर्थः । तदा भगवांस्तत्सन्देहनिवृत्त्यर्थं सर्वर्षिसम्मतिं बोधयितुं स्वयमुत्तरमनुक्त्वा युधिष्ठिरभीष्मसम्वादमुखेनाहेत्याहुः तदेत्यादि ॥७८॥ ७९॥ सम्वादविषयमाहुः- तत्रेत्यादि । तस्मिन् सम्वादे मोक्षधर्मेषु कथ्यमानेष्वेतत्त्रयमुक्तं तदनुवदति- 'भगवान्नेवे'त्यादिना। तत्र 'नवे'त्यादिकं ज्ञानस्वरूपलक्षणम् ।

तस्यायमर्थः। भूतेषु ब्रह्मादितृणस्तम्बान्तेषु नवैकादशपञ्चत्रीन् , प्रकृतिपुरुषम-

सत्यादीनां तथा रूपं ज्ञानार्थं विनिरूपितम् ॥८०॥

हदङ्कारपञ्चतन्मात्राणि नव, इन्द्रियाण्येकादश, भूतानि पञ्च, गुणास्त्रय एवमष्टाविंशतिसङ्ख्याकान् भावांस्तत्त्वानि येन ज्ञानेन वै निश्चयेनेक्षेत, अथैवमीक्षोत्तरमप्येष्वष्टाविंशतिष्वेकं सदेवेतीक्षेत तज्ज्ञानं मम मत्सम्बन्ध्येव निश्चितं भीष्मेण निर्णीतम् । तथा च सदित्याकारकं कैवल्यं येन भासते तज्ज्ञानमित्यर्थः । इदमेव गीतायां 'सर्वभूतेषु येनैक'मिति सात्विकज्ञानत्वेनोक्तम् । अत्रापि पञ्चविंशे 'कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानमि'ति वक्ष्यते । अथ (श्लोक० १५) 'एतदेव हि विज्ञान'मितिद्वाभ्यां विज्ञानस्वरूपं लक्षितम् । तत्रायमर्थः । एतद्वक्ष्यमाणं हि निश्चयेन विज्ञानं यद्यस्मादेकेन न तथा न कारणान्तरसमवधानं विना स्थित्युत्पत्त्यप्ययाः सम्भवन्त्यतो भावा ब्रह्मादितृणस्तम्बान्तास्त्रिगुणात्मकास्तेषां स्थित्यादीन् येन पश्येदेतदेव विज्ञानं निश्चितमित्यर्थः । द्वितीयमाहुः आदावित्यादि । यदेकं कारणं आदावन्ते चकारादवस्था विशेषेषु मध्ये च एकस्मात्सृज्यात्कार्यात्सृज्यं कार्यान्तरं अनुलक्षीकृत्य इयात् गच्छेत् कार्यस्याद्यन्तमध्येषु यदनुस्यूतं भवेत्तत्प्रतिसङ्क्रामे कार्यस्य प्रलये पुनर्यच्छिष्येत अलीनं तिष्ठेत्, तदेव सद्वस्तुभूतमन्यत्तु आगन्तुकमारोपितं वेति यज्ज्ञानं तदपि विज्ञानमिति भीष्मेण निश्चितमित्यर्थः । **तथा च सर्वमष्टाविंशतितत्त्वात्मकमिति ज्ञानस्य युक्त्या त्रिगुणवैशिष्ट्यज्ञानं विज्ञानम्, केवलं सदिति ज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वं सदिति ज्ञानं विज्ञानमिति फलति।** उभयोर्मध्ये पूर्वस्य प्रयोजनमाह श्रुतिरित्यादि । एतच्चतुष्टयरूपेषु प्रमाणेष्वनवस्थानान्न विद्यतेऽवस्थानं निश्चयो यस्येत्यनवस्थानस्तादृशाद्विकल्पात्स विचारको विरज्यते । तथा च विकल्पाद्विरक्तिः प्रयोजनमित्यर्थः । द्वितीयस्य प्रयोजनमाह-कर्मणामित्यादि । तथा च नश्वरत्वाद्विरिञ्चिपर्यन्तममङ्गलदर्शनात्तत्र श्रद्धानिवृत्त्या मूलकारणे ब्रह्मणि श्रद्धाप्रयोजनमित्यर्थः । एवमुभाभ्यां तत्र निश्चितं प्रयोजनमुक्तम् । **अत्र सर्वत्र मोक्षधर्मवाक्येषु निश्चितो योऽर्थः स उक्तः ।** 'त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्य'मित्यस्योत्तरमाह-भक्तियोग इत्यादि । पूरेति द्वादशाध्याये । परमिति अव्यभिचारित्वादेकादशाध्यायादारभ्यैतावन्तमुक्तेभ्योऽन्येभ्यश्चोत्कृष्टम् । 'एतदग्रे 'यदात्मनी'ति त्रिभिश्चित्तादीनां लक्षणमुक्तम् । एवं ज्ञानमारभ्यैश्वर्यपर्यन्तानां स्वरूपस्य सर्वर्षिसन्निधौ भीष्मेण निश्चितस्य कथनेन विकल्पस्य मायामयत्वज्ञानं तेभ्यो वैराग्यजननाय वैराग्यं गुणवैतृष्ण्यपर्यन्तं यदा भवति तदा तस्य ब्रह्मभावानुगुणत्वात्परमभक्त्युपयोगित्वं न तु तु साक्षादिति बोधितम् ।

तत उद्धवप्रश्नानुरोधेन यमादीनां यत्स्वरूपमुक्तं तदपि मुख्यविज्ञानाङ्गत्वेनेत्याहुः-सत्येत्यादि ।

मार्गत्रयविरोधस्य परिहारस्तथोच्यते ।
अधिकारिविभेदेन मार्गभेदो निरूप्यते ॥८१॥
सर्वाशक्तौ का कथेति शङ्कां वारयितुं पुनः ।
शुद्धिप्रकरणं प्रोक्तं तथा शास्त्रविनिर्णयः ॥८२॥
अन्तःकरणवज्जीवप्रकृत्योरपि संशयः ।

अत्र सत्यादीति कथनमेतेषां सन्निपत्युपकारकत्वं बोधयति ॥८०॥ **अतो द्विविधज्ञानस्य भक्त्यङ्गताप्रकारबोधनायोनविंश इति विचारितम् ।**

(अ.२०) **विंशं विचारयन्ति ।** तत्र विकल्पस्यावास्तवत्वे बोधिते पूर्वकाण्डवैयर्थ्येन वेदविरोधशङ्कोत्पन्नेति तन्निवृत्त्यर्थं विंशोऽध्यायः, सोऽपि परम्परया भक्तिशेष इत्याशयेनाहुः-**मार्गत्रयेत्यादि** । तथा च पूर्वकाण्डे यो भेदो नानाप्रकारेणोक्तः स जघन्याधिकारिणां वैराग्यार्थमतस्तस्य न भेदे तात्पर्यम्, किन्तु वैराग्य इति न पूर्वकाण्डवैयर्थ्यं न वा पूर्वोत्तरकाण्डविरोध इति परम्परया भक्त्यर्थत्वात्तस्यापि भक्तिशेषत्वं निर्बाधमित्यर्थः ॥८१॥ **एवं विंशो विचारितः ।**

(अ. २१) **एकविंशं विचारयन्ति ।** तत्रारम्भे 'य एतान्मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान् । क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति त' इत्युपक्रम्य 'स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः' इत्यनेन भक्तानां भक्तेरधिकारे, ज्ञानिनां ज्ञानस्य, कर्मिणां कर्मणश्च या निष्ठा स गुणः, तदभावो मार्गान्तरनिष्ठा च दोष इत्युक्त्वा शुद्धिप्रकरणमुक्तं ततो वेदार्थनिर्णय उक्तस्तस्य तात्पर्यमाहुः-**सर्वशक्तावित्यादि** । तथा च यो भगवदुक्तमार्गोपायानां यथावत्साधनासमर्थोऽथ च तत्र श्रद्धावाँस्तदर्थमनुकल्पो वक्तव्य इति जघन्याधिकारिणा शुद्धिप्रकरणोक्तरीत्या तत्तच्छुद्धिमवगत्य शनैःशनैः सङ्गस्त्यक्तव्य इत्येतत्त्रितयानुकल्पत्वेनोक्तं तेन वेदे गुणदोषकथनमनुकल्पबोधनार्थं न तु वस्तुभेदबोधनार्थमिति वेदार्थनिर्णयोऽप्युक्त इति सोऽध्यायोऽपि विप्रकृष्टपरम्परया भक्तेरेव शेष इत्यर्थः ॥**एवमेकविंशो विचारितः** ॥

(अ. २२) **द्वाविंशं विचारयन्ति** - तत्र पूर्वाध्यायसमाप्तौ भेदस्य मायामात्रत्वानुवादेनोत्तरकाण्डे भेदस्य निषेधाद्वेदानामभेद एव तात्पर्यमितिश्रुते ऊनविंशाध्यायोक्ता तत्त्वानामष्टाविंशतिसङ्ख्यापि मायिक्येव सिद्ध्यतीति सा कुतोऽङ्गीकृतेति ज्ञातुं कति तत्त्वानीति सङ्ख्याविषयकः प्रश्नस्तत्रापि भगवता मतान्तराणामेव यौक्तिकत्वमुक्तम्, न तु स्वमतस्येति भेद एव पर्यवसितो नाभेदस्तथा सति प्रकृतिपुरुषविवेकार्थं वैराग्यं न तु साक्षाद्भक्त्यर्थमित्यवगत्य पृच्छतीत्याशयेनाहुः--**अन्तःकरणेत्यादि** । यथा सनकादीनां 'गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च'ेति गुणचेतसोः स्वरूपभेदज्ञानेऽपि तदन्योन्यसंत्यागहेतुसन्देहस्तद्वदत्र जीवप्रकृत्योः (स्वरूपभेदज्ञानेऽपि) स्वरूपवैलक्षण्यज्ञानेऽप्यन्योन्यसंश्लेषान्न भेदज्ञानमिति सन्देहः प्रकृतिपुरुषश्चोभावित्या-

उभयं हरिरेवेति तत्र वै निर्णयः कृतः ॥८३॥
मायया त्रिविधं भानं न प्रवृत्तिधियां भवेत् ।
तदाऽपराधसम्बन्धादन्यदाऽपि न मुच्यते ॥८४॥
एतच्छङ्कापरित्यागो मनोदोषान्न च स्वतः ।
तस्मान्मानसदण्डे हि नाऽपराधः कदाचन ॥८५॥
दण्डस्य च परिज्ञानं यद्यतिक्रमणं सहेत् ।

दिभिरुक्त इत्यर्थः। उत्तरग्रन्थस्यार्थमाहुः--उभयमित्यादिसार्द्धाभ्याम्। एवं प्रश्ने कृते भगवान् संख्यायाः सार्थकत्वं वास्तवभेदस्य मायिकत्वं च समर्थयितुं 'प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षमे'त्यादिना प्रकृतिपुरुषभेदस्य वाचारम्भणत्वाय वैकारिकत्वं तदर्थं स्वमायाया आध्यात्मिकादित्रिविधबुद्धिजनकत्वं चोक्त्वा दृग्दृष्टान्तेनोपाधितः परस्परसापेक्षतयैकस्यैवांशतस्त्रैविध्यमंशिनस्ततो भिन्नत्वं च बोधयित्वा 'आत्मा यदेषामपरोऽयमाद्यः स्वयानुभूत्याऽखिलसिद्धसिद्धि'रित्यर्द्धेनाकाशे स्थितस्य सूर्यस्येव प्रकृत्यादिभ्यो व्यतिरिक्तस्यात्मन आद्यत्वं स्वधर्मेणानुभवेन सर्वानुभावकत्वं चोक्त्वा, एवं त्वगादीत्यादिनेन्द्रियाणां त्रैविध्यं विकारस्य प्रधानजन्यत्वं पूर्वोक्तनानातत्त्वप्रकारवादस्यात्मस्वरूपाज्ञानजन्यत्वाद्वयर्थस्यापि स्वलोकपदोक्तस्वात्मज्ञानमात्रपर्यवसितानां भगवतः सकाशात्पराङ्मुखबुद्धीनां बुद्धौ सर्वदा स्थित्या तस्य विवादस्यानिवृत्तिमाह। तेन प्रकृतिपुरुषौ न वस्तुतो भिन्नौ, किन्तु धर्मभेदेन वाचारब्धौ निवृत्त्यर्थकव्यवहारोपयोगिनौ। यथा पूर्वकाण्डोक्तो भेदो वस्तूनां निवृत्त्यर्थकव्यवहारोपयोगी तद्वदिति वस्तुत उभयं हरिरेवेति अपागादग्नेरग्नित्वमितिवन्निर्णयः कृतः। तेनोक्तरीत्या त्रिविधं मायया भगवद्विमुखानां भवतीत्यभेद एव तात्पर्यमित्यर्थः। ततः 'त्वत्तः पराङ्मुखधिय' इत्यादिना तत्संसारप्रकारप्रश्ने 'मनः कर्ममय'मित्यादिना संसारानिवृत्तिं तेषामाह। तेन भगवद्वैमुख्ये भेदबुद्ध्यनुवृत्त्याऽपराधसम्बन्धान्न मुच्यत इत्युक्तम्। ततः 'तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्वे'त्यादिना तन्निवृत्तिप्रकारमाह। तेनैतादृशी शङ्का मनोदोषादेव जायत इति दुष्टे मनसि सा न निवर्त्तते तस्मान्मनोदण्डः कर्तव्य इत्युक्तमित्यर्थः। अत्रापि प्रापञ्चिकानां मायिकत्वं वैराग्यार्थमुच्यत इति प्रकरणादेव सिद्धम्। वैराग्यं च भक्त्यर्थमिति पूर्वमुक्तमग्रे च वक्तव्यम् ॥८२॥ ॥८५॥ एवं द्वाविंशो विचारितः ॥

(अ.२३) अतः परं भेदोऽपारमार्थिकोऽप्यागन्तुको वा आरोपितो वेति सन्देहोऽवशिष्यते सोऽग्रे चतुर्विंशे निवारणीयः। साम्प्रतं तु प्रश्नानुरोधेन त्रयोविंशे मनोदण्डस्य दण्डितमनसश्च परिज्ञानप्रकारमेव भगवानुक्तवानित्याहुः--दण्डस्य चेत्यादि

तस्य साधनविज्ञाने गुरुर्भिक्षुर्निरूप्यते ॥८६॥
तथा चेद्भावयत्येष तदा स्याद्दण्डितं मनः ।
मनसस्तु परित्यागे न किञ्चिन्मृग्यतेऽपरम् ॥८७॥
यदा पुनः साधकत्वं तस्य वाञ्छति कर्हिचित् ।
तदा साङ्ख्यप्रकारेण सर्वं ज्ञात्वा न मुह्यति ॥८८॥
गुणैश्चेन्मोहमायाति तदा तेषां जयो यथा ।
तच्च तेषां स्वरूपं च तावन्मात्रनिवारणे ॥८९॥
निर्गुणानां पदार्थानां स्वरूपं विनिरूपितम् ।

द्वाभ्याम्। तथा चात्र मनसः परित्यागे सति न साधनान्तरापेक्षेति सिद्धेरयमध्यायः पूर्वाध्यायस्यैव शेष इत्यर्थः ॥ एवं त्रयोविंशो विचारितः।

(अ. २४-२५) अतः परमभेददार्ढ्याय भेदस्वरूपविषयकं सन्देहं वारयितुं स्वोक्ताष्टाविंशतितत्त्वपक्षस्योपयोगित्वं च बोधयितुं द्वावध्यायावित्याशयेन तौ विचारयन्ति-यदा पुनरितिसार्द्धाभ्याम्। तावन्मात्रनिवारण इति। अष्टाविंशतितत्त्वमात्रत्वनिवारणार्थम्। अयमर्थः। ऊनविंशे तस्माज्ज्ञानेन सहित'मितिद्वाभ्यां ज्ञानसम्पत्तेर्भक्तिशेषत्वमुक्तम्। ततो नवैकादशेति त्रिभिर्गौणमुख्यभेदेन द्विविधं ज्ञानविज्ञानयोः स्वरूपमुक्तम्। तत्र ज्ञानसम्पत्त्या यदा भजेत्तदा संन्यासी सन् विंशत्रयोविंशोक्तरीत्या मनो दण्डयित्वा भजेत्। यदा तु न तत्राधिकारस्तदा आश्रमान्तरे चतुर्विंशपञ्चविंशोक्तरीत्याऽष्टाविंशतितत्त्वपक्षोक्तभेदस्यागन्तुकत्वमवगत्याधिदैविकवादमाश्रित्य विज्ञानसम्पत्त्या भजेदिति चतुर्विंशपञ्चविंशयोस्तात्पर्यम्। 'येन मे निर्जिता सौम्ये'त्यादिभिः सार्द्धैश्चतुर्भिरवगन्तव्यमिति। तेन वैराग्यं श्रद्धा च साक्षात्परम्परया वा यथाधिकारं भक्तेरेव शेषौ। भजनप्रकारश्च 'मल्लिङ्गमद्भक्तजने'त्येकादशोक्तः, 'पुनश्च कथयिष्यामी'त्यूनविंशोक्तश्च यथाधिकारं बोध्यः। भक्तिस्वरूपादिकं च 'न रोधयती'त्यादि द्वादशोक्तं बोध्यमितिबोधितम्। ततश्च मुख्याधिकारे द्वादशोक्ता शरणागतिरेव साधनम्। मध्यमे ऊनविंशोक्तमात्मसमर्पणपूर्वकं भजनम्। जघन्य एकादशोक्तरीतिकमिति सर्वत्र भक्तिशेष एवेति ॥८६॥८९½॥ एवं चतुर्विंशपञ्चविंशौ विचारितौ।

एवं जातोऽपि सङ्गेन पुनश्चेन्नाशमेति हि ॥१०॥
तथा पुरूरवाः प्रोक्तः स्वात्मानं स्वयमुक्तवान्।
सङ्गान्नष्टः पुनः सङ्गं विमुच्य लभते गतिम् ॥११॥
जन्मान्तरे स्मृत्यभावे सङ्गान्नष्टो यदा भवेत्।
तदा का गतिरित्यत्र हरिपूजा निरूपिता ॥१२॥
तेन जातिस्मरो भावी तस्या ज्ञानं हरिः स्वयम्।
जातिस्मरस्य वदति सर्वसाधनपूर्वकम् ॥१३॥
तत्रोपपत्तिर्निखिला वर्णितोद्धवबुद्धये।
तथा रोगाद्यभावाय साधनानि हरिर्जगौ ॥१४॥

(अ. २६-२७) अतः परं षड्विंशोऽप्येतस्यैव शेषो वैराग्यबोधनेनेत्याहुः-एवं जातोऽपीत्यादिसार्द्धेन, प्रोक्त इति गुरुः प्रोक्तः। सप्तविंशोऽप्येतच्छेष इत्याहुः-जन्मान्तर इत्यादि। 'दैवीसम्पद्विमोक्षाये'ति वाक्यात्। दैव्यां सम्पदि विमोक्ष आवश्यकः। तादृशस्य यदि वासनावशात्सङ्गस्तदा प्रतिबन्धस्तस्मिन् सत्येव यदि देहः पतति दैव्याः सम्पदो धर्माश्च प्रारब्धनाशे पुनरुद्बुध्यन्ते तदा तस्य मुमुक्षायां का गतिः कथं निस्तार इत्याशयेन प्रश्ने नानर्षिभिर्नानाप्रकारेणोक्तस्य कर्मकाण्डस्य सङ्क्षेपरूपा हरिपूजा तादृशाधिकार्यर्थं तृतीययोगरूपं साधनमुक्तम्। तेन ज्ञानमिव तदपि भक्तेरेव शेषः। परं विप्रकर्षेण प्रकारविशेषेण चेति विशेषः। उपसंहारे 'भक्तियोगं स लभते' 'एवं यः पूजयेत मा'मित्यनेन निःश्रेयसत्वप्रश्नोत्तरणादित्यर्थः। ॥९२॥ एवं सप्तविंशो विचारितः॥

(अ. २८) अष्टाविंशं विचारयन्ति तेनेत्यादिद्वाभ्याम्। वदतीति पूर्ववत्प्रतिबन्धाभावार्थं वैराग्यस्यावश्यमपेक्षितत्वात्तदर्थं मायावादं भक्त्यर्थं ब्रह्मवादं च वदतीत्यर्थः। एतावता 'निःसङ्गो विचरेदिहे'त्यन्तस्यार्थ उक्तः। निखिलेति मायावादसम्बन्धिनी ब्रह्मवादसम्बन्धिनी च। अनेनार्द्धेन उद्धवप्रश्नस्य 'यावद्देहेन्द्रिये'त्यारभ्य 'द्वयं पण्डितमानिना'मित्यन्तस्य ग्रन्थस्य चार्थ उक्तः। तथा रोगेत्यर्द्धेन 'योगिनोऽपक्वयोगस्ये'त्यारभ्यान्तस्यार्थ उक्तः। न च 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्य'मिति पातञ्जलसूत्रात् प्रकृतिप्राकृतवैराग्यस्य तेषां भेदवादिनामप्यभीष्टत्वात्तदर्थं तद्विहाय मायावादस्य किमित्यादरणमिति शङ्क्यम्। जीवविषयकवैराग्यस्याप्यत्र विवक्षितत्वेन

तत्राऽशक्तं तदानीं हि फलप्रेप्सुं विचार्य हि।
उद्धवं सुगमं प्राह प्रकारं सर्वमिश्रितम् ॥१५॥
तत्राप्यशक्तं तं ज्ञात्वा बदर्यां प्रेषयत्यजः।
साधनान्याह तत्राऽपि यत उक्तं हृदि स्पृशेत् ॥१६॥
एवं चतुर्विंशतिभिर्जीवमुक्तिर्निरूपिता।

तदादरणात्। प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पोऽविद्यमानोऽप्यवभासते यो वैकारिको राजससर्ग एषः,'देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो जीवोन्तरात्मे'त्यादिवाक्यैस्तथानिश्चयात्। न च मायावाद एव तात्पर्यमिति शङ्क्यम्, 'ज्ञानं विवेको निगम' इत्यादिवाक्यचतुष्टये 'यथा हिरण्यं सुकृत'मित्यादिभिः कार्यजातस्य ब्रह्मत्वनिरूपणविरोधप्रसङ्गात्। तस्माद्द्वैतप्रतिपन्नस्यैव मायिकत्वं न त्वैच्छिकस्येति ब्रह्मवाद एव तात्पर्यमिति निश्चयः। तस्मादयमप्यध्यायो भक्तेरेव शेषः परम्परयेतिबोधितम् ॥ ९०॥९४॥ एवमष्टाविंशो विचारितः॥

(अ. २९) ऊनत्रिंशं विचारयन्ति तत्राशक्तमित्यादिद्वाभ्याम्। तथा च सोऽप्यध्यायोऽनुकल्पबोधकत्वाद्भक्तेरेव शेष इत्यर्थः। ननूपक्रमे 'विद्धी'ति 'पश्यन्नि'ति कथनादुपसंहारे च 'एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रहः' इतिकथनाच्च ज्ञान एव तात्पर्यमवगम्यत इति तस्यैव प्रकरणित्वम्। भक्तिस्तु 'यद्यनीशो धारयितुमि'त्यादिना ज्ञानानुकल्पतयोक्तेति तत्र तात्पर्यस्याशक्यत्वेन प्रकरणित्वासम्भवात्सर्वस्य भक्तिशेषत्वप्रतिपादनमसङ्गतमिति चेत्-

अत्रोच्यते। लिङ्गान्तरैर्भक्तौ तात्पर्यनिश्चयेनोपक्रमोपसंहारयोर्नैर्बल्ये भक्तेरेव प्रकरणित्वस्य सिद्धत्वात्सर्वस्य तच्छेषत्वप्रतिपादनं नासङ्गतमिति। तथाहि, एकादशेऽध्याये 'अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन। सुगोप्यमपि वक्ष्यामी'ति प्रक्रमभेदेन सुगोप्यपरमगुह्यत्वरूपामपूर्वतां प्रतिज्ञाय द्वादशाध्याये भक्तावेव तद्बोधनात् 'मत्कामा रमणं जारं मत्स्वरूपविदोऽबलाः। ब्रह्म मां परमं प्रापु'रिति। ज्ञानं विनापि भावेन सङ्गादेव स्वप्राप्तिकथनात्, तत्रापि 'शतसहस्रश' इतिकथनेन काकतालीयनिवारणात्। त्रयोदशे हंसगीतायां नानात्वभ्रमनिरूपकं ज्ञानं निरूप्य 'एवं विमृश्य गुणत' इति श्लोके नानात्वभ्रमनिवर्त्तकं ज्ञानं निरूप्य 'भजत माखिलसंशयाधि'मिति तस्य कण्ठत एव भजनाङ्गत्वबोधनात्। ऊनत्रिंशेऽपि 'ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो' 'भज मां

भक्तिभावित' इत्युपदिश्य तदर्थमेव तयोः श्रद्धावैराग्ययोश्च कथनात्। शीघ्रं भक्तिभवनार्थं परमकारणान्युपदिश्य 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यत' इति तत्प्रशंसावादात्। चतुर्दशे भक्तोत्कर्षस्य भक्तिबलस्य तत्फलोत्कर्षस्य साङ्ख्ययोर्धर्मविद्ययोस्ततो न्यूनत्वस्य च बोधनेन षोडशे भक्तियुक्तबुद्ध्यैव परिसमाप्तिबोधनेनोपपत्तेः सप्तदशाष्टादशयोर्भक्त्यर्थमेव धर्मकथनेनाग्रिमेष्वपि तच्छेषस्य तदनुकल्पस्यैव बोधनेन च सर्वत्र तस्या एव मुख्यतयाऽभ्यासाच्च भक्तावेव तात्पर्ये निश्चिते उपक्रमे ज्ञानकथनं मैत्रेयीब्राह्मणे जीवात्मोपक्रमवत्सौलभ्यार्थम्। उपसंहारे ब्रह्मवादोल्लेखश्च मायादिवादस्य परम्परयाङ्गत्वबोधनार्थमित्यवधेयम्। 'यद्यनीश'इत्यादिना यदनुकल्पत्वकथनं तत्तूपासनाशेषभूतभक्तिसाधनत्वेन पर्यवस्यदेकादशाध्ययोक्तभक्तावेव तथात्वं पर्यवसाययतीति प्रकरणादेवावसीयते। 'अथैतत्परम'मिति मुख्यभक्तिप्रक्रमभेदाच्चेति पूर्वोक्तमविवादम्। ननु 'मत्कामा रमण'मिति श्लोके स्वस्वरूपज्ञानरहितत्वमन्तर्गृहगतानामेवोच्यते। जारपदेन तद्बुद्धिविषयस्यैवोल्लेखात्। 'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सङ्गता' इति शुकवाक्यसामानाधिकरण्येन तथा निश्चयात्। रासस्थानां तु सन्देशेन कुरुक्षेत्रे साक्षादुपदेशेन च ज्ञानस्य दानात्सहकारित्वमेव समायातीति ज्ञानकर्मसमुच्चयवज्ज्ञानभक्तिसमुच्चय एव तात्पर्यम्, न तु ज्ञानस्याङ्गत्व इति चेन्न, रमणपदोक्तविषयान्तरोल्लेखवैयर्थ्यापातात्। 'रामेण सार्द्ध'मित्यादिश्लोकत्रयोक्तरासस्थलिङ्गविरोधापातात्। 'केवलेन हि भावेने'तिश्लोकोक्तस्य केवलपदस्य गवादीनामुल्लेखस्य 'मूढधिय' इत्यन्यविशेषणस्य च विरोधात्। अतो ज्ञानोपदेशो ज्ञात्वा पाने महान् रस इति रसाधिक्यार्थमेव स्रक्चन्दनाद्युपकरणवन्न तु फलार्थमिति नात्र कोपि शङ्कालेश इति बुद्धिमद्भिरनुसन्धेयम्। ननु यद्येवं तदा 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता' इति फलार्थं किमिति मार्गत्रयकथनमिति चेत्? अधिकारिभेदेन भिन्नफलदानार्थमित्यनुसन्धेहि। ननु तथापि 'न निर्विण्णो नातिसक्तो' इति भक्तौ मध्यमस्याधिकारित्वं कथं सङ्गच्छते इति चेत्, तन्न, मुख्यभक्तिं लक्षीकृत्येति बुध्यस्व। न चात्र मानाभावः। तत्रैवाध्याये 'जातश्रद्धो मत्कथा'स्वित्यादिना तस्य स्वरूपमारभ्य 'कथञ्चिद्यदि वाञ्छन्ती'त्यन्तेन फलान्तमुक्त्वा 'न मय्येकान्तभक्ताना'मित्यादिभिस्त्रिभिर्मुख्याधिकारिस्वरूपकथनस्यैव मानत्वात्। अत उक्तरीत्या **सर्वसामञ्जस्यान्मुख्यभक्तेः प्रकरणित्वमक्षुण्णमिति निश्चयः**॥९५॥९६३॥

प्रकृतमनुसरामः। प्रकरणमुपसंहरन्ति—एवमित्यादि। एवं सार्द्धपञ्चषष्ठिभिः सायुज्यरूपजीवमुक्तिप्रकरणं विचारितम्।

ब्रह्ममुक्तिस्ततो द्वाभ्यां ममाहम्भावभेदतः ॥९७॥
ब्रह्म कृष्णस्तन्मयत्वं यादवादिषु संस्थितम् ।
तेषामभावकथनादभिनीतो ममक्षयः ॥९८॥
देवप्रार्थनयाहं च नटवद्वेषमन्यथा ।
त्यजतीतीश्वरस्यापि तत्र हेतुः सुरार्थना ॥९९॥
पूर्वत्र त्रितयं हेतुर्हरीच्छा पृथिवीभरः ।
उद्धृतत्वाद्देवभावः स्वपदप्रापणं ततः ॥१००॥

(अ. ३०) अतः परं **ममताहन्तानाट्यत्यागरूपब्रह्ममुक्तिप्रकरणं सार्द्धत्रयोविंशतिभिर्विचारयन्ति—ब्रह्ममुक्तिरित्यादिभिः। ममाहम्भावभेदत इति।** ममताहन्ता नाट्यत्यागभेदतः। एतेन ब्रह्मणो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वस्य श्रुतिसिद्धत्वाद्बन्धाभावेन तन्मुक्तिकथनमनुपपन्नमितिशङ्का निरस्ता। अत्रैवैकादशाध्याये 'बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः, गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धन'मित्यनेन स्वमते भगवता जीवबन्धस्यापि मायाकृताहङ्कारजन्यत्वेन भ्रान्तिमूलत्वव्यवस्थापनात्सः जीवस्यापि न वास्तवः किन्त्वभिमानमात्रः, परं मायानिवृत्तिं विना (न) निवर्त्तत इति तन्निवृत्त्यर्थं भक्तिज्ञानोपासनानि यथाधिकारमावश्यकानि। स्वस्य तु माया शक्तिरूपा दास्यं कुर्वाणा तिष्ठतीति न तद्गुणकृतः सः किन्त्वैच्छिक इति तदभावे तदभावादिति। तदेतद्विशदीकुर्वन्ति—ब्रह्मेत्यादिभिः। **अभिनीत इति।** ब्रह्मवादे भगवता स्वस्यैव सर्वात्मकत्वमभीक्ष्णश उक्तमिति ममत्वस्याभिनयमात्रत्वात्तेषामभावकथनेन **ममत्वक्षयो**ऽप्यभिमानमात्र इति तथेत्यर्थः ॥९७॥९८॥ अहन्तात्यागे विशेषमाहुः—देवेत्यादि। **अहमिति।** अहम्भावक्षयोऽभिनीत इत्यन्वयः। एतेन 'स आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मी'ति। 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'अहं योगस्य साङ्ख्यस्ये'त्यादिषु योऽहम्प्रयोगः स नाभिमतविषयः किन्त्वात्मविषयः। उक्तश्रुतौ तथैव सिद्धत्वात्। अतो नटवद्यः कपटमानुषवेशोऽहन्ताभिनयस्तस्यात्र देवप्रार्थनया त्यागोऽभिनीत इत्यर्थः। नन्वत्र सुरार्थनायाः किं प्रयोजनमत आहुः—ईश्वरस्येत्यादि। कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य प्रकारान्तरेणापि देवादिदुःखनिवारणसमर्थत्वान्मानुषवेशग्रहणे सुरार्थनैव बीजमतोऽत्रापि सैव हेतुरुक्तेत्यर्थः। तर्हि ममताक्षये को हेतुरित्यत आहुः—**पूर्वत्रे**त्यादि। अत्र हेतुद्वयं स्कन्धारम्भ एवोक्तम्। उद्धृतत्वादिनोक्तस्तु प्रकरणबललभ्यः। तत्रापि देवभावः श्रौतः। 'हरिꣳ हरन्तमनुयन्ति देवा' इति **तैत्तिरीये** ब्रह्ममेधश्रुतेः। द्वितीयं तु'यत एतद्विमुच्यते' इति तदर्थं प्राकट्याज्ज्ञेयम् ॥९९॥१००॥

यथा कृतं वदत्येष तेन जातः परीक्षितः ।
भ्रमः स्वतुल्यता तेन चैव पृष्टं तथाविधम् ॥१०१॥
तिरोधानेच्छया जाताः शकुनाभावभूमयः ।
कालः सेवकरूपाद्धि विभ्रष्टः स्वां गतिं गतः ॥१०२॥
अधिकारप्रदानेन निमित्तानि ततोऽभवन् ।
भगवांस्तत्पूर्वमेव कृतवानिति सत्यवान् ॥१०३॥
न प्रतीकार इत्याह देशो गौणोऽत्र सम्मतः ।
काले समागते तस्यात्स्त्रीबालानां विनाशनम् ॥१०४॥
अधर्मश्च तदा भूयाद् द्वारकाऽपि विनश्यति ।
मुक्तिश्च तेषां जायेत स्वामिकार्यं च तैः कृतम् ॥१०५॥
अतः स्वपदमेवैते प्रापणीया न संशयः ।
शापदोषनिवृत्त्यर्थं मुक्तं कारितमेव च ॥१०६॥

(अ. ३०) एवं सार्द्धैस्त्रिभिः प्रकरणार्थं विचार्य प्रथमाध्यायार्थं दशभिर्विचारयन्तो राजप्रश्नहेतुं पूर्वमाहुः-यथेत्यादि । यथाकृतमिति यथाप्रतीतिविषयीकृतम् । स्वतुल्यतेति जीवतुल्यता । भातेति शेषः । तथाविधमिति तनुत्यजनम् । तथा च शुकतात्पर्यानभिज्ञानाद् भ्रम इत्यर्थः । शुकोक्तितात्पर्यं वदन्त इच्छाकारं ज्ञापयितुं भगवत्कृतेस्तात्पर्यं वदन्त उत्पातदर्शने हेतुमाहुः-तिर इत्यादिसार्द्धेन । षष्ठाध्याये शापस्य दुरत्ययत्वमुक्तमिति तत्तात्पर्यमाहुः-भगवानित्यादि । तथा चेच्छाविषयत्वादप्रतीकार्य इत्यर्थः । स्त्र्यादीनां शङ्खोद्धारे प्रेषणस्य यादवानां प्रभासे नयनस्य च यदाज्ञापनं तत्तात्पर्यमाहुः-देश इत्यादि । अत्रेति अस्यामिच्छायां देशो द्वारकाख्यमुक्तिक्षेत्ररूपः परमकल्याणोऽपि कालापेक्षया अप्रधानो विचारितः । तत्तस्माद्धेतोराधिकारिकं कार्यं कुर्वाणे काले समागते तथा स्यादतस्तथा प्रेषणं नयनं चेत्यर्थः । 'वयमि'तिपदसूचितस्वसहनयनतात्पर्यमाहुः-मुक्तिरित्यादि । एतेन 'प्रभासं सुमहापुण्यं यास्याम' इत्यस्य व्याख्याने श्रीधरेण यदुक्तम्, 'एते देवांशा अधिकारित्वात्सद्यो मुक्तिं नार्हन्तीत्यतो द्वारकातस्तेषां प्रभासे नयनमि'ति तन्निरस्तम् । अभिषेकाद्याज्ञापनतात्पर्यमाहुः-शापेत्यादि । तथा च ब्रह्मदण्डस्य दुरत्ययत्वान्मुक्तिं प्रतिबध्नीयादिति तन्निवृत्त्यर्थं तथाकथनं करणं चेत्यर्थः । एतेन 'यत्र स्नात्वा दक्षशापा'दिति ब्रह्मरूपसरस्वतीयुक्तक्षेत्रत्वं मुक्त्यभावगमकमित्यपि शङ्का निरस्ता ।

रामस्य सत्त्वदेहस्तु पूर्वमेव निरूपितः ।
जराभिमानी यो देवः स लोके कार्यतः श्रुतः ॥१०७॥
विस्मृत्य स्वात्मरूपं हि वने चरति लुब्धकः ।
पशुपक्षिमृगासक्तः शापरूपं तु यद् बृहत् ॥१०८॥
तत्पदे योजयामास पूर्णे ब्रह्मणि सुस्थिरम् ।
अधिभूतप्रकारेण हरिणत्वमुपागतः ॥१०९॥
ब्रह्म कृष्णाजिनमिति श्रुत्या तादृक्त्वमागतः ।
एवं बहिः स्थितं सर्वं स्वात्मन्येव निवेशयेत् ॥११०॥

'विमुक्तः किल्बिषात्सद्य' इत्यादिवाक्यशेषेण पापनिवृत्त्या पूर्वरूपसम्पादनस्यैव तत्र बोधनात् । अतः सेवाफलप्रतिबन्धनाशायैव नयनम् । एवञ्च 'क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः । भ्राताऽपि भ्रातरं हन्या'दिति 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यत' इति 'द्वौ सम्मताविह मृत्यू दुरापा'वित्यादिवाक्यैश्च युद्धं धर्मस्तेन मृत्युश्च मुक्तिसाधनमतो भगवतः षष्ठो गुणः प्रादुर्भूतस्तेषां मौढ्योत्पादनेन स्वजनान् विस्मारयँस्तत्समये वैराग्यं दृढीचकारेति मुक्तिप्रतिबन्धकदोषनिवृत्त्यर्थमेव तथाकारितमिति शापोऽपि ये एतमाशयं न जानन्ति तेषामेवान्यथाभानहेतुरितिभावः । तेन 'भगवन्मतकोविदा' इति मुनिविशेषणमप्येतादृशभगवदभिप्रायज्ञातृत्वस्य बोधकम् । किञ्च, मुक्तौ दित्सितायां तदुपायकारणमावश्यकम्, उपायास्तु 'कायक्लेशावहा' इति पुष्ट्यैव कायक्लेशानावहाभ्यस्तत्साधनात्मके युद्धे तच्चित्तप्रेरणमितीयमपि लीला पुष्ट्यैव प्रकारदर्शनेनैव परमपुराणां व्यामोहः । तेन षष्ठस्कन्धीयनिबन्धसमाप्तौ यदुक्तं 'सर्वलीलाः पुष्टिमध्ये प्रविशन्तीति मे मति'रिति तदत्रापि निष्प्रत्यूहम् । एवमन्यत्राप्यनुसन्धेयमिति दिक् ॥१०१॥१०६॥ 'रामः समुद्रवेलाया'मित्यस्य तात्पर्यमाहुः-रामस्येत्यादि । पूर्वमिति प्रथमस्कन्धनिबन्धे पञ्चरात्रवाक्येषु 'रोहिणीनन्दन' इत्यत्र । तथा च 'तत्याज लोकं मानुष्य'मित्यनेन तस्यैव त्याग उच्यते न तु नैसर्गिकस्येत्यर्थः । 'मुशलावशेषायः खण्डे'त्यादेस्तात्पर्यमाहुः-जराभीत्यादि । जरा कालकन्या । कार्यतः वलीपलितादिरूपकार्यतः । यद् बृहदिति । आधिभौतिकमक्षरांशम् । पूर्णे ब्रह्मणीति आधिदैविकेऽक्षरे । उपागत इति अक्षरात्मकश्चरण इति शेषः । हरिणत्वप्रयोजनमाहुः-कृष्णेत्यादि । श्रुतिस्तु 'निषसादधरोपस्थ' इत्यादेस्तात्पर्यं वदन्तोऽग्रिमाध्याये वक्ष्यमाणं कार्यं विचारयितुं स्थितिरित्याहुः-एवमित्यादि । अयमर्थः । अत्र हि 'एवं नष्टेषु सर्वेष्वि'त्यत्रोक्तो नाशो

तत आवरणाग्निं हि प्रकटीकृत्य तत्र वै।
तिरोभूय स्वयं भूयस्तं च विद्युन्निभं तथा ॥१११॥
तिरोधानं कारयितुं व्यवसायात् स्थितः क्षणम्।
तदा देवा भ्रमं याता वैकुण्ठेऽद्य प्रयास्यति ॥११२॥
विष्णुः सगुण एवाऽयं विमानेन तदा वयम्।
सहोत्सवेन महता नेष्यामः स्वस्वमन्दिरम् ॥११३॥
भ्रमात्तु यथा नाऽभूत्तेन तेऽप्यत्र विस्मिताः।

न नैकायिकादिमतिपन्नो ध्वंसः, किन्तु विनाशः–कारणे लय इति कपिलोक्तः सूक्ष्मभावापन्नस्य कार्यस्य कारणान्तः श्लेशः। पुराणे प्रतिसङ्क्रमस्य श्रुतौ च यत्प्रयन्तीति प्रकर्षेण गमनस्य सत्कार्यवादेनाङ्गीकारात्। अतः क्रमेण स्वस्मान्निर्गत्यैवं वहिःस्थितं सर्वं स्वात्मन्येवानेन प्रकारेण युगपत्प्रवेशयन्। ततः प्रवेशानन्तरं 'योगधारणयाग्नेय्ये'त्यनेन वक्ष्माणमावरणाग्निं 'रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः। वन्हिमध्ये स्थितं सत्यं सत्यस्यान्तःस्थितोऽच्युत'इति श्रुत्युक्तम्, 'तस्य मध्ये वन्हिशिखा अणीयोर्ध्वा-व्यवस्थित' इति तैत्तिरीयसन्दर्भश्रावितं जीवकलारूपं वा, उक्तसन्दर्भे 'नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरे'त्युक्ताया उपमाया अत्र 'सौदामिन्या यथे'ति दृष्टान्तेन स्मारणात्। प्रकटीकृत्य तत्राग्नौ वै निश्चयेन स्वयं तिरोभूय परमात्मत्वेनान्तःस्थित्या वहिरदृश्यो भूत्वा तमग्निं विद्युन्निभं तथा विद्युद्रीत्या तिरोधानं कारयितुं व्यवसायाद् व्यवसायं कृत्वा क्षणं स्थित इत्यर्थः। तथा च 'बिभ्रच्चतुर्भुजं रूप'मित्यादिभिः स्वरूपवर्णनं नित्यस्य स्वरूपस्य तिरोधानेऽपि स्थितिबोधनार्थम्। अन्यथाऽत्र प्रयोजनाभावाद्वृथा स्यात्। अत एवेच्छाशरीरिणेत्युक्तम्। अतस्तथातिरोधानमिति भावः ॥१०७॥ ॥१११॥ अतः परं'भगवान् पितामहं वीक्ष्ये'ति श्लोकोक्तनेत्रे निमीलनस्य तात्पर्यं प्रसङ्गादत्राहुः-तदेत्यादि। तथा च भगवता सर्वेषां ज्ञानशक्तिप्रदस्वनेत्रनिमीलनेन तेषां ज्ञानशक्तिस्तिरोधापिता। तेन तेषां सगुणत्वादिभ्रमो वृत्तः। 'सलोकान् लोकपालान्नः पाही'ति प्रार्थनायां 'यास्यामि भवनं ब्रह्मन्नेतदन्ते तवानघे'त्युत्तरणाद्विमानेन वैकुण्ठं यास्यतीति च भ्रमो वृत्तः। भगवांस्तु गुणातीत एवाक्षरे विद्यमानो मायामुद्घाट्य(उत्पाद्य) तत्रैव प्रकटीभवतीति न तस्य यानम्। 'यास्यामी'ति वाक्यं तु प्रभासस्य ब्रह्मरूपसरस्वत्यधिष्ठितत्वात्तत्परम्। एतदन्त इति सप्तमी तु चर्मणीत्यादिवत्सप्तम्यर्थे। अतस्तेषां भ्रमात्तु तथा नाभूत्। तेन ते देवा अप्यत्रैवं तिरोधानकरणे विस्मिता इत्यर्थः। यादवद्दारुकस्यापि सेवाकर्तृत्वात्तदाज्ञापनादितात्पर्यं वक्तुं तत्स्वरूपा-

दारुको विष्णुलोकाद्धि समायातो जयादिवत् ॥११४॥
तत्रैव सरथो यातः स तु भक्तो बभूव ह।
बलवद् रुक्मिणीमुख्या नाद्यं सर्वमिहोदितम् ॥११५॥
अथ चैकादशे स्कन्धे मुक्तिरेका विधीयते।
अहन्ताममतानाशरूपा साधनसंयुता ॥११६॥
साधनद्वितयं पूर्वं प्रक्रियाद्वितयेन हि।

दिकमाहुः-दारुक इत्यादि। तथा च सालोक्यसामीप्ये अनुभूय सायुज्यरूपां परममुक्तिं प्राप्त इत्यर्थः। 'कृष्णपत्न्यो विशन्नग्नि'मित्यादेस्तात्पर्यं वक्तुं तद्देहस्वरूपमाहुः-बलवदित्यादि। परिहासाध्याये 'क्व स्वे महिम्नि अभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादे'त्यत्र तत्स्वरूपस्य गुणप्रकृतित्वेनोक्तत्वादन्यत्र मूलप्रकृतित्वेन कथनाच्च तद्देहः सत्त्वात्मकः। मुख्या इत्यनेनाष्टावक्रशप्ता व्यावर्त्तिताः। एवं चात्र सन्दर्भे भगवानेव स्वयं गुणातीतः परिकरस्तु मुख्यः सात्त्विकः, शेषस्तु राजसस्तामसश्च। तस्य सर्वस्य सूक्ष्मं शरीरं दशमस्कन्धोक्तप्रकारेण त्यक्तवासनं गुणातीतं ब्रह्मभूतं विधाय स्थूलं सगुणं शरीरमनया रीत्या त्याजितवान्। ततश्च चतुर्लक्षणीफलाध्यायोक्तरीत्या विद्वन्मण्डनोक्तरीत्या च ब्राह्मदेहस्य विद्यमानत्वादिदं सर्वं नाद्यमिहोदितमित्यर्थः। इदं यथा तथा विद्वन्मण्डनटीकासमासौ लीलानित्यतावादविवरणे निपुणतरमुपपादितमिति न पुनरत्रोच्यते ॥११२॥११५॥

एवं चतुर्भिः प्रकरणैश्चतुर्धा मुक्तिं निरूप्य पूर्वप्रकरणद्वयोक्तमुक्तेर्जीवसम्बन्धित्वेन साक्षाद्ब्रह्मधर्मत्वाभावात्तदंशे स्कन्धार्थस्य ब्रह्मलक्षणत्वहानिरित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः–अथवेत्यादि। एकादशे स्कन्धे एका अहन्ताममतानाशरूपा, एका मुक्तिर्ब्रह्मधर्मरूपाऽभिधीयते। तर्हि पूर्वप्रकरणद्वयं किमर्थमित्यत आहुः-साधनेत्यादि। सा मुक्तिः साधनं विना न भवतीति तैः संयुता। तत्र साधनभक्तिर्ज्ञानकर्मसमुच्चयश्चेति तद्द्वयं हि यतो हेतोः पूर्वप्रकरणद्वयेन परम्परया साक्षाच्चोपदिश्य ततो बालानां कबोधने सुखेन बोधनार्थं तमहन्ताममता-

भक्तिज्ञानक्रिये चैव ततो बालकबोधने ॥११७॥
अभिनीय तमेवार्थं दर्शयामास केशवः ।
एतद्भगवतो गूढं चरित्रमिह वर्णितम् ॥११८॥
(अत्र निष्णातहृदयो भगवत्पार्श्वमेति हि) ॥११८½॥

इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वदीपनिबन्धे एकादशस्कन्धविवरणं सम्पूर्णम् ।

नाशरूपमर्थमभिनीयैव दर्शयामास, 'अज्ञानसञ्ज्ञौ भवबन्धमोक्षा'विति 'बद्धो मुक्त इति व्याख्या 'गुणतो मे न वस्तुतः। 'गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धन'मिति वाक्याच्च स्वरूपस्थितेरेव वास्तवत्वेन विस्मृतकण्ठमणिन्यायेनैव मोक्ष इति जीवस्यापि तौ मायिकाविति बोधनाय साधनस्याहन्ताममतानाश एव पर्यवसानात्स एव मोक्षः । ब्रह्मणि त्वहन्ताममते अपि न स्त इति तन्नाशोऽपि तथा इति बोधनाय च मायिकनिवारणेनाभिनीय दर्शयामास। यतः केशव उत्पादकोपदेशकयोरपि ब्रह्मानन्दरूपफलदोऽतस्तथेत्यर्थः । एवं चात्रोपदेशरूपालीला करणं भक्त्यादिकं व्यापारः, अहन्ताममताप्रलयः फलमिति प्रलयत्वेन ब्रह्मलक्षणत्वमस्याः सिद्ध्यतीति भावः । अनया लीलयाऽऽसुरव्यामोहरूपकार्यदर्शनान्निष्कर्षमाशङ्क्य 'य एतां प्रातरुत्थाये'ति'य एतद्देवदेवस्ये'त्यादीनां तात्पर्यं वदन्तो लीलास्वरूपं फलं चाहुः–एतदित्यादि । तथा च नात्र निकर्षलेश इत्यर्थः ॥११८½॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणैः पुरुषोत्तमस्य दर्शिता एकादशस्कन्धनिबन्धयोजना सम्पूर्णा ॥

अथैकादशस्कन्धनिबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

कारिका १२. २२९तमे पृष्ठेनुसन्धेयम् ।

एकादशस्कन्धे चतुर्मूर्त्तिचरित्रनिरूपणे **वासुदेवस्तु मोक्षद** इत्यादि, दशमस्कन्धे तामसप्रकरणे फलान्तैश्चतुर्भिः प्रकरणैर्बाह्याभ्यन्तरभेदेन स्वरूपसम्बन्धात्मको मोक्ष एव सम्पादितो मुख्यतया, अतो वासुदेवकार्यं तामसानां फलस्वरूपप्रधानत्वात्, तथा राजसप्रकरणे फलान्तैश्चतुर्भिः प्रकरणैरर्थकामावेव मुख्यतया सम्पादितौ । स्त्रीणां पुत्राद्यर्थसम्पत्तिः पुत्रादीनान्तूषाहरणादिना कामसम्पत्तिरिति यादवानां राजसत्वेन मध्यमत्वान्मध्यमावेव पुरुषार्थौ राजसेन प्रद्युम्नेन । यद्यपि धर्ममोक्षावपि "कर्हिचित् सुखमासीनम्," "अपश्यतां चानिरुद्ध"-मित्यध्यायद्वयेन निरूपितौ, तथापि तयोरर्थकामसाधकत्वेनैव विनियोगः, तथा सात्त्विकप्रकरणे सिद्धधर्मस्य पापफलं भुञ्जतो नृगस्यानिरुद्धात्मकेन भगवता प्रमेयबलेन धर्मो दत्तः, अन्येभ्यश्च यादवादिभ्यो धर्म उपदिष्टः "दुर्जरं बत ब्रह्मस्व"मित्यादिना, धर्ममार्गे ब्रह्मस्वापहारादिना ब्राह्मणानां क्षोभो न कर्त्तव्य इति 'मर्यादया कृतार्थोऽस्तु यदि पापं न जायत' इति सिद्धान्तान् निर्दोषत्वे सत्येव धर्मसिद्धिरितिज्ञापनाय। तथा जरासुतरुद्धराज्ञां प्रार्थनां श्रुत्वा यादवा जरासन्धजयेप्सवो जाताः, तद्वधेन राजमोक्षणं यद्यपि धर्मस्तथापि जात्यभिमानसिद्धत्वान् न मुख्यः, किन्तु वेदप्रमाणसिद्धे यज्ञात्मक एव धर्मो मुख्य इति ज्ञापनायोद्धवोक्तिरूपया युक्त्या यज्ञसाहाय्यमेव कर्तव्यमित्युपदिष्टं यादवानां निर्दुष्टत्वकरणार्थम्। तथा फलप्रकरणेपि कुरुक्षेत्रे मुनिप्रशंसारूपया युक्त्या मुनिकृतभगवद्भक्तिरूपया च युक्तया वसुदेवयज्ञकरणतदुपदेशरूपया च भगवत्प्राप्त्यर्थं पूर्वं ब्राह्मणा एव पूज्याः, ब्राह्मणवचनैश्च वेदसिद्धो यज्ञ एव कर्त्तव्य इत्युपदिष्टम्, सात्त्विकानां प्रमाणपरत्वात्, सात्त्विकेनानिरुद्धेन प्रमाणसिद्धो धर्म एव सम्पाद्यत इत्यर्थः। दशमाध्यायान्त उद्धवप्रश्ने पूर्वाध्याये "तस्माज् जिज्ञासयात्मान"मितिवाक्य आत्मज्ञानं मोक्षहेतुरित्युक्तम्, 'वैशारदी से'तिवाक्ये वैशारद्या बुद्ध्या गुणकार्यप्रपञ्चस्य समूलस्य दाहे केवलात्मावशेषे मोक्ष इत्युक्तम्, स च आत्मा जीवो वा ब्रह्म वेति सन्देहः, बद्धो मुक्तो वेति च। बद्धत्वे कथं तज्ज्ञानेन मोक्षः स्यात्, मुक्तत्वे कथं देहस्थत्वं सम्भवति, यद्यपि "काल आत्मागमो लोक" इतिवाक्ये स्वस्यैवात्मरूपत्वमप्युक्तं तथापि कालादिसमतया त्याज्यं मध्यपातित्वेनोक्तं न तु पार्थक्येन ग्राह्यत्वेन चेत्यतः सन्देहः, तदेतदुद्धवेनोक्तं ब्रह्मरूपत्वे कथं देही ? कथं वा गुणैर्बध्यते ? जीवरूपत्वे देही सन् कथं गुणैर्न बध्यते,? बद्धत्वे तज्ज्ञानेन मोक्षोऽसम्भावित एव, तदुपसंहार उक्तं "नित्यबद्धो नित्यमुक्त एक एवेति मे भ्रम"इति ॥

स्कं. ११. ९४१तमे पृष्ठेनुसन्धेयम्। का. ७४–७५–७६

अग्रे पञ्चदशाध्यायार्थोक्तौ सत्यपि कार्यकारणभावे बाधकनिवृत्तौ सत्यामेव कारणात् कार्योत्पत्तिरितिबाधकनिवृत्तये ध्यानस्य भक्तिसाधनत्वे बाधकनिर्देशकः पञ्चदशाध्याय इत्याहुस्तत्र बाधकेत्यादि। "भूतसूक्ष्मात्मनि मयी"त्यादिनाष्टादशसिद्धिहेतुत्वेन निरूपिता ध्यानभेदाः **निवारिता** इतिध्यानभेदेषु क्रियमाणेषु चेतसः फलान्तरविषयत्वान् न चेतसि भगवदावेशो नापि चेतसो भगवति प्रवेशः, तथा सति न भक्त्युत्पत्तिरिति बाधकत्वात् तत्फलरूपसिद्धीनामपि भगवत्प्राप्त्यावन्तरायत्वकथनाच्च **निवारिता** भक्तिफलार्थिना न कर्त्तव्या इति, ननु सिद्धिविषयके चित्तस्य तद्भावे किं विधेयमित्याशङ्क्य तत्रोत्तररूपं सर्वासामपि सिद्धीनामित्यादेरर्थमाहुः **कृष्णात् सर्वं भवेदिति**, आवेशप्रवेशव्यापारकस्वरूपध्यानेनैव भक्तिसिद्धौ भगवत एव प्राप्तौ तेनैवानायासेन सर्वप्राप्तेर्न सिद्ध्यर्थं साधनान्तरं कर्त्तव्यमित्यर्थः। **एतावतेति** "बाध्यमानोपि मद्भक्त" इत्यारभ्याध्यायेन, **द्वितीयः खण्ड** इति परमभक्तिरूपः, **पूर्णो निरूपित** इति साधकबाधकव्यापारफलसहितो **निरूपित एवं पञ्चदशाध्यायो विचारितः।**

अतः परं षोडशाध्यायस्यापि मुक्त्युपयोगं वक्तुं सप्रकारं तदर्थमाहुर्ज्ञानेनापीत्यादि, द्वयेन तत्र **ज्ञानेनापि प्रवेशे हि भजेदिति** तु प्रकारः, पुनरित्यादि **सारथिमित्यन्तोध्यायार्थः, विभूतिरित्यादि भवेदित्यन्तं** प्रयोजनम्, तत्र प्रकारेर्थ उच्यते। भक्तिव्यापारभूते यावत्त्वादिज्ञानेध्यायार्थभूतं विभूतिज्ञानं प्रकार इति, गीतायां "भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः, ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर"मित्यनेन ज्ञानस्य प्रवेशसाधनत्वमुक्तम्। "नाहं वेदै"रित्यादिना "भक्त्या त्वनन्यये"त्यनेन चान्यनिषेधपूर्वकं भक्तेरेव साधनत्वमुक्तमिति परस्परविरोधे निर्णय उच्यते ज्ञानेनापीत्यादि, ज्ञानेन प्रवेशाङ्गीकारपक्षेपि भजनमावश्यकम्, यावत्त्वादिप्रकारकस्याभिज्ञारूपस्य ज्ञानस्य "भक्त्या मामभिजानाती"तिकथनेन भक्तिसाध्यस्य तद्व्यापारत्वेन प्रवेशहेतुत्वाद् भक्तेश्च भजनेनैव सिद्धेः, अत्र श्रीभागवतेपि 'ज्ञात्वाज्ञात्वे'त्यनेनानन्यभजनकर्तुरेव भक्ततमत्वकथनेन भक्तिपूर्वकालीनस्य यतःकुतश्चिज्जातस्यानभिज्ञारूपस्य यावत्त्वादिज्ञानस्याप्रयोजकत्वकथनाच्च। अतो भक्तिपूर्वकालीनस्य यावत्त्वादिज्ञानस्य माहात्म्यज्ञानहेतुत्वेन भक्तिसाधकत्वम्, भक्त्यनन्तरभाविनस्त्वभिज्ञारूपस्य व्यापारत्वेन भक्तिफलप्रवेशसाधकत्वं यावत्त्वादिज्ञानं तु विभूतिज्ञानेनेति भक्तावपयोगः, स्नेहरूपांशस्य तु भजनेनैव सिद्धेर्भजनस्यावश्यकत्वम्, शेषं टीकान्तरे स्फुटमिति ततो ज्ञेयम्॥ इति।

एकादशस्कन्धः समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीभागवतार्थप्रकरणे

द्वादशस्कन्धविवरणम्।

इत्येकत्रिंशताऽध्यायैर्मुक्तिरुक्ता ससाधना।
लीलाश्च नव सम्पूर्णास्ताभिः शुद्धो ह्यपाश्रयः॥१॥
त्रयोदशभिरध्यायैर्द्वादशे स निरूप्यते।
स पञ्चधाऽत्र निर्णीतो द्वितीये स त्रिधोदितः॥२॥

श्रीबालकृष्णो जयति।

अथ द्वादशस्कन्धनिबन्धस्य योजना।

अथ द्वादशस्कन्धार्थं निबन्धसङ्गतिकथनाय पूर्वस्कन्धार्थमनुवदन्तो 'दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्। वर्णयन्ती'त्येतदर्थस्मारणपूर्वकं तदर्थमाहुः–इतीतिसार्द्धेन। शुद्ध इति निरावरणः सारतरः। अध्यायसङ्ख्यातात्पर्यमग्रे वक्तव्यम्। सङ्गतिरत्र ज्ञाप्यज्ञापकभावेन हेतुतारूपा स्फुटैव। अतः परं सामान्यलक्षणे "व्यतिरेकान्वयौ यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु, मायामयेषु तद्ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः। पदार्थेषु यथा द्रव्यं तन्मात्रं रूपनामसु। बीजादिपञ्चतां तासु ह्यवस्थासु युतायुत"मिति यल्लक्षितम्, तदर्थस्तु श्रीधरेण जीवसंसारतद्बाधयोरधिष्ठानावधिभूतं ब्रह्मापाश्रयः। तत्र दृष्टान्तः 'पदार्थेष्वि'त्यादिना निरूप्यत इत्युक्तः। स च विचारे मायामयत्रिविधजीववृत्तिरूपसंसारे स्मृत्यान्वयात्तदधिष्ठानभूतं तद्बाधस्य चावधिभूतं साक्षिरूपं ब्रह्माश्रय इति सिद्ध्यति। द्वितीये च पदार्थेषु यथा तन्मात्रं द्रव्यं युतमत्रस्थास्वयुतं तथेति सिद्ध्यति। तेन जगतो विवर्त्तोपादानं परिणाम्युपादानं वा ब्रह्मापाश्रय इति सिद्ध्यति। इह तु तस्मादपि कश्चिद्विशेष इति वक्तुमत्र पञ्चप्रकरणानि सूचयन्तस्तत्स्वरूपमाहुः–स पञ्चधेत्यादि। सोऽपाश्रयोऽत्र श्रीभागवते पञ्चधा निर्णीतः। तथा चान्यत्र साधारणलक्षणानुसारेण द्वेधा नानाप्रकारेणो-

नवभिर्बोधितवपुस्तथा सृष्टिलयादिकृत् ।

आधिभौतिकभेदानां द्रष्टा सर्वान्तरः परः ॥३॥

क्तोऽत्र तु पञ्चप्रकारेण निर्णीत इत्येष विशेष इत्यर्थः। निर्णयप्रकारानाहुः-द्वितीय इत्यादिसपादाभ्याम् । तथा च'दशमस्य विशुद्ध्यर्थं'मित्यनेनोक्तं सर्गादिनवलक्षण-लक्ष्यत्वमेकम् । 'आभास'श्चेत्यनेनोक्तं जगत्सृष्टिस्थितिप्रलयकर्तृत्वमपरम् । ब्रह्ममीमांसायां जन्माद्यधिकरणे कर्तृत्वस्य समन्वयाधिकरण उपादानत्वस्य च विचारितत्वादत्र च 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वया'दित्यत्रोभयसङ्ग्रहात्कर्तृत्वमुपादानत्वस्याप्युपलक्षकम् । तत्रा-प्यध्यवसीयत इतिपदात्तृतीयचकाराच्च विवर्त्तोपादानत्वस्यापि सङ्ग्रहः । तेन सामान्यलक्षणं पुराणान्तरेरुक्तो विस्तारश्चादृतः । तेनैकदेशविचारे पूर्वलक्षण-स्यापि सामान्यलक्षणत्वम् । अन्यथा महापुराणान्तरस्याप्येकशास्त्रत्वं बाधितं स्यात् । उक्तरीत्या नवानां विशेषलक्षणविचारे तु तस्य विशेषलक्षण-त्वम् । अन्यत्र तेषामेतल्लक्षणाभावस्य केषाञ्चिन्नामान्तरस्य च 'सर्गोऽस्याथ विसर्गश्चे'त्याद्युक्तोद्देशलक्षणाभ्यां निश्चयादिति। एवञ्च 'वेदे रामायणे चैवे'ति 'सर्ववेदेतिहासानामिति'वाक्योक्तमपि सङ्गृहीतं भवति। 'योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुष'-इतिद्वाभ्यामुक्तमाध्यात्मिकादित्रितयद्रष्टृत्वं तृतीयं लक्षणम् । एतस्य लक्षणस्यात्यन्त-विविक्तस्वरूपबोधकत्वाय लक्ष्यस्वरूपमाहुः-**सर्वान्तरः पर** इति। तथा च लक्षण-वाक्ये स्वाश्रयाश्रयपदमेतदर्थम् । अन्यथा 'स आत्मे'त्यनेनैव चतुर्थस्य परमात्मनः प्राप्तेरिदं न वदेत्। अत' स्वस्य पुरुषोत्तमस्याश्रयो लोकासनचरणरूपं तुरीयमक्षरं तस्याप्याश्रय इति तत्रार्थः । तथा च वेत्तृत्वं जीवात्मसु त्रितयवेत्तृत्वमन्तरात्मन्यन्तर्या-मिणि स्वातिरिक्तत्रितयवेतृत्वमात्मत्वं चाक्षरेऽप्यस्तीति तद्वारणायेदं पदमिति निश्चयः। **तस्य च सर्वान्तरत्वमानन्दमयाधिकरणविषयवाक्यसिद्धम्** , तेनैव श्रुत्य-न्तरसिद्धं पञ्चमत्वं च। परमत्वञ्च 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्येतद्ब्राह्मणसिद्धम् । एवञ्च **द्वितीयस्कन्ध एतत्सुबोधिन्यां** यत्पक्षद्वयमुक्तमिदमेकं भगवतो रूपं भगवानेव वेति तदपि सङ्गच्छते। तेन नवलक्षणलक्ष्य आश्रयः अक्षरात्मकः दशलीलानिरू-प्यत्वेन दशलक्षणलक्ष्य आश्रयः पुरुषोत्तम इति मूलाविच्छेदरूपत्वा'न्नवलक्षणलक्ष्यो हि कृष्ण' इति 'दशलीलानिरूप्योऽयं पुरुष' इति कारिकाद्वयमाश्रयस्य लीलात्वेन पुरुषोत्तमत्वेन कथनं च यथाश्रुतं प्राञ्जलमेव सङ्गच्छते इति बोध्यम्॥१॥२॥३॥

एवं रूढिं पुरस्कृत्य लक्षणान्युक्तवान् शुकः ।

लोकप्रसिद्धिं स्वीकृत्य द्वयं चाऽपि निरूपितम् ॥४॥

वेदो वा भगवान् वाऽपि शब्दार्थरसरूपधृक् ।

वेदमेव समाश्रित्य सर्वे तिष्ठन्ति मानवाः ॥५॥

केचनैव हरिं वाऽपि केवलं केचनैव हि ।

रूढिमिति। 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मितिश्रुत्या 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत' इति गीतया चोक्तां रूढिम् । तर्हि प्रकारद्वयमन्यत्कुत्रेत्यत आहुः-लोकेत्यादि। लोके हि सहायत्वेन रक्षकत्वेन चोपजीव्य आश्रय इत्युच्यते तां **प्रसिद्धिं** स्वीकृत्य द्विविधमुपजीव्यत्वं द्वादशे निरूपितम् । अपीतिपदस्य लोकप्रसिद्धिपदेन योजना। द्वयं स्फुटीकुर्वन्ति वेदोवेत्यादि । **शब्दार्थरसरूपधृगिति** शब्दरसरूप-धृगर्थरसरूपधृगित्यर्थः । इदमग्रिमषडध्यायीविचारे स्फुटीभविष्यति । ननु पूर्वोक्त-लक्षणैरेव ज्ञायमाने आश्रये एवं रूपद्वयकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-**वेदमेवे-**त्यादि । केवलमिति असङ्गोदासीनम् । तथा च लोके शब्दार्थभेदेन द्विधाऽऽश्र-यणदर्शनात्तत्स्वीकारेण शब्दरसरूपस्य । द्विप्रकारकार्थरसरूपस्य च कथनमि-त्यर्थः ॥४॥५½॥

निबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

का-५, द्वादशस्कन्धे प्रकरणार्थविभागे वेदमेव **समाश्रित्येति** कारिका-व्याख्यानं लिख्यते, कर्मिणः **सर्वे मानवा** वेदमेव केवलं **समाश्रित्य तिष्ठन्ति,** वेदोक्त-कर्मभिरेवविहितैर्निषिद्धैश्च शुभाशुभफलं मन्यन्ते न त्वीश्वरमङ्गीकुर्वन्ति, **केचन** मर्यादा-स्थाः ज्ञाननिष्ठा भक्ताश्च **हरिं चापि** समाश्रित्य तिष्ठन्ति वेदप्रतिपाद्यत्वेन हरिं मन्यन्ते, **केचन** पूर्णानुग्रहभाजः पुष्टिस्थाः **केवलं** वेदनिरपेक्षं हरिमेव समाश्रित्य तिष्ठन्ति, तदुक्तं "ते नाधीतश्रुतिगणा"इति "केवलेन हि भावेने"ति च, तत्रापि ये ज्ञानसहितास्तेपि वेदं भगवदाज्ञात्वेन मन्यन्ते न तु प्रधानत्वेनेति, अग्रे श्रीभागवते पञ्चमाध्याये ज्ञानशक्त्या-श्रयनिरूपणे "स्वप्ने यथा शिरच्छेद"मितिश्लोके स्वप्नदृष्टान्तेनात्मनोजरामरत्वं निरूप्य"घटे-भिन्न" इति (अ० ५) श्लोके आकाशदृष्टान्तेन स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयविनाशे पुनर्ब्रह्मतापत्तिं निरूप्य जीवस्य संसारोद्भवप्रकारमाह "मनः सृजति वै देहा"निति श्लोकेन । तत्रेयं वस्तुस्थितिः सृष्टेः पूर्वकाले एक एव भगवान् यदा रमणेच्छां कृतवान् तदा स्वसामर्थ्यरूपया

तत्राऽऽद्यस्य स्वरूपं हि स्पष्टमत्र निरूप्यते ॥६॥
यस्य लीला नव प्रोक्ताः स शुद्धः पुरुषोत्तमः ।
आश्रयः सर्वभूतानामधिको द्वादशात्मकः ॥७॥
त्रयोदशस्ततः प्रोक्तः स्कन्धार्थोऽयं विबुध्यताम् ।
अध्यायत्रितयेनापि स एवाऽर्थोऽनुवर्णितः ॥८॥
वचोविभूतीरियुक्त्या भिन्नाश्रयविनाशकः ।

अ. १ पञ्चप्रकारान् व्युत्पादयन्तः प्रथमस्याध्यायसङ्ख्यायाऽवगतिरित्याहुः-तत्रेत्यादिद्वाभ्याम्। आद्यस्येति नवलक्षणलक्ष्यस्य। अत्रेति स्कन्धे। द्वादशात्मन इति। शब्दरसरूपात्पुराणादर्थरसरूपादक्षराच्च। विबुध्यतामिति सङ्ख्यया ज्ञायताम्। शब्देनाबोधने संख्यामात्रमप्रयोजकमित्यतः प्रकरणेन तमर्थं स्फुटीकुर्वन्त आहुः-अध्यायेत्यादि। कथमित्याकाङ्क्षायां तन्निर्द्धारार्थमाहुः-वचइत्यादि।*'कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्। विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभोर्वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्' इति श्लोके लोकेषु यशोवितत्य

जगत्कारणभूतया मायया स्वात्मन एव सर्वं जडजीवन्तर्याम्यात्मकं जगत् सृष्टवान् जडे चिदानन्दयोर्जीवे त्वानन्दस्य च तिरोभावं कृतवान्, अन्तर्यामिणि तु सच्चिदानन्दान् प्रकटानेव स्थापितवान्, इति प्रकारेण त्रिधा स्वांशा उत्पादितास्तथापि सर्वेषां ब्रह्मरूपत्वाद् वैचित्र्याभावे तु न रमणं सम्पन्नम्, तदा पूर्वोक्तमायांशभूता मोहिका माया जीवे स्वरूपाज्ञानं सम्पाद्य भोगाभिनिवेशात्मकं पुनः सृष्टवती, तदुक्तं चतुर्थस्कन्धे पुरञ्जनोपाख्याने "नानुरूपं यदाविन्ददभूत् स विमना इवे'त्यनेन ततो मनोदेहान् देवतिर्यगादीन् गुणान् सत्त्वादीन् कर्माणि च विहितनिषिद्धान्युच्चावचानि च सृजति येन जीवस्याहम्ममाभिमानरूपः संसारः, तदा वैचित्र्ये जाते भगवतो रमणं सम्पन्नमिति, ननु भगवत्सृष्टे देहादिप्रपञ्चे मनसः स्रष्टृत्वं कथमिति चेत् तत्राह'त्मन' इति जीवसम्बधित्वेन तद्भोगार्थं सृजतीत्यर्थः, यथा ब्रह्माण्डे भगवता सामान्येनोत्पादितेप्यन्नादौ कर्षुकः स्वादृष्टानुसारेण पुनः स्वकर्मणोत्पादयन्ति तद्वत्।

* स्कं० १२-अ० ३-श्लो० १४॥

आश्रयो लौकिकानां तु लोको धर्मोऽथवा पुनः ॥९॥
उभयं नष्टमधुना द्वाभ्यां तत्तु निरूपितम् ।
शूद्रपर्यवसानेन लोकनाशो निरूपितः ॥१०॥
अधर्मस्य च सम्पूर्त्या धर्मनाशोऽपि बुध्यताम् ।
एवं पूर्वाश्रये नष्टे कृष्ण एवाश्रयो मतः ॥११॥

परेयुषां परं भगवन्तं प्राप्तवतां महीयसाम् इमाः कथा विभोर्विज्ञानवैराग्यविवक्षया एकादशस्कन्धे भगवतोक्तं यत्कार्यस्य कारणाभिन्नत्वेन कारणात्मकतारूपं विशिष्टज्ञानं भेदस्य काल्पनिकत्वेन लौकिकानामवस्तुत्वात्तेभ्यो वैराग्यं च तदुभयविवक्षया ते तुभ्यं कथिताः। अत इमा ईशानुकथान्ताः कथा वचोविभूतीः विभूतिविषयत्वेन भगवदनुवर्णनशेषभूता इत्युक्त्येति कथनेन भिन्नाश्रयविनाशको भिन्नः स्वातिरिक्तो य आधार उपजीव्यश्च लोके प्रतीयते तस्य नाशकः कालाख्यचेष्टया निवर्त्तकः। तेन निरङ्कुशतया सर्वाधारः सर्वोपजीव्योत्र सिद्ध इत्यर्थः। तथा चास्मिन् श्लोके विभोरेवमाश्रयत्वे सिद्धेः को विभुरित्याकाङ्क्षायां'यस्तूत्तमे'त्यग्रिमे 'कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समान' इत्यनेन तस्य कृष्णत्वनिश्चायनादुत्तमश्लोकगुणानुवाद इत्यनेन तस्य सधर्मकत्वनिश्चायनाच्च स एवाश्रय इति निर्द्धारितम्। गीतायामपि 'अक्षरादपि चोत्तम'इति। श्रुतावपि 'अक्षरात्परतः पर' इतिकथनादिदमेव निर्द्धारितम्, अतः स एवाश्रय इति भावः। एवं वाक्येनेममर्थं दृढीकृत्याध्यायत्रये यथा स आश्रयोऽनुवर्णितस्तं प्रकारं वक्तुं पूर्वं द्वयोरर्थमाहुः-आश्रय इत्यादिद्वाभ्याम्। लौकिकाः प्राकृतास्तेषां लोकः प्रवाहरूप आश्रय उपजीव्यः पुनः किञ्चित्तत उत्तमानां धर्मस्तथा, द्वाभ्यामध्यायाभ्यां तद्द्वयं नष्टं निरूपितम्। ननु प्रवाहधर्मस्य चेदानीमपि दर्शनात् कथं निरूपितमित्याकाङ्क्षायामाहुः-शूद्रेत्यादि। शूद्रपदं शुचा द्रवतीति यौगिकार्थस्यात्र सङ्ग्राहकम्। असूर्यवर्णत्वेन दुष्टानां दुःखाद्यर्थिनामप्युपलक्षकं वा। अतस्तत्पर्यवसानेन तस्योपजीव्यतानाशो निरूपितः। एवं दम्भादिबाहुल्येन धर्मनाशोऽपीति यथा'कथा इमा'इतिश्लोके कथाविषयाणां विभूतित्वबोधनेन तेषां निरङ्कुशाधारत्वरूपमाश्रयत्वं निवारितमित्यर्थः। तथाऽध्यायद्वये कालस्य लोकधर्मनाशकत्वकथनेन तयोरुपजीव्यत्वरूपमाश्रयत्वं निवारितमित्यर्थः ॥३॥१०३॥

(अ. ३) तावता कृष्णस्य भगवतः कथमाश्रयत्वमत्र सिद्धमित्यतस्तृतीयस्यार्थमाहुः-एवमित्यादि। तथा च तृतीयाध्याये राज्ञा कलिदोषनाशोपाये पृष्टे 'पुंसां कलिकृतान् दोषा' नित्यादिभिरुत्तरं वदता श्रीशुकेन भगवानेवोपजीव्यतयाऽऽश्रयो विचारित इत्यतः

पूजादिनाऽनुरूपेण नाम्नां श्रवणकीर्त्तनैः ।
त्रिष्वर्धे दोषराहित्यं गुणाश्चापि तथाऽपरे ॥१२॥
आश्रयो भगवान् कालं तावन्तं चेत्प्रतीक्षते ।
कल्किर्भविष्यति तदा सर्वसाधारणो मतः ॥१३॥
उपलक्षणमेतद्धि नामपूजादिना हरिः ।
यदा तुष्टः प्रसन्नः स्यादात्मानं च प्रदर्शयेत् ॥१४॥
तदाऽश्रयः पूर्णरूपो भविष्यति न संशयः ।
विलम्बे कारणं गर्वस्तदर्थं दोषवर्णनम् ॥१५॥
तन्निवृत्तिश्च भवतीत्यग्रे कीर्त्तनमीरितम् ।
एवं त्रिभिर्मुख्यरूपो नवानां शुद्धिलक्षणः ॥१६॥
हरिराश्रय इत्युक्तो मुक्तानामिति वर्णितम् ।

सिद्धमित्यर्थः । तस्याश्रयणे प्रकारद्वयमाहुः-पूजादिनेत्यादि । कालावधिमाहुः-त्रिष्वित्यादि । त्रिषु पूजादिषु कृतेषु अर्द्धे कलिपूर्वार्द्धे दोषराहित्यं गुणश्चापि भगवत्प्राप्त्यायासाभावरूपो गुणश्चापिशब्दात्परप्राप्तिः । यथा पूर्वार्द्धे एतत्त्रयं तथा परे कल्युत्तरार्द्धे भगवान् साक्षादेवाश्रयः । तत्र विशेषः । कालं तावन्तं चेत्प्रतीक्षते तावत्पर्यन्तं चेद्दयां न करोति तदा कल्किरूपेणावतीर्य तथेत्यर्थः । मत इति आश्रयो मतः ॥११॥१३॥ नन्वासुरसम्पत्तेर्निबन्धार्थत्वान्न तस्यां दया । दैव्यां सम्पत्तौ किल तदपेक्षा । तस्यामपि चेत्कालप्रतीक्षा तदा कलिदोषविधमनं मुधैवेत्यत आहुः-उपलक्षणमित्यादि । एतत्कालप्रतीक्षणं दयाभावस्योपलक्षणं यदि न दययति तदा कल्क्यन्तमिति । किं तर्हि पूर्वमपि दययति तत्र हेतुः--हीत्यादि । ननु यद्येवं तदा प्रसादे विलम्बः कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुः--विलम्बे इत्यादि । दोषवर्णनमिति अहन्तादिरूपराजादिदोषवर्णनम् । तथा चोक्तोर्थः । सर्वोऽपि दोषवर्णनतन्निवृत्तिप्रश्नतदुत्तरैः स्फुटतीति नात्र शङ्कालेश इत्यर्थः । एवमवान्तरतात्पर्यमुक्त्वाध्यायत्रयसिद्धमर्थमाहुः-एवमित्यादि । मुख्यं सर्गादिनवकनियामकं रूपं यस्य नवानां सर्गादिमुक्त्यन्तानां शुद्धिर्निष्कृष्टं स्वरूपं लक्षणं यस्य यदि हि यथोक्तरूपा नवापि ज्ञाताः स्युस्तदा सर्वान् विहाय हरिमेव सर्वात्मनाऽऽश्रयेत । अतो नवानां निष्कृष्टस्वरूपं तन्नियामकस्य मुख्यरूपस्यैव लक्षणम्, अतः स तथा तादृशः स मुक्तानामाश्रय इति त्रिभिः सिद्धमित्येवं शब्देन बोधनात्स्कन्धाध्यायसङ्ख्यया तस्य तथा बोधनं युक्तमेवेत्यर्थः ॥१४॥१६३॥ एवं नवभिः प्रथमं प्रकरणं विचारितम् ॥

अतः परं द्वितीयस्तु जगदाश्रय उच्यते ॥१७॥
यतः सर्वं समुत्पन्नं यस्मिंश्चैव प्रलीयते ।
पृथिवीव घटाद्यादेः स बहिर्ज्ञायते न हि ॥१८॥
अन्तश्चाऽपि स विज्ञेयस्तदैव सफलो भवेत् ।
इति प्रलयकथनं चतुर्धा सृष्टिरत्र हि ॥१९॥
पूर्वोक्तैवाऽतिदिष्टा हि क्रियाशक्तिर्निरूपिता ।

अ. ४ द्वितीयं विचारयन्ति--अतः परमित्यादि । **पृथिवीव घटाद्यादेरिति** । घटस्यादिरुपादानं मृत्पिण्डः कर्तृक्रियाव्याप्तस्तस्याप्यादिः पूर्वरूपं मृत् तस्याप्याश्रयः पृथिवी, तद्वत् । तथा च जगदुपादानं प्रकृतिः कालो वा तस्यादि बृहत् तस्याप्याश्रयः परतरः पर इत्यर्थः । **स बहिर्ज्ञायते न हीति** । 'यं न निभालयस एषोऽणिमे'तिश्रुत्युक्तः । **अन्तश्चापीति** । मायिकानामप्यन्तरित्यर्थः । **तदैवेति** । तेन वैराग्योत्पत्तौ **सफलो भवेत्** । 'आश्रयः स्वफलं दद्या'दितिबोधयितुं **चतुर्धा प्रलयकथनम्** । प्रलयश्च सृष्टेरेवेति हि निश्चयेन **पूर्वोक्ता** द्वितीयाद्युक्ता एकादशे निर्णीतैवात्र 'बुद्धीन्द्रियार्थरूपेणे'त्यादिश्लोकेषु भगवद्रूपा मायिकी चेति द्विविधाप्य**तिदिष्टा**, **हि** यतो हेतोरस्मिन्नध्याये आभासश्चेति श्लोकोक्तलक्षणकाश्रयबोधनार्थं **क्रियाशक्तिर्निरूपिता** ।

अत्रायमर्थः । पूर्वाध्याये 'युगानि युगमानञ्चे'तियत्पृष्टं तदुत्तरमत्र वक्तव्यम् । तत्र युगस्वरूपं पूर्वाध्याये दर्शितम् । कालगतिर्युगमानञ्च तृतीयस्कन्धे दर्शितमिति तदनूद्य कल्पलययोः स्वरूपं मानञ्च चतुर्युगेत्यादित्रिभिराह—तेनोत्तरं पूरितम् । तदनन्तरं 'द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते'इत्यादिना प्राकृतिकात्यन्तिकनित्याः प्रलया यदुच्यन्ते तद्भगवतः क्रियाशक्तेरेव बोधनार्थम् । क्रियाशक्तिश्च सृष्ट्यादिभेदेन त्रिधा । सा पूर्वस्कन्धेषूक्तापि प्रलयांशे सम्यङ् नोक्ता । यत एकादशेऽन्तरिक्षवाक्ये महत्त्वान्त एव प्रलय उक्तः । भगवद्वाक्येऽपि 'कालो मायामये जीव' इति श्लोके 'विकल्पापायलक्षण' इतिकथनाद्भेदप्रतीत्यभावमात्रमेवोक्तमिति । तदत्र 'द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्त, इत्यादिना तत्कालकथनपूर्वकमनूद्याव्याकृतस्य शिष्टत्वात्तत्स्वरूपं चोक्त्वाऽग्रे, पुरुषाव्यक्तशक्तिप्रलयमात्रकथनेन पुरुषाव्यक्तसत्ताबोधने केवलस्य ब्रह्मणो नाश्रयत्वसिद्धिरिति तदर्थमात्यन्तिकलयादिना तां क्रियाशक्तिं सम्यग्बोधयितुं पूर्वमात्यन्तिकलयस्वरूपं द्वादशभिः प्रपञ्चयति । तत्र प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वमविदुषः साङ्ख्यान्दूषयितुं प्रथममहन्तया ममतया च प्रतीयमानानां बुद्ध्यादीनामवस्तुत्वमाह—बुद्धीत्यादि(श्लो० २३) । अत्र बुद्धीन्द्रियार्थाः प्रतीयमानरूपेणावस्तुभूता आद्यन्तवत्त्वाद्

दृश्यत्वाच्च, शुक्तिरजतवदिति साधने,वस्तुभूता घटादिवदिति दृष्टान्तेन हेत्वोः साधारणत्वमतस्तद्विहायैवं प्रयोक्तव्यम्। आत्मरूपं ज्ञानं अहम्ममत्वेन प्रतीयमानं बुद्धीन्द्रियार्थाश्रयं बुद्धीन्द्रियार्थवृत्तिकत्वात् शुक्तिरजतवृत्तिकतदाश्रयज्ञानवत्, यन्नैवं तन्नैवं घटज्ञानवदिति। आश्रयत्वं तत्र विषयितया[1] बोध्यम्। ननु शुक्तिरजतस्य स्वतोऽवस्तुत्वाज्ज्ञानवृत्तित्वेनात्मरूपस्य ज्ञानस्य तदाश्रयत्वसिद्धिः,प्रकृते तु बुद्ध्यादीनामर्थक्रियाकारितया घटादिवद्वस्तुत्वेन ज्ञानवृत्तित्वाभावात्कथं विवक्षितज्ञानस्य तद्विषयित्वरूपमाश्रयत्वमिति शङ्कायां तेषामवस्तुत्वं साधयति **दृश्यत्वेत्यादि**। बुद्धीन्द्रियार्थाः स्वेन रूपेणावस्तुभूता आत्मरूपज्ञानदृश्यत्वे तदव्यतिरिक्तत्वे च सत्याद्यन्तवत्त्वात्, यद्यद्दृश्यत्वे यदव्यतिरिक्तत्वे च सत्याद्यन्तवत्तत्तदपृथक्त्वेनैव वस्तुभूतं न स्वतः। ज्योतिर्दृश्यज्योतिरव्यतिरिक्तदीपचक्षू रूपवदिति। एतदेव निगमयति **एवमित्यादि**। **न स्युरिति**। अत्रापि पृथगित्यनुषज्जते। **ऋतादिति** आत्मरूपाज्ज्ञानात्। एवमाध्यात्मिकादीनां बुद्ध्यादीनां पृथगसत्त्वं द्रष्टृज्ञानरूपत्वं च साधयित्वा यदा बुद्धेः पृथगसत्त्वं तदा तदवस्थानां सुतरां तथात्वमित्याह **बुद्धेरित्यादि**। **इदमिति** बुद्ध्यवस्थाभेदकृतम्। यतो बुद्धिरेव जागर्ति स्वपिति सुस्वपिति च, न त्वात्मा, वृत्तित्रयसाक्षित्वात्। अतो बुद्धौ विद्यमानमिदं नानात्वम्। अहं जागर्मीत्याद्यभिमानरूपत्वात्प्रत्यगात्मनि मायामात्रमित्यर्थः। नन्वध्यासस्य क्वचिद्वास्तवदर्शनानन्तरभावित्वाद् बुद्ध्यादीनां क्वाप्यसत्त्वे तत्प्रतीतेरप्यभावेन तदध्यासोऽपि कथं स्यादित्याकाङ्क्षायां बुद्ध्यादीनामन्यत्र सत्त्वं साधयितुं विश्वस्य ब्रह्मण्युत्पत्तिमाह-**यथेत्यादि**। ननु विश्वोत्पत्तिनाशौ न दृश्यावतस्तस्य कथं कादाचित्कत्वमित्यत आह-**अवयव्युदयाप्ययादिति**। अवयवोऽत्रांशः, न तु कारणम्। तथा च विश्वं कादाचित्कमाद्यन्तवत्त्वात्, आद्यन्तवत् सावयवत्वाद् व्योम्नि जलधरवदिति सावयत्वानित्यत्वयोर्व्याप्तेरांशिकनाशस्य दर्शनाच्च विश्वमप्यनित्यमित्यर्थः। एतेन प्राकृतिकप्रलयेऽपि युक्तिरुक्ता। तेन जलधरवदनित्यत्वेऽपि विश्वस्य सत्यत्वेन ब्रह्मणि सत्त्वाद् बुद्ध्यादीनां प्रथमं तत्रानुभवे पश्चादात्मनि तदध्यास इत्यहन्तया ममतया चाध्यस्तास्ते मायामात्रा एवेत्यर्थः। ननु व्योमजलधरदृष्टान्तेन विश्वं ब्रह्माधिकरणकं पृथगेव सिद्धमिति बुद्ध्यादीनामनित्यत्वं नित्यादात्मनो भिन्नत्वं च सिद्धमिति साङ्ख्यमतात्को विशेष इत्याकाङ्क्षायामाह-**सत्यमित्यादि**। अत्रावयवशब्दः कारणवाची। सत्यं सत्यपदवाच्यं ब्रह्म सर्वावयविनामवयवः कारणं प्रोक्तः वाचारम्भणवाक्ये उक्तः। अतः प्रकृत्यादेरप्यवयवित्वात्तस्यापि ब्रह्मैवावयवः। तथा च श्रुतौ ब्रह्मण एव कारणत्वकथनात्प्रतीतः। पृथगपि

१ 'विषयतया' पाठभेदः।

तद्विश्वं न ब्रह्मणः पृथगित्येष विशेष इत्यर्थः। ननु श्रुतिर्वदति तथापि ब्रह्मणो विश्वोपादानत्वं कथं बुद्धावारोहतीत्यतस्तर्कमाह-**विनेत्यादि**। विना विशेषण। तथा च यदि प्रकृत्यादयो मूलकारणरूपाः स्युस्तदार्थेन विश्वेन सह ज्ञानिभिः प्रतीयेरन्, लौकिकद्रष्टृभिर्यथा पटाङ्गभूतास्तन्तवः प्रतीयन्ते तद्वत्। तथा च यतो ज्ञानिनां ते न प्रतीयन्तेऽतो न तेऽवयवाः, सत्यं तु प्रतीयत इति तदेवावयव इतिप्रामाणिकप्रत्यक्षसिद्धात्तर्कात्तस्य बुद्धावारोहः। इदानीमपि सदन्वयव्यतिरेकयोर्विश्वस्मिन्नुपलम्भादिति भावः। तथा च सत् सर्वावयवः सर्वस्मिन् प्रतीयमानत्वात्, सर्वाभावेऽपि प्रतीयमानत्वाच्च, यदेवं तदेवम्, पटदशायां तत्प्रागभावध्वंसदशायां च प्रतीयमानपटाङ्गतन्तुवत्, यन्नैवं तन्नैवम्, तथा अप्रतीयमानकपालवदिति तर्कमूलमनुमानमपि तथा बुद्धिजनकम्। सत्पदेन सत्यं ब्रह्मैवोच्यते **न प्रधानमिति त्वीक्षत्यादिसूत्रैरेव विचारितम्**, अतः सत्यमेव सर्वकारणत्वात्सर्वाश्रय इति साधितम्। ननु ब्रह्मवादिनामेषा प्रतीतिर्न साङ्ख्यानाम्। अतः श्रुतिरपि प्रायपाठबलादन्यथा नेयेत्याकाङ्क्षायां साङ्ख्यप्रतीतेर्भ्रमत्वमुपपादयति-**यत्सामान्येत्यादि**। यत्प्रधानं सामान्यविशेषाभ्यां कारणकार्यस्वरूपाभ्यामुपलभ्येत सः पदार्थो भ्रमः अभिमानमात्रो न वस्तुतस्तत्र हेतुः-**अन्योऽन्यापाश्रयादिति**। **अयमर्थः**। साङ्ख्यमते हि प्रधानस्य कारणत्वं स्वरूपं च केवलं कार्यलिङ्गकानुमानसिद्धं न तु प्रत्यक्षशब्दाभ्यां गम्यते, स्थूलात्पञ्चतन्मात्रस्य बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैरहङ्कारस्य, तेनान्तःकरणस्य, ततः प्रकृते'रितिसूत्रात्। तन्मते च त्रीण्येव प्रमाणानि 'प्रत्यक्षानुमानशब्दाः प्रमाणानी'तितत्सूत्रात्। एवं सति अप्रत्यक्षेणाशाब्देन महत्तत्त्वेन कार्येण तादृशस्य प्रधानस्य स्वरूपं कारणता च सिद्ध्यति। तेनाप्रत्यक्षेणाशाब्देन प्रधानेन महत्तत्त्वस्वरूपं तत्कार्यत्वं च सिद्ध्यतीति प्रत्यक्षशब्दाभ्यामनुजीवितमन्योन्याश्रयग्रस्तं तदनुमानप्रयोजकमतः प्रधानप्रतीतिर्भ्रम इत्यर्थः। एवञ्च **श्रीधरेण मायावादिमतमनुसृत्य ब्रह्मणः कारणत्वं नातीव सत्यमित्युक्त्वाऽवधित्वव्यापकत्वगुणगुणिभावविशेषणविशेष्यभावानामप्यन्योन्याश्रयग्रासादवास्तवत्वमुक्तं तदसङ्गतमिति बोध्यम्**।

ननु कारणस्वरूपस्य न कार्यस्वरूपसापेक्षतेति कारणस्वरूपं निर्बाधमेव, एवं कार्यस्वरूपस्य कारणस्वरूपसापेक्षत्वेऽपि तस्य पाश्चात्यत्वेनोत्पत्तावन्योन्याश्रयाभावात्तत्स्वरूपमपि निर्बाधम्। एवमुभयोः स्वरूपे सिद्धे कालविशेषं स्वरूपद्वयं चावलम्ब्य जाय-

माना कार्यकारणभावप्रतीतिरपि न भ्रमरूपा, न च कालविशेषविचारे पूर्वपश्चाद्भावप्रतीतेरन्योन्याश्रयग्रस्तत्वादसिद्धिरितिवाच्यम् । तस्या अपि तत्रितयस्वरूपसापेक्षत्वेन तदभावादिति शङ्कायामाह–**सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यदिति।** **अयमर्थः** । दिक्कालावाकाशादिभ्य' इति तत्सूत्रात्तन्मते सूर्यादिपरिस्पन्दोपाधिरूपो जन्य एव काल इति गुणक्षोभकस्याभावान्महत्तत्त्वोत्पत्तिरेव दुर्घटेति यत्सर्वमङ्कुरभूतं महत्तत्त्वं तदप्याद्यन्तवत्त्वेन रूपेणावस्तु, तथा च तदभावे ततश्च कालस्याप्यभावेन कारणकार्यरूपसामान्यविशेषभावाभावात्ताभ्यामुपलम्भ उपलभ्यमानं प्रधानमपि भ्रम एवेत्यर्थः । ननु मास्त्वेवं प्रधानसिद्धिस्तथापि स्वभावादेव परिणममानं प्रधानं पुरुषः पश्यतीत्यङ्गीकारे प्रत्यक्षादेव सिद्धावनुमानमप्युपोद्बलकमस्त्विति चेत्तत्राह–**विकार** इत्यादि । विकारो महान् सः ख्यायमानः प्रत्यगात्मना प्रत्यक्षीक्रियमाणोऽपि प्रत्यगात्मानं विना न निरूप्योऽस्ति । **अयमर्थः** । स्वभावादेव परिणामे तत्तस्य नित्यत्वात्सदा परिणामः स्यात् । ततश्च महत्तत्त्वप्रधानयोः कार्यकारणभावो न स्यात् । प्रधानस्य सर्वांशपरिणामे प्रकृतित्वं चापेयाद् अत आंशिकोऽनित्यश्च परिणामो वाच्यस्तथा सति न केवलस्वभावसाध्यः । अत इतराभावात्प्रधानस्य प्रत्यगात्मन ईक्षणेनैव वाच्यः । अतः प्रत्यगात्मनैव स निरूप्यः । एवं सति स्वातिरिक्तं प्रधानं स पश्यतीत्यत्र मानाभावात्स्वमेव तथा पश्यतीति मन्तव्यम् । तथा सति विकारः स्वेन रूपेणावस्तुभूतः प्रत्यगात्मदृश्यत्वे तदव्यतिरिक्तत्वे च सत्याद्यन्तवत्त्वाद्दीपादिवदिति पूर्वोक्तानुमानेन तस्याऽवस्तुत्वाद्भ्रमत्वमित्यर्थः । नन्वुक्तं ख्यातिरपि यथार्थानुभवं विनाऽनुपपन्नेति तत्राह–**अणुरपीत्यादि** । 'अणुरपि स्याच्चेच्चित्सम'श्चित्सर्वः मूलचिदात्मकः श्रुत्युक्तरीत्या स्यान्न तु जडः । समः सर्वपर्यायः । तथा च मूलचिद्रूपे ब्रह्मणि तस्य सिद्धत्वान्न ख्यात्यनुपपत्तिरित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः **आत्मवदिति** । तथा च यथा 'बहु स्यामि'तीच्छयाऽग्निविस्फुलिङ्गवद्विभागेनात्मनानात्वं तथा 'प्रजायेये'तीच्छयोर्णनाभितन्तुवद्विकारोऽपीत्यर्थः । ननु सिद्धं तर्हि ब्रह्मण एवं विभागान्नानात्वमित्यत आह–**न हीत्यादि** । एवं द्वैरूप्येऽपि सत्यस्य ब्रह्मणो हि निश्चयेन नानात्वं न । अविद्वान् शुद्धब्रह्मज्ञानरहितः **साङ्ख्यवादी** यदि ब्रह्मणो नानात्वं मन्यते तदा छिद्रयोर्यद्वत्तद्वत्तदस्तु यथा घटाद्युपाधिना विभज्यमानस्याकाशस्य निरवयवस्य नानात्वं भासते न तु भवति, तद्वदिच्छया विभज्यमानं ब्रह्माविदुषां नाना भासते, न तु भवति, विभाजकक्रियाया अभावात् । तदभावे च स्वरूपनानात्वाभावादिति । यदि च व्युच्चरणादेर्द्विधापातादेश्च श्रावणादुपाधिपूर्वकालीनां विभाजक-

क्रियामाकलय्य तया ब्रह्मस्वरूपनानात्वं मन्यते तदा ज्योतिषोर्वातयोरिवास्तु । यथा हि विभाजकस्वक्रियाभेदाद्दीपचक्षुर्भेदेन भिद्यमानमपि ज्योतिर्न भिद्यते । यथा च वायुर्नानादेशेषु वानपि न स्वरूपतो भिद्यते, तथा ब्रह्मापि स्वक्रियया विभज्यमानं न भिद्यत इत्येवं तावन्मात्रे दृष्टान्तौ । नन्वत्रापि दृष्टान्तद्वयेंशभेदात् स्वरूपभेद एव पर्यवस्यतीत्यरुच्या दृष्टान्तान्तरमाहुः-**यथेत्यादि** । सुवर्णं यथा नाना कालेषु नानाऽऽकृतिभिर्विभज्यमानमपि न नाना तथा ब्रह्मापीत्यर्थः । एतवान् परं विशेषः । दृष्टान्ते परक्रियया विभागो दार्ष्टान्तिके तु स्वक्रिययेति । वस्तुनानात्वाभावस्तूभयत्रापि तुल्यः । एतदेवैकादशे भगवता 'यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्ता'दिति श्लोकेनोपदिष्टम् । एवं सति पूर्वश्लोकोक्तदृष्टान्ता यथाक्रमेणोपाधिवादभेदवादविशिष्टाद्वैतवादानामेकदेशत्वबोधनार्था इति पर्यवस्यति । अत एव ते भगवता नोक्ता इति । एवमाश्रयत्वनिर्द्धाराय ब्रह्मवादं निर्णीयात्यन्तिकलयस्वरूपबोधनाय ब्रह्मवादेनैव बन्धमोक्षप्रकारं द्वाभ्यामाह **यथेति** । **घन इति च**। तावुक्त्वाऽऽत्यन्तिकस्वरूपमाह–**यदैवमित्यादि** । **एवमिति** उक्तरीत्या । **एतेनेति** ब्रह्मवादसिद्धेन । तथा च साङ्ख्योक्तनित्यानित्यविवेकजन्यो बन्धच्छेदो ब्रह्मवादपर्यवसानाभावान्नात्यन्तिकशब्दवाच्य इति बोधितम् । अग्रे **नित्यः** प्रलयस्तु कालिकावस्थाभेदकृतः स्फुट एव । एवञ्च नैमित्तिकप्राकृतियोः प्रतिसङ्क्रमरूपा, आत्यन्तिके तु सुवर्णदृष्टान्तेन नानात्वनिवारिकाऽच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठत इति कथनाद्रूपान्तरापत्तिजनिका च नित्ये च कालस्य चेष्टारूपत्वाच्चैष्टिकीत्येवं चतुर्विधा क्रियाशक्तिः क्रियाश्रयत्वबोधनायैतदध्यायसमाप्तौ 'कालस्य गतिरीदृशी'ति 'लीलाकथास्ते कथिता' इतिवदद्भिः **श्रीशुकैर्निरूपितेति** कारिकार्थः **सम्पन्नः** । अत्र प्राकृतिके पुरुषाव्यक्तयोः स्थितिमुक्त्वा यदात्यन्तिके नानात्वं निवारितं तेन सुबालोपनिषच्छ्राविताः प्रलयप्रक्रिया उपबृंहिता । तत्र हि पृथिव्याद्यव्यक्तान्तं लयमुक्त्वाऽ'व्यक्तमक्षरे लीयते, अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देवे एकीभवति दिव्यो देव एको नारायण' इति कथनेनाक्षरान्तं लयस्तमसस्तु पर एकीभाव इति शब्दान्तरेण लयैकीभावयोर्विभागाभावैकीभावात्मा स्वरूपभेद इति तेनाऽपि ब्रह्मवादस्यैव सिद्धेरिति । एतेनात्यन्तिकस्य सृष्ट्यादित्रितयक्रियाविलक्षणतत्रितयक्रियात्मकत्वं बोधितमिति ब्रह्मलक्षणेऽपि न न्यूनता । इदं चाश्रयान्तःपातीत्याश्रयस्यापि लीलात्वमिति न क्वापि शङ्कालेशः ॥१६॥१९३॥ **एवं त्रिभिश्चतुर्थोऽध्यायो विचारितः ॥**

१ भाव ।

ज्ञानशक्तिर्द्वितीयेन वैदिकस्त्वयमाश्रयः ॥२०॥
पूर्वोक्तस्तान्त्रिकश्चैव बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
द्वाभ्यां प्रतिष्ठितो राजा वाक् पूर्वत्र नियोजिता ॥२१॥
आत्मानमभये चैव स्थापयित्वाऽभवत्फली ।

(अ. ५) पञ्चमं विचारयन्ति-ज्ञानशक्तिरित्यादि । श्रीशुकः स्वयं ब्रह्मभूतः पुराणोक्तं भगवन्तमत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णमित्यनेन स्मारयित्वाऽग्रेऽभेदबोधकं ज्ञानमुपदिष्टवान् । अतः प्रकरणस्य द्वितीयेनाध्यायेन ज्ञानशक्तिर्भगवदीया निरूपिता । नन्वत्राश्रये निरूपणीये ज्ञानशक्तिकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-वैदिक इत्यादि । वेदे हि ज्ञानादेव हि कैवल्यं 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'त्यादौ ज्ञानमेव तत्प्राप्तिसाधनतया श्रावितम् । तच्च भगवद्दत्तमेव भवति ज्ञानं स्वत इति जायन्तेय'वाक्यात् । अत आत्यन्तिकप्राप्त्यर्थं सोक्तेत्यर्थः । तर्ह्यनेनैव कार्यसिद्धेः पूर्वोक्ताश्रयकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-पूर्वोक्त इत्यादि । चः पुनरर्थे । एकादशे पूजाप्रकरणे भगवता 'उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धय' इति द्विधा स्वप्राप्तिकथनेनोभयथापि तस्या अभिप्रेतत्वाद् द्वाभ्यां बाह्याभ्यन्तरभेदत आश्रये प्रतिष्ठितो राजा उक्तरीत्या फली अभवदिति सम्बन्धः । अत एव फलार्थमुभयकथनमित्यर्थः । उभयोर्मध्ये पूर्वोक्त एव शुकस्य मुख्यत्वेनाभिप्रेत इत्याशयेनाहुः-वाक् पूर्वत्र नियोजतेति । अन्यथा समाप्तौ 'एतत्तेऽभिहित'मिति श्लोकेन राजप्रश्नानुवादपूर्वकं चेष्टाकथनं नोपसंहरेत्, अतः क्रियाश्रयविचारेऽपि पूर्वोक्तरीत्यैव ज्ञानं मुख्यमित्यर्थः ॥२०॥२१३॥

नि० क० विवेचनम् । का. २१. निबन्धेमे चतुर्थपञ्चमाध्यायात्मकद्वितीयप्रकरणसमाप्तौ षष्ठाध्यायस्य पूर्वार्धतात्पर्यकथनार्थं राज्ञः परीक्षितः फलबोधककारिकायां **द्वाभ्यां प्रतिष्ठित** इत्यादिद्वाभ्यां तान्त्रिकवैदिकहर्याश्रयजगदाश्रयाभ्यां राजा **प्रतिष्ठितः** तच्छ्रवणेन पूर्णसाधनो जात इत्यर्थः, । तदेव स्फुटं कथयन्ति वाक् पूर्वत्र नियोजितेति, पूर्वत्र दशलीलाविशिष्टे हरौ वाङ् नियोजिता, तस्यै फलत्वेन कीर्त्तनकर्त्ता जातः, तदुक्तं "वाचं यच्छाम्यधोक्षज" इत्यनेनात्मानं शुद्धजीवं **अभये** प्रलयावशेषरूपे जीवस्य प्रवेशस्थानेक्षरे ब्रह्मणि **स्थापयित्वा** तदविभक्तमात्मानमनुभूय **फली** प्राप्तफलोभवदिति, तथा च स्वयमक्षररूपो भूत्वा पुरुषोत्तमस्य कीर्त्तनेन तदानन्दमनुभूतवानित्यर्थः । क्रियाशक्तिरूपैः प्रलयैर्जीवस्यान्यथारूपनिवृत्तिरान्तरब्रह्मबोधरूपनिवृत्तिः, आन्तरब्रह्मबोधरूपज्ञानशक्त्या स्वरूपप्राप्तिरितिद्विविधसाधनरूपाश्रयोक्षरः, पुरुषोत्तमस्तु फलरूपाश्रय इति तृतीयचतुर्थपञ्चमाध्यायेष्वर्थादुक्तं तात्पर्येण ज्ञापितमित्यर्थः ।

आश्रयस्य द्विरूपत्वं साधनेन फलेन च ॥२२॥
साधनं द्विविधं चेति त्रयमर्थादिहोदितम् ।
आश्रयस्त्रितयं चाऽग्रे सार्धसप्तभिरुच्यते ॥२३॥
त्रितयं तत्र यो वेद स साधनपरो भवेत् ।

नन्वत्राश्रयनिरूपणे तत्प्राप्तिसाधनकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-**आश्रयस्येत्यादि** । 'भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयै'रित्यादावाश्रयशब्दः साधने प्रयुज्यते, फले त्वत्र, अतस्तस्यैवं द्विरूपत्वम् । साधनं च ज्ञानात्मकं वैदिकतान्त्रिकभेदेन द्विविधम् । अत्र अर्थाल्ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा चाभिधेयस्य वस्तुनो वा विचारं कृत्वा इह प्रकरणद्वये त्रयमुक्तमित्यर्थः । एवं **त्रिभिः पञ्चमो विचारितः** ॥

(अ. ६-७) **अग्रिमं विचारयन्ति-आश्रय इत्यादि** । अग्रे **प्रकरणान्तरे आश्रयस्तृतीयलक्षणलक्षितो ज्ञानाश्रयः । त्रितयमाध्यात्मिकादिकं च सार्द्धसप्तभिरादित आरभ्य तावद्भिरुच्यत इत्यर्थः । कथमुच्यत इत्याकाङ्क्षायां तं प्रकारं सार्द्धेनाहुः-त्रितयमित्यादि ।**

का. २३ अग्रे षष्ठाध्यायार्थोक्तावाश्रय इत्यादि, आश्रयोग्रे पञ्चमाध्यायादग्रे परीक्षितः फलनिरूपणेनोच्यते, अनेन षष्ठाध्यायस्था 'विबुधाः साधुवादिन' इत्यन्तानामष्टश्लोकानां तात्पर्यमुक्तम्, पूर्वोक्ताश्रयद्वयश्रवणेन राज्ञा भगवदाश्रयरूपं फलं प्राप्तमिति, अतः परं **सार्धसप्तभिस्त्रितय**माध्यात्मिकादित्रितयमुच्यते, षष्ठाध्याये वेद**त्रितयं** सप्तमाध्यायेष्टमादिषु त्रिषु त्रिविधा भक्तिः, दशमादिषु त्रिषु त्रिविधं भागवतमिति, एतत् सर्वमाध्यात्मिकादित्रितयज्ञापकं तथापि भक्तिभागवतयोर्वेदफलत्वान् न त्रितयज्ञापकत्वेन कथनं किन्तु प्रकरणभेदेन पृथगेवोच्यते । अथ त्रितयज्ञानस्य प्रयोजनं वदन्तो "जन्मेजयः स्वपितर"-(श्लो-१६) मित्यारभ्य "संहितामध्यगामिमा" (श्लो-३५) मित्यन्तस्य तात्पर्यमप्याहु**स्त्रितयं तत्र यो वेद स साधनपरो भवे**दिति, अत्र पितृमारणवैरेण सर्पदहनं मायाकार्यम्, स्वभावतो जन्मजयो न दुष्ट इति ज्ञापनार्थं बृहस्पतिवचनान् निवृत्तिस्तत्पूजनं च, तदुक्तं सूतेन "सैषा विष्णोर्महामाये"त्यनेन, ततो मायामनसश्च निवृत्त्यर्थमात्मवादिप्रवर्तितः श्रवणकीर्तनादिरूप आत्मवादः साधनमुक्तम्, ततोग्रिमेण "न यत्रे"त्यनेन मायानन्तःकार्यस्य सर्वस्य निवृत्तिपूर्वकमूर्मिराहित्येन क्रीडारूपमात्मवादिनां सुखमुक्तम्, तेनानिष्टनिवृत्तिपूर्वकं साधनदशायामेवेदं फलमिति ज्ञापितम् । ततः साधनस्य फलाव्यभिचारित्वज्ञापनार्थं "परं पदं वैष्णव"मित्यनेन प्राप्यं परमं फलमुक्तम् । ततोहन्ताममताभावरूपमेतस्यैवान्तरं साधनम्, "ततोतिवादा"नित्यनेन ज्ञापकम् ततोग्रे स्वगुरुनमस्कारस्तदुपकारश्चोक्तः, तथा चैवं कारिकार्थः, तत्राश्रयप्रकारेषु यो जीवस्त्रितयमाध्यात्मिकादिकं वेद अन्तर्ज्ञानेनापरोक्षं वेदादिशब्दैः परोक्षं वा स साधनपरो भवेत्,

अन्तर्ज्ञानप्रकारस्तु पूर्वमेव निरूपितः ॥२४॥

आध्यात्मिकादित्रितयं यो वेद स आत्माऽक्षरात्मकः आश्रय इति हि लक्षणः विकल्पापाये ,तल्लक्षणकस्त्रितयवेत्ताऽयं भवेत्तदा **शुकादितुल्यः** साधनपरो भवेत्। वाक्यान्वयाधिकरणोक्तरीतिकपरमात्मधर्मरूपभक्तिप्राकट्येन मुख्याधिकारी सन् गुणातीतानि यानि श्रवणादिसाधनानि तत्परो भवेत्, तथा चैतदर्थमेव विभूतिरूपाश्रयपक्षः। एवं भावश्च न सर्वेषां मुक्तानां किं 'त्वक्षरधिया'मिति सूत्रोक्तौपसदन्यायेन तादृशत्वदित्साविषयाणामेव, 'भगवान् भजता'मितिवाक्यात्। 'यो वेद निहितं गुहाया' मिति तु ज्ञानमार्गे' इति शास्त्रार्थप्रकरणे यदुक्तं तस्याप्यमेवाशयः। एवमर्द्धेनैतत्कथनप्रयोजनमुक्तं जीवशुद्धिस्वरूपज्ञापनायेदं लक्षणमिति। एतादृशस्वरूपज्ञाने किं साधनमित्याकाङ्क्षायामाहुः-**अन्तरित्यादि**। **पूर्वमिति**। आत्यन्तिकलयस्वरूपकथने ॥२२॥२४॥

स्वात्मानमाध्यात्मिकमाधिभौतिकात् पृथक्कृत्याधिदैविके योजनपरो भवेदिति साधनम्, तत्रात्मवादिभिः प्रवर्तित आत्मवादः पूर्वोक्त एव वेदादिरूपः, तेनैव प्रथमं त्रितयज्ञानम्, ततः स्वस्याध्यात्मिकरूपस्य सकार्यमायामनसोर्निवृत्त्या भौतिकात् पृथक्करणम्, तत ऊर्मिराहित्येन सुखमवान्तरफलम्, ततो वैष्णवपरमपदप्राप्तिरूपं परमफलं तदेवाधिदैविके योजनमिति ज्ञेयम्, इदमेव प्रकरणे पञ्चमे स साधनपरो भवेत्, अग्रे च 'फलयुक्तां त्रयीं जगावि'ति षष्ठाध्यायार्थत्वेन चोक्तम्, अपरोक्षमन्तस्त्रितयज्ञानप्रकारस्तु पूर्वं पञ्चमाध्याये ज्ञाननिरूपणेन, चतुर्थाध्याय आत्यन्तिकप्रलयनिरूपणेन च निरूपितः। वेदैरेव नान्यशास्त्रैरखिलं त्रितयज्ञानमत्र प्रकरणे सार्धाध्यायेन निरूपितम्, अत्र पुराणादीनामपि वेदत्वाभिप्रायेण त्रयीशिष्टविभेदेनेत्यध्यायद्वयार्थकथनम्, एतदेवोपसंहारे "ब्रह्मन्निदं समाख्यातं शाखाप्रणयन"मित्यनेनोक्तम्, अन्यथा पुराणादीनां वेदत्वाभावे "शाखाप्रणयनमिति न वदेत्, एतच्च च षष्ठाध्यायपूर्वार्धोक्तं पूर्वप्रकरणस्यापि फलत्वेनोपयोगि, अस्यापि प्रकरणस्य फलत्वेनोपयोगि, अत उभयोर्मध्ये निरूपितं, तदेव 'देहलीन्यायसिद्ध्यर्थ'मित्यनेन तत्त्वदीपे विवृतमेवं **तृतीयप्रकरणं विचारितम्** ॥

का-२४. अथ **स साधनपरो** भवेदित्यस्यात्राभिप्रेतार्थान्तरमुच्यते त्रितयवेत्तान्येषां पूर्वोक्तफलसाधने तत्पर उद्युक्तो भवेत्, यद्वा कर्मयोगादिषु साधनेषु सत्स्वपि वेदादिभिस्त्रितयवेत्ता साधनैर्जातसाक्षात्कारोऽन्येषामतादृशानां पूर्वोक्तफलप्राप्त्यर्थमुत्कृष्टं साधनं भवेत्, अतोत्र प्रकरणे वेदादिष्वेवाश्रयत्वं पर्यवसन्नम्, तत एवाग्रे वेदशाखाविभागप्रश्नस्तदुत्तरं चेति, अग्रे चतुर्थपञ्चमप्रकरणार्थनिरूपणे **अत परं तु द्विविध** इति पादोनद्वाभ्यां प्रकरणद्वयार्थस्त्रिविधा भक्तिस्त्रिविधं भागवतं चेतिक्रमेण प्रतिज्ञातम्, तथैव चाग्रे विविच्य निरूपितम्, स्कन्धारम्भे तु 'स पञ्चधात्र निर्णीत'इति प्रतिज्ञाय प्रकारत्रयं द्वितीयस्कन्धोक्तमत्र

वेदैरेवाखिलं ज्ञानं तत्सार्द्धेन निरूपितम् ।

एवं चेदं कृपाविषयस्य ज्ञानमार्गीयस्यैव साधनमिति ज्ञापनायाध्यायार्थमाहुः-**वेदैरित्यादि**। अत्रारम्भे राजवृत्तान्तबोधनं राज्ञो ब्रह्मभावबोधनार्थम्। ततःपदनिरूपणं फलबोधनार्थम्। ततः साधनबोधनं स्वस्य श्रवणाधिकारबोधनाय। एवमर्द्धोऽध्यायः पूर्वस्यैव शेषः। ततः शौनकप्रश्नमारभ्य सार्द्धेन वेदशाखाकथनम्, पुराणस्यापि वेदत्वात्समाप्तौ शाखाप्रणयनमुपसंहृतम्। पूर्वाध्याये ऋक्शाखोक्त्यनन्तरं 'श्रुत्वैवं छन्दसां व्यासं सर्वपापैः प्रमुच्यत' इति फलमुक्तम्। तद्यजुःसाम्नोरपि

स्मारयित्वा द्वितीयस्कन्धोक्तं 'स्वाश्रयाश्रय' इति पदं 'सर्वान्तरः पर' इतिपदेन तत्त्वदीपे विवृतम्, तेनैतदेव पदमाश्रयद्वयनिर्णयस्याधिकत्वमत्र सूचयतीति ज्ञापितम्, अग्रे 'एवं रूढि'मिति श्लोकेनाश्रयशब्दस्य रूढ्या वृत्त्याधिकरणरूपमर्थमादाय द्वितीयस्कन्धस्थानि शुकप्रोक्तानि लक्षणानि, अत्र स्कन्धे सूतप्रोक्ते द्वे लक्षणेऽधिके, ते स्वाश्रयशब्दस्य लोकप्रसिद्धं सहायत्वेन रक्षकत्वेन चोपजीव्यरूपमर्थमादायेत्युक्तम्, तदुदाहरणं तु 'शब्दार्थरसरूपधृक वेदो वा भगवान् वे'ति दर्शितम्, लोकस्य स्वेष्टफलसाधने वेदः सहायस्तत्तत्फलहेतुसाधननिरूपकत्वाद् विधिमन्त्रबलेन तत्प्रापकत्वान्न च, भगवांस्तु रक्षकः साधने प्रवृत्तं पालयत्युपद्रवांश्च दूरीकरोतीत्येवं द्विधोपजीव्यस्वाश्रयशब्दस्य लोकप्रसिद्धोर्थ इत्युक्त्वा 'वेदमेवे'त्यादिना तद् विवृतञ्च, तथा सत्युपक्रमानुसरणेन 'शब्दार्थरसरूपधृक् वेदो वा भगवान् वा' यथायथं चतुर्थपञ्चमप्रकरणार्थौ वक्तव्यः, तत्रापि स्वाश्रयाश्रय इतिपदेन सर्वान्तरत्वं परत्वं च यदुक्तं तदपि योजनीयं तदेवोपक्रमेण सहैकवाक्यता भवति। अत्र तु **त्रिविधा भक्तिस्त्रिविधं** भागवतं च प्रकरणद्वयार्थ उक्त इति कथमेकवाक्यतेति चेदत्रेदं प्रतिभाति, दशमस्कन्धपूर्वार्धे सप्तदशाध्यायविवृतौ सुबोधिन्यामेकविंशात्मकस्य कालस्य निरूपणे 'ऋतवो धर्मे प्रतिष्ठिता मासा धर्मिण्वि'ति निरूपितम्, तेन ऋतुनिरूपणस्थले धर्मो निरूपितः, मासनिरूपणस्थले धर्मिणो निरूपितास्तद्वदत्राप्यर्थरसरूपो भगवान् भक्तौ प्रतिष्ठितः, शब्दरसरूपो वेदश्च भागवतेऽतो नोपक्रमविरोधः, भक्तौ सत्यामेव भगवद्रसानुभवाद् भागवतस्य च वेदसारत्वाद्, अथ स्वाश्रयाश्रयपदे नाक्षरपुरुषोत्तमभावे वार्थत्वेन विवक्षितौ किन्तु यावत् किञ्चित् स्वाश्रयाश्रयं तेन भक्त्याश्रितं भागवतं भक्तेराश्रयः, एकभक्त्या गृहीतस्यैव भागवतस्य परमभक्तिजनकत्वात्, भक्तेर्भगवतश्चैकत्वविवक्षया 'सर्वान्तरः पर' इत्यनेन स्वाश्रयाश्रय इतिपदं व्याख्यातम्, तेन भक्तिलभ्यो भगवान् सर्वान्तरस्तस्यापि परमं प्रापकं वेदसारं भागवतमिति ज्ञापनान् न क्वापि कोपि विरोधः, अतः सुखेनैवैकवाक्यतासम्भवात् सर्वं युक्तमेवेति ॥

त्रयीशिष्टविभेदेन फलयुक्तां त्रयीं जगौ ॥२५॥
देहलीन्यायसिद्ध्यर्थं शिष्टमेकेन रूपितम् ।
एवं सप्तभिरध्यायैरुक्तस्त्रिविध आश्रयः ॥२६॥
अतः परं तु द्विविधस्त्रिभिस्त्रिभिरिहोच्यते ।
भक्तिमार्गो भागवतं त्रिविधं त्रिविधं यतः ॥२७॥
आध्यात्मिकादिभेदेन मार्कण्डेये प्रतिष्ठिता ।
त्रिविधापि हरेर्भक्तिः कर्ममार्गानुसारिणी ॥२८॥
अत्यन्तनिष्ठामापन्ना स्ववाक्यकरणाद्धरिः

तुल्यं छन्दस्त्वस्य सर्वत्र तौल्यादित्याशयेनाहुः-फलयुक्तां त्रयीमित्यादिपादद्वयम् । शिष्टमिति अथर्वादि ॥२५॥२६॥ एवं सार्द्धैस्त्रिभिस्तृतीयप्रकरणार्थ उक्तः ॥

(अ. ८) अग्रिमं प्रकरणद्वयविभागमाहुः-अतः परमित्यादिसपादेन । आध्यात्मिकादिभेदेनेति पदमग्रेऽपि युज्यते । प्रथमप्रकरणीयाध्यायत्रयार्थमाहुः-मार्कण्डेयेत्यादिषड्भिः । प्रथमस्यार्थमाहुः-सपादाभ्याम्-कर्ममार्गानुसारिणीति । उपासनामार्गानुसारिणी । 'अग्न्यर्कगुरुविप्रात्मस्वर्चयन्सन्ध्ययोर्हरि'मिति । 'आराधयन् हृषीकेश'मिति च तत्र वाक्यात् ॥२७॥२८॥ अत्यन्तनिष्ठापन्नत्वे हेतुं गमकं चाहुः-स्ववाक्येत्यादिपादद्वयेन । स्ववाक्यकरणादिति तपोबोधकवाक्यकरणात् । एवं प्रथमाध्यायार्थ उक्तः ।

का-२९. अग्रे नवमाध्यायार्थोक्तौ तादृशस्येत्यादिनिश्चय इत्यन्तं तादृशस्य पूर्वोक्तरूपस्य मार्कण्डेयस्य भगवद्दतो वरः परः द्वितीयनिष्ठारूपः तज्ज्ञापकमाहुरचिन्त्येत्यादि, तादृशो हरिर्यास्मिन् वरानुभवे मार्कण्डेयं तथा दृष्ट्वा मायादुःखनिवर्तककृपापाङ्गेन द्रक्ष्यति परं भक्त्या न प्राप्तः । किन्तु "सकृद् दर्शित'मित्यत्र नारदस्यैव कृपया प्राप्तोऽन्तर्दधे, अत्र क्लेशेन भगवन्दर्शनं ज्ञाननिष्ठात्वज्ञापकमित्यर्थः ।

नमः श्रीवल्लभाचार्यपादाब्जनखरोचिषे ।
यदीयस्मृतिरेवाशु हृदयान्ध्यविनाशिनी ॥

इति श्रीमद्गुरुचरणप्रसादेन यथामतिभाताः प्रकीर्णस्थानेष्वर्थाः लिखिताः ।

॥ इति निबन्धकठिनांशविवेचनं समाप्तम् ॥

स्वयं तुष्टः समायातस्तादृशस्य वरः परः ॥२९॥
अचिन्त्यानन्तशक्तिर्हि यस्मिन् द्रष्टा हरिस्तथा ।
भक्त्या न सिद्ध इति स तत्रैवान्तरधीरयत ॥३०॥
क्लेशेन भगवन्मार्गो द्वितीय इति निश्चयः ।
योऽधिकारी भक्तिमार्गे तत्प्रसादमवाप्य हि ॥३१॥
भक्तश्चेत्सर्ववित्सुस्थस्तृतीयः स उदाहृतः ।
भक्तियुक्तो महादेवस्तां दातुं शक्नुयात्तथा ॥३२॥
भक्तस्य यावान् सङ्क्लेशः स मायेत्यपि रूपितम् ।

(अ. ९.) द्वितीयस्याहुः-तादृशस्येत्यादि । परः को वेत्याकाङ्क्षायां तल्लक्षणमाहुः-अचिन्त्येत्यादि ।

हरिस्तथेति । हरिरेव पर इत्यर्थः । तर्हि तिरोधानं कुतः कृतवानित्याकाङ्क्षायामाहुः-भक्त्येत्यादि । तत्रैवेति मायायाम् । 'नाहं प्रकाश' इतिगीतावाक्यात् । द्वितीय इति आध्यात्मिको ज्ञानमार्गीयः । एवं द्वितीयाध्यायार्थ उक्तः ॥

(अ. १०) तृतीयस्याहुः-य इत्यादि । एतेन 'नारायणपरः प्रशान्तात्मा तृतीय' इत्युक्तं भवति । नन्वत्र शिवदर्शनसम्वादाद्युपनिबन्धनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-'भक्तियुक्त इत्यादि । एतेन महादेवे गुरुत्वबोधनाय तदुपनिबन्धनमित्युक्तम् । ननु द्वितीयनिष्ठायां क्लेशनिरूपणस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः-तथेत्यादि । उपाख्यानारम्भे 'स वा अस्मत्कुलोत्पन्नः कल्पेऽस्मिन्नि'त्यादिना प्रलयाभावदशाबोधनात्, समाप्तौ च 'मायावैभवमि'त्युक्त्वा 'एतत्केचिदविद्वांसो मायासंसृतिमात्मनः। अनाद्यावर्तितं नृणां कादाचित्कं प्रचक्षत' इत्यनेन मार्कण्डेयानुभूतं मायावैभवम् एतत्केचिदविद्वांसो नृणामनाद्यावर्त्तितं कादाचित्कमात्मनो मायासंसृतिं प्रचक्षत इति सङ्कपद्वयस्य मायासंसृतित्वादिनामविद्वत्त्वकथनाद्भक्तस्य सङ्क्लेशो यः स मायेति निरूपितम् । तथा च तद्बोधनाय तदुपनिबन्धनमित्यर्थः । एतस्या निष्ठायाः स्वरूपमाहुः-भक्तीत्यादि, इयमिति । माहात्म्यज्ञानपूर्वकं भगवच्छरणगमनं सर्वापेक्षाराहित्यं भक्तमाहात्म्यपूर्वकं तेषु भक्तिः, एकान्तभक्त्या पर्यटनमित्येवं रूपा । एवं चात्र कर्ममार्गानुसारिणी भक्तिरुभयविधनिष्ठा विभाजिकेति

भक्तिमार्गानुसारेण भक्तिनिष्ठेयमीरिता ॥३३॥
चतुर्थस्त्वाश्रयोऽयं वै श्रीमद्भागवतमन्तिमम्।
पुरुषाराधनं तत्र सूर्यात्कालमपेक्ष्य हि ॥३४॥
श्रीभागवतवाक्येन कथां तत्र च योजयेत्।
आधिदैविकमाख्यातमेतद्भागवतं मतम् ॥३५॥
कथाः सर्वा इहोद्दिष्टा आधिभौतिकमुच्यते।
यथा लोकाः प्रवर्त्तन्ते कथयन्ति परस्परम् ॥३६॥

तत्पूर्वकत्वं निष्ठाद्वयस्य सिद्ध्यतीत्येवं त्रैविध्यम्। आश्रयरूपा भक्तिस्तु तिसृभ्योऽतिरिक्ता स्वतन्त्रभक्तिरूपा। तद्वत एवैतत्त्रितयभेदवेदनमिति हृदिकृत्य प्रकरणमुपसंहरन्ति–चतुर्थ इत्यादि। अयमिति एतादृशदशासाधनानुकूलो भगवान् ॥३३½॥ एवं तृतीयाध्यायो विचारितः।

(अ. ११-१२-१३.) अतः परं पादोनैः पञ्चभिः पञ्चमंप्रकरणं विचारयन्ति–श्रीभागवतमन्तिममिति। तस्य कथं त्रैविध्यं कथं चाश्रयत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः–पुरुषेत्यादि। तत्र तेषु त्रिषु त्रिषु रूपेषु श्रीभागवतवाक्येन सूर्यात्कालमपेक्ष्य पुरुषाराधनं तत्राराधने कथाश्च योजयेद् एतदाधिदैविकमाख्यातम्, सूर्योपाधिककालसापेक्षपुरुषाराधनपूर्वककथायोग आधिदैविकंरूपमित्यर्थः। अत्राङ्गद्वयमाद्याध्यायोक्तम्, अङ्गी तु 'अथेममर्थं पृच्छाम' इति वाक्यात्प्राप्यते, सर्वश्रवणाङ्गं पृच्छाम इति तत्रार्थव्यक्तेः। यद्वाराधनमुख्यतामभिप्रेयाद् इममध्यायं श्रीभागवतारम्भ एवोपनिबध्नीयादिति। द्वितीयं तद्रहितं केवलकथारूपम्, द्वितीयाध्याये तथैव सिद्धत्वात्। तृतीयं तु स्फुटमेव। तदपि तृतीयेऽध्याये दानदानमाहात्म्यपाठादिमाहात्म्यकथनेन फलेप्सुरूपजघन्याधिकारिबोधनात्। तेनैकमेव श्रीभागवतं कार्यद्वयकरणेन द्विविधम्, पुराणत्वादिकमुभयविच्छेदकमिति त्रिरूपता। आश्रयरूपं सर्ववेदान्तसारत्वेन ज्ञातरि परमानन्दजनकम्। तदेतद् 'सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते। तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचिद्'

श्रीभागवतमेवाऽत्र केवलं चेत्समाश्रितम्।
गङ्गावद्धरिवच्चैव शम्भुवच्च फलिष्यति ॥३७॥
शुद्ध्या फलप्रदानेन भक्तिदानेन च स्वयम्।
अत्र प्रतिष्ठितं सर्वं तेनाऽयं विवृतः क्वचित् ॥३८॥
श्रीमद्भागवतं समस्तनिगमन्यायैकतत्त्वात्मकं
नानाभ्रान्तितमःकपाटपिहितं सन्तुष्टये सर्वथा।
नाऽभूदित्यवगत्य निश्चितपदैरुद्दीप्तदीपाकृतिं।
श्रीमद्भागवतप्रदीपमधुना चक्रे मुदा वल्लभः ॥३९॥

इत्यनेनोक्तम्। एतादृशस्यैवाधिकारिणः पूर्वोक्तभेदत्रयस्यैतदतिरिक्तत्वेन वेदनादिति। चतुर्णां फलबोधनेन तुरीयस्याश्रयत्वं निगमयितुमाहुः–श्रीभागवतमित्यादि। अत्र गङ्गावच्छुद्ध्येति प्रथमस्य, हरिवत्सायुज्यदानेनेति द्वितीयस्य, शम्भुवद्भक्तिदानेनेतितृतीयस्य। इदं च 'निम्नगानामि'तिश्लोके दृष्टान्तमुखेन बोधितम्। च पुनः स्वयं फलिष्यति। तत्र हेतुः, अत्र प्रतिष्ठितं सर्वमिति। तदेतदुक्तं 'श्रीमद्भागवतं पुराणममल'मिति श्लोके। तेन हेतुनायं प्रकारः क्वचिद्विवृतः 'बर्हापीडे'त्यत्र 'गीतकीर्ति'पदेन तद्विमर्शश्लोकेन च विवृत इत्यर्थः ॥३८॥ एतादृशं च श्रीभागवतस्वरूपमात्मानुभावप्रकटनहृदयस्याज्ञया प्रादुर्भावात्। श्रीमदाचार्यचरणैरेवावगतमि'ति बोधनायाहुः श्रीमद्भागवतमित्यादि। एतेना'ग्निश्चकारतत्त्वार्थदिपमि'ति टीकायां यदुक्तं तदेतन्मूलकमिति ज्ञापितम् ॥३९॥ शेषमुत्तानार्थम्।

॥ इतिश्रीद्वादशस्कन्धयोजना ॥

एवं हृदिस्थाच्युतनोदनेन
श्रीवल्लभाचार्यनखेन्दुकान्त्या।
ध्वान्ते गते कर्मणि सत्पथेऽभूद्
या योजना सा लिखिता मयाऽत्र ॥१॥

यथा भागवतस्याऽर्थो हृदिस्थाच्युतनोदनात् ।
तथा निरूपितः सद्भिः क्षमा कार्या ममोपरि ॥४०॥
युक्तं वा यदि वायुक्तं मया यद्यन्निरूपितम् ।
तत्सर्वं कृष्णचरणे वाक्पुष्पं विनिवेदितम् ॥४१॥

इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वदीपनिबन्धे
श्रीभागवतार्थप्रकरणे द्वादशस्कन्धविवरणं
सम्पूर्णम् ।

क्षमन्तु तद्यल्लिखितं मयाऽन्यथा
स्वकर्मदोषादधमेन मौढ्यात् ।
कृपालवोऽस्मत्प्रभवः सदा मां
स्वदासदास्ये च नियोजयन्तु ॥२॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणैः श्रीपुरुषोत्तमस्य दर्शिता पञ्चमस्कन्धनिबन्ध-
शेषादारभ्य द्वादशस्कन्धनिबन्धान्तयोजना
समाप्ता ।

द्वादशः स्कन्धः समाप्तः

इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते
त त्त्वा र्थ दी प नि ब न्धे
श्रीभागवतार्थप्रकरणं
समाप्तम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

अध्यायत्रयप्राक्षिप्तत्वसमर्थनम् ।

॥ अथ श्रीमदाचार्यचरणाः ॥

कथामात्रं हरेर्वाच्यं सर्वत्रेत्यत्र केचन । कथां वक्तुं भागवतीं कचित् सिद्धामलौकिकीम् ॥१॥
योजयित्वा त्वाधुनिका अध्यायत्रितयं जगुः । शब्दार्थसङ्गतीनां हि स्पष्टा तत्र विरुद्धता ॥२॥
लोकप्रसिद्धेस्तच्चापि कथञ्चिद् रूप्यते स्फुटम् ॥ २३ ॥

पूर्वाध्यायान्ते "कौमारं जहतुर्व्रज" इत्युक्तं, "ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मता"वित्येव सन्दर्भस्तथापि भगवच्चरितमिव वत्सापहरणं पद्मपुराणे प्रसिद्धमिति तां कथामाश्रित्याघासुरवधं ब्रह्मस्तुतिं च पूर्वापरयोः निवेश्य कौतुकलीला भगवतः प्रदर्शिता, लोका हि लौकिके कौतुकिनो भवन्ति, तत्र तु प्रथमेऽध्याये लीलामाह सुविस्तराम् । अघासुरस्य च वधं मुक्तिश्चापि स्वयुक्तितः॥१॥

॥ अथ श्रीप्रभुचरणाः ॥

अग्रेऽध्यायत्रयं प्रक्षिप्तमित्युक्तम् । तत्र 'कौमारं जहतुः' 'ततश्च पौगण्डवयः श्रिता'विति युक्तः सन्दर्भ इति । मध्येन्यकथा 'त्वेवं विहारै'रित्यस्य 'ततश्च पौगण्डवय' इत्यस्य च वक्त्रा नोक्तेति ज्ञायते । अन्यथैतदध्यायत्रयानन्तरमेव कौमारत्यागं वदेत् । किञ्च, 'पौगण्डे परिकीर्तित'मितिवाक्यात् पूर्वाध्याय एव तत्प्राप्ते'स्ततश्च पौगण्डवयः श्रिता'विति वाक्यं विरुद्धं स्यात्, तदनर्थकं च । तृतीयाध्यायान्ते'प्येवं विहारै'रिति श्लोकोधुना कैश्चित्पुस्तकेषु लिख्यते, तदप्रामाणिकमितीतोपि तथात्वं तेषां ज्ञेयम् । (१०-३०-१७) भगवत्प्रियाकृतलीलानुकृतिष्वेतदनुकृत्यभावात् । तृतीयस्कन्धे (अ. २) श्रीमदुद्धवैर्द्वादशेस्कन्धे (अ. १२) सूतेन चैतत्कथाया अकथनाच्च ।'न भारतीमेङ्ग मृषोपलक्ष्यते, न वै कचिन्मे मनसो मृषा मतिः,। न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथ' २-६-३३ इति ब्रह्मवाक्यविरोधश्च । ईश्वरे तत्त्वेन ज्ञानवतस्तत्परीक्षाकृतमहानर्थरूपत्वात्, 'भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचि'दिति २-९-३६ भगवद्वाक्यविरोधश्च । 'तोकेन जीवहरणमि'त्यादिनिरूपकस्य सदेश्वरत्वेन ज्ञानवतस्तादृग्धाष्टर्यस्यासम्भवाच्च । आचार्यैः प्रसिद्धिमात्रेण विवृतमित्यस्माभिरुपेक्षितम् ।

(अथ गो. श्रीपुरुषोत्तमचरणाः)

(कां. १. १.) अथ प्रक्षिप्ताध्यायान् विवरिषवो मतान्तरमाहुः **कथामात्रमित्यादि**-सार्धेन, प्रक्षिप्तत्वं समर्थयितुमाहुः **शब्दार्थेत्यर्धं**, व्याख्याने हेतुमाहु**र्लौकिकेत्यर्धेन**, **प्रक्षिप्तत्वं** समर्थयन्ति **पूर्वाध्यायेत्यादि**, एतेषां मूलमाहु**स्तथापीत्यादि**, एतदेवोक्तं **पाद्मोत्तरखण्डे**,

'तत्पक्षभूतकृष्णेनाहिरूपोघासुरो हतः । भगिनीभ्रातृनिर्वेशी तस्य ब्रह्मगतिः कृता ॥१॥
मोचिता वत्सतत्पालास्तद्वक्त्रादन्तकालयात् । तस्मिन्नहनि मध्याह्ने सवत्सान् वत्सपालकान् ॥२॥
विधिर्जहार सम्पश्यन् प्रभावं गोपरूपिणम् । पश्चाद्वापूरिते वर्षे वत्सान् पालन् प्रजापतिः ॥३॥
सर्वानाचष्ट वैकुण्ठं तुष्टाव नवमीदिने । कृष्णमायाहताः सर्वे क्षणार्धं मेनिरेर्भकाः ॥४॥
तैर्ज्ञातश्चाद्य निहतोघासुरः सखिना हि नः । गत्वा व्रजं ततो बाला इति सर्वं व्रजे जगुः' ॥५॥

इति, अत्राचार्यैः सन्दर्भविरोधरूपमेकमेव दूषणमुक्तम्, **टिप्पण्यां** त्वन्यान्यपि दूषणानि प्रक्षिप्तत्वसाधकान्युक्तानि तानि ततोवगन्तव्यानि, किञ्चात्रैव प्रथमाध्याये भगवतोघासुरमुखप्रवेशत-

द्दर्शनेन "तदा घनच्छदादेव भयाद्धाहेति चुक्रुशुः, जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवा" इत्यनेन कंसादीनां हर्ष उक्तस्तदुत्तरं तदैव तन्नाशेन तद्दर्शनमप्यर्थादेव सिद्धम्, एवं सति यदग्रेरिष्टवधोत्तरं नारदेन कंसायोक्तं "याभ्यां ते पुरुषा हता" इति तद् विरुध्यते, अघस्य बकीबकानुजस्य यो वधस्तस्य स्वयमेव दर्शनात्, किञ्च द्वितीयाध्याये 'स्नेहस्नुतस्तन्यपयः-सुधासवं मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन्नि'त्युक्तं तदप्यग्रिमया रसलीलया विरुध्यते, किञ्च तदानीं वयस्यानां पञ्चवार्षिकत्वेन तत्तुल्ये भगवद्रूपेपि स्तनपानासङ्गतिश्च, श्रीगोपेश्वरास्तु न चाशेषदेशेष्वप्यध्यायत्रयस्य भागवतीयत्वप्रसिद्धेरस्य प्रक्षिप्तत्वमसम्भवी'तिशङ्कायां तदुक्तं विकल्प्य दूषयन्ति 'तथा हि सा प्रसिद्धिः किं पामराणां पण्डितानां वा सर्वेषां वा? नाद्यः, तत्प्रसिद्धिमात्रेणेष्टसिद्धेरभावात्, अन्यथा देहात्मबुद्धेरपि प्रामाण्यापत्तेः, न च यावद्व्यवहारं तस्या अपि प्रामाण्ये दोषाभाव इति वाच्यं, किं तावता? शास्त्रेण देहात्मनो भेदेवधारिते तस्या असङ्गतत्ववदेतेषामपि पूर्वोक्तदूषणेनाभागवतीयत्वेवधारिते प्रसिद्धेरप्रयोजकत्वस्यैव निश्चयात्, न द्वितीयः, सर्वेषां पण्डितानां तथा प्रसिद्धौ मानाभावात्, अन्यथा तद्विषयकविवादोपशमप्रसङ्गात्, सर्वलोकप्रसिद्धस्यार्थस्य विवादकवलितत्वादर्शनात्, कतिपयेषां तथा प्रसिद्ध्या भागवतीयत्वाङ्गीकारेन्येषां तदभावेन तद्वैपरीत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्, न च बहूनां प्रसिद्ध्या तथात्वाङ्गीकार एव युक्त इति वाच्यं, 'शतमप्यन्धानां न पश्यती'-तिन्यायेन तेषां सर्वेषामप्यनभिज्ञत्वात्, दूषणाभाव एव 'बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यत्वादन्यथा देहात्मवादन्यायापत्तिः, एतेनैव तृतीयोपि निरस्तो ज्ञेयः। न च पाद्मप्रसिद्ध्या तेषां भागवतीयत्वं शक्यशङ्कं, तत्र लीलामात्रकथनदर्शनात्, यदि हि 'गीतासारं प्रवक्ष्यामि सर्वगीतोत्तरोत्तरं कृष्णो यमर्जुनाया'हेत्यग्निपुराणे गीतासारस्य भगवदुक्तत्वं लिङ्गमुक्तम्, तथा चेदत्र किञ्चिद्भागवतीयत्वलिङ्गदर्शनं स्यात् तदाङ्गीकर्तुं शक्येतापि, अतो भागवतीयत्वबोधकस्य लिङ्गवाक्यादेरभावात् तथात्वाङ्गीकारो न युक्त एव। न च दूषणोद्धारे सति कथमयुक्तो न च तेषामनुद्धार्यत्वम्, तथा हि कौमारत्यागोत्तरं पुनः कौमारलीलाकथनस्य चमत्कारविशेषाधानार्थत्वेन सन्दर्भविरोधस्य परिहारात् लीलानुकरणस्य च भावानुरोधित्वेनैतद्भावाभावेनैतदनुकरणाभावस्यापि शक्यवचनत्वादेवमन्येषामपि परिहृतप्रायत्वाच्चेति वाच्यं, तथा सति कौमारलीलाकथनस्य चमत्कारविशेषाधानार्थत्वे हरिवंशविष्णुपुराणब्रह्मवैवर्तेषूक्तानां लीलानां तथात्वस्य तौल्येन तासामपि कथनप्रसङ्गात् तासु न तथात्वमत्रैव तथात्वमित्यत्र विनिगमकाभावादनुकरणाभावहेतुभूततादृग्भावाभावस्य यो हेतुस्तस्याप्यशक्यवचनत्वेन तत्रापि समाध्यभावात्, भावाभावरूपेण हेतुना तत्कल्प एतल्लीलाभावस्यैव निश्चयाच्च, न च श्रीधरेणैतद्व्याख्यानादेतेषां भागवतीयत्वेनाङ्गीकार उचित इति वाच्यं, प्रथमस्कन्धे' द्वात्रिंशत्त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखा' इति कथयतैतेषां बहिर्भावस्य सूचितत्वाद्, एवं 'मज्जतः-फेनावलम्बने 'प्युद्धवोक्तिसूतोक्त्योरेतदभावसमाधानस्य कर्तुमशक्यत्वाच्च, तस्माच् छ्रद्धाजाड्येनैवैतदङ्गीकरणम्, यत् तु बोपदेवो 'वधश्च वत्सबकयोस्तथाघासुरभोगिनः, वत्सचोरो ब्रह्ममोहो ब्रह्मणः स्तवनं हरे'रित्युक्तवांस्तत्रापि पादत्रयमनवधानविजृम्भितमेवोपदर्शितानां दोषाणामनपायादित्याहुः, अत आधुनिकानां वृन्दावनीयप्रभृतीनां यस्तत्र भागवतीयाग्रहः स श्रद्धाजाड्यमूलक एवेति सुधीभिरवधेयम् ॥

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः

अध्यायत्रयप्राक्षिप्तत्वसमर्थनम् ।

गो.श्रीमत्कल्याणरायतनयश्रीगोपेश्वरजीविरचितम् ।

(दशमस्य नवत्यध्यायेषु अ. १२-१३-१४ अध्यायानां प्रक्षिप्तत्वम्)

प्रतिक्षणोद्भवद्भावपीयूषोर्मिभिराप्लुतः ।
व्रजस्त्रीरसपाथोधिः स जयत्यस्मदीश्वरः ॥१॥

अत्र तावदघासुरवधब्रह्ममोहनतत्कृतस्तवादिनिरूपकदशमस्कन्धगताध्यायत्रितयं पूर्वापराध्यायकथितकथासङ्गत्यनुपपत्त्या कथमपि श्रीशुकोक्तमिति वक्तुं न युक्तमतः प्रक्षिप्तमेवेदं न श्रीभागवतीयमितिश्रीरहस्यविदो वदन्त्यस्मत्प्रभुचरणाः। यदिह गदितं केनचित्, केचिदध्यायत्रयं न मन्यन्ते तत्र कारणं न पश्यामः सर्वत्रापि देशेष्वैतिह्यप्राप्तत्वादिति। तत् तस्यैव मत्तस्य शोभते पूर्वोत्तराध्यायकथासङ्गत्यनुपपत्तेरेव तत्र कारणत्वात्, तथा हि पूर्वमे'वं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रज' इत्यनेन कौमारविहारपरिसमाप्तिनिरूपणादग्रे क्रमप्राप्तं पौगण्डलीलानामेव निरूपणं न्याय्यं न पुनरध्यायत्रयेण कौमारलीलानामेव, तस्मादसङ्गतिरस्यादण्डवारितैव। तथा च दुःप्रतिक्षेपं प्रक्षिप्तत्वम्। किञ्च, न वयमध्यायत्रयं न मन्यामहे अत एवैतद्विवरणमस्मन्मते विद्योतते; तर्हि षट्कुट्यां प्रभातमङ्गीकृतत्वात् तस्येति चेन्, न, उदीरितरीत्या भागवतीयत्वायोगेन प्रसिद्धिमात्रानुरोधेन विवृतस्यापि तस्य प्रक्षिप्तत्वाक्षतेस्त्वदभिमताभावात्, न चाशेषदेशेष्वपि भागवतीयत्वप्रसिद्धेरस्य प्रक्षिप्तत्वमसम्भवीतिवाच्यं, विकल्पाक्षमत्वात्, तथा हि, तथा प्रसिद्धिः किं पामराणामभिधित्सता पण्डितानां वा, आहोस्वित् सर्वेषाम्? नाद्यः, तत्प्रसिद्धिमात्रेण समीहितसिद्धेरभावात्, अन्यथा देहात्मवादस्यापि दुष्परिहरत्वप्रसङ्गात्, पामराणामात्मत्वप्रसिद्धेस्तत्रापि प्रमाणयितुं शक्यत्वात्, न द्वितीयः, सर्वेषां तेषां तत्सत्त्वे मानाभावात्, अन्यथा तद्विषयकविवादोपशमप्रसङ्गात्, न हि सर्वलोकप्रसिद्धोर्थः क्वचिद् विवादास्पदीभवितुमवकल्पते, कतिपयानां तथा प्रसिद्ध्या भागवतीयत्वप्रसाधनेऽन्येषां तेषां तदभावेनैतद्वैपरीत्यप्रसङ्गस्याप्यशक्यभङ्गत्वात्, ननु तथाप्यस्य बहवो भागवतीयत्वं मेनिरेऽतो नैवमिति चेन्, न, शतमप्यन्धानां न पश्यतीतिन्यायात्। नन्वत्र विनिगमनाविरह इति चेन्

न, पूर्वोक्तवक्ष्यमाणयुक्तिभिः प्रक्षिप्तत्वस्यैवाभ्युपगमनीयत्वेन तदभावात्, न तृतीयः पक्षद्वयोक्तदूषणानतिवर्त्तित्वात्। ननु पाद्मोत्तरखण्डेप्येतल्लीलाप्रसिद्धिसद्भावान् न कोपि दोष इति चेन् न, पुराणान्तरैतत्प्रसिद्धेर्भागवतीयत्वागमकत्वात्। अन्यथान्यपुराणप्रसिद्धकथान्तरस्याप्यत्र प्रक्षेपे तथात्वस्यावर्जनीयत्वापातात्, यच्च चोक्तं तदीयस्वसम्प्रदायानङ्गीकारप्रामाण्येन तस्याप्रामाण्यं चेदन्यसम्प्रदायाङ्गीकारप्रामाण्येन विपरीतं कथं न स्यादिति, तदपि न, उक्तयुक्त्या भागवतीयत्वानुपपत्तौ तदीयस्वसम्प्रदायानङ्गीकारप्रामाण्येन तदप्रामाण्यस्यैव सुस्थिरत्वात्, यदपि पुरतः पुनः कौमारलीलावर्णनं चमत्कारविशेषस्मरणेनेति न पुनरुक्तिरिति समाधानम्, तदप्यनवधानविजृम्भितम्, सर्वलीलास्वपि चमत्कारस्मरणावतारस्य सुवचत्वेन सर्वासामेव तासां पुनरुपन्यासप्रसङ्गात्, भगवल्लीलामात्रस्यैवातिमात्रविचित्रत्वात्, अत्रैव चमत्कारस्फुरणे नियामकाभावात्, न च रसावेश एव नियामक इतिवाच्यम्, तस्यापि सर्वलीलासाधारण्यात्, असङ्गतार्थकथने श्रीशुकस्य वक्तृदोषापाताच्च च। अपि च प्रभुप्रियाणां तत्तत्प्रियलीलानुकरणवद् यदेतदनुकरणाभावः, सोपि प्रक्षिप्तत्वमेव प्रत्याययति। न च यावल्लीलानुकरणनियमाभावः, भावभरेणाविर्भवतस्तत्तदनुकरणस्यानिराकरणीयत्वात् तस्य चात्रापि भावात्, अन्यथान्यत्रापि क्वचित् तदभावापत्तेः। अन्यच्च च 'पौगण्डे परिकीर्तितमि'तिवचनात् पूर्वाध्याय एवाधिगतत्वात् पौगण्डवयसः पुन'स्ततश्च पौगण्डवयःश्रिता'वित्यनेन तच्छ्रूयणोक्तेरयुक्तत्वादेतद्वचनव्याहृतिवचनवैयर्थ्यापत्तिः। ब्रह्मणो भगवद्भुजिष्यत्वेन तत्परीक्षणासामञ्जस्यापरिहारात्। भगवत्प्रसादप्राप्तमोहाभावानुपपत्तेश्च 'द्वितीयस्कन्धे' (अ. ७–२७) ब्रह्मणा 'तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकायास्त्रैमासिकस्य च पदा शकटोपवृत्तः। यद्रिङ्गतान्तरगतेन दिविस्पृशोर्वा उन्मूलनं त्वितरथार्जुनयोर्न भाव्य'मितिपूर्णप्रभुमाहात्म्योपवर्णनेन विबद्धक्तस्य तस्य भगवति धाष्टर्यकरणानौचित्यं कथं निरसनीयम्, न च लीलायां स्वाम्यभिप्रायानुसारिकार्यकरणेन(न)किञ्चिदनुचितमितिवाच्यम्, अपराधजनके कर्मणि प्रभोः सेवकप्रवर्तनाभिप्रायासम्भवात्। ननु नापराधजनकत्वमस्य प्रभ्वभिप्रायस्यैवापराधबाधकत्वादतो युक्तमेव धाष्टर्यमिति चेत्, सत्यम्, अभिप्रायपूर्वकधाष्टर्ये नापराधोपि, प्रकृते धाष्टर्यस्याभिप्रायपूर्वकताबोधकाभावेन तदनौचित्यस्य वज्रलेपत्वात्, तत्कल्पनायाश्च विपरीतकल्पनाभिया अनुत्थानात्, किञ्च तृतीयस्कन्धे श्रीमदुद्धवैर्लीलान्तराणि वदद्भिर्द्वादशस्कन्धे सूतेन चोक्तसर्वलीलाः कथयतैतदनभिधानाच्च च, 'द्वात्रिंशत् त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखा' इत्यध्यायसङ्ख्यानिरूपकोक्त्यैतद-

ध्यायत्रयप्रक्षिप्ततायाः श्रीधराभिप्रायविषयत्वाच्च च। तथा च तदुक्तिमात्रश्रद्धालोरनालोचितपूर्वापरग्रन्थस्यानुचितमेवाप्रक्षिप्तत्वप्रसाधनमुपेक्षणीयं प्रेक्षासाधनैरिति कोविदा एव विदाङ्कुर्वन्त्वित्येषा दिक् ।

श्रीगोपेश्वरस्य स्वाचार्यचरणाब्जैकचेतसः ।
कृतिरेषा कृतधियामसकृज् जायतां मुदे ॥१॥

इति श्रीमत्कल्याणरायतनयश्रीगोपेश्वरकृतमध्यायत्रयप्रक्षिप्तत्वसमर्थनम् ॥

श्रीमुकुन्दरायो जयति ।

श्रीमदाचार्यश्रीमत्प्रभुचरणौ जयतः ।

श्रीमद्गोस्वामिश्रीगिरिधरविरचिताध्यायत्रयप्रक्षिप्तत्वसमर्थनम् ।

भवति भवमहाब्धिर्गोष्पदं वै मुमुक्षो-
रभिभवति कवीशान् यत्प्रसादाद् विमूकः ।
प्रभवति निजलीलाप्रेमभावः स्वकानां
द्रुतमतिजयति प्राक् रायशब्दान् मुकुन्दः ॥ १ ॥
वन्दे राधारसाम्भोधिसमुज्वलकलानिधिम् ।
श्रीमद्गोपालकलालं तं गोपीकैरवहर्षकम् ॥ २ ॥
यत्प्रसादाद् विमूकोपि वादिकुम्भीन्द्रगर्वनुत् ।
प्रभवेच्छ्रीमदाचार्यचरणान् नौमि तान् सदा ॥ ३ ॥
येषां कृपाकटाक्षेण स्वमार्गज्ञो भवेन् नरः ।
भक्त्या श्रीमद्विट्ठलेशान् प्रभूँस्तान् नौमि सर्वदा ॥ ४ ॥
यत्पादाब्जरसास्वादमवाप्य विगतैषणः ।
भवन्ति भक्तास्ताञ् श्रीमद्यदुनाथान् नमाम्यहम् ॥ ५ ॥
श्रीमद्गोस्वामिगोपालसुतो गिरिधरः सुधीः ।
करोति त्रितयाध्यायप्रक्षेपे युक्तिसञ्चयम् ॥ ६ ॥
टिप्पणीस्थप्रकाशस्थनिजबुद्धिस्थयुक्तयः ।
सङ्गृह्णामि यथाबुद्धि ग्रन्थानालोड्य सर्वशः ॥ ७ ॥
अर्वाचां तु मतं सम्यगनुवाद्य यथामति ।
दूष्यते युक्तिनिचयैर्बालबोधाय तद्गुहाम् ॥ ८ ॥

अथ श्रीमदाचार्यमतानभिज्ञानां कलिकालजनितकालिमाकलिलान्तःकरणानां मतमादावनूद्यते। तथा हि। यदेतदध्यायत्रयं 'पूतना लोकबालघ्नी'त्यादिश्लोकषट्कं च 'य एतत्पूतनामोक्ष'मित्यादिश्लोकं च केचिद् वैष्णवा न मन्यन्ते। तत्र कारणं न पश्यामः, सर्वत्रापि देशे ऐतिह्यप्राप्तत्वात्। वासनाभाष्यसम्बन्धोक्तिविद्वत्कामधेनुशुकमनोहरापरमहंसप्रियादिषु प्राचीनाधुनिकटीकासुव्याख्यातत्वात्। तदीयस्वसम्प्रदायानङ्गीकारप्रामाण्यं चेदन्यसम्प्रदायाङ्गीकारे तद्विपरीतं कथं न स्यात्। न च मुरभिदादिशब्दवदघभिदादिशब्दः क्वचिन् न प्रयुज्यत इतिवाच्यं 'यन् न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादाच् छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नी'रितितृतीयस्कन्धवचनात्। न च तत्र तत्र लीलानुवादे सा लीला नास्ति श्रीधरस्वामिभिस्तत्र तस्या अपि दर्शितत्वात्। अत एव 'द्वात्रिंशत्त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखा' इतिपद्ये खण्डितमध्यायत्रितयं यदिदमेवेति न तन्मतम्। न च तत् त्रयमन्यत्र कुत्रापि खण्डयितव्यम्। सर्वत्राध्यायसङ्ख्याश्लोकसहितटीकासद्भावात्। ततो द्वात्रिंशच् च त्रयश्च शतानि चेति द्वन्द्वैक्यमेव तद्विवक्षितमनिर्णीतबहुत्वस्यानवस्थाभिया त्रित्व एव पर्यवसानात्। कपिञ्जलानालभन्त इतिन्यायेन।। अन्यथा त्रिशतीत्येव स्यात्। न चासुरमुक्तेः सिद्धान्तविरुद्धत्वात् तदीर्ष्यम्। श्रीकृष्णमारितेषु सर्वेषु तेषु दृष्टत्वात्। 'आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि, मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गति'मित्यादिष्वपि मां श्रीकृष्णलक्षणमप्राप्यैव न तु प्राप्येत्याद्यङ्गीकारात्। न च पुराणान्तराप्रसिद्धत्वेन सा लीला न सम्भावनीया, पाद्मोत्तरखण्डे स्पष्टत्वात्। श्रीवृन्दावने तत्तल्लीलास्थानानि च प्रसिद्धानि। न च भक्तगतिसादृश्येन तेषां तत्प्राप्तिरसमञ्जसा शुद्धभक्तैस्तादृशप्राप्तेरनुपादेयत्वात्, 'नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादमि'त्यादिवचनशतेभ्यः। न च पूतनाया जननीसाम्यं जननीमाहात्म्यविद्भिर्द्वेष्यम्, 'सद्वेषादिव पूतनापी'तिवाक्येन जननीवेषमात्रतस्तत्प्राप्त्या तस्या एव महिमाधिक्यव्यञ्जनात्। तत्र तत्र तैरपि व्यञ्जितः सिद्धान्तेन दोषः परिह्रियते। न च गोपीशब्दमात्रभ्रान्तैः सर्वासामेव तासां स्तन्यपाने रासाद्यनुपपत्तिर्मन्तव्या, तासां श्रीयशोदासमवयस्यात्वात् तत्प्रेयसीनां तु तत्समवयस्कत्वात्, तस्मान् न कश्चिद् विरोधः। तद्भक्तानामेव परममाहात्म्यमेवात्र सेत्स्यति। अतस्तदनुभवः श्रीभगवदनुग्रहेणैव सम्पद्यत इति तत्सुगोप्यत्वमेवेत्येवं तादृशवचनमुपपद्यत इत्यलमितिविस्तरेणेति कतिचिद् वैष्णवाभासाः प्रलपेयुः। तदनुसारिवैष्णवतोषणीसारकारोपि प्रललाप।

तत्र पूर्वं'मेतदनङ्गीकारे कारणं न पश्याम' इति यदुक्तं तत्र श्रीमदाचार्यचरणैः

सुबोधिन्यां तत्रैव "योजयित्वा त्वाधुनिका अध्यायत्रितयं जगुः। शब्दार्थसङ्गतीनां हि स्पष्टा तत्र विरुद्धता। लोकप्रसिद्धेस्तच् चापि कथञ्चिद् रूप्यते स्फुटम्। पूर्वाध्यायान्ते 'कौमारं जहतुर्व्रज' इत्युक्तम्, 'ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मता' वित्येव सन्दर्भे"इत्युक्तम्। तत्र 'कौमारं जहतु''स्ततश्च पौगण्डवयःश्रिता'वितिसङ्गतौ, मध्ये 'क्वचिद् वनाशाये'त्यादिकथा 'त्वेवं विहारै'रित्यस्य 'ततश्च पौगण्डवय'इत्यस्य च मध्ये वक्त्रा नोक्तेति ज्ञायते। अन्यथैतदध्यायत्रयानन्तरमेव कौमारत्यागं वदेत्। पूर्वाध्यायान्ते न वदेत्। यच् चाधुनिकैरत्रै'वंविहारै'रित्यादिपद्यमपि पठ्यते तत्र पुरतः पुनः कौमारलीलावर्णनस्मृतिविशेषचमत्काराभिनयेनाग्रेपि पुनरुक्तिरितिज्ञेय'मितिजल्पितम्, तत्रोच्यते, तत्र त्रयाध्यायप्राक्कालीनतै'वं विहारे'तिपद्यस्य सर्वसम्मता। एवं च तद्धृदयसम्बन्धिनीलीलात्यागकथने पुनस्तत्कथने न वक्तुः प्रमादापत्तिः। न हि पूर्णानां तेषां पूर्वापरभावविस्मरणम्, न वा चमत्काराभिधायिलीलाविस्मरणम्, येन पूर्वं तत्प्रकरणे न वदेयुः पश्चाच् च वदेयुः। न चैवमपीयं लीला न वक्तव्या पश्चाच् चमत्कारातिशयविशिष्टत्वस्मृत्या कथनं सम्भवति, ऋषित्वात्। अध्यायत्रयान्तेपि पुनरुक्तिर्न सम्भवति 'यत् कौमारे हरिकृतं पौगण्डे परिकीर्तित'मिति (अ. १२ श्लो. ४१) पौगण्डीयलीलाकथनेन कौमारत्यागकथनस्य प्रमादग्रसितत्वात्। अत एव तृतीयाध्यायान्ते 'प्येवं विहारै'रिति श्लोकोधुना कैचित् पुस्तकेषु लिख्यते तदप्रामाणिकमितीतोपि तेषां तथात्वं ज्ञेय'मितिश्रीमत्प्रभुचरणैरुक्तम्। किञ्च 'पौगण्डे परिकीर्तितमि'तिवाक्यात् पूर्वाध्याय एव तत्प्राप्ते'स्ततश्च पौगण्डवयःश्रिता'वितिवाक्यं विरुद्धं स्यादनर्थकं च। किञ्च भगवत्प्रियाकृतलीलानुकृतिषु एतल्लीलानुकरणाभावात् तृतीयस्कन्धे श्रीमदुद्धवैर्द्वादशस्कन्धे श्रीसूतेन च श्रीमद्भागवतानुक्रमणिकायां तत्कथाया अकथनाच् च। यत् तु चैतन्यमतचन्द्रिकायां द्वादशस्कन्धेनुक्रमणिकाव्याख्याने लक्ष्मीनाथपण्डितेन स्कं. १२-१२-२९ 'तृणावर्तस्य निष्पेषस्तथैव बकवत्सयो'रित्यादेरनन्तरमघासुरमोक्षो न लिखित इति केचिदत्र विस्मयन्ते, तदसत्, यमलार्जुनभङ्गस्य पुराणान्तरे लिखितस्य कथमलिखनमत्राकरोत्, तेन किं तत्र भवति, सहस्रशः श्रुतत्वात् भवत्येव तद्वदत्रापि, 'अपि गुह्यं वदामि ते' 'ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्ये'त्यादौ पूर्वमेव व्याख्यातं चेत्युक्तम्, तत् तु रभससंवलितमेव। द्वितीयस्कन्धे 'यद् रिङ्गतान्तरगतेन दिविस्पृशोर्वा उन्मूलनं त्वितरथार्जुनयोर्न भाव्य'मितिब्रह्मवाक्ये, दशमे 'क्वचिद्धैयङ्गवस्तैन्ये मात्रा बद्ध उलूखले, गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां तावपातय'दिति गोवर्धनोद्धरणानन्तरं गोपवाक्ये, 'बद्धान्यया स्रजा काचित् तन्वी तत्र उलूखले' इति भगवत्प्रियालीलानुकृतौ च

यमलार्जुनलीलासत्त्वेन न केवलं द्वादशेनुक्रमणिकायामभावेन नासत्त्वं प्रतीयते, अघासुरलीलायास्तु सर्वत्राननुवादेनाभागवतीयत्वमेवेति बुद्ध्यस्व। तृतीये 'कौमारीं दर्शयन् चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम्, रुदन्निव हसन् मुग्धबालसिंहावलोकन' इतिकौमारलीलासामान्यत एवोक्तेति न ततो यमलार्जुनभञ्जनादिवर्णनमिति। किञ्च सूतपौराणिकैस्तु श्रुतमात्रं श्रीगोपैः श्रीव्रजरमणीभिः साक्षादनुभूततया तदुक्तौ तदनुकरणे च भगवद्वरविशिष्टब्रह्मवाक्येपि सत्त्वेन तस्या असत्त्वेन च श्रीभागवतीयत्वमूलुखललीलायास्तस्याश्चाभागवतीयमिति दिक्। 'न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन् मे मनसो मृषा गतिः, न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथ' इतिब्रह्मवाक्यविरोधश्च, ईश्वरे तत्त्वेन ज्ञानवतस्तत्परीक्षाकृतेर्महानर्थरूपत्वात्। 'भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचि'दिति भगवद्वाक्यविरोधश्च। न चास्मिन् कल्पविकल्पेष्वेव मोहाभावरूपवरस्य भगवता दत्तत्वादितिवाच्यम्, तथा सति तावतैव सिद्धौ कदाचित्पदोपादानवैयर्थ्यात्। 'ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्, सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया, यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः, तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहाद्' इति वाक्यानुरोधात् तस्यार्थस्याप्रमाणिकत्वात्। न हि भगवदनुग्रहेण यावद्भगवद्विषयज्ञानवतो ब्रह्मणो मोहः सम्भवति। अन्यथा परमाप्तस्य पुरुषोत्तमस्यानाप्तत्वं स्यादितिबुद्ध्यस्व। 'तोकेन जीवहरण'मित्यादिनिरूपकस्य सदेश्वरत्वेन ज्ञानवतस्तादृग्धार्ष्ट्यस्यासम्भवाच्च च। किञ्च, श्रीरामानुजाचार्यशिष्यपुत्रैः शुकपक्षिण्यामध्यायत्रयं प्रक्षिप्तमित्युक्त्वा न व्याख्याताः। तदीयसम्प्रदायधुर्यैर्वीरराघवैरपि स्वकृतभागवतचन्द्रिकाभिधानायां श्रीभागवतदीपिकायां 'इत आरभ्याध्यायत्रयं प्रक्षिप्तमिति व्यासाद्यैरुपेक्षितम्, अथापि प्रायशो व्यवह्रियमाणत्वात् कैश्चिद् व्याख्यातत्वाच्च च व्याख्यायते, तत्राद्येनाघासुरवधात्मकं चरित्रमनुवर्ण्यते क्वचिदि'त्यादिनोक्तम्। तत्र 'व्यासाद्यै'रित्यत्र व्यासभट्टाः शुकपक्षिणीटीकाकर्तारो रामानुजाचार्यशिष्यकुरुनाथपुत्रास्तत्प्रभृतिभिरित्यर्थः। किञ्च त्वदीयसम्प्रदायाचार्यैर्माध्वैः प्राचीनपुस्तकेषु 'नैषां पाठ' इत्युक्त्वा त्यक्ता इति। तदनुसारिभिर्विजयध्वजैरप्यध्यायत्रयस्याव्याख्यातत्वेन त्यागकारणज्ञानार्थं त एव पर्यनुयोगार्हा इत्याचार्यमतद्रुहां चर्चयालम्। किञ्चैवमध्यायत्रयप्रक्षेपकारणत्वे स्थिते यदज्ञानं तत् स्वाचार्यमाध्वाचार्यमतमवमत्य पृथङ्मतप्रसारणेनैवेति, माध्वाचार्याणां स्वाचार्यत्वेनाविष्करणं तु त्वदीयसम्प्रदायार्यजीवनामककृततत्त्वसन्दर्भे माध्वाचार्यप्रकटितभागवतव्याख्यानकारणनिरूपणे श्रीमाध्वाचार्यचरणैरित्युक्तौ तदीयविद्याभूषणरचितटिप्पण्यां श्रीमाध्वाचार्यचरणैरित्यादरसूचकबहुलनिर्देशः स्वपूर्वाचार्यत्वादितिबोध्यमित्युक्तम्। यच्च च सर्वदेशप्रसिद्ध्याऽध्यायत्रयाङ्गीकारस्तत्र सा सर्वदेशप्रसिद्धिः पामराणां वा पण्डितानां वा सर्वेषां वा, नादिमः, तत्प्रसिद्धिमात्रेणेष्टसिद्धेरभावात्, अन्यथा देहात्मबुद्धेरपि

प्रामाण्यं स्यात्। न च यावद्व्यवहारं तादृशबुद्धेरपि प्रामाण्ये दोषाभाव इतिवाच्यं, किमेतावता शास्त्रेण देहात्मनो भेदेऽवधारिते तस्या असङ्गतत्ववदेतेषामपि पूर्वोक्तैर्वक्ष्यमाणैश्चाभागवतीयत्वे प्रसिद्धेरप्रयोजकत्वस्यैव निश्चयात्। न द्वितीयः, सर्वेषां पण्डितानां तथाप्रसिद्धौ मानाभावात्। सर्वप्रमाभूतस्यार्थस्य विवादविषयत्वादर्शनात्, वासनाभाष्यसम्बन्धोक्तिविद्वत्कामधेनुशुकमनोहरा परमहंसप्रियादिकर्तॄणां तथाप्रसिद्ध्या श्रीभागवतीयत्वाङ्गीकारे रामानुजाचार्यानुयायिभिर्व्यासैरप्यव्याख्यातत्वेन वीरराघवैरपि प्रक्षिप्तत्वकथनेन माध्वाचार्यविजयध्वजादिभिरेतदध्यायत्रयाव्याख्यानेनान्येषां तदभावेन तद्वैपरीत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्। न चाल्पप्रसिद्ध्यपेक्षया बहुप्रसिद्धेर्ज्यायस्त्वात् तथाङ्गीकार एव युक्तमितिवाच्यम्। 'शतमप्यन्धा न पश्यन्ती'तिन्यायेन तेषां सर्वेषामप्यनभिज्ञत्वात्। किञ्चोदाहृतग्रन्थव्याख्यानत्वेन श्रद्धाजाड्याग्रहः तर्हि तत्प्रतिपादितं निर्विशेषं ब्रह्म भवद्भिरप्यङ्गीकार्यं स्यात्। तथा सति वैष्णवत्वमतभङ्गः, दूषणाभाव एव बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यत्वात्। एतेन तृतीयोपि निरस्तः। अन्यथा देहात्मवादन्यायापत्तिः। यद्यपि सम्प्रदायग्रहणाग्रहणरूपसमाधेरुद्भावनं तत्स्वगोष्ठीसामयिकम्। श्रीभागवतप्रवर्तकानां श्रीवेदव्यासश्रीशुकचरणानामेव सम्प्रदायित्वम्। तेषामुक्तौ पूर्वापरविरोधादुपेक्ष्यम्। तन्मुखतः श्रुतस्य तत्सम्प्रदायविदः सूतस्यानुक्रमणीरूपोक्तौ चाननुवादित्वाच्च च। श्रीगोवर्धनोद्धरणानन्तरं श्रीनन्दरायान् प्रति सर्वेषां गोपवृद्धानां लीलानुवादोक्तावभावाच्च च। किञ्चास्मत्सम्प्रदायाचार्याणां व्रजरत्नानां लीलानुकरणे एतल्लीलानुकृतेरभावाच्च च। न हि मामकीनयौष्माकीणसम्प्रदायश्रद्धावाँस्तार्तीयो भवितुमर्हति किन्तूपपादितानामनुरोधिन एव सर्वे। किञ्च 'श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवा क्षितिपावनाः, चत्वारस्ते कलौ भाव्या सम्प्रदायप्रवर्तका' इति पाद्मवचसा सम्प्रदायप्रवर्तकत्वेनोदिता रामानुजमाध्वविष्णुस्वामिनिम्बार्काः यथाक्रमशः श्र्यादिमतस्थाः। तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमितिन्यायेन श्र्यादित्वेन व्यपदेशः। एते वैष्णवाः सम्प्रदायप्रवर्तका भाव्या, एतैः सम्प्रदायप्रवर्त्तकैरेतदनुरोधिभिश्च प्रक्षिप्तत्वकथनेन न तवेष्टसिद्धिः। न हि कश्चनैतत्सम्प्रदायातिरिक्तो वैष्णवः सम्प्रदायवान् भवतीतिसम्प्रदायविद एव वदन्ति। किञ्च त्वत्सम्प्रदायप्रवर्तकैर्माध्वाचार्यैरेतदध्यायत्रयस्पर्शोऽपि नाङ्गीकृत इति प्रक्षिप्तत्वं त्वयाप्युररीकार्यं सर्वथा, अन्यथा तवानाप्तत्वं स्यात्। एवं सति यन् 'मामकीनसम्प्रदायेऽध्यायत्रयं श्रीभागवतस्थमित्यङ्गीकरणं' तच्च च देवानां प्रियत्वेनैवेति दिक्।

यदपि मुरभिदादिशब्दवदघभिदादिशब्दप्रयोगाभाव इति शङ्कामुपपाद्य 'यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादाच्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नी'रितितृतीयस्कन्धपद्येऽघासुरहन्त्रर्थकाघभिच्छब्दप्रयोग इति समाधेरुद्भावनं तदपि विद्वदमनोरमम्। अत्र भगवत्कथातिरिक्तपापजनककथाश्रवणशीलानां वैकुण्ठगमनाभावप्रतिपादनं भगवत्कथापराणां तु वैकुण्ठगमनोपपादनार्थानुगुणकं भगवतः पापनाशकार्थाघभिच्छब्दस्य विशेषणत्वोपादनं सम्यगिति न भवदर्थसिद्धिः। किञ्च सर्वत्राघशब्दस्य पापवाचकत्वमेव। तथा च श्रीभागवतषष्ठस्कन्धे 'एतेनैव ह्यघो नोस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्, यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्, सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्, नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः, न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभिस्तथा विशुद्ध्यत्यघवान् व्रतादिभिः, यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतैस्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम्, अथैनं मापनयत कृताशेषाघनिष्कृतम्, यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत्' 'चक्षूंषि चर्मन् शतचन्द्र छादय द्विषामघोनां हर पापचक्षुषाम्, यन्नो भयं ग्रहेभ्योभूत् केतुभ्यो नृभ्य एव च, सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योघेभ्य एव चे'त्यादिषु। नवमस्कन्धे च 'किन्त्वहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघ'मितिश्रीगङ्गोक्तौ भगीरथ आह 'साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः, हरन्त्यघं तेङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिरि'त्यत्राघभिच्छब्दस्य पापभेदकार्थस्य हरौ विशेषणतासम्बन्धेनान्वयस्य सर्वेषामिष्टत्वेन श्रीभागवते न कुत्रापि भवदीप्सितताहशशब्दसम्भव इतिदिक्। एतेनैतद्विषयकपापभेदकवाचकशब्दाभावादितितोषणीसारोक्तमपास्तम्। यच्च चापि न च तत्र तत्रानुवादे सा लीला नास्तीत्याशङ्क्य श्रीधरैस्तत्र तत्र तस्या अपि दर्शितत्वादित्युक्तम्, तत्रोच्यते, किं लीलादिसत्त्वे श्रीधरव्याख्यानानुरोधेन प्रामाण्यमुत श्रीभागवते तत्तत्प्रसङ्गानुवादेन। आद्ये श्रीधराव्याख्यातश्लोकादेरप्रामाण्यं स्यात्। द्वितीये तु द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मणा, तृतीये श्रीमदुद्धवैर्दशमे गोवर्द्धनोद्धरणोत्तरं गोपैर्द्वादशे सूतेन च तदनुवादे सा नास्तीति निश्चीयते। एवं च श्रीभागवत एवाभावेन श्रीधरस्वामिनः कुत आनीय दर्शयेयुः येन त्वदभिमतेष्टसिद्धिः। किञ्च यद्यपि श्रीधरैरुक्तास्तन्मातरो यथा' 'किमु गावो नु मातर' इत्यत्र 'तन्मातर' इति वत्साहरणलीलाभिप्रायेण बहुवचनं 'गोगोपिकास्तन्मातरोऽभव'न्निति व्याख्यातम्, तथापि वत्साहरणलीलायां गोगोपिकास्तन्मातरोऽभवन्नित्येतावतार्थबोधेभिप्रायविशिष्टोपादानेनावास्तविकं द्योतितम्। अत्र व्याख्याने तु ताभिः सह रासाद्यनुपपत्तिरितिवक्ष्यते। इतोप्यध्याय-

त्रयाणां प्रक्षिप्तत्वं बोध्यम्। (अ-६. श्लो० ३६) केचित् तु **तन्मातरो वसुदेवपत्न्य** इत्याहुः। तदपि दोषकवलितम्, तन्मातृपदस्य वसुदेवस्त्रीव्याख्याने बीजाभावः। तत्प्रसङ्गस्यात्राभावात्। अग्रिमश्लोके 'किमु गावो नु मातर' इतिगोसमभिव्याहारेण वसुदेवस्त्रीणां ग्रहीतुमशक्यत्वादिति। एवं चोभायविधस्य व्याख्यानस्य दुष्टत्वेन 'पूतना लोकबालघ्नी'त्यादिश्लोकषट्कमपि प्रक्षिप्तं ज्ञेयम्, पूर्वापरसङ्गतिविरोधाच्च च, तत्र 'दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागुरुसौरभः, उत्थितः कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मनः। 'कटधूमस्य सौरभ्यमवघ्राय व्रजौकसः, किमिदं कुत एवेति वदन्तो व्रजमाययु'रितिसन्दर्भः। एवं च 'दह्यमान'इत्यादिश्लोकस्य 'कटधूमस्य सौरभ'मित्यस्य च शब्दार्थौ सङ्गतौ, मध्ये (अ-६-३५) 'पूतना लोकबालघ्नी'त्यादिश्लोका नोक्ता इतिज्ञायते, यद्येते वक्तुर्भीष्टाः स्युस्तर्हि 'नन्दः स्वपुत्रमादाय पोष्यागतमुदारधीः, मूर्ध्न्यवघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वहे'त्यनन्तरं पठेयुः। अत एव **श्रीमदाचार्यचरणै "रत्र षट् श्लोका विगीताः सर्वत्र दृश्यन्ते तेप्यध्यायत्रयवद् व्याख्येयाः स्पष्टत्वाच्च चोपेक्ष्यन्त"** इत्युक्तम्। एतेन पूर्वापरसङ्गत्यभावो यथाध्यायत्रये तथात्रापि बोध्यमितिध्वनितम्। किञ्च 'य एतत् पूतनामोक्ष'मितिषष्ठाध्यायचरमश्लोकं व्याख्याय **'इदमपि विगीतमिति केचि'दित्युक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः**। तत्र 'केचि'त्पदोपादानेन स्वमते विगीतत्वाभावो बोधितः। विगीते बीजानुपलम्भात्। तस्माच्छ्रीधरेण सर्वसाधारणतया प्राप्ताध्यायत्रयव्याख्यानं कृतम्। एतदनुरोधेनैव 'विषजलाप्यया'दितिपद्ये व्यालराक्षसादघासुरा'दितिव्याख्यातम्। राद्धान्तस्तु 'व्यालाः सर्पाः कालीयसुदर्शनादयः राक्षसाः तृणावर्तादयः तेषामेकवद्भावः तस्मादपि रक्षिता' इति**श्रीमदाचार्यचरणै**र्व्याख्यातम्। इह आदिशब्देन कालीयपरिकरभूताः सर्पा ग्राह्याः कालीयनिःसारणे तेषामपि निःसारणात्। 'नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम्, स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी'तिभगवद्वाक्यात्। 'सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम हे'तिश्रीशुकवाक्याच्च च। सामान्यत एव 'कृता नवतिरध्याया दशमे कृष्णकीर्तय' इत्यप्युक्तम्। अत एव प्रथमस्कन्धे 'द्वात्रिंशत्त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखा'इत्युक्तम्। किञ्च प्रथमस्कन्धप्रारम्भटीकायां 'सम्प्रदायानुरोधेन पौर्वापर्यानुसारतः, श्रीभागवतभावार्थदीपिकेयं प्रतन्यत' इतिश्रीधरपद्ये कोटिद्वयं सम्प्रदायानुरोधः पूर्वापरविरोधाभावश्च। तत्र सम्प्रदायो बोपदेवादीनां तदनुरोधेन 'कृता नवतिरध्याया' इतिमत्यध्यायश्लोककथनम्। 'विषजलाप्यया'दितिपद्ये 'व्यालराक्षसादघासुरा'दिति व्याख्यानं च। पूर्वापरविरोधाभावेन तु 'द्वात्रिंशत्त्रिशतं चे'तिकथनमितिदिक्। अत एव 'तन्मातर' इत्यत्र 'वत्सा-

हरणलीलाभिप्रायेणे'त्यत्राभिप्रायपदोपादानमितिप्रागुपपादितम् । यत् तु "द्वात्रिंशच्च त्रयश्च शतानि चेति द्वन्द्वैक्यमेव विवक्षितम्, अनिर्णीतबहुत्वस्यानवस्थाभिया त्रित्व एव पर्यसानात् कपिञ्जलालभनन्यायेन, अन्यथा त्रिशती स्यात् । न च पात्रादित्वं कल्प्यम्, लोकप्रसिद्धत्रिशतीतिप्रयोगविरोधात् । न च त्रीणि च तानि शतानि त्रिशतानीतिविशेषणविशेष्यसमास इतिवाच्यं,' दिक्सङ्ख्ये सञ्ज्ञायाम' (तत्पुरुषे संज्ञयामेव दिक्संख्ये समस्येते इति) नियमेन तदभावा"दितिवल्गितं तद्भ्रमसात् । द्वात्रिंशच्च च त्रयश्च शतानि चेतिद्वन्द्वे 'अल्पाच्तर'मितिसूत्रेण'द्वन्द्वेघी' तिसूत्रेण च तत्र भाष्यकारैः पठितेन सङ्ख्याया अल्पीयस्या'इतिवार्तिकेन त्रिशब्दपूर्वनिपातापत्तिः,त्रिशतीति दोषापादनं तु मुधैव त्रिसङ्ख्यानि शतानि त्रिशतानीति मध्यपदलोपिसमासे तदभावात् । न च कैय्यटकृते प्रत्याख्याने दोषः शाकप्रियः पार्थिव इत्यादिवारणाय तद्वचनस्यावश्यकत्वमितिशब्दरत्ने उक्तम् । अत एव 'द्विगोर्लुगनपत्य' इति सूत्रे, भाष्ये 'त्रैविद्य' इत्यत्र त्र्यवयवां विद्यामधीत' इत्युक्तम् । ततो द्वात्रिंशच्च च त्रिशतं च द्वात्रिंशत्त्रिशतम् 'सङ्ख्याया अल्पीस्या' इत्यनेन द्वात्रिंशच्छब्दपूर्वनिपातः । कपिञ्जलाधिकरणेन त्रित्वे पर्यवसानमित्युक्तिस्तु वैयाकरणसिद्धान्तापर्यालोचनमूलिकैव । वृत्तौ उपसर्जनपदार्थेषु सङ्ख्यासामान्याभावास्यैव तत्सिद्धान्तसिद्धत्वान् न शतपदेन त्रित्वबोधः । कपिञ्जलालभनन्याये तु वृत्त्यभावाद्धिंसाबाहुल्यभयाच्च च न बहुत्वस्य त्रित्वे पर्यसानम् । किञ्च सरूपसूत्रे भाष्ये एकश्च एकश्च द्वौ च द्वौ चेत्येवंरीत्यैकशेषमाशङ्क्य सङ्ख्याया अर्थासम्प्रत्ययादन्यपदार्थत्वाच्च च नैकशेष इति समाहितम् । एवं चात्र द्वन्द्वोपि नेति तद्व्याख्यातारस्तद्रीत्येदमप्यसाधु । द्वात्रिंशत्त्रीतिपदेन तु न लोके व्यवहारः, पञ्चत्रिंशदितितद्व्याख्यातारस्तद्रीत्येदमप्यसाधु, द्वास्पष्टान्यपदार्थतेतिदिक् । यदपि प्रसिद्धत्वेनैवं कल्प्यते तत्र प्रसिद्धिवशादेव पञ्चत्रिंशच्छतत्रयलाभसिद्धौ सङ्ख्याकरणवैयर्थ्यापातात् । सङ्ख्याकरणं हि शिष्यबोधाय, तत्र शिष्याणां शतत्रयसङ्ख्याज्ञाने प्रसिद्धिपरतन्त्रत्वं चेत् तदा गणना मुधैव स्यात् । अपरश्च गणनाकरणं हि बोधसौकर्याय । तत् तु द्वात्रिंशञ्च त्रिशतं चेतिविग्रह एवैति । भवदुक्तेस्तु क्लिष्टत्वेन न श्रीधराभिप्रेतस्तादृशो विग्रह इति दिक् । केचित् तु नेदं श्रीधरपद्यं किन्तु प्राचां श्रीधरेणोपन्यस्तं पूर्वापरविरोधादित्याहुः, तत्रापि श्रीधरैरभीष्टत्वादेवोपन्यस्तम्, नो चेत् कथमुपन्यसेत् । एतेन श्रीधरमतेपि प्रक्षिप्तत्वं सिद्धम् । किञ्च न वयं श्रीधराभिमततया प्रक्षिप्तत्वमङ्गीकुर्मः, किन्त्वनेकदोषदूषितत्वेन तत्त्वमङ्गीकुर्मः । यच्चापि न चासुरमुक्तेः सिद्धान्तविरुद्धत्वात् तदीर्ष्यमितिशङ्कामुद्घाट्य श्रीकृष्णमारितेषु सर्वेषु दृष्टत्वात्

'आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनी'त्यादिगीतावाक्यमुपन्यस्य मां श्रीकृष्णलक्षणमप्राप्यैव न तु प्राप्येत्यङ्गीकारादित्युक्तम्, तत्र भवदीयाचार्यमतानुयायिभिर्विजयध्वजैः 'यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगति'मित्यादिश्लोके अपि स्वर्गं गर्हितं स्वर्गं नरकमित्यर्थः । 'अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चये'ष्वितिपाणिनिः । (१-४-९६) जने ये नीचास्तैर्गम्यत इतिजननीगतिः स्पष्टोन्योर्थः । यद्वा जनन्या इ गतिं विचित्रगतिं योग्यतानुसृतमित्यर्थः। 'इ विचित्रे स्मरे पुमा'नितियादवः। अनेनापि पूतनाया नरकगतिः उर्वश्याः, स्वर्गगतिरितिसूचितम् । नु सविकल्पां गतिं योग्यतयेतिशेषः । यद्वाऽनु योग्यतासदृशीं 'नु पृच्छायां विकल्पे च पश्चात् सादृश्ययोर'न्वित्यमर इति व्याख्यातम्, कंसवधोत्तरमपि 'स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरं पिबन् वदन् वा विचरन् स्वपन् श्वसन्, ददर्श चक्रायुधमच्युतं यस्तदेव रूपं दुरवापमाप' (१०-४४-३९) इत्यस्मिन् श्लोके अच्युतं चक्रं छद्मैवायुधं यस्यास्तमोदेवतायास्तच्च चक्रायुधमन्यथाज्ञानसाध्यं यद् ददर्श तदेव तमोदेवताया रूपं नित्यलक्षणमाप दुरवापमित्युभयत्र समं 'चक्रं सैन्ये जलावर्ते रथाङ्गे च नरोष्ट्रयोः, सञ्चारे मण्डले वृत्तछद्मभेदार्थभेदयो'रिति चेत्युक्तम्, एवं च श्रीकृष्णमारितानामसुराणां न मोक्ष इति तेषां मतमिति त एव पृष्टव्याः । एतेन न च पूतनाया जननीसाम्यं जननीमाहात्म्यविद्भिर्द्वेष्यम्, 'सद्वेषादिव पूतनापी'त्यादिवाक्येन जननीवेषमात्रतस्तत्प्राप्त्येत्य[illegible]मपि प्रत्युक्तम् । 'सद्वेषादपी'तिवाक्यं प्रक्षिप्ताध्यायस्थमितिबोध्यम् । प्रम श्रीमदाचार्यचरणैस्तत्र तत्र तेषां मुक्तेरुपपादितत्वात् । परन्तु न तस्या भक्तिमुक्तिसाम्यम्, तेषां तत्र लय एव पुष्टिमार्गवर्तिनां साक्षात् पुष्टिपुरुषोत्तमलीलानुभव एवेति । अत एव त्वयापि—न च भक्तसादृश्येन तेषां तत्प्राप्तिरसमञ्जसा शुद्धभक्तेस्तादृशप्राप्तेरनुपादेयत्वात्, 'नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसाद'मित्यादिवचनशतेभ्य इत्युक्तम्, यच्च चापि न च पुराणान्तराप्रसिद्धत्वेन सा लीला न सम्भावनीया पाद्मोत्तरखण्डे स्पष्टत्वाद्—इति जल्पितम्, तन् न रोचते विदुषाम्, 'तत्पक्षभूतप्रत्यूषेऽहिरूपोघासुरो हतः, भगिनी भ्रातृनिर्वेशी तस्य ब्रह्मगतिः कृता ॥१॥ मोचिता वत्सतत्पालास्तद्वक्त्रादन्तकालयात्, तस्मिन्नहनि मध्याह्ने सवत्सान् वत्सपालकान् ॥२॥ विधिर्जहार सम्पश्यन् प्रभावं गोपरूपिणः, पञ्चाहापूरिते वर्षे वत्सपालान् प्रजापतिः ॥३॥ सर्वानाचष्ट वैकुण्ठं तुष्टाव नवमीदिने, कृष्णमायाहताः सर्वे क्षणार्धं मेनिरेऽर्भकाः ॥४॥ तैर्ज्ञातश्चाद्य निहतोऽघासुरस्सखिना हि नः, गत्वा व्रजे ततो बाला इति सर्वे व्रजं जगु'रिति पद्मपुराणवाक्येषु लीलामात्रकथनात् । यथा हि 'गीतासारं प्रवक्ष्यामि सर्वगीतोत्तरोत्तरम्, कृष्णो यमर्जुनायाहे'त्यग्निपुराणे

गीतासारस्य भगवदुक्तत्वलिङ्गमुक्तम्, तथा चेदत्र किञ्चिद्भागवतीयत्वलिङ्गदर्शनं स्यात्, तदाङ्गीकर्तुं शक्येतापि। अतः श्रीभागवतीयत्वबोधकलिङ्गवाक्यादेरसत्त्वादङ्गीकारो न युक्तः। न च दूषणोद्धारे सति कथमयुक्तः, न च तेषामनुद्धार्यत्वम्, तथा हि तत्त्यागोत्तरं पुनः कौमारलीलाकथनस्य चमत्कारविशेषाधानार्थत्वेन सन्दर्भविरोधस्य परिहारात् लीलानुकरणस्य च भावानुरोधित्वेनैतद्भावाभावेनैतदकरणाभावस्यापि शक्यवचनत्वात्। एवमन्येषामपि परिहृतप्रायत्वाच्च चेतिवाच्यम्। तथा सति कौमारलीलाकथनस्य चमत्कारविशेषाधानार्थत्वे हरिवंशविष्णुपुराणब्रह्मवैवर्तेषूक्तानां लीलानां तथात्वस्य तौल्येन तासामपि कथनप्रसङ्गात्। तासु न तथात्वमत्रैव तथात्वमित्यत्र विनिगमकाभावात्, अनुकरणाभावहेतुभूततादृग्भावस्य यो हेतुस्तस्याप्यशक्यवचनत्वेन तत्रापि समाधानाभावात्। भावाभावरूपेण हेतुना तत्कल्प्यैतल्लीलाभावस्यैव निश्चयाच्च चेत्यलम्। यच्च चापि श्रीवृन्दावने तत्तल्लीलास्थानानि च प्रसिद्धानीत्युक्तम्, तत्रापि न हि लीलास्थानप्रसिद्ध्या श्रीभागवतस्थत्वं सम्भवति, बहूनां श्रीराधाकुण्डश्रीकृष्णकुण्डगुलालकुण्डाख्यदानगढाख्यमानगढाख्यसाकरीखोराख्यकदमषण्डीसङ्केतवटदोलास्थानखिसलनीशिलास्थानलुकलुककन्दरा--ख्येत्यादीनां तत्रानुदितानां प्रसिद्धत्वात् तत्रोदितानामप्रसिद्धत्वाच्च च। किञ्च श्रीमथुरामाहात्म्ये एतल्लीलास्थानस्याकथनाच्च च। यच्च चाप्युदितम्, न च गोपीशब्दमात्रभ्रान्तैस्तासां 'स्नेहस्नुतस्तन्यपयःसुधासवं मत्वा परं ब्रह्म सुतानपायय'न्निति-द्वितीयाध्यायप्रतिपादिते स्तनपाने ताभिः सह रासाद्यनुपपत्तिरिति दूषणमुद्भाव्य तासां श्रीयशोदासमवयस्यात्वात् तत्प्रेयसीनां तु तत्समवयस्कत्वाद्-इतिसमाधानं कृतं तन्न मोदते विदुषाम्। न हि श्रीयशोदावयस्यानामेव पुत्रवतीत्वं नियमाभावात्। किञ्च वयसा तुल्या इत्यर्थे 'नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाम्यसमसमितसम्मितेष्वि'त्यनुशासनेन यत्प्रत्ययस्य जायमानत्वेन यथा (१०-५-२३) 'दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते, प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत् समपद्यते'तिवाक्येनाशानिवर्तकवार्धिककाले श्रीयशोदायाः पुत्रोद्भवस्तथा तासामेव सर्वासां तादृशकाल एव पुत्रोद्भव इति तु ब्रह्मणापि न वक्तुं शक्यम्, अनियतत्वात्। न च पूर्वमेव तदुद्भवेन पुत्रवतीत्वेनोत्तरं वार्धत्वेन समवयस्कत्वमिति-वाच्यम्, तथा समवयस्कैस्सह श्रीकृष्णस्य 'कदा चिद् यमुनातीरे वत्सान् चारयतः स्वकैः, वयस्कैःकृष्णबलयोः' 'तेनैव साकं पृथुकाःसहस्रश' इत्यादिवाक्यैः क्रीडादिवर्णनेन तत्पुत्राणां तु तादृशलीलासाधकवयोभावेनाग्रहणात्, तस्मादग्रिमरासलीलया विरुध्यत' इत्युक्तिः श्रीमत्पुरुषोत्तमानां दुष्परिहरैव। किञ्च तदानीं वयस्यानां पञ्चवार्षिकत्वेन तत्तुल्यचेभ्यो

१ कौमुद्यां तद्धितेषु प्राग्घितीयप्रकरणे इदं यद्विधानार्थकं सूत्रम् ॥४-४-९१॥

भगवद्रूपेपि स्तनदानासङ्गतिश्च। यच्च चापि तत्प्रेयसीनां तु तत्समवयस्कत्वादित्युक्तिस्तदपि रभससंवलितैव, तथाङ्गीकारे 'यदा कदाचिद् गोप्यो मां मन्यन्ते च किशोरकम्, यशोदाबालरूपेण निश्चिनोति निरन्तरम्, बालभावगतं गोप्यो दृष्ट्वा मद्वचनोत्सुकाः, किशोरवयसा बाले रन्तुमिच्छिन् मयानिशम्, तत् ते मृषापवादं मा मातुरग्रेब्रुवंस्तु ताः, दर्शनार्थं मन्मुखस्य समा जग्मुश्च यूथश' इत्यादिपुराणवचनविरोधात् 'यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीलावन्तर्व्रजे तदबला प्रगृहीतपुच्छै'रिति(१०-८-२४)श्रीभागवतवचनविरोधश्च। अत्र ह्यङ्गनाशब्दस्य विशेषा'स्त्वङ्गना भीरुकामिनी वामलोचने'त्यमरकोशेन तरुणीस्त्रीषु शक्तिबोधनात्। 'अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो माधवं माधवं चान्तरे नाङ्गना इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः सञ्जगौ वेणुना देवकीनन्दन' इतिबिल्वमङ्गलोक्तौ तथा दृष्टत्वाच्च च। 'अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गना' इतिश्रीभागवते तथा दृष्टचरत्वाच्च च। किञ्चाङ्गनाशब्देनैव श्रीयशोदासमवयस्कत्वनिरासः त्वयापि वैष्णवतोषिण्यां 'अथ किञ्चिद् वयोतिरेकेण वत्सवृद्धिप्राकट्यादितस्ततोखिले व्रजमध्ये सर्वासामपि स्त्रीणामत्यानन्दो जनित' इत्याह यर्हीति, अङ्गनादर्शनीयेत्यादिकं तत्कौतुके तासामेव प्राधान्यादित्युक्तम्, तच्च च सङ्कोचे विरुध्येतेतिदिक्। यच्च चापि तस्मान्न कश्चिद् विरोधः प्रत्युत भगवद्भक्तानां परममाहात्म्यमेवात्र सेत्स्यति, अतस्तदनुभवः श्रीभगवदनुग्रहविशेषेणैव सम्पद्यत इति तत् सुगोप्यमेवेत्येव तादृशं वचनमुपपद्यते अलमतिविस्तरणेतिवलितम्, तत्तु स्वगोष्ठीसामयिकं न कश्चिद् विरोध इति कथनमात्रम्। अत्रैव प्रथमाध्याये भगवतोघासुरमुखप्रवेशने तद्दर्शनेन 'तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेतिचुक्रुशुः, जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवा' इत्यनेन कंसादीनां हर्ष उक्तः, तदुत्तरं च तदैव तन्नाशेन तद्दर्शनमप्यर्थादेव सिद्धम्। एवं सति यदग्रेरिष्टवधोत्तरं नारदेन कंसायोदितं 'याभ्यां ते पुरुषा हता' इति तद्विरुध्येत। सबकीबकानुजस्य यो वधस्तस्य स्वयमेव दर्शनात्। किञ्च 'स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनो दधे तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरं' 'घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मित' इत्यतिविरुद्धम्, नहि भगवतो मनसः प्रतिकूलं कथमपि भवितुमर्हति, सर्वेषां मनसां नियामकत्वं भगवन्मनस इतिश्रुतिसहस्रसिद्धत्वात्। किञ्चैवं सत्यसङ्कल्पताहानिः भगवत्त्वहानिश्च। किञ्च दिष्टकृतनिरूपणं चात्ययोग्यतमम्। भगवतोपि दिष्टकृतत्वेन विस्मये दिष्टस्य बलिष्ठतया 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इतिश्रुतिविरोधः। किञ्च तस्य बलिष्ठतया वा तस्यैवोपासनाकरणं स्यात्, न तु तन्नियम्यस्य भगवत इतिनास्तिकमतपातः। न च भगवद्विचारात् पूर्वमेव प्रविष्टाः यावत्तावत्पदोपादानादितिवाच्यम्। न हि जीववद् विचारकरणं भगवतः सम्भवति सर्वज्ञत्वात्, गोपादिप्रवेशज्ञानस्य सत्त्वाद् रोध एव

कुतः स्यादिति जानीहि। किञ्च भगवद्भक्तानां न भगवदिच्छातिरिक्तं भाग्यं प्रबलम्, त्वदीयसम्प्रदायस्थमाधुर्यकान्दिविन्यां भगवद्भक्तानां सुखादिकं न प्रारब्धादिजन्यं किन्तु भगवदैच्छिकमिति प्रतिपादितं विरुध्येत। किञ्चोभावपि 'वने कृष्णो विचिकाये'त्यनेन 'काप्यदृष्ट्वे'त्यनेन च भगवतो मोहाज्ञानकथनं बहुदोषकवलितम्, 'यः सर्वज्ञः स सर्ववि'दित्यादिश्रुतिविरोधाच्च च। किञ्च पूर्वापरविरुद्धाद्यनेकदोषाणामुदितत्वाच्च । भगवदनुग्रहादिकथनमपि न सम्भवति, 'गुरुर्यस्य भवेत् तुष्टस्तस्य तुष्टो हरिः स्वयम्' 'आचार्यं मां विजानीयान् नावमन्येत कर्हिचिद्' इत्यादिवाक्येनाचार्यानुग्रह एव भगवदनुग्रह इति। भवता तु स्वाचार्यैर्माध्वैस्त्यक्तत्रयाध्यायस्य श्रीभागवतस्थत्वसमर्थनादाचार्यमतद्रोहे भगवदनुग्रहस्य दूरापास्तत्वात्। किञ्च अवतारानवतारदशायां सर्वोपकारार्थमाचार्यैर्ग्रन्थरूपाज्ञा क्रियते। तादृशाज्ञायां श्रीभागवतव्याख्यानरूपायामध्यायत्रयानङ्गीकारे गुर्वाज्ञाभङ्गेना'ज्ञाच्छेदी मम द्रोही न च भक्तो न मे प्रिय' इति। 'आज्ञा गुरूणां न विचारणीये'त्यादिवाक्यैर्भगवद्द्रोहित्वे स्वस्मिन्ननुग्रहविशेषाविष्करणं देवानां प्रियत्वेन पण्डितंमन्यत्वेन चोपयुज्यते। सुगोप्यत्वकथनमपि प्रक्षिप्तस्थमेवेत्येतादृशवचनोपपत्तिस्तादृशैवेति। किञ्च गोप्यत्वे किं कारणं ब्रह्मणो ज्ञानकल्पनं च श्रीपुरुषोत्तमे भगवति चाज्ञानाविष्करणमितिमहाननयः। किञ्चातिगोप्यत्वं श्रीमद्व्रजरमणीरससरसितरासलीलायास्तदतिरिक्तस्य तस्याभावादिति। एतेनैव 'वधश्च वत्सबकयोस्तथाघासुरबोधिनः, वत्सचोरो ब्रह्ममोहो ब्रह्मणा स्तवनं हरे'रितिबोपदेवोक्तौ पादत्रयमनवधानविजृम्भितमेव उपदर्शितानां दोषाणामनपायात्। अत एव 'आधुनिकानां वृन्दावनीयप्रभृतीनां यस्तत्र भागवतीयाग्रहस्स श्रद्धाजाड्यमूलक एवेतिसुधिभिरवधेय'मिति श्रीपुरुषोत्तमैरुक्तमितिश्रीमदाचार्यवर्याणां निर्दुष्ट एव पन्था इतिश्रीमदाचार्यचरणानुग्रहेणैव तदीयोक्तिज्ञानमित्यलं बहुलेखनेन।

इतिश्रीवल्लभाचार्यश्रीविठ्ठलपदाब्जयोः ।
कृपाबलं समाश्रित्य प्रक्षेपोक्तिसमर्थनम् ॥१॥
कृतं मया प्रसीदन्तु स्वामिनो मम सर्वदा ।
छेत्तव्यः संशयोनेन साधुभिर्गतमत्सरैः ॥२॥

इतिश्रीसर्ववादतमोभरविघटनविरोचनश्रीमद्वल्लभाचार्यात्मजश्रीमत्प्रभुचरणात्मज-महाराजश्रीयदुनाथकुलोद्भवश्रीमद्गोस्वामिश्रीगोपालतनय-श्रीमद्गोस्वामिश्रीगिरिधरविरचिताध्यायत्रयप्रक्षिप्तत्वसमर्थनं समाप्तिमगाजीत्।

श्रीकृष्णाय नमः ।

अध्यायत्रयप्रक्षिप्तत्वसमर्थने श्रीमद्गङ्गाधरभट्टकृता जपमाला।

प्रणम्य श्रीमदाचार्यान् श्रीमत्प्रभुवरान् गुरून्।
अध्यायत्रयवैगीत्यं किमितीति विचिन्त्यते ॥१॥

तत्र तावदितररीत्या धर्मिग्राहकमानेनैव द्वात्रिंशत्त्रिशतमध्यायाः सिध्यन्ति, प्रक्रम एव 'द्वात्रिंशत्त्रिशतं चे'तिश्रीधरस्वाम्युक्तेः ॥१॥ न च द्वात्रिंशच्च त्रयश्च शतानीतिविग्रहे समाहारैकवद्भावेन पञ्चत्रिंशदधिकशतत्रयमित्यर्थो भविष्यतीतिवाच्यं [1]'द्वन्द्वे घी'तिशब्दस्य पूर्वनिपातापत्तेः ॥२॥ 'सङ्ख्याया अल्पीयस्या' इतिवार्तिकाच्चात एव 'द्वात्रिंशदि'तिप्रयोगः ३॥ [2]'अल्पाच्तर'मितिसूत्राच्च च ॥४॥ न च '[3]समुद्राभ्राद्धः' 'लक्षणहेत्वो'रित्यादिनिर्देशात् पूर्वनिपातप्रकरणमनित्यमिति वाच्यं, तावताप्यौत्सर्गिकप्रवृत्त्यापत्तेः ॥५॥ लक्षणैकचक्षुष्काणामौत्सर्गिकप्रवृत्त्यैव लक्ष्यासिद्धेः सिद्धान्ताच्च ॥६॥ सौत्रपूर्वनिपातप्रकरणस्यानित्यत्वेपि वार्तिकस्यातथात्वाच्च, अन्यथा त्रिंशद्द्वीत्यादिप्रयोगापत्तेश्च ॥७॥ शतानीतिपदे त्रयाणामेव ग्रहणे मानाभावाच्च च ॥८॥ न च प्रथमातिक्रमे कारणाभाव एव मानमितिवाच्यं प्रत्यासत्तिवद्व्याप्तिन्यायेन परार्धं ग्रहणापत्तेर्विनिगमनाविरहात् ॥९॥ समासस्वभावेनोपसर्जने सङ्ख्याऽप्रत्ययस्य महाभाष्यादावुक्तेश्च ॥१०॥ न च 'कपिञ्जलालभन'न्यायेन बहुत्वसङ्ख्यायास्त्रित्व एव पर्यवसानमितिवाच्यं, तत्र 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानी'तिश्रुतिविरोधभिया शास्त्राकरणे दोषभिया च कपिञ्जलानालभेतेतिश्रुतप्रामाण्यात् त्रित्वे पर्यवसानेपि प्रकृते तद्विरहात् ॥११॥ अत एव वा हिंसाद्यभावादुत्तरादोहनेन त्रित्वनियमाः सान्नाय्यदोहं प्रकृत्य हि श्रूयतेवाग्यतस्तिस्रो दोहयित्वा विसृष्टवागनत्वारभ्य तूष्णीमुत्तरा दोहयतीति तत्र यावद् यजमानस्य गोजातं तावद् दोग्धव्यमितिराद्धान्तितं तत्र समासभावेन बहुत्वदर्शनेपि प्रकृत एकत्वादीनामपि संशयाच्च च॥१२॥ प्रत्युत हिंसाभयादल्पसङ्ख्यायां बहुत्वपर्यवसानवत् प्रकृते माहात्म्यविशेषादधिकसङ्ख्यासम्प्रत्ययापत्तेश्च ॥१३॥ न च त्रिपदे तन्त्रमितिवाच्यम्, अतिदुर्बोधत्वात् ॥१४॥ एकशेषसमकक्षेण तन्त्रेणात्र भवितुमयोग्यत्वाच् ॥१५॥ वैयाकरणनव्यानां मतेऽसहविवक्षणे अपि तन्त्राभ्युपगमेन मानं प्रकृते दृढम् ॥१६॥ किञ्च स्पष्टार्थं पञ्चत्रिंशदित्येव त्वदभिमते उच्येत ॥१७॥ न च श्लोकस्तथा दुष्कर इतिवाच्यं तथात्वे हि देवानां

१-२ सि० कौमुद्यां द्वन्द्वसमासे सूत्रमिदम् ॥ २-२-३२

३. 'समुद्राभ्राद'' इत्युक्तिस्तु पूर्वनिपातस्यानित्यत्वज्ञापनार्था इति सि० कौमुद्यां वैदिकप्रक्रियायाः सुबोधिन्यामुक्तम्। लक्षणहेत्वोः क्रियायाम् इति सूत्रं कृदन्तप्रक्रियायाम् ॥

प्रियता त्वया स्वामिषु साधिता भविष्यति ॥१८॥ पञ्चत्रिंशदथो शतत्रयमिताः शाखा इत्यादिरीत्यापि सुपठत्वाच्च ॥१९॥ यत् त्वध्यायलीलाया गुप्ततया द्वात्रिंशदित्याद्युक्तिरिति, तत्रापि चिन्त्यते, किं ब्रह्मणोऽज्ञानकल्पनाया गुप्ततेति न, इतोपि विगीततया वक्ष्यमाणत्वात्, अथ वा लीलाया रहस्यत्वं तदपि न, रासलीलातोऽनतिरेकात् ॥२०॥ न च तत्र गोप्यत्वेनोक्तिरेव हेतुः अप्रयोजकत्वात् ॥२१॥ बहुत्र एकादशादौ गोप्यत्वेनोक्तेश्च ॥२२॥ न च स्वेच्छयैव भङ्ग्यन्तरेणोक्तिरिति साम्प्रतम् इतोपि प्रक्षिप्तत्वसिद्धेः ॥२३॥ नाप्यत्राध्यायबोधनेन तात्पर्यं प्रतिस्कन्धं प्रत्यध्यायं च तदुक्तेरित्यपि युक्तम् ,उपक्रम एव द्रष्टुस्तद्बोधाभावात् ॥२४॥ अपि च सङ्ख्या हि बोधसौकर्यार्था तथा च स्पष्टमेव वाच्यमित्युक्तं प्रथमस्कन्धे प्रथमेध्याय एव तदनुक्तिश्च ॥२५॥ यत् तु प्रसिद्धत्वादेव शतपदेन शतत्रयं गृह्यत इति तदपि न, पञ्चत्रिंशतोपि तत एव लाभे स्कन्धानां च द्वादशत्वाद्युक्तिवैयर्थ्यात् ॥२६॥ किञ्च सरूपसूत्रस्य भाष्यविरोधः तत्र हि एकश्च द्वौ च द्वौ चेत्येवं चकारेण एकशेषमाशङ्क्य सङ्ख्याया अर्थासम्प्रत्ययादसत्पदार्थत्वाच्च नैकशेष इतिसमाहितम् तत्रान्यपदार्थत्वादित्यस्यान्यपदवाच्यत्वादित्यर्थः । द्वौ च द्वौ चेत्यस्य चत्वार इत्यर्थ इतिभाष्ये प्रदर्शनात् । एवं चात्र द्वन्द्वोपि नेतिभाष्याभिप्राय इतिव्याख्यातारः ॥२७॥ यत् तु भाष्यस्य एकादिनवान्तानां द्वन्द्वैकशेषो नेत्याशयः न तु दशादिभिरपीति एकादशविंशती इतिद्वन्द्वैकशेषयोर्भाष्ये एव प्रदर्शनादिति, तच्च चिन्त्यं, उत्तरभाष्ये नेमौ पृथक्परिहारौ गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यावित्यत्र प्रथमहेतुव्यभिचारात् । विंशतिश्च विंशतिश्च विंशती इत्यत्रान्त्यहेतुव्यभिचारात् किन्तु एक एवायं परिहारः । न च प्रथमो व्यभिचारस्तत्रार्थसम्प्रत्यभावेप्यन्यपदार्थत्वाभावात् । नापि द्वितीयः, अन्यपदार्थत्वेप्यर्थसम्प्रत्ययादित्युक्तेः । एवं च द्वात्रिंशत्त्रीतिपदे हेतुद्वयभावान् नैव भाव्यं द्वन्द्वेनेति युक्तम् ॥२८॥

न चास्यार्थसम्प्रत्यायकत्वमेव शिष्टप्रयोगादितिविप्रतिपत्तव्यं सम्प्रत्ययस्य लोकसाधारण्येनैवाङ्गीकाराल् लोके सङ्ख्याया एवंप्रकारिकाया अदर्शनात् ॥२९॥ शिष्टतात्पर्यस्य यथाश्रुतत्वं एव मया प्रतिपादिते तत्रैवावाशिष्टत्वाच् च ॥३०॥ यत् तु द्वात्रिंशच् च त्रिशतं चैषां समाहारे रूपमुत्तरपदे तु त्रयश्च शतानीति तत् तुच्छं प्रागुक्तानेकदूषणाविनिर्मुक्तत्वात् ॥३१॥ यच् च त्रिंशत् पञ्च शतानीतिपाठादपि सिद्धे त्रिपदस्योभयत्रान्वयस्तन्त्रेण सूच्यत इति, तदपि तुच्छं, तथा सिद्धे तथैव सुपठत्वे द्रविडप्राणायामप्रयोगात् ॥३२॥ यदि तथोक्तौ पञ्चपदस्य शतविशेषणता स्यादिति बिभेषि तदा द्वात्रिंशदित्युक्तौ तावन्मात्रप्रतीतेः किं न बिभियाः ॥३३॥ न चैवं स्कन्धाध्यायकल्पनायां पूर्वापरविरोध इतिशङ्कनीयं विगीतश्लोकव्याख्यानवदुपपत्तेः ॥३४॥ न चैवं विगीतत्वानुक्तिः किमितीतिवाच्यं, प्राचीनरीत्या व्याख्यानादत्र हेत्वन्तरस्य वक्ष्यमाणत्वाच् च ॥३५॥ एवं च सूत्रवार्तिकभाष्याणां

न्यायायां चापि सम्मतेः शतत्रयं च द्वात्रिंशदितिश्रीधरसम्मतिः । माध्वाचार्या अपि प्राहुः प्रायः प्राचीनपुस्तके, अध्यायत्रितयादृष्टेरिमे नादृष्टकारिणः ॥३६॥ श्रुतिकाशिकाकृद्भिरप्याचार्यसुदर्शनैः, 'उपेक्षिता इमेध्याया न वै ते आचचक्षिरे' ॥३७॥ इत आरभ्याध्यायत्रयं प्रक्षिप्तमिति व्यासार्यैरुपेक्षितमथापि प्रायशो व्यवह्रियमाणत्वात् कैचिद्व्याख्यातत्वाच्च च व्याख्यायते इतिवीरराघवाचार्यादिटीकायामपि प्रायःश इत्यादिपदेन कचिदध्यायानामलेख उक्तः ॥३८॥ अध्यायत्रयवैगीत्यमितिप्राहुश्चिरन्तनाः । श्रीमदाचार्यतत्पुत्रैरुच्यते तस्य हेतवः । तथा हि 'कौमारं जहतुः' 'ततश्च पौगण्डवयःश्रिता'विति सन्दर्भयोग्यताध्यायत्रयस्य प्रक्षिप्ततां प्रतिपादयति ॥३९॥ न चैतदर्थमेव ब्रह्मस्तुत्यन्ते पुनरेव तच्छ्लोकपाठ इतिवाच्यं पुनः पाठादेव तस्य प्रक्षिप्तत्वात् ॥४०॥ टीकायां तदव्याख्यानाच् च ॥४१॥ न च स्पष्टत्वान् न व्याख्यातमिति युक्तं पुनः पाठेन पूर्वोक्तस्मारकतया तस्य व्याख्येयत्वात् ॥४२॥ सर्वपुस्तकेष्वनुपलम्भाच् च ॥४३॥ किञ्चैवमेकादशाध्यायसमाप्तौ तच्छ्लोकवैयर्थ्यं स्यात् ॥४४॥ अपि च 'पौगण्डे परिकीर्तितमि'तिवाक्यात् पूर्वाध्याय एव तत्प्राप्तौ 'ततश्च पौगण्डवयःश्रिता'वितिवचोविरोधः ॥४५॥ तद्वैयर्थ्यं च ॥४६॥ अत एव गोपिकाभिरपि पञ्चाध्याय्यां विरहे सर्वलीलानुकरणेप्येतल्लीलाननुकृतिः प्रधानलीलात्वेप्येतस्याः । न च 'विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसादि'त्यत्र ताभिर्गीतत्वात् कथं न स्वीकरोतीतिवाच्यम्, 'वृषमयात्मजादि'त्यग्रिमपाठात् सुदर्शन एव ग्रहितुमुचितत्वात् ॥४७॥ श्रीनन्दस्य श्रीगोवर्धनोद्धरणानन्तरं गोपसंवादेपि नानुवादः ॥४८॥ कंसवधोद्यमे नारदेन नैतदनुवादः कृतः ॥४९॥ तृतीये श्रीमदुद्धवैरपि नैतदुक्तम् ॥५०॥ अनुक्रमणिकाध्याये द्वादशेप्येतदनुक्तिः ॥५१॥ 'न भारतीमेङ्ग मृषोपलक्ष्यत' इतिद्वितीयस्थब्रह्मवाक्यविरोधश्च ॥५२॥ 'भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यती'तिभगवत्प्रतिज्ञाविरोधश्च ॥५३॥ 'तोकेन जीवहरण'मित्यादिवदतः सदेश्वरत्वेन ज्ञानवतस्तादृग्धार्ष्ट्यस्यासम्भवश्च ॥५४॥ किञ्च द्वितीये ब्रह्मणा नारदं प्रति लीलान्तरकथनवत् स्वकर्तृकर्मकमोहनलीलाप्राधान्यावश्यकत्वाच् च वाच्यैव तदनुक्त्या सा नैव कृतेतिज्ञायते ॥५५॥ तृतीयेपि भगवद्ब्रह्मसंवादेन वरदानोत्तरं भगवत्स्वरूपज्ञातृत्वं ब्रह्मण इतिलक्ष्यते ॥५६॥ न चैव'मकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुत'मितितृतीयवाक्यं 'न भारती मेङ्ग' इत्यादिना विरुध्यत 'इतिवक्तव्यम्, इति नः श्रुतमि'तिपरमतत्त्वादितिकेचित् ॥५७॥ वस्तुतस्तु वैदिकसृष्टिव्यतिरेकेण लौकिकगद्यपद्यमयीं सृष्टिमपि इच्छतो ब्रह्मणोपि सनकाद्यैर्निषेधे तनुत्यागे नीहारोत्पत्त्याः प्रयोजनत्वं सत्कर्मणो ब्रह्मण इतितृतीयविवरण एव स्थितत्वाददोषः ॥५८॥ किञ्च शब्दार्थरचना नवीनैवोपलभ्यते ॥५९॥ अक्रूरस्तवनादेश्च चौर्यमत्र कृतं महत् ॥६०॥ स्तुतिश्च मायावादेन नान्यत्र ब्रह्मणा कृता ॥६१॥ 'स्वानां निरोद्धुं भगवा'निति चात्र न युज्यते सत्यसङ्कल्पताहानेः ॥६२॥ न वा दृष्टं प्रबलं हरेः ॥६३॥ न चाद्ये'ऽस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टानयं तथा चेद् बकवद् विनङ्क्ष्यती'ति(१०-१२-२४)

भक्तसङ्कल्पपरिपूरणाय स्वसङ्कल्पत्याग इतिचक्रवर्त्युक्तं युक्तं विकल्पाक्षमत्वात् । तथा हि किं भक्तसङ्कल्पं भगवान् जानाति न वेति, आद्ये ज्ञात्वा स्वसङ्कल्पे निःप्रयोजने मानाभावः ॥६४॥ द्वितीये सार्वज्ञ्यहानिः ॥६५॥ न चैवमेवेयं लीलेतिवाच्यं प्रयोजकाविरहात् ॥६६॥ यच्च च दिष्टपदं कालवाचि 'कालो दिष्टो'पीतिकोशात्, कालश्च लौकिको लीलासम्बन्धीति तदपि चिन्त्यं तथापि विस्मयानुपपादनात् ॥६७॥ 'जहृषुर्ये च कंसाद्या ' इत्यपि चिन्त्यं तत्र कंसाभावात् ॥६८॥ न च चारद्वारा सद्य एव वार्ताज्ञानमित्यपि युक्तं 'हरिस्तुण्डमविशद्' देवाश्रुकुशुः' 'गले तरसा ववृध' इतिसमन्वयाद् हरिवेगापेक्षया चाराणामधिकवेगाभावात ॥६९॥ किञ्च 'पूर्णोन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो मूर्धन् विनिष्पाट्य विनिर्गतो बहि'रित्यसङ्गतं, अन्तरङ्गे देहमध्ये पवननिरोधे गलद्वारे वकाशाभावेन मृत्युस्थानान्तरादेव पवननिर्गमस्य वक्तव्यत्वात् ॥७०॥ न च मुखप्रवेश एव तदितियुक्तं द्वारान्तरद्वारापि निर्गमनसम्भवात् ॥७१॥ 'तरसा ववृधे गल' इतिपूर्ववाक्यविरोधाच्च च ॥७२॥ द्वियीयेध्याये'पि 'गुह्यं वदामि ते' इत्यत गुह्यत्वे कारणं चिन्त्यं कारणान्तरं तु प्रागेव दूषितम् ॥७३॥ 'प्राप्तः परं विस्मयमि'त्यत्र पूतनादिमोक्षे कुतो न विस्मय इत्यपि चिन्त्यम् ॥७४॥ 'क्वाप्यदृष्ट्वे'त्यत्र दर्शनाभावोत्तरकालिकं ज्ञानं सार्वज्ञ्यं विहन्ति ॥७५॥ न च पूर्वश्लोकेऽदृष्ट्वा वन इत्यन्वयः ॥७६॥ दुर्बोधत्वात् ॥७७॥ शब्दास्वास्याच्च ॥७८॥ पूर्वश्लोकेपि तत्पदस्य सत्त्वाच्च ॥७८ अपि च 'स्नेहवल्लयब्दमन्वहं शनैर्निःसीम ववृधे' इत्यत्र शनैर्वृद्धौ कारणं चिन्त्यम् ॥७९॥ क्लिष्टयोजनयार्थान्तरकरणं त्वनुपदमेव दूषितम् ॥८०॥ श्रीबलदेवस्याज्ञानकल्पनं चात्यन्तायुक्तं पूर्वोत्तिरप्रकरणे तददर्शनात् ॥८१॥ न च तस्य भगवत्त्वं नेतिशङ्क्यं 'अहो अमी देववरे'त्यग्रे भगवत्त्वेनैव तथास्तूयमानत्वात् ॥८२॥ किञ्च भगवताग्रजत्वेन स्वीकारात् तद्वञ्चनानौचित्यम् ८३॥ नापि श्रीदामादिवियोगदुःखाभावायेति युक्तं स्वस्य तत्कुतो नेति पर्यनुयोगार्हत्वात् ॥८४॥ बलदेवस्यापि भगवत्त्वेन विरक्तत्वाच्च च ॥८५॥ वर्षात्मकस्य कालस्य त्रुटित्वे कोपपत्तिरितिचिन्त्यम् ॥८६॥ किञ्चेन्द्रादीनां भगवतापमाने कृतेऽपमानजन्येर्ष्यावेशकृतो भगवत्स्वरूपविषयको मोहो भवतु नाम तत्र भगवतो ब्रह्मणस्तदभावात् प्रत्युत तदपराधचिकीर्षा न घटते ॥८७॥ किञ्च पूर्वार्धे स्वतो लीलेतिसिद्धान्तादपि दोष इत्यप्याहुः ॥८८॥ अपि च गोपीनां भगवति परमानन्दे सहजशृङ्गाररसाङ्गीकाराद् भगवतो गोपरूपत्वे तन्मातृणामवचनानर्हभावोदयापत्तिर्भवन्मते स्यात् ॥८९॥ अस्मन्मते तु सुतरामेषां विगीतत्वं प्रकरणाद्यर्थविरोधाच्च च ॥९०॥ एष्वध्यायेषु प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकभगवदासक्तिरूपस्य स्कन्धार्थस्याभावश्च ॥९१॥ ब्रह्मणो निरुद्धस्यानिरुद्धतां विधाय पुनर्निरोधकरणे पिष्टपेषणापत्तेश्च ॥९२॥ ब्रह्मणो राजसत्वेन तामसप्रकरणविरोधाच्च च ॥९३॥ अत एव **बोपदेवपण्डितै**रपि प्रथमेष्टादशाध्यायास्तत्र प्रकरणत्रयमित्यादिरित्या

गणितम्, तेषामपि पञ्चत्रिंशदित्युपलभ्यमानेऽरुचिरिति हि गम्यते । एवं च नान्यादृशतदुक्तप्रकारेभिनिवेष्टव्यम् ॥९४॥ न च तैस्त्रयोध्यायाः प्रक्षिप्ता इति किं नोक्तमितिवाच्यं चिरन्तनप्रसिद्ध्या द्वात्रिंशज्ज्ञानेपि के प्रक्षिप्ता इति तैरविचक्षणात् ॥९५॥ एवमेव **श्रीधरस्वामिभि**रपि सौन्दर्यादज्ञानाद्वा व्याख्याता अध्याया इत्यपि वक्तुं शक्यम् ॥९६॥ अत एव द्वात्रिंशत् त्रिशतञ्चेतिपदद्वयस्वरसाच्च चकारसार्थक्यम् ॥९७॥ न च चकारो भिन्नक्रमबोधनार्थं पूर्वार्धे सामानाधिकरण्येन च योन्यत्र वैय्यधिकरण्येनेतिवाच्यमप्रयोजकत्वात् ॥९८॥ भिन्नविभक्तिनिर्देशेनैव तल्लाभाच्च च ॥९९॥ अतिसुलभ इष्टद इतिविशेषणयोः पुनरपि सामानाधिकरण्याच्च ॥१००॥ न चोपमानोपमेययोः सामान्यधर्मस्यैकपदेनोपादानमित्यपि नियमः, प्रकृत एव सहस्राण्यष्टादशेतिपदत्रयेण तन्निर्देशादत एवा'ष्टनः संज्ञाया'मित्यात्वं नेत्यभियुक्ताः ॥१०१॥ न च पूर्वोक्तमिथोविरोधवर्णने तत्र तत्राचार्यचरणोक्तिविरोधः । 'शब्दार्थसङ्गतीनां च स्पष्टा तत्र विरुद्धते'तिपूर्वं प्रतिज्ञायानास्थया तदुक्तेः ॥१०२॥ न चानुक्रमणिकाध्यायेजामिलोपाख्यानानुक्तिविरोधः, नरकशेषत्वात्तत्प्रकरणस्य नरकवर्णनानुक्रमणेनैव तदनुक्रमणादविरोधात् १०३॥ अत्र तु सर्वत्रापि देशप्वैतिह्यप्राप्त्यैव तेऽविगीता इति तदेव विगीतं माध्वाचार्यादिग्रन्थपर्यालोचनात्, ततो हि अलेख एवैषामुपलभ्यते ॥१०४॥ यच्च च प्राचीननवीनटीकासम्मत्या सिद्धेऽविगीतत्वे विगीतत्ववाद एव विगीत इति तदपि न, साम्प्रदायिकानामेकवाक्यतायामसम्प्रयिवाक्यानामेव विगीततासम्पत्तेः प्रतिवादे निग्रहस्थानत्वाच्च च ॥१०५॥ यदपि श्रीवृन्दावने तल्लीलास्थानप्रसिद्ध्या स्वष्ट साधयन्ति तच्चासाधीयः, इदानीं प्राचीनस्थानानां विशकलितत्वेनेदानीन्तनकल्पितलीलानुसरणेन च पुराणान्तरप्रसिद्धकल्पान्तरीयलीलानुसारितया च स्थानानामदिष्टसिद्धिविघातकत्वाभावात् ॥१०६॥ न च स्यात्त्रिशतीरूपं पात्रादिष्वस्य कल्पनात् त्रियुगं च त्रिभुवनं त्रिपूर्वं दृश्यते बहु ॥ १०७॥ न चेदेतच्छ्रीधरीयं पद्यं प्राचां भाविष्यति प्रमितं श्रीधरैर्नो चेत् तै रूपं किं न संस्तुतं स्तुतिर्मूलेपि यस्यास्ति स्तुतं तदनुसारतः ॥१०८॥ 'लघ्वक्षरं पूर्वं'मितिवाक्यं चापि विरुध्यते ॥१०९॥ अत एव पुराणान्तरे 'ग्रन्थोष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा, गायत्र्या यस्य प्रारम्भस्तद् वै भागवतं विदुः, स्कन्धा द्वादश एवात्र कृष्णेन विहिताः शुभाः, द्वात्रिंशत्त्रिशतं पूर्णमध्याः परिकीर्तिता' इति । अत्र पूर्णपदस्वारस्याद् यथोक्तमेवाभिप्रेतम् । ननु तर्हि 'पञ्चत्रिंशोत्तराध्यायास्त्रिशतीयुक्त ईश्वर' इति कथं कैश्चिदुच्यते, तत्रोच्यते, श्रीमद्भागवतस्याष्टादशपुराणगणनायां पञ्चमत्वस्य विजयवादे साधितत्वात् वृत्तौ सङ्ख्यावाचकानां पूर्णप्रत्ययार्थताया 'आचतुरं हि मे पशवो मिथुनायन्त'इत्यादौ दर्शनात् पञ्चशब्दस्य पञ्चमे भागवते त्रिंशोत्तरा नाम द्वात्रिंशत्त्रिशतीयुक्ता इतिव्याख्येयम्, परे तु कृत्यभावेपि पूर्णार्थतामिच्छन्ति, ज्योतिःशास्त्रे धर्मशास्त्रे

तथा दर्शनात्, 'षट् चतुर्भ्यश्चे'तिसूत्रे चतुर्ग्रहणं सार्थकं पूरणार्थे मा भूदिति, अन्यथा पुराणान्तरीय'द्वात्रिंशत्त्रिशतं पूर्णमध्यायाः परिकीर्तिता' इत्यत्र पूर्णपदविरोधो दुरुद्धरः, द्वात्रिंशत्त्रिशतमितिपाञ्चवचनं दामोदरा उदाजहुः । केचित् तु पक्ष इति पञ्चस्थाने पठन्ति, अन्ये तु यथा बोपदेवेन 'प्रथमेष्टादशाध्याया' इत्यादिना यथाध्यायद्वयस्थाने कुत्र कुत्रैक्यं कृत्वा एकत्रिंशोत्तरत्रिशती उच्यते, विद्यमानपञ्चत्रिंशत्सङ्ख्या नाद्रियते, तथा ध्रुवादिचरिते एकैकाध्यायस्य अध्यायद्वयतां विदधते, एतेन वचनद्वयस्यापि भागवतानुक्रमण्या विरोध उद्धृतः । केचित् तु नेमं हरगौरीतन्त्रस्थं वचनम् प्रमाणयन्तीति दिक् (स्यादेतत् ।'य एतत्पूतनामोक्ष'मितिपद्यं तु केचन विगीतमाहुस्तेष्वेवं प्रष्टव्या न वयम् । न तु 'पूतना लोकबालघ्नी'त्यादिषट्के मानान्वितम् । पूर्वोत्तरग्रन्थयोर्हि सन्दर्भः सुन्दरोन्यथा तेष्वपि श्लोकेषु 'तन्मातर' इतिवसुदेवास्त्रिय इतिव्याचख्युरितिसुबोधिन्यां षष्ठश्लोक-स्वरसाद् गोपीपरत्वं न युक्तमिति तदाशयः)इतोप्यधिकं तत्र तत्राकरे द्रष्टव्यमिति दिक् ।

आन्ध्रो गङ्गाधरो भट्टः गिदागुरुकृपाबलः ।
अशुद्धबुद्धिशुद्ध्यर्थं जपमालां समाप्तवान् ॥१॥
अशुद्धबुद्ध्योध्यायान् विगीतान् ये न मन्वते ।
तद्धीः सम्पत्स्यते शुद्धा जपित्वा मालयासकृत् ॥२॥

इत्यान्ध्रदेशीयगिदोपाह्वश्रीमद्गङ्गाधरभट्टकृता जपमालेयं गुरुकृपाबलेन समाप्ता ।

इतिश्रीमद्भागवतीयदशमस्कन्धस्य नवत्यध्यायेषु द्वादशत्रयोदश-चतुर्दशाध्यायानां प्रक्षिप्तत्वसमर्थनं

समाप्तम्

(सं. १९९२ का. शु. ५)

श्रीकृष्णाय नमः

परिशिष्टम् । (२)

पण्डितपुरन्दरगोस्वामिश्रीमत्पुरुषोत्तमविरचितः

श्रीमद्भागवतस्वरूपविषयकशङ्कानिरासवादः

वेदवेदान्तसारं यद्व्यासखेदनिवर्तकम् ।
महापुराणमूर्धन्यं श्रीमद्भागवतं स्तुमः ॥ १ ॥

अत्रेदं विचार्यते, श्रीभागवतमष्टादशपुराणान्तर्गतमतिरिक्तं वा ? किं तावत्प्राप्तम् ? अतिरिक्त-मिति । कुतः ? प्रथमस्कन्धे व्यासनारदसम्वादे वेदव्यासस्य भारतकरणोत्तरमपरितुष्टौ नारदो-पदेशतः एतत्करणोक्तेः । "अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः । चक्रे भारतमाख्यानं वेदार्थैः-रुपबृंहितमि"ति स्कान्दमात्स्ययोर्वाक्ये क्त्वाप्रत्ययेन 'वेदं कृत्वा वेदिं करोती'तिवत्पुराणभारतकर-णयोः पूर्वापरभावप्रतीतेस्तदुभयकरणोत्तरं श्रीभागवतकरणं सिध्यतीत्यतिरिक्तमिदमिति ।

अत्रोच्यते, अन्तर्गतं तत्पुराणेष्वस्य लक्षणम्, सङ्ख्या चोक्ताष्टादशास्ति तेनेदं नातिरिच्यते ॥

तथाहि, "यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः । वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते ॥ सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरामराः । तद्वृत्तान्तोद्भवं चैतत्पुराणं परिकीर्त्यते । अष्टादशसहस्राणि पुराणं तत्प्रकीर्तितमि"ति मात्स्ये, "ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः । हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा । गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदु"रिति स्कान्दे च पञ्चमपुराणलक्षणे तस्यैवोक्तेः । नच स्थूलसूक्ष्मविभेदेनोभयसामञ्जस्यमिति वाच्यम्, सङ्ख्योक्तिविरोधापत्तेः । नचैत-ल्लक्षणकमन्यदिति वाच्यम्, अप्रसिद्धेन च भगवत्या इदं भागवतमिति योगात् "नमस्कृत्य शिवं देवीं शर्वं भागवतं तथा । पुराणं सम्प्रवक्ष्यामि यथोक्तमृषिभिः पुरे"ति देवीपुराणाद्यपद्ये, भाग-वतपदाच्च देवीपुराणमेव तदिति वाच्यम्, उक्तयोगस्य काल्पनिकत्वात् । काणो बाधादिति कश्चित् (?) । वस्तुतस्तु देवीपुराणाद्यपद्यस्य भागवतपदस्य शर्वपदविशेषणत्वेनोक्तयोगानुपष्टम्भ-कत्वात् । शिवस्य वैष्णवत्वात् । "वैष्णवानां यथा शम्भुरि"ति द्वादशस्कन्धात्, "भस्मोद्धूलितदेहस्तु जटामण्डलमण्डितः । अहं ध्यायामि तं विष्णुं परमात्मानमव्ययम् । विष्णोराराधनार्थं मे ब्रह्म-चर्या पितामहे'ति गारुडद्वितीयाध्याये रुद्रवाक्याच्च । नच भागवतपदस्य स्तुतपुराणविशेषणत्वं शक्यवचनम् । तथापदेन व्यवधानात् । देवीपुराणेऽध्यायसमाप्तौ भागवतपदालिखनाच्च सञ्ज्ञावि-

१ तत्त्वार्थदीपस्य प्रकरणत्रयात्मकस्य श्रीभागवतार्थाभिधायकत्वात्, भागवतस्य प्रमाणमूर्धन्यत्वेन स्वीका-राच्च, तद्विषयकशङ्कानिरसनपराः केचन ग्रन्था अत्र मुद्रिताः । इमे च श्री-लक्ष्मीरामशास्त्रिभिः प्रदत्ता-स्तेभ्यश्च देवर्षिरमानाथशास्त्रिभिरत स्तेषामुपकारभारं वहामि । २ नतत्त्वर्थेत्यभ्यत्र पाठः ।

१ त॰दी॰नि॰परि.

रोधाच्च । "लक्षमात्रेण लोकस्य विद्या देवेन भाषिते"त्यभ्युदयपादसमाप्त्यध्यायस्य वाक्यात् । विजयत्रैलोक्याभ्युदयशुम्भनिशुम्भमथनाख्यपादत्रयविशिष्टत्वेन स्कान्दोक्तद्वादशस्कन्धसम्मितत्वरूपलक्षणराहित्याच्च । श्रीमद्भागवतपरमेव वा तत् । तस्य देवीपुराणोपजीव्यत्वात् । "अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरि"मित्यादिदशमस्कन्धोक्तभगवदाज्ञसमाहात्म्यविस्तारस्य देवीपुराणे दर्शनात् । अत एव "यथोक्तमृषिभिः पुरे"ति ऋषिप्रोक्तत्वरूपमुपपुराणलिङ्गमपि युज्यते । "अष्टादश पुराणानि श्रुत्वा सत्यवतीसुतात् । अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि त्वि"ति सूतसंहितायां वाक्यात् । शब्दखण्डे गङ्गेशोपाध्यायाना यो देवीपुराणे महाभागवतत्वव्यवहारः स त्वस्योपपुराणस्य महापुराणमूलकत्वेन तेषां तत्र श्रद्धाऽतिशयेन च साम्प्रयोगिके बहुर्चायां चतुःषष्टिव्यवहारवत्पूजार्थ एव ।

यत्तु, श्रीधरस्वामिना "अत एव भागवतं नामाऽन्यदिति न शङ्कनीयमि"त्युक्तम् । तदपि पूजार्थभागवतव्यवहारविषयोपपुराणव्युदासपरम् । "यत्राधिकृत्या"दिलक्षणवाक्यस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् । उचिततरं चैतत् टीकाकारस्य । जैमिनिना वेदानां काठककौथुनादिसमाख्यावशेन पौरुषेयत्वमाशङ्क्य तत्समाधानवदाचारमाधवे स्मृतीनामप्रामाण्यमाशङ्क्य तन्निरासवत्स्थूणाखननन्यायेनैतद्दूरीकरणस्यावश्यकत्वात् ।

कश्चित्तु, "यदिदं कालिकाख्यं च मूलं भागवतं विदुरि"ति पुराणदानप्रास्ताविककालिकापुराणवाक्यात्तस्य भागवतत्वमाह ।

अपरस्तु, "तन्मूलं भागवतं स्मृतमि"त्येवं पाठमङ्गीकृत्य पूर्ववदाह ।

तद्द्वयमपि तुच्छम् । अत्र सन्दर्भे "शैवं यद्वायुना प्रोक्तं वैरञ्चं वैष्णवं तथा । यदिदं कालिकाख्यं च मूलं भागवतं स्मृतम् । सौरं च नारदीयं च मार्कण्डेयं च वह्निजम् । भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं लिङ्गं चैव त्रयोदशम् । वामनं कौर्मं मात्स्यं च सप्तदशं च गारुडम् । स्कान्दमष्टादशं प्रोक्तं पुराणं च न संशयः" इति लैङ्गादीनां त्रयोदशत्वादिकथनस्य बाधप्रसक्तेः । अतस्तद्भागवताख्यमुपपुराणमतिरिक्तमेव । यत्सौरपुराणे "ततो भागवतं प्रोक्तं भागद्वयविभूषित"मिति लक्षयित्वा "ददाति सूर्यभक्ताय यस्तु भागवतं द्विजः । सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वरोगविवर्जितः । जीवेद्वर्षशतं साग्रमन्ते वैवस्वतं पदमिति"यद्दानफलमुक्तं तज्ज्ञेयम् । न च शैवादिप्रक्रमपाठात्कालिकाख्यस्य महापुराणत्वं शङ्क्यम् । क्रमभेदात् । महापुराणगणनायां सर्वत्र कूर्मस्कन्दविष्णुमात्स्यादिषु ब्राह्मादिक्रमदर्शनात् । कूर्मपुराणप्रथमाध्याये चोपपुराणगणनायां द्वादशत्वेनास्य गणनात् "आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहं ततः परम् । तृतीयं नान्दमुद्दिष्टं कुमारेणानुभाषितम् । चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम् । दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदीयमतः परम् । कापिलं मानवं चैव तथैवोशनसेरितम् । ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमेव च । माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसञ्चयम् । पराशरोक्तमपरं मारीचं भार्गवाह्वयम्" इत्येवं वाक्यात् । सूतसंहितायां च "ततः कालीपुराणाख्यं वाशिष्ठं मुनिपुङ्गव" इति तत्रैव गणनाच्च । अत एव कालिकोक्तगणनायां सौरनिवेशोऽपि सङ्गच्छते । अतः पुष्कर-

पुराणशिवरहस्यविष्णुधर्मोत्तरविष्णुरहस्यादिवदिमानि शैवादीन्युपपुराणान्यतिरिक्तान्येवेति तत्रोक्तं भागवतं भिन्नमेवेति निश्चयः ।

यत्तु, "प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वित"मिति मात्स्यश्रीभागवतयोर्वचसी वाहनेन लिङ्गेन देवीपुराणमेव भागवतत्वेनोक्तवान् । तदप्यसङ्गतम् । सिंहपदस्यानेकार्थत्वात् 'सिंहस्तु राशिभेदे मृगाधिप' इत्यनेकार्थकोशाभिधानात् । प्रौष्ठपद्यां च सिंहे सूर्यसत्त्वात् । हेम्न इव फलार्थं कालसम्बन्धस्यापि शक्यवचनत्वात् । भीमसत्यादिपदवदेकदेशप्रयोगस्यापि शक्यवचनत्वेनाऽत्र सिंहासनस्यापि शक्यबोधाच्च । अत एव स्कान्दे "लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धुरतसमन्वित"मित्युक्तम् ।

वस्तुतस्तु, श्रीभागवतपुराणसङ्ख्यां सम्भूतिमस्य वाच्यप्रयोजने । "दानं दानस्य माहात्म्यं पाठादिश्च निबोधत"मिति प्रतिज्ञाय "ब्राह्मं दशसहस्राणी"त्यारभ्य "चतुर्लक्ष उदाहृता" इत्यन्तेनाऽष्टादशान्तर्गतत्वेन प्रासङ्गिकमुक्त्वा "तत्राऽष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते" इत्यनेन सङ्ख्यां, "इदं भगवता पूर्व"मित्यनेन सम्भूतिं, "आदिमध्यावसाने"त्यादिना वाच्यं, "कैवल्यप्रयोजन"मित्यनेन प्रयोजनं चोक्त्वाऽग्रे "प्रोष्ठपद्या"मित्यनेन दानतन्महात्म्ये उच्येते । तथैव मात्स्येऽपि, सङ्ख्योक्तिपुरःसरमिदमुच्यते । देवीपुराणे च "लक्षमात्रेणे"ति वाक्यात्तावत्सङ्ख्याक्रमतो न चोद्याऽवसरः ।

केचित्तु, देवीपुराणव्युदासाय भागवतशब्दं विचित्रोद्भिदाश्वकर्णाहीनादिशब्दवद्रूढमाहुः । सा यद्यपि कल्पना तु साधीयसी, तथापि "इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे । स्थिताय भवभीताय कारुण्यात्सम्प्रकाशितम्" । "इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मित"मित्यादिवाक्येषु योगस्य रूढेश्च प्रतिभानात् प्रतीतिकविषयेति प्रतिभाति ।

या तु केषाञ्चिदन्त्यजनुजातसङ्घातानां सकलप्रमाणमौलिभूतवेदफलभूते श्रीमद्भागवतेऽर्वाचीनत्वशङ्का, सा तु, "त्रयो वेदस्य कर्तारो मुनिभाण्डनिशाचरा" इति तथागतप्रणीतकारिकोक्तसरणिमनुसरन्ती माध्यमिकमतमध्यमध्यास्ते । यदि तथा स्यात् महान्तः प्रामाणिका निबन्धकर्तारः स्वस्वग्रन्थेषु तत्सम्मतिं न दद्युः ।

क्वास्ति सम्मतिरिति चेत् । अवधेहि—प्रथमं तावच्छङ्कराचार्यकृते—चतुर्दशमतविवेके "परमहंसधर्मो भागवते पुराणे कृष्णेनोद्धवायोपदिष्ट" इत्युक्तम् । पाद्मसहस्रनामटीकायां वचनान्येव तत्र तत्र लिखितानि तथोपदेशसाहस्र्याष्टीकायां समाप्तौ श्रीभागवतवचनं लिखितम् । तथा सम्वत्सरप्रदीपनाम्नि प्राचीनगौडकृते स्मार्तनिबन्धे "शतशोऽथ सहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसङ्ग्रहैः । गृहे न तिष्ठते यस्य शास्त्रं भागवतं कलौ । कथं स वैष्णवो ज्ञेयः शास्त्रं भागवतं कलौ । गृहे न तिष्ठते यस्य श्वपचादधिको हि सः" इत्यादिस्कान्दवचनैर्गृहे श्रीभागवताभावे दोषं प्रदर्श्य कलिदोषतः पावित्र्याय कतिचिच्छ्रीभागवतवचनानि लेख्यानीत्युक्त्वा भूयांसि श्रीभागवतवचांसि लिखितानि । तथा हेमाद्रिव्रतदानखण्डकालनिर्णयादिषु कलिधर्मनिर्णये च "कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः, कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेदि"त्यादीन्युदाहृतानि । एवं प्रक्रियाकौमुदीकृतो रामचन्द्राचार्यस्य

पुत्रेण नृसिंहाचार्येण च कालनिर्णयदीपिकाविवरणे 'श्रीभागवत' इत्युक्त्वा "आचार्यं मां विजानीयादि"ति । देवपूजाप्रकरणे चाथो विष्णुः सितरक्तपीतसुतनुः कृष्णः कृतान्नामभिर्ह्रसाद्यैरित्यत्र "कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः । नानावर्णाभिधाकारो नैवासौ विधिनेज्यते' इत्यादीनि लिखितानि । तथा विद्यानिवासभट्टाचार्यकृते सच्चरित्रमीमांसाख्ये स्मार्तनिबन्धे 'देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्नि"ति, "त्वयोपभुक्तस्रगन्धे"त्यादीनि च सम्मत्यर्थं लिखितानि । तथा मधुसूदनसरस्वतीभिरपि भक्तिरसायने श्रीभागवतवचांस्येवोपनिबद्धानि । भगवद्गीतायाः सप्तमाध्यायव्याख्याने च जीवे प्रतिबिम्बपक्षे "नैवात्मन प्रभुरय"मिति सप्तमस्कन्धीयं वाक्यं लिखितम् । अन्यान्यमपि च तीरभुक्तविष्णुपुरीनाम्नापि भक्तिरत्नावल्यां नवधा भक्तिनिरूपणाय श्रीभागवतीयान्येव तत्र तत्र प्रदर्शितानि वचांसि । एवं काश्मीरदेशीयेन क्षेमेन्द्रनाम्ना क्षेमेन्द्रप्रकाशाख्ये स्मार्ते निबन्धे "त्वयोपभुक्तेत्या"दीनि लिखितानि । तथा च रचितेनाऽप्पय्यदीक्षितेनापि शिवतत्त्वविवेके "कर्णौ पिधाय निरयादि"त्यादीनि चतुर्थस्कन्धीयानि लिखितानि । तथा निर्णयसिन्धौ वामनजयन्तीनिर्णयेऽष्टमस्कन्धीयां "श्रोणायां श्रवणद्वादश्यामि"त्यादि लिखितम् । भगवद्भास्करे, श्राद्धमयूखे मांसनिषेधकं "न दद्यादामिषं श्राद्धे" इति सप्तमस्कन्धीयमलेखि । दिनकरोद्योते चैकादशीनिर्णये 'न कामकर्मबीजाना'मित्येकादशस्कन्धीयमलेखि । भट्टोजिदीक्षितकृतायां चतुर्विंशतिव्याख्यायामाचारकाण्डे तर्पणोत्तरं पूजानिर्णयेऽपि 'भागवतेऽप्यत एवोक्तमि"त्युक्त्वा "मूर्त्याऽभिमतयाऽऽत्मनः" इति, "उद्वासावाहने न स्तः" इति चोक्तम् । अतएव प्राचीनार्वाचीननानादेशीयनिबन्धकर्तृभिरादृतमपि ये न पश्यन्ति ते चक्षुष्मन्तोऽप्यन्धतमा इति दिक् ।

नन्वस्त्वेवमष्टादशान्तर्गतत्वम्, तथापि, पूर्वोक्तः पूर्वापरभावविरोधः कथं परिहार्य इति चेत्? उच्यते । पूर्वापरभावस्याविवक्षितत्वात्परिहार्य इति । न चाविवक्षितत्वे मानाभावः शङ्क्यः । स्कान्दे काशीखण्डेऽष्टाविंशाध्याये गङ्गामाहात्म्ये "तदा भगीरथो राजा क्व क्व भागीरथी तदा । यदा विष्णुस्तपस्तेपे चक्रपुष्करिणीतटे" इति देव्या पृष्टे "सन्देहोऽत्र न कर्तव्यो विशालाक्षि सदामले । श्रुतौ स्मृतौ पुराणे च कालत्रयमुदीर्यते । भूतं भव्यं भवच्चापि संशयं मा वृथा कृथाः" इति शिवेनोत्तरदानात्कालस्याविवक्षितत्वनिश्चयात् । अत एव पूर्वापरभावस्यापि तथाच सिद्धिः । एकत्र दृष्टः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि तथेति न्यायात् । किञ्च, पूर्वापरभावस्य विवक्षितत्वे पुराणान्तरस्यापि बहिर्भावप्रसक्तिः । तथा हि । मार्कण्डेयपुराणारम्भे तावत् "भगवन्भारताख्यानं व्यासेनोक्तं महात्मना । पूर्णमस्तमलाद्यैर्नानाशास्त्रसमुच्चयैरि"त्याद्युक्त्वा, "तदिदं भारताख्यानं बह्वर्थं बहुविस्तरम् । तत्त्वतो ज्ञातुकामोऽहं भगवंस्त्वामुपागत" इति चोक्तानि । व्यासशिष्यजैमिनिना कृतेन प्रश्नचतुष्केन पुराणावतारकथा दृश्यते । सा च भारतोत्तरभावित्वमन्तरेणासङ्गता सती मार्कण्डेयपुराणस्याष्टादशभ्यो बहिर्भावमावहति । तथाग्निपुराणारम्भे "सूत त्वं पूजितोऽस्माभिः सारात्सारं वदस्व नः । येन विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञत्वं प्रजायते" इति शौनकप्रश्ने "सारात्सारो हि भगवान्विष्णुरव्यय ईश्वरः" इत्याद्युक्त्वा, पुराणमवतार्य तत्र द्विधा सारं वदन् प्रसङ्गतो ग्रन्थान्ते

१ तिरहुत् इति विहारप्रान्ते ग्रामः २ देवीभागवतस्य भागवतस्य चेति शेषः ।

"गीतासारं प्रवक्ष्यामि सर्वगीतोत्तरोत्तरम् । कृष्णोऽयमर्जुनायाऽऽहे"ति प्रतिज्ञाय "दैवी ह्येषा गुणमयी" "यस्यां जाग्रति भूतानी"त्यादीनि कतिचित्पद्यान्येवोक्तवान् । अर्थमात्रोक्तौ तु पद्यानि न वदेत् । अतो भारतोत्तरभावित्वमाग्नेयस्यापि सिध्यति । एवं च पुराणत्रयबहिर्भावेऽष्टादशानां पूर्वभावाभावादष्टादशपुराणानीति वाक्यस्यैवाऽसङ्गतत्वापत्तिश्च । ननु सूतोक्त्यनुवादवदिदं योगबलेनादावेवावादि, प्राक्कल्पीयवाग्वादीति [illegible] भारतोत्तरत्वसिद्धिः, तथा सति वाक्यस्यापि नासङ्गतिरिति चेत्, तर्हि प्रकृतेऽपि तौल्यात्परिहृत एव भवत विरोध इति न ते वक्तुमवकाशः । नन्वपरितोषासङ्गतेरस्त्यवकाश इति चेत्, न, प्राक्कल्पीयव्यासापरितोषानुवादस्यात्रापि शक्यवचनत्वात्, इदमपि त्वद्रीत्योक्तम् । अन्यथा तु "अष्टादश पुराणानि कृतवानि"त्यष्टादशपुराणानि कृत्वेत्येकं पदं सत्यवतीसुतविशेषणम् । न च क्व निबन्धसम्भवः "राजनि युधि कृञ," इत्यत्र कृञ इति योगविभागात्सिद्धेः । तथासति योऽष्टादशपुराणरक्षकः स भारतकर्तेति पूर्वापरभावमन्तरेणापि भूतार्थवादोपपत्तिरिति न किञ्चिदेतत् । उक्तकाशीखण्डीयैकवाक्येनैव निर्णयस्य जातत्वात् ।

अत एव "अधीतवान्द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहमि"ति "कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः," इति वाक्यद्वयमपि सङ्गच्छते । द्वापरादौ पाठस्य कल्यादौ शुकेन प्रचाररूपस्योदयस्य विशदीभावात् । "लोकस्याजानतो व्यासश्चक्रे सात्वतसंहिता'मिति तु कालानुक्तेर्व्याख्यातप्रायमेवातो न कोऽपि शङ्कालेशः ।

यत्तु, "अष्टादशपुराणानि अष्टौ व्याकरणानि च । ज्ञात्वा सत्यवती सूनुश्चक्रे भारतसंहिता-"मिति भविष्यप्रथमाध्यायवाक्यम् । तत्तु, शतकोटिप्रविस्तरपुराणान्तर्गताष्टादशसजातीयवाक्यकदम्बपरम् । व्याकरणसाहचर्यात् । नानाविधशुद्धशब्दवन्नानाविधार्थस्य भारत उपनिबन्धनीयत्वेन तज्ज्ञानस्यावश्यकत्वात् । न तु सकर्तृकर्तव्यपरम् । शतकोटिप्रविस्तरज्ञानेनैव चारितार्थ्येनैतज्ज्ञानस्यावश्यकतया तत्कथनानुपयोगात् । असर्वज्ञत्वापादकत्वाच्च । तत्राप्युपपुराणत्वेन वक्ष्यमाणराशिपरं भाति । अध्यायसमाप्तिकोटौ 'सर्वाण्येव पुराणानि कथितानि नरर्षभ । द्वादशैव सहस्राणि प्रोक्तानीह महर्षिभिः । पुनर्वृद्धिं गतानीह व्याख्यानैर्बहुभिर्नृप । यथा स्कान्दं तथा चेदं भविष्यं कुरुनन्दन । प्रल्हादं शतसाहस्र्यं श्लोकानां ज्ञातमेव हि । भविष्यमेव ऋषिणा लक्षार्द्धं सङ्ख्यया कृत'मित्युक्त्वा पुराणदर्शनप्रसङ्गदर्शनात् । न चेहोक्तयोः स्कान्दभविष्ययोर्महापुराणत्वं शङ्क्यम् । महर्षिप्रोक्तत्वलिङ्गविरोधात् पुराणसङ्ख्याविरोधाच्च । स्कान्दमेकाशीतिसहस्रकम् । शतमेकं तथेति । चतुर्विंशद्भविष्यं च तथा पञ्चशतानि'चेत्यादिवाक्यात् ।

किञ्च, श्रीभागवते निर्वृतिप्रसङ्गेऽपि वेदानां चतुर्धाकरणमेवोक्त्वा, इतिहासपुराणपाठकत्वमेव च सूचयित्वा वेदानां शाखित्वं ततो भारतकरणं चोक्त्वाऽनिर्वृत्तिरुक्ता । न तु पुराणसमनन्तरकृतोऽष्टादशाध्यायविभागः । पूर्वोक्तमेव तेनाऽपि ज्ञायते । कानिचित् पूर्वं कृतानि कानिचिन्नेति ।

यत्तु कश्चित्, श्रीभागवतमष्टादशपुराणातिरिक्तम्, । वेदेतिहासपुराणरचयितुरप्यजातचित्तप्रसादस्य व्यासस्य चित्तप्रसादजनकत्वादित्याह—तत्र हेतुरस्तु साध्यं मास्तु । अन्यथा द्वादश-

स्कन्धसमाप्तिस्थस्य पुराणसङ्ख्यासम्भूतिमित्यादिना ब्राह्मादिपुराणसङ्ख्यागणनावसरे दशाष्टौ श्रीभागवतमित्यस्य गणनस्य "एवं पुराणसन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः । तत्राष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते । इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कज" इत्यत्र तत्रेति सप्तम्या इदमश्च विरोधापातात्, तस्मिन्नेव स्कन्धे सप्तमाध्याये "सर्गोऽस्याथे"त्यादिनोक्तस्य महापुराणसामान्य-लक्षणस्य द्वितीयस्कन्धस्य "अत्र सर्गो विसर्गश्चे"त्यस्य श्रीभागवतलक्षणस्य च विचारे प्रतीय-मानस्य सामान्यविशेषभावस्य बाधप्रसक्त्या तद्विरोधापत्तेश्च । न च "द्वापरे समनुप्राप्त" इत्यादि-प्रथमस्कन्धस्य सन्दर्भविरोधः । "जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम् । कृतवान् भारतं यत्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम् । जिज्ञासितमधीतं च यत्तद्ब्रह्मसनातनम् । तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो" इति नारदोक्तौ भारतकरणाद्ब्रह्मजिज्ञासाध्ययनानामेवोक्तत्वादनुवादके "अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तमिति"वाक्येऽपि तेषामेव परामर्शेनाष्टादशधाकरणस्य श्रीभागवतपूर्वभावित्वाप्तेः ।

एवं च द्वादशस्कन्धेऽस्य पञ्चमत्वेन गणनाच्चत्वारि पुराणानि भारतं च कृत्वाऽपरितुष्टो नारदोपदेशेनेदं चकार । ततः परितुष्टोऽन्येषामधिकारिणामर्थे तत्तद्योग्यान्यन्यानि चकारेति ज्ञायते । एतेनैवेतिहासपुराणानामिति बहुत्वस्योपपत्तौ बाधान्तराणामपि निरासेऽतिरेककल्पनं भागवतान्तरस्योच्छेदकल्पनादिकं च प्रतिपाद्य विरोधादिग्रासादुपेक्ष्यमिति सुधीभिरवधेयम् ।

प्रकृतमनुसरामः । अतः पुराणेषु कालत्रयस्य सङ्कलीकृत्य कथनात्पुराणभारतयोः पूर्वा-परभावस्याविवक्षितत्वात्पुस्तकान्तरेषु अष्टादशपुराणानां कर्तेति पाठदर्शनाच्च नाष्टादशबहिर्भावोऽस्ये-त्यष्टादशान्तर्गतत्वमेव श्रीभागवतस्य बुद्धिमद्भिरनुसन्धेयमिति शुभम् ॥

तत्त्वदीपप्रकाशेन यः पन्था दृष्टिगोचरः ।
कृतस्तेन पथाऽस्मामी रक्षा शङ्का निरकृता ॥

इतिश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणनलिनाज्ञातोत्तमाङ्गश्रीपीताम्बरतनुजपुरु-षोत्तमकृतावतारवादावल्यां श्रीभागवतस्वरूपविषयक-शङ्कानिरासवादस्त्रयोदशः समाप्तः ॥

श्रीमद्भागवतप्रमाणभास्करः ।

श्रीमद्वल्लभचरणान्नत्वा विलिखामि संशयच्छेदम् ।
निखिलप्रमाणमूर्द्धनि भागवते सन्दिहानानाम् ॥ १ ॥

ननु केचन भ्रान्ताः भागवतं पौरुषेयमेव वदन्ति । केचन देवीपुराणं कालिकापुराणं वा । उभयत्र भागवतप्रयोगात् । भगवत्या इदं भागवमिति देवीपुराणे प्रथमश्लोक एव प्रयुक्तत्वात् । 'यदिदं कालिकाख्यं तु मूलं भागवतं विदुरि'ति कालिकापुराणे च भागवतपदप्रयोगात् । तथैव 'पराशरोक्तमपरं तथा भागवतद्वयमि'ति कूर्मपुराणवचनाच्च । किञ्च, पुराणदानप्रस्तावे मत्स्य-पुराणेऽपि भागवतदानस्य हेमसिंहसमन्वितत्वमुक्तं तेनापि देवीपुराणमेव तदित्यवगम्यते । अन्यथा सिंहसमन्वितत्वं न वदेयुः ।

किञ्च, श्रीधरस्वामिनाऽपि ससंशयमेवोक्तं भागवतं नाम नान्यदिति शङ्कनीयमिति । अथ च प्राचीननिबन्धकारैरपि प्रमाणत्वेन कुत्रापि न लिखितानि भागवतपद्यानीत्येतैर्हेतुभिस्तथात्वं निश्चीयत इति चेत्—

उच्यते । अहो निखिलपुराणादिप्रमाणगणदिनकरनिकरकिरणप्रकाशेऽपि महामोहान्धकारावृ-तचेतसामलक्ष्यत्वम् । तथाहि— न हि भागवतनिर्णयो लौकिकयुक्त्या भवति केनचित्पौरुषेयमित्यु-क्तेन तस्य पौरुषेयत्वम् । उपपुराण(लक्षण)[illegible] । यथा तत्तत्पुराणनिर्णयस्तथा श्रीभागवतस्यापि पुराणोक्तलक्षणैरेव निर्णयः कर्त्तुं शक्यो नान्यथा । तथा च प्रथमं मत्स्यपुराणे सकलपुराणानां लक्षणकथनपूर्वकमुपस्करसहितं दानमुक्तम् । तत्र भागवतस्यापि दानकथने—

'यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः ।
वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमुच्यते ।
लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमसिंहसमन्वितम् ।
प्रोष्ठपद्यां पौर्णमास्यां स याति परमं पदमि'त्युक्तम् ।

न हि पौरुषेयत्वे तादृक् दातृफलं सम्भवति ।

नारदीयेऽपि,

'तुलसीकाननं विष्णोर्यथा प्रियतमं बहु ।
पुराणं च शुकप्रोक्तं तथा तुलसिचन्दनमि'ति ।

पाद्मे च

'अम्बरीषशुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु ।
पठस्व स्वमुखेनापि यदीच्छसि भवक्षयमि'ति ।

---

१ कोऽस्य कर्तेति न ज्ञायते । २ भागवतपदेति युज्यते ।

स्कन्धपुराणे च ब्रह्माणं प्रति भगवद्वाक्यम्—

'सम्भविष्यामि कलया सत्यवत्यां पराशरात् ।
वेदार्थं चैव वक्ष्यामि सर्वेषां हितकाम्यया ॥
ब्रह्मसूत्रं करिष्यामि सर्वश्रुत्यर्थसिद्धये ।
दर्शयिष्यामि वेदार्थं भारतव्यपदेशतः ॥
वेदशाखासु नष्टासु वेदार्थो भारते कलौ ।
दृश्यते नात्र सन्देहः कर्त्तव्यः केनचित्कचित् ॥
भारते भगवद्गीता श्रुत्यर्थे संशयापहा ।
श्रुतिकल्पतरोः साक्षात्फलं भागवतं विदुः ।
गीतार्थाद्विस्तरेणाहं वक्ष्यामि च विशेषतः ।
तेन रूपेण वेदार्थं यद्वक्ष्यामि तथैव तत् ॥
तयोर्न मन्यते मूढः स पाषण्डी नराधमः ॥
भविष्यति कलौ सृष्टिरासुरी ब्राह्मणेष्वपि ।
ते हि वक्ष्यन्ति वेदार्थमन्यथा हि यथेच्छया ।
कृष्णद्वैपायनाख्यो हि सम्भविष्यामि सर्वथा ॥
इत्युक्त्वाऽजं स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयते'त्युक्तम् ।

अत एव व्यासचरणैरपि श्रुतिकल्पतरुफलरूपत्वेनैवोपक्रमितं 'निगमकल्पतरोरि'त्यत्र । एवं चैतावत्प्रमाणोत्कृष्टधर्मवत्त्वं श्रीभागवतस्यैवोक्तं न तु देवीपुराणादौ कचिद्दृष्टं श्रुतं वा । तादृशे श्रीभागवते पौरुषेयत्वं देवीपुराणत्वं वा वक्तुं कथं तव जिह्वा चलति । चलने वा छिन्ना सती कथं न पतति ।

अन्यच्च हरिवंशेऽप्युक्तम्,

पुराणास्ते पुराणेषु ऋषयः सम्प्रचक्षते ।
श्रूयते चास्य चरितं वेदेष्वपि पुरातनम् ॥
महापुराणात्प्रभृति परं तस्य न विद्यते ।
यथास्य देवदेवस्य चरितं स्वप्रभावजमि'ति ।

अस्यार्थस्तु—पुराणाः प्राचीनाः ऋषयः । तं भगवन्तं लोकवेदप्रसिद्धं पुराणेषु सम्यक् प्रचक्षते । अथ च वेदेष्वपि अस्य चरितं पुरातनं श्रूयते । तथापि महापुराणाच्छ्रीभागवतात्परमुत्कृष्टं कुत्रापि न विद्यते । तत्र हेतुः प्रभृतीति । सृष्टिक्रममारभ्य । अथवा, महापुराणात्प्रभृति महापुराणमारभ्यैव प्रारम्भात्समाप्तिपर्यन्तं साक्षाद्भगवच्चरित्रेणैव सर्वेण त्वन्यत् अन्यत्र खण्डशो निरूपणं महापुराणे सामस्त्येन साधनफलसहितं यादृशं भगवत्स्वरूपं श्रुत्युक्तं वर्त्तते तादृशमेवोक्तमिति भावः । अत एव सर्वपुराणानां मध्ये श्रीभागवतं तु महापुराणम्, दशलक्षणयुक्तत्वात् । सामान्यतः पुराणं,

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥" इत्युक्तम् ।

इदं तु 'अत्र सर्गो विसर्गश्चे'त्यादिदशलक्षणयुक्तत्वान्महापुराणमित्युच्यते । लक्षणोत्कर्षेण धर्मोत्कर्षेण च महत्त्वम्, तदत्रोभयमपीति युक्तमेव महापुराणत्वम् । एतेनापि देवीपुराणपौरुषेयत्वादिशङ्का निरस्ता लक्षणाऽप्रवेशात् । न च पुराणस्य पञ्चलक्षणत्वस्यैव नियमादस्य तु दशलक्षणत्वात्कथमष्टादशपुराणान्तर्गतत्वमिति वाच्यम् । अधिकं तत्रानुप्रविष्टमिति न्यायात्पूर्वं पञ्च लक्षणानि सिद्धान्येव, पञ्चाधिकानि जातानीति तदुत्कर्ष एव सिद्ध इति महापुराणत्वं सिद्धम् । पुराणत्वं तु स्वतः सिद्धमेवाधिकलक्षणेन परं महत्त्वं सम्पन्नमिति समस्तपुराणेभ्योऽप्यधिकोत्कर्षो निरूपितः । एवं सति सुष्ठूक्तं महापुराणात्प्रभृतीति ।

एवं सति पुराणास्तं, पुराणेष्वित्यत्र—समित्युपसर्ग उक्त इति न सङ्गच्छत इति चेत्, न; ते ऋषयस्तु जीवास्तत्तत्कल्पानुसारि भगवच्चरित्रं स्वज्ञानानुसारेण सम्यगेव कथयन्ति, महापुराणकथनं तु भगवता साक्षात्समाधौ लीलासहितं स्वस्वरूपमनुभाव्य स्वस्वरूपेणैव कृष्णद्वैपायनेन कारितमिति तदुत्कर्षः सर्वाधिको निरूपित इति सर्वमनवद्यम् ।

किञ्च, अष्टादशपुराणान्तर्गतत्वं पुराणे सिद्धं नतु कल्पितं येनाऽन्यथा भवेत् । तथाहि वाराहपुराणे—

'ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा ।
तथान्यन्नारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तम् ॥
आग्नेयमष्टमं प्रोक्तं भविष्यं नवमं तथा ।
दशमं ब्रह्मवैवर्त्तं लैङ्गमेकादशं तथा ॥
वाराहं द्वादशं प्रोक्तं स्कान्दं चात्र त्रयोदशम् ।
चतुर्दशं वामनं च कौर्मं पञ्चदशं स्मृतम् ॥
मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डमष्टादशं तथे'ति ॥

मत्स्यपुराणे च सूतवचनम्—

'पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रतं तदिहोच्यते ।
नामस्तत्तानि वक्ष्यामि शृणुध्वमृषिसत्तमाः ॥
ब्रह्मणाभिहितं पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये ।
ब्राह्मं तद्दशसाहस्रं पुराणं परिकीर्तितमि'त्यारभ्य ब्रह्माण्डपुराणपर्यन्तं,
'राजसूयसहस्रस्य फलमाप्नोति मानवः ।
हेमधेन्वा युतं तत्र ब्रह्मलोकफलप्रदमि'त्यनेन ।

तत्र मध्ये 'यत्राधिकृत्य गायत्रीमि'त्युक्तलक्षणसहिता भागवतगणना कृतेति, तदन्तःपातित्वं सिद्धमेवेति भावः ।

विष्णुपुराणे च—

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा ॥
तथान्यन्नारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तमम् ।
आग्नेयमष्टमं चैव भविष्यं नवमं स्मृतम् ।
दशमं ब्रह्मवैवर्त्तं लैङ्गमेकादशं स्मृतम् ।
वाराहं द्वादशं चैव स्कान्दं चात्र त्रयोदशम् ।
चतुर्दशं वामनकं कौर्मं पञ्चदशं तथा ।
मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डं च ततः परमि'ति ।

ननु भागवतस्य महत्त्वं ग्रन्थाधिक्यादेव कथितं भवेदिति चेत्, न; हन्तेदानीमेव निर्णीतमप्यर्थं नानुसन्धत्से । तथाहि—

"पुराणास्तं पुराणेषु पुराणं यं प्रचक्षते" इत्युपक्रम्य,
"महापुराणात्प्रभृति परं तस्य न विद्यते ।
तथास्य देवदेवस्य चरितं स्वप्रभावजम् ।"

इत्युक्तत्वाद्भगवत्प्रभावस्यैव महत्त्वे कारणत्वं नान्यस्येति सर्वमवदातम् ।

अन्यच्च, पठत एकस्य न्यूनाधिकभावेनैव महत्त्वोक्तौ समस्तपुराणेष्वव्यवस्था स्यात् । यत्रैव ग्रन्थाधिक्यं तत्रैव महत्त्वं पर्यवस्यतीति । अत एव साक्षाद्भगवता यदा समाधौ सर्वं ज्ञापितं तदा, तदनुभूय व्यासचरणैर्निरूपितमिति भगवत्सम्बन्धेनैव महत्त्वं नान्यजन्यमिति सर्वं सुस्थम् ।

किञ्च, यथा पुराणानां स्वाधिष्ठातृदेवसम्बन्धित्वेन नाम प्रसिद्धं 'ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं चे'त्यादि, तथा भागवतस्यापि भगवत्सम्बन्धित्वेनैव तथात्वमित्यलं विस्तरेण ।

यत्र पुराणदानप्रस्तावे सिंहसमन्वितत्वेन दानकथनादेवीपुराणत्वमुच्यते । तत्रापि शृणु । निर्णयः प्रकरणानुसारी कर्त्तव्यः । न भोजनसमये सैन्धवमानयेत्युक्तेऽश्वानयनमुच्यते । किन्तु लवणमेव । तथा च मत्स्यपुराणे समस्तपुराणानां दानं कथितम्, तत्र यथा, समस्तपुराणानां तत्तदुपस्करसहितं दानं कथितम्, तथा भागवतस्यापि हेमसिंहसमन्वितं दानमुक्तम् । नैतावता सिंहपदमात्रेण देवीपुराणत्वं वक्तुं शक्यम् । यतः पूर्वं 'यत्राधिकृत्य गायत्रीमि'त्युक्तलक्षणकथनेन निश्चयं कृत्वाऽग्रे दानमुक्तम् । तथा सति सिंहपदस्यान्य एवाऽभिप्रायः । तथाहि— हेम्नः सिंहा यत्र चतुर्ष्वपि पादेषु तादृशं सिंहासनं, तेन समन्वितम् । एतेन तत्र श्रीभागवतपुस्तकं प्रतिष्ठाप्य पूजां कृत्वा दानं कुर्यादिति विधिर्निर्दिष्ट इति भावः ।

नन्वास्तामन्यत् । श्रीधरस्वामिना ससंशयमुक्तं 'भागवतं नाम नान्यदि'ति । तत्राप्युच्यते । अहो निखिलपुराणादिप्रमाणशार्दूलनिकरभयात्पलायितस्य बालमृगस्येव तव स्वगतिरपि विस्मृता, यतस्तृणगुल्मपार्श्वमवलम्बितुमिच्छति । रे मूढ श्रीधरस्वामिभिरपि त्वादृशानामेव मुखमर्दनार्थं निःसन्दिग्धतया तथोक्तम् । नहि वेदानां प्रामाण्यविचारोपक्रमेणैवाऽप्रामाण्यं भवति । तदा तु मीमांसकाः समस्तवेदोच्छेदका एव भवेयुः । यथेदानीं भ्रमस्तथा तत्समयेऽपि कलिकालजनितमहामोहविहितासुरावेशभ्रान्तानां बहूनां भविष्यतीति तेषां निःसन्दिग्धत्वज्ञापनाय प्रमाणपूर्वकं तथोक्तमिति सर्वमवदातम् ।

यच्चोक्तम्, प्राचीननिबन्धेषु श्रीभागवतवचनानि नोपलभ्यन्ते तत्राप्युच्यते । एतावत्कुतर्कैः साक्षाद्भगवति पूर्णे ब्रह्मणि द्वेषपरिवेष्टितैव बुद्धिर्विदिता भवति । यतो वैकुण्ठादागतस्य साक्षान्नारायणमुखाद्ब्रह्मणा प्राप्तस्य, ततोऽपि नारदादिभिः परम्परया मुव्यागतस्य भागवतस्य यथाकथञ्चित् पौरुषेयत्वं साधनीयम् । तत्त्वेवमलौकिकपदार्थस्य लौकिकत्वं भवति । शृणु, निबन्धेषु वचनानि न सन्तीत्येतावन्मात्रेण भागवतस्य लौकिकत्वं वदसि । तत्र तावद्विचारय निबन्धेषु केषां धर्माणां विचारः कृतो वर्तते । यदि वदसि प्रवृत्तिधर्माणाम् । नहि भागवते प्रवृत्तिधर्माः, किन्तु निवृत्तिधर्माः । तत्रापि परमधर्मा इति न तद्वचनविषयास्ते निबन्धा इति न लिखितानीति, नैतावता तथात्वं भवितुमर्हति । पूर्वमेवाऽनेकप्रमाणेन सिद्धत्वात् । किञ्च, निबन्धेष्वपि सन्ति वचनानि । तत्र प्रथममखिलप्रमाणमूर्धनि हेमाद्रौ व्रतखण्डारम्भे,

'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतमि'ति प्रथमस्कन्धीयपद्यमुदाहृतम् ।

तथा च प्रतापमार्तण्डेऽपि भक्तिप्रसङ्गे । अन्येष्वपि निबन्धेषु वैष्णवनिबन्धेषु च बहूनि सन्तीति किमतोऽधिकं वाच्यम् ।

नन्वेवं प्रमाणैः श्रीभागवतस्य महापुराणत्ववदलौकिकत्वमष्टादशपुराणान्तर्गतत्वं च साधितम् । परन्तु,

'अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः ।
भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहितम्' ॥

इत्युक्तयाऽष्टादशपुराणाऽनन्तरं भारतं कृतमिति निरूपितम् । भागवते तु भारतानन्तरं चित्तशुद्धौ नारदोपदेशे समाधावनुभूय भागवतं कृतमित्युक्तम् । एवं सति भारतानन्तरकरणेऽष्टादशपुराणमध्यपातित्वं न सम्भवति, तन्मध्यपातित्वे तदनन्तरकृतिर्न सम्भवतीति चेत्? उच्यते, श्रीभागवतमनेकरूपेण भूमौ प्रकटम् । प्रथमं नारायणमुखात्प्रकटं सूक्ष्मभूतम् । ततो ब्रह्ममुखात्सूक्ष्ममेव । ततो नारदद्वारा । एवं परम्पराप्राप्तं तत्तत्कल्पेषु । तत्रान्यकल्पेषु व्यासोऽपि जीव एव । भगवच्चरित्राण्यपि तत्तत्कल्पानुसारीणि विभूतिरूपाण्येव । व्यासोऽपि स्वाधिकारानुसार्येव श्रीभागवतं निरूपितवान् । भगवतः स्वरूपाज्ञापनात् । अत एवाग्रे मनसो न प्रसादः । यदा पुनर्भगवान्साक्षात्स्वयं पूर्णस्वरूपाविर्भावं कृत्वा भक्तानामानन्ददानार्थं सारस्वतकल्पीयां लीलां कृतवान् तच्चरित्रात्मकं श्रीभागवत प्रकटयितुकामः साक्षात्स्वरूपात्मकः कृष्णद्वैपायनो व्यासः स्वयमेव प्रकटीबभूव । ततः पुनः समाधौ सर्वं स्वचरित्रं ज्ञापितवांस्तदा । पुनरिदानीं व्यासचरणैर्विस्तरेण निरूपितम् । पूर्वं यथा भारतकरणेऽपि गीतार्थो न स्फुटो जातः यदा पुनः,

'अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयान् ।
पुरुषो मायया बद्धो मोचनं भक्तिहेतुकम्' ॥

इति समाधावनुभूतं तदा गीतार्थोऽपि स्फुरितः । अत एव तद्विस्तारत्वेन भागवतम् । एवं सति भागवतस्यापि पूर्वं स्वाधिकारानुसार्येव ज्ञानं जातम्, न तु यथार्थस्वरूपम् । पश्चाद्भगव-

क्रुपया सारस्वतकल्पानुसारिचरित्रस्य यथा स्वरूपं तादृशं ज्ञानं जातमिति तद्विस्तारेण पुनः
कथितमिति न कश्चित्पूर्वपक्षावसर इति सर्वमनवद्यम् ।
इदानीमपि श्रीभागवतं सर्वैः स्वाधिकारानुसारेणैव व्याख्यायते । श्रीमदस्मदाचार्यैर्यद्व्याख्यातं
तत्सारस्वतकल्पानुसारेणैवेति सर्वं सुस्थम् । अत एव नारदेनापि व्यासं प्रति तथैवोक्तम् ।

'यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुवर्णिताः ।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णित' इति ।

तेन समाधावनुभूतस्यैव कथनम् । विशेषकथनं तदेवानुवर्णनम् । वर्णनं तु पूर्वमपि कृतमे-
वेदानीं विस्तरतो वर्णनमेवानुवर्णनमित्यर्थः । अत एवाऽन्वित्युपसर्गकथनम् । अनेनाष्टादशान्तर्ग-
तमेव भागवतं पुनर्विस्तरेणानुवर्णितमिति न किञ्चदनुपपन्नम् । तथा चात्र पूर्वोक्तानि स्कन्दपुरा-
णोक्तानि ब्रह्माणं प्रति भगवद्वाक्यान्यनुसन्धेयानि । 'सम्भविष्यामि कल्पे'त्यारभ्येत्युक्त्वा 'अजं स
भगवानि'त्यन्तम् । तत्र वेदार्थप्रदर्शनं ब्रह्मसूत्रकरणं गीतार्थाद्विस्तरेण भागवतकथनं स्वकर्तृकमेव
प्रभुः कथयति नान्यकर्तृकमिति वक्ष्यामीति क्रियया ज्ञाप्यते । अत एव नारदेनापि 'न तथा
ह्यनुवर्णित' इत्येवोक्तं न तूपदिष्टम् । यतो भगवज्ज्ञापितमेव तज्ज्ञातं भवति नान्यथेति । एवं सति
जीवरूपेण तादृशं भागवतं कथं वक्तुं शक्यमत एवापरितोषः । भगवता ज्ञापिते तद्विस्तरकथन-
मेवानुवर्णनमुच्यत इति सर्वमवदातम् ।

इति श्रीमद्भागवतप्रमाणभास्करो नाम निर्णयः सम्पूर्णः ॥

॥ श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितमूर्तये नमः ॥

सागरस्थ श्रीगङ्गाधरभट्टप्रयुक्ता

दुर्जनमुखचपेटिका

पं० कन्हैयालालविरचितया
प्रहस्तिकाव्याख्यया सहिता ।

॥ श्रीहरये नमः ॥

श्रीमद्भागवतन्नाम पुराणं विष्णुसन्निभम् ।
कलौ यत्कीर्तनान्नान्यत्साधनं परमार्थदम् ॥ १ ॥
पाषण्डाकुलकल्मषाः कुकृतिनो निन्दन्ति ये वैदिकान्
तेषां भागवते प्रतीपमतिता युक्ता हि तन्मूलके ।
तद्वाक्क्ष्वेडनिषेवणास्तधिषणा ये दैवसर्गे स्थिता
मा भूवन्निति मे विचाररचना पीयूषवाचः श्रुतिः ॥ २ ॥

तत्र तावत्केनचिद्भट्टोपनामककाशीनाथेन श्रीमद्भागवताख्ये महापुराणेऽनार्षत्वमुद्भावितम्, तन्निराकारिष्यन्तस्तस्य भेदत्वादनादेयवाक्यत्वं गङ्गाधरभट्टाः प्रतिजानन्ति । तत्र महाभाष्यादिसम्मतं ग्रन्थादौ मङ्गलमाचरन्ति शिष्यशिक्षार्थं श्रोतृवक्तॄणामभ्युदयार्थं च **श्रीहरय इति** । **हरति** दुःखानीति हरिः, श्रिया युक्तो हरिः श्रीहरिः, तस्मै गुरुरूपिणे नमः । **गुरुरूपिण एव हरेर्दुःखदूरीकरणसमर्थत्वात्** । "जनानामुपकाराय गुरुरूपी जनार्दनः । **हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन"** इति देवीभागवते इति ॥ नहि केवलभागवतपदं शाक्तभागवतपरं **भवितुमर्हति**, भागवतपदस्य वैष्णवपरत्वेनैव व्यवहारात् । "एतानहं परमभागवतान्नमामी"त्यादौ **तथादर्शनात्**। नहि शाक्तिकेषु क्वचिदपि भागवतपदं श्रूयते । तस्माद्धर्मग्राहकमानेनैव भागवतपदं **प्रसिद्धभागवतपरमेव** । किञ्च, रूढिर्योगमुपहरति इति न्यायात् केवलयौगिकार्थो न तत्र युक्तः । **पुराणेषु** श्रुतं भागवतपदं प्रकृतभागवतमेव गमयति । श्लोक इति । या विश्वं वितनोति पालयति **या संहर्त्ति** कल्पक्षये इत्यादिमश्लोक एव संहरतीति । हृञ्–हरणे, इति भौवादिकत्वाद्धरतीति **प्राप्तम्** । "स्थालीपुलाक" इति एकस्मिन्नपि तण्डुलादौ परिचिते पक्वापक्वज्ञानं जायते । **एवमिहापि** सर्वमपि "प्रथमग्रास एव मक्षिकापाते ग्रासान्तरे तु छर्दिरेवे"त्यपि ज्ञेये **सर्वमप्रतिबद्धमिति भावः** ॥

देवीभागवतप्रतिपादनश्लोके संहरति तावदशुद्धम् । तेन स्थालीपुलाकन्यायेन **सर्वमपि** तादृशमिति ज्ञेयम् ॥

---

१ इयं चपेटिका अन्या, रामचन्द्राश्रमस्य चान्या, प्रहस्तिकाकारेणैव रामचन्द्राश्रमस्य पृथक्तया स्वीकृतत्वात् ।

तथाहि न तावत्पञ्चलक्षणानि दशलक्षणान्यतिवर्तन्ते ।
यतो, पञ्चलक्षणतया श्रीभागवतस्य तत्त्वमपेयात् ।
अष्टादशपुराणानि कृत्वेति वचनान्न क्त्वान्तमपि तु
क्वनिबन्तं कर्त्रेत्यर्थान्न विरोधोऽणीयानपि ॥ ३ ॥

तदेवोपपादयन्त आहुः—**तथा हि न तावदिति** । यत्तेनोक्तं पुराणं पञ्चलक्षणमिति लक्षणाद्दशलक्षणस्य श्रीभागवतस्य कथं पुराणत्वमिति? तत्रोच्यते, गन्धवती पृथ्वीति लक्षणे जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दशेत्युक्त्या चतुर्दशगुणशालित्वेऽपि न व्यभिचारः । असाधारणस्यैव लक्षणकत्वात् । दशलक्षणे भागवते प्रकृते लक्षणानां सत्त्वात्सर्गादिरूपाणामधिकसत्त्वे बाधकाभावात् । न हि "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणमि"त्यत्र तावन्मात्रमेव नियम्यते । किन्तु, गन्धसत्तावद्भूम्यां पुराणेषु पञ्चलक्षणत्वं विधीयते । पञ्चलक्षणानि दशलक्षणेषु न हीयन्ते । अपञ्चमात्रलक्षणेऽपि भागवते दशलक्षणानां सत्त्वात् । द्वयोर्नैकप्रतीतेः । श्रीभागवतस्य तत्त्वं पुराणत्वम् । किञ्च, कोशलक्षणमपि प्रायिकम् । औषध्यः फलपाकान्ताः इति यावत् । शीतादिनाप्यौषधिना विना दर्शनात् फलपाकान्तत्वस्यान्यत्रापि सत्त्वात् । नामपक्षे तु तत्रापि तद्वक्तुं शक्यत्वाददोषः । किञ्च, पञ्चलक्षणं पुराणजातमित्यपि नियमाभावः । भविष्याग्निपुराणयोः व्रतकर्मणोरेव विस्तृतत्वात् । विष्णुपुराणेऽपि षडंशेष्वपि षड्लक्षणोक्तेः भारतादिष्वतिव्याप्तेश्च प्रायिकमेवेति निश्चयः । किञ्च, ब्रह्मवैवर्त्ते कृष्णखण्डे समाप्तिसदेशे । "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ तदल्पपुराणानां लक्षणं तु विदुर्बुधाः । दशाधिकं लक्षणं च महतां परिकीर्तितम्" इत्युक्तेर्न शङ्काकलङ्कः कश्चित् । न च महत्सु स्कान्दपाद्मादिषु तत्त्वमस्त्येवेति निश्चीयते कथं तेषां तथात्वमिति वाच्यम्, पञ्चलक्षणत्वमेवास्येति अप्रतिज्ञातत्वात् ॥२॥

ननु "अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः । भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहितम्" ॥ इत्युक्तेः, श्रीभागवतस्य तु "कृतवान्भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितमि"त्याद्युक्त्या भारतोत्तरत्वमायाति । कथमष्टादशान्तर्गतत्वम्? तत्राहुः—**अष्टादशेति** । "राजयुनि युधि कृञ" इति सूत्रे कृञ इति योगविभागात्क्वनिप्, तुकि च कृते कृत्वेति सिद्धम् । किञ्च, स्कन्दमत्स्यपुराणयोः प्राचीनपुस्तकेषु कर्त्रेति पाठान्न दोषः प्रसक्तिः । किञ्च, "अष्टादशपुराणानि, अष्टौ व्याकरणानि च । ज्ञात्वा सत्यवतीसूनुश्चक्रे भारतसंहिताम्" इति भविष्यप्रथमाध्यायाद्भारतेऽष्टादशपुराणार्थतात्पर्यस्य सत्त्वात् । पूर्वापरभावोऽर्थकृतः, नतु पाठकृतः । तेषामनादिसिद्धत्वस्य मात्स्ये "पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणोदितम् । नित्यं शब्दमयं ब्रह्म शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः । पुराणमेकमेवासीत्तस्मिन्कल्पान्तरेऽनघ ॥ इति कीर्तनाद्वेदेऽपि पुराणेतिहासानां महतो भूतस्य निःश्वसितत्वेऽनादित्वख्यापनात् । भारतेऽपि—"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचिदि"त्युक्तेरप्युक्तोऽर्थः सिद्ध्यति । ननु

यदि च देवीभागवतमात्रवचसा श्रीभागवतस्याष्टादशान्तर्गतत्वमलीकभावमनुवर्तेत । तदा द्वादशस्कन्धे पुराणान्युपक्रम्य, "इदं वै ब्रह्मणा पूर्वमि"ति श्रीभागवतवाक्येन देवीभागवतस्यैव तत्त्वं किं न स्यात् ॥ ४ ॥

भारतीया तु कल्पान्तरीया, श्रीभागवतीया तु सारस्वतकल्पीया, अतो न विरोधः ।

भारतेऽपि निर्विण्णोत्तरं व्यासो भागवतं चकारेति भागवतोत्कर्ष एवमर्थवाद एव स्यादिति चेन्न, अष्टादशपुराणानि भारतं च पूर्वमेव सिद्धम् । परन्तु व्यासस्य परितोषार्थं सर्वेषामुत्तरे स्फुरद्रूपमभूदिति माहात्म्यमुच्यते । किञ्च, पाठकृतपौर्वापर्यस्वीकारे भविष्यमार्कण्डेयाग्निपाद्मादीनामपि तथात्वं स्यात् । तथाहि मार्कण्डेयारम्भे जैमिनिवाक्यम्—"तदिदं भारताख्यानं बह्वर्थपरिगर्भितम् । तत्त्वतो ज्ञातुकामोऽहं भगवंस्त्वामुपागतः" इत्युक्तेः । भारतोत्तरत्वं मार्कण्डेयेऽप्यागतम् । "गीतासारं प्रवक्ष्यामि सर्गगीतोत्तरोत्तरम्" इत्युक्तेः । अग्निपुराणेऽपि तथात्वमापतितम् । "गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः । या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता" इत्युक्तेः पाद्मस्यापि तथात्वं भवेत् । किञ्च, देवीभागवते तृतीये "वेदशाखा पुराणानि वेदान्तं भारतं तथा । कृत्वा सम्मोहसम्मूढोऽभवद्राजन् मनागपि" इति । तथाप्यष्टादशबहिर्भावमागतमुभयोर्यत्समो दोषः परिहारोऽपि तादृश इत्यलम् ॥ ३ ॥

ननु देवीभागवते—"अष्टादशसहस्रं वै पुण्यं भागवतं किल" ॥ "श्रीमद्भागवतं पुण्यं सर्वदुःखौघनाशनम् । श्रुत्वा भागवतं पुण्यं मुच्यते भवसङ्कटात् ॥ पञ्चलक्षणसंयुक्तं विद्याविलसितान्वितम्" इत्यादिवचनैः देवीभागवतस्यैव पुराणत्वमित्यत आहुः **यदीति**—"इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे । स्थिताय भवभीताय कारुण्यात्सम्प्रकाशितम्" ॥ इत्यादिवाक्यकदम्बेन देवीभागवतस्य तत्त्वमनार्षत्वम् । किञ्च, देवीभागवते—सूत उवाच "शृण्वन्तु सम्प्रवक्ष्यामि पुराणानि मुनीश्वराः । मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् । अनापलिङ्गकूमार्कं पुराणानि विदुर्बुधाः" ॥ इत्यत्र व्याख्याने—"अष्टादशसहस्रं तु पुण्यं भागवतं किल" इति भागवतमुक्त्वा, तदग्रे "तथैवोपपुराणानि शृण्वन्तु मुनिसत्तमाः" इत्यादिना माहेश्वरं भागवतं वाशिष्ठं च सविस्तरमिति भागवतद्वयस्य कण्ठरवेणोक्तत्वात् । तत्पक्षे कथमस्यापलापः । किञ्च, "तत्र भागवतं पुण्यं पञ्चमे वेदसम्मितम्" इति देवीभागवते पञ्चमभागवतस्य वेदसम्मितत्वमुक्त्वा, तस्य तु पञ्चमत्वं नोक्तम् । ततः श्रीमद्भागवतस्य पञ्चमत्वं समायाति । तथाहि द्वादशे—"ब्राह्मं दशसहस्राणि पाद्मं पञ्चोनषष्टि च । श्रीवैष्णवं त्रयोविंशच्चतुर्विंशति शैवकम् ॥ दशाष्टौ श्रीभागवतं नारदं पञ्चविंशतिः" इत्युक्तेः । श्रीमद्भागवते तु भागवतमेकमेवोक्तम् । तत्पक्षे देवीभागवतस्यापलापः सम्भवति ॥ ४ ॥

ननु भारते भीष्मेण श्रीशुकस्य मुक्तिरुक्ता परीक्षिच्छुकसमागमो नोक्तः । किञ्च, विष्णुपुराणे—"मायामोहनात्मकपुरुषस्य विष्णुशरीरादुत्पन्नस्य बुद्धावतारत्वमुक्तम् "मायामोहस्वरूपोऽसौ बुद्धो दनुसुतोऽभवत्" इत्यादिविरोधान्न भागवतं प्रमाणमित्यत आहुः—**भारतीयेति** ।

शान्तिपर्वणि, अपि, अत एव बृहद्वामनपुराणे श्रुतिभिर्निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारेऽर्थिते श्रीवृन्दावनलीलाप्रदर्शने भूयस्तत्स्वरूपोपभोगप्रार्थने "कल्पे सारस्वते प्राप्ते व्रजे गोप्यो भविष्यथ" इति हरिवाक्यम् । मात्स्येऽपि, "सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरामराः । तद्वृतान्तोद्भवं लोके श्रीभागवतमिष्यते" इति । एवं महाभारतभागवतयोर्विरोधान्तरं च परिहरणीयम् ॥ ५ ॥

कल्पान्तरीया नाम वाराहकल्पीया । शान्तिपर्वणि शुकमुक्तिकथनेन । **अपीति** । परीक्षिच्छुकसम्वादेनापि । किञ्च, भारते शुकमुक्तिरुक्ता, सा जीवन्मुक्तिरूपेति तट्टीकायामुक्तम् । अन्यथा "अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च । अहं वेद्मि शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा" इति भारत एव विरोधः प्रसज्जेत । ननु जीवन्मुक्तस्य कथं परोपदेशादिकं सम्भवति इति चेन्न, सनकादिवत्सम्भवात् । किञ्चान्यथा, शुकजातकज्योतिर्निबन्धकर्तृत्वानुपपत्तिश्च । तदुक्तम्—"श्रीमद्भागवतं शुकास्यगलितं यच्छ्रीधरस्वामिना । सुव्यक्तं क्रियते गणेशकविना गाथोक्तितज्जातकम्" इति । "नारायणं पद्मभुवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्सूनुपराशरं च । व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥ श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्" इति गुरुपरम्परायां मुक्तिः परीक्षित्पर्यन्तमनुवृत्तिरुपदेशश्च न सम्भवति । 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युपक्रमे' इति भागवत एव तत् समाधानात् । भारते तक्षकदग्धस्यापि परीक्षितराज्ञो राज्यासक्तस्य निर्वाणवर्णनं भागवतोपदेशमनुमापयति । किञ्च, "छायां स्वपुत्रसदृशीं सर्वतो नवगां मम । द्रक्ष्यसे त्वं च लोकेऽस्मिन्मत्प्रसादान्महामुने" इति भारत एव छायाशुकस्योक्तत्वात्तद्द्विवीचापरो(?)मुक्तो व्यासभार्यासम्भूतोऽरणीसम्भूतो यः स च जीवन्मुक्तः तेनैव भागवतं कथितं नतु छायाशुकेन । स वै निवृत्तिनिरत इत्यादिषु तद्दर्शनात् । "ततोऽगादाश्रमं साक्षात्पितुर्द्वैपायनस्य मे" इत्यत्र साक्षात्पितुरित्युक्तेः । "स कृत्वा शुककन्यायां ब्रह्मदत्तमजीजनत्" इत्यनेन च छायाशुकः पृथङ्निर्दिष्टः । भागवतमेव सारस्वतकल्पीयम् । तत्र मानमाहुः—**अत एवेति** । बृहद्वामनपुराणे उत्तरभागे भृगुब्रह्मसम्वादे श्रुतीनां वाक्यम् । "नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत । सगुणं ब्रह्म सर्वेदं वस्तुबुद्धिर्न ते पुनः । तद्रूपं दर्शयास्माकं निर्गुण प्रकृतेः परम्" ॥ ततः श्रीवृन्दावनचन्द्रः स्वीकृत्य श्रीवृन्दावनं दर्शयामास । तत्र कोटिकन्दर्पदर्पहरस्वस्वरूपदर्शनक्षमितान्तःकरणाः प्रत्याह—"आगामिनि विरञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यति । कल्पं सारस्वतं प्राप्यं व्रजे गोप्यो भविष्यथ" ॥ इति हरिवाक्याच्छ्रुतिरूपागोपिकार्थं सारस्वत एवावतीर्णस्तद्दत्तं तं तस्मिन्नेवास्तीति भावः । ननु "अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः । यथा पुरस्ताद्व्याख्यास्ये पाद्मं कल्पमथो शृणु" इति भागवतोक्तेः सारस्वतकल्पो भागवते न प्रतीयते इति चेन्न, "वाराह इति व्याख्यातो यत्रासीच्छूकरो हरिः" इति तदुक्तं तावन्मात्रस्यैव तत्परत्वं न तु सर्वस्य । ननु "कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ" इति तत्कथानकं गिरिराज खण्डे एवास्तु इति

नाप्यन्यद्भागवतं नामाशङ्कनीयमिति शङ्का, येन, सकलाचार्यसम्मतस्य श्रीभागवतस्यान्यथाभावो भवितुमीष्टे ॥ ६ ॥

चेन्न, "रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य चे"त्यादिना ब्रह्मवैवर्तस्य तत्कल्पविषयत्वमुक्तम् । मात्स्ये पुराणेषु च स्वस्वकल्पव्यवस्थानुक्तत्वेऽपि मात्स्यस्यैव व्यवस्थापकत्वमास्ताम् । **विरोधान्तरं चेति** । विष्णुपुराणादीनामित्यर्थः । यदुक्तं पुराणान्तरे—"मायामोहनात्मकपुरुषस्य बुद्धत्वम्" । श्रीभागवते तु "बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीटकेषु भविष्यति" इति । तदपि कल्पभेदेन समाधेयमन्यथाऽऽर्षशास्त्रमात्रस्यैव परस्परविरुद्धतया हेयत्वं स्यात् । तथाहि—वैष्णवेषु पुराणेषु विष्णोः सृष्टिरभवदित्युच्यते । शैवशाक्तिकसौरगाणपत्यादिषु तत्तद्देवेभ्य इति । किन्तु, देवीभागवते महान्विरोधः, देवीकृतवृत्रवधोक्तया सर्वपुराणेभ्यः स्मृतिभ्यस्तन्त्रेभ्यश्च वेदेभ्यश्च । ऋग्वेदे माध्यन्दिने च "वृत्रं हन्ति वृत्रहा शतक्रतुः", तैत्तिरीयेऽपि "इन्द्रो वृत्रं जघ्निवान्", "इन्द्रो वृत्रं हत्वा", "इन्द्रो वृत्राय वज्रमुधच्छदि"त्यादिवेदविरोधाद्वेदविरुद्धा स्मृतिर्नादेयेति देवीभागवतं वैदिकानादेयमिति फलति ॥ ५ ॥

ननु, श्रीधराचार्येणैवान्यद्भागवतमिति नाशङ्कनीयमित्यनेनैव वैष्णवाभिमतभागवते शङ्कासद्भावस्योक्तत्वात्, न निर्मूला प्रसिद्धिरिति न वैष्णवाभिमतं भागवतं प्रमाणमित्यत आहुः—**नाप्यन्यद्भागवतमिति** । तत्रानाशङ्कनीयहेतुः **सकलाचार्यसम्मतस्येति** । तत्र श्रीशङ्कराचार्याणां गोविन्दाष्टके मृत्सामत्सीहे"ति यशोदा ताडनशैशवसन्त्रासमित्युक्तेर्भक्षणलीलायाः पुराणान्तरेऽप्रसिद्ध्या सिद्ध्यति । शङ्कराचार्याणामस्मिन्नेव भागवते सम्मतिरित्यादिना सम्मतिरित्यादिना सर्वाचार्यसम्मतिः रामचन्द्राश्रमकृतदुर्जनमुखचपेटिकायामस्तीति नेह तन्यते । ननु श्रीधरेण कथमाशङ्कितमिति चेच्छृणु । देवीपुराणारम्भे—"नमस्कृत्य शिवां देवीं शर्वं भागवतं तथा । पुराणं सम्प्रवक्ष्यामि यथोक्तमृषिसत्तमैः" इति पाठेन तस्यैव भागवतत्वं केचिच्छाक्तिका मन्यन्ते । तन्निरासार्थमेवोक्तलक्षणाभावान्मात्स्यविरोधात्तद्भागवतं नाशङ्कनीयमिति श्रीधराभिप्रायः । ननु तत्रत्यभागवतपदस्य का गतिः । शर्वविशेषणत्वेन चरितार्थत्वम् । यद्वा, भागवतं भगवतोऽशं व्यासं पुराणाचार्यत्वात्तथाशब्देन सम्बन्धादेतदेव युक्ततरम् । किञ्च, आदित्यपुराणपरतया । "ततो भागवतं प्रोक्तं भागवद्द्वयविभूषितम् । ददाति सूर्यभक्ताय यस्तु भागवतं द्विजाः । जीवेद्वर्षशतं साग्रमन्ते वैवस्वतं पदमि"ति । यदन्यत्र चोपपुराणेष्वेतत्परतया भागवतपदम्, तदेव निरस्यते । यदि शङ्कामात्रस्यैव वस्तुकलङ्कत्वं स्वीकुरुषे, तदा तु, "त्रयो वेदस्य कर्तारो मुनिभण्डनिशाचराः" "वेदं कालासुरकृतम्" इति शङ्कायाः सत्त्वाद्वेदं पौरुषेयमिति तार्किकादीनां शङ्का समाधानानां जागरूकत्वात्तत्रापि तथात्वं किं न भवेत्? किञ्च, संशोधितपुस्तकेषु नान्यद्भागवतमिति पाठान्न चोद्यम् ॥ ६ ॥

३ त०दी०नि०परि.

गायत्र्यर्थप्रतिपादकत्वं गायत्र्युद्धारकत्वञ्च श्रीधरीयभावदीपिकाप्रकाशे व्यवस्थापितं तत एवावधीयताम् ॥ ७ ॥

ननु मात्स्ये—"यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः" इत्यादिना भागवतलक्षणमुक्तम्। गायत्रीछन्दसारम्भस्तु देवीभागवत एव सत्त्वात्तदेव भागवतमित्यत आहुः—**गायत्र्यर्थे**ति। गायत्र्या च समारम्भो० । गायत्रीपदं । गायत्रीप्रतिपाद्यार्थपरम्। शब्दार्थयोरर्थस्यैव प्राधान्यम्। यथाऽऽकृष्टीयया हंसवत्यावत्यावेत्यापस्तम्बसूत्रम्। तेषां चासत्येनेति पाठात्। अन्यथा। "गायत्रीभाष्यरूपोऽयं श्रीमद्भागवताभिधः" इत्यनेन विरोधः। यत्राधिकृत्य गायत्रीमित्यत्राधिकारशब्द उत्तरोत्तरान्वयवाची। यतो मात्स्येऽस्मिन्प्रकरणे "वाराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः। यत्राह धर्मानखिलांस्तदुक्तं वैष्णवं विदुः॥ यत्राधिकृत्य माहात्म्यमादित्यस्य चतुर्मुखः। भविष्यच्चरितप्रायं भविष्यं तदिहोऽच्यते" इत्यादिषु ग्रन्थान्वितार्थस्यैवाधिकारशब्देन निरूपणात्। तच्च, प्रकृतभागवत एव घटते तद्भाष्यरूपत्वात्। किञ्च, देवीभागवतेऽपि प्राचीनपुस्तके "सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि। यया व्याप्तमिदं सर्वं बुद्धिं सा नः प्रचोदयात्" इति पाठेन छन्दोलक्षणस्यानन्वयात्। किञ्च, अधुना त्रिपादपाठेऽपि षडक्षरपादविश्रान्तिरूपगायत्रीलक्षणाभावो दुःपरिहरः। यदि मूलमन्त्रेऽपि तथेति चेन्न, अत्र छन्दसः पारिभाषिकत्वमेव। अन्यथा त्रिपादत्वभङ्गापत्तिः। किञ्च, पराशरस्मृतौ "त्र्यम्बकमिति चैवात्र वासिष्ठस्यार्षमुच्यते। देवतोमापतिर्यत्र छन्दस्त्रिष्टुप्प्रकीर्तितम्" इति तत्रानुष्टुप्सत्त्वेऽपि त्रिष्टुबुक्तिर्नान्यथा घटते। श्रीधरीयप्रकाशे सागरस्थबालकृष्णगुरुचरणविरचिते विशदतया प्रतिपादितत्वात्। तत्र जन्माद्यस्य यत इत्यनेन सवितुर्देवस्य परमिति, वरेण्यमित्यस्य स्वराडिति, भर्ग इत्यस्य धाम्ना स्वेन, सदेत्यादितृतीयपादस्य विवरणमिति रीत्या वर्तते। न च देवीभागवतं धीमहि प्रचोदयादिति पदद्वयघटितत्वेन प्रतिपदोक्तत्वेन कुतो न गृह्यते, यतो गायत्रीषु सर्वत्र तयोर्घटकत्वादिति वाच्यम्। यत्र यत्किञ्चिद्गायत्रीस्थपदघटिता श्रुत्यादिसम्मतानुकल्पगायत्रीति लक्षणं वाच्यम्, न तु धीमहि प्रचोदयादिति पदद्वयघटिता विद्महे पदस्य तत्र नियमदर्शनात्। यद्वा, कात्यायनैः, ब्राह्मणं त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यमथवा सर्वेषां च गायत्रीत्युक्तम्। तत्र तेषु मन्त्रेषु ता१ सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्। यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीना१सहस्रधारां पयसा महीं गामत्र सवितुर्वरेण्यस्येति। विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। विनाकमख्यत्सविता वरेण्यो अनुप्रयाणमुषसो विराजतीत्यत्र च गायत्र्या त्रिष्टुप्जगत्या त्रयाणामुपनायनम्। गायत्र्यामविशेषो वा मुञ्जादिष्वपरेषु चेति। यत्किञ्चिद्गायत्रीमन्त्रस्य पदमादायैव गायत्रीत्वव्यवहारस्य पराशरेणोक्तत्वात्। क्षत्रियगायत्री वैश्यगायत्रीति प्रसिद्धेश्च। वैदिकेऽनुष्ठानमन्त्रे तथा दर्शनाच्च। तस्मादत्रापि धीमहीति पदमादाय तद्व्यवहारे दोषाभावः। अर्थपक्षे तु श्रीमद्भागवत एव लक्षणसमन्वयः। **धियो यो नः प्रचोदयादिति**। य इति पुल्लिङ्गनिर्देशात्तेने ब्रह्म हृदा य इति पुल्लिङ्गविवरणात्। "यो देवः सविताऽस्माकं धियो धर्मादिगोचरे। प्रेरयेत्तस्य तद्भर्गस्तद्वरेण्यमुपास्महे"

अपि च वृत्रासुरवधोपलक्षितस्य भागवतत्वं तु वृत्रासुरस्य परमभक्तत्वादिति अनुसन्धत्स्व। न चासुरस्य देवीभक्तत्वं दृष्टं तत एव श्रीमद्भागवतमेव तद्विषयमिति गम्यते ॥ ८ ॥

हयग्रीवब्रह्मविद्याऽत्राऽपि श्रीनारायणवर्मरूपा षष्ठस्कन्धे चकास्तीति न, तदभावप्रयुक्तं श्रीभागवतस्य लक्षणानन्वितत्वं वक्तुं केनापि शक्यते नाम ॥ ९ ॥

इति स्मृतेश्च। किञ्च—"अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः। गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ श्रीमद्भागवताभिधः" इति गारुडोक्तलक्षणस्यात्रैव घटितत्वात्। जन्माद्यस्य यतः इत्यादिसूत्रविवरणदर्शनात्। अथवा गायत्र्या च समारम्भ इति गायत्रीमन्त्रं पठित्वा समारम्भः कार्य इत्यर्थः। "अथवा हवनं कुर्याद्गायत्र्या सुसमाहितः, तन्मयत्वात्पुराणस्येति" पाद्मवचनात् ॥ ७ ॥

ननु वृत्रासुरवधोपेतमिति लक्षणस्य श्रीमद्भागवतावतारकत्वं कथम्? कंसासुरवधस्य तदवतारकत्वात्तदेव वाच्यम्; देवीभागवते तु सकलागमप्रतिपादितदेवीकर्तृकवृत्रवधकथनाद्भगवत्त्वेव घटकत्वप्राप्तिरित्यत आहुः—**अपि चेति**। वृत्रासुरस्य परमभक्तत्वं तु चित्रके कथानके सुव्यक्तम्। वृत्रकृतचतुष्टयश्लोकात्मकस्तुतावपि परमभक्तत्वं दर्शितम्। देवीभक्तत्वमिति देव्या भक्तो मर्दितो भञ्जधातोरनिट्त्वात् क्तप्रत्यये कित्वान्न लोपे साधुः। दृष्टं शास्त्रेषु इति शेषः। देवीभागवत एव इन्द्रोद्गतशक्त्या वृत्रवधः पठ्यते, नत्वन्यत्र। अत इदमेवाप्रमाणम्। तत्पूर्वमेवोक्तम्। ननु "या देवी माहिषं जघ्ने क्रूरं वृत्रासुरं तथा। साध रक्तासुरं हत्वा स्वाराज्यं ते प्रयच्छतु" इत्यादित्यपुराणमस्मिन्नर्थे प्रमाणमिति चेन्न "वृत्रप्राणहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते" इति मार्कण्डेयेन नारायणशक्त्यामेव वृत्रवधोपसंहारात्। तच्च षष्ठस्कन्धे "मत्तेज उपबृंहितः", हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजितः", "निगीर्णोऽप्यसुरेन्द्रेण न ममारोदरङ्गतः। महापुरुषसन्नद्धो योगमाया बलेन च" इत्यादौ श्रीमद्भागवत एव प्रमाणतयाऽवतरतीत्यलम् ॥ ८ ॥

ननु हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्रेति लक्षणव्याप्यत्वात्कथं भागवतमिति चेदत्राहुः—**हयग्रीवेति**। षष्ठस्कन्धे "तामेवाधिगतो दध्यङ्", "अश्विभ्यां ब्रह्मनिष्कलम्"। यद्वा। "अश्वरो नाम तयोरमरतां व्यधात्। दध्यङ्ङाथर्वणस्त्वष्ट्रे वर्मामेयं मदात्मकम्। विश्वरूपाय यत्प्रादात्त्वष्टा यस्त्वमधात्पुनः"। इत्युक्तेः। अपि च, "अश्वस्य शीर्ष्णा प्रपदीमुवाचे"ति वेदप्रसिद्धिः। "तेषामेतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्" इति मण्डूकोक्तेश्च। हयग्रीवब्रह्मविद्या स्त्रीदेवता भवितुं नार्हति, येन मन्त्राः पुंदेवताः। प्रोक्ता विद्या स्त्रीदेवता मता इति विरुध्यते। यदश्वशिरसा दधीचिना ब्रह्मज्ञानमुक्तं तद्धयग्रीवब्रह्मविद्याशब्दवाच्यम्, श्रीभागवत एव ॥ ९ ॥

पुराणान्तरे हि "ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः। हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा। गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः॥ स्कन्धा द्वादश एवात्र कृत्स्नेन विहिताः शुभाः। द्वात्रिंशत्त्रिशतं पूर्णमध्यायाः परिकीर्तिताः" इति। न च श्रीभागवते पञ्चत्रिंशत्त्रिशतमध्यायाः इति वक्तव्यम्। "द्वात्रिंशत्त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखा" इति श्रीधरीयोक्तेरघासुरवधादध्यायत्रयस्य प्रक्षिप्तत्वात्॥ १०॥

अम्बरीषशुकप्रोक्तमित्यत्र चाम्बरीषस्य भक्तत्वात्। श्रीमद्भागवतस्य पठनमेवाभिप्रेतमिति लक्षयामहे। शुकाय प्रोक्तमिति समासस्तु क्लिष्टः॥ ११॥

हेमसिंहसमन्वितमिति तु सिंहासनपरमित्युक्तेरन्यत्र व्याख्यातम्। यदि देवीभा-

---

ननु भागवतेऽध्यायत्रयाधिक्याद्द्वात्रिंशत्त्रिशतं पूर्णमध्यायाः परिकीर्तिता इत्यनेन विरोध इत्यत आहुः -- **पुराणान्तर इति। अघासुरवधाध्यायत्रयस्येति**। अघवधवत्सहरणब्रह्मस्तुतिरूपाणां त्रयाणां भागवतविरोधात्प्रक्षिप्तत्वं द्वात्रिंशत्त्रिशतं च यस्येति श्रीधरोक्तेरस्मिन्पञ्चत्रिंशदर्थखण्डनं विरोधदर्शनं च स्वकृतजपमालायां समर्थितमस्तीति तदेतेनात्र विवृतम्॥ १०॥

ननु पाद्मे—"अम्बरीषशुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु" इत्युक्तलक्षणानन्वितत्वात्कथमष्टादशान्तर्गतमिति, यतः, शुकेन प्रोक्तमिति विग्रहेऽपि द्वितीयादीनां भागवतत्वे द्वादशस्कन्धात्मकत्वव्याघातः। देवीभागवतं तु—"व्यासेन कृत्वाऽथ शुभं पुराणं शुकाय पुत्राय च पाठितं वै" इत्युक्तेरस्ति लक्षणसमन्वय इत्यत आहुः—**अम्बरीषेत्यादि**। अम्बरीषशुकायेति प्रोक्तं पाठितमिति चतुर्थ्या समासस्याप्राप्तेः। बलिहितरक्षितग्रहणात्प्रकृतिविकृतिभाव एव प्रवृत्तेः। अत एव धर्माय नियमो धर्मनियम इति पस्पशाभाष्ये शक्याभिप्राय इति कैय्यटः। अश्वघासादयस्तु षष्ठीसमास इत्याकरोऽपि मानम्। सुप्सुपा चतुर्थ्यादियोगविभागस्य क्लिष्टत्वात्। शुकेन प्रोक्तमिति तु कर्तृकरणयोः कृता बहुलमित्यनेनासन्दिग्धः। यत्तु, शुकेन प्रोक्तमित्यर्थे द्वितीयादीनां भागवतं स्यादित्युक्तम्, तदपि न ग्रन्थत्वेन विरोधात्। अन्यथा सर्वपुराणेषु सूतशौनकयोरेवोपक्रमसम्वादसत्त्वात्, ब्रह्मणाभिहितं मरीचये ब्राह्मं नारायणेन नारदाय प्रोक्तं ब्रह्मवैवर्तमित्यादिरीत्या वर्णनमसमञ्जसं स्यात्। किञ्च, "स संहितां भागवतीं कृत्वाऽनुक्रम्य चात्मजम्। शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः" इत्यनेन सर्वस्य भागवतत्वं चतुर्थीसमासपक्षेऽपि सङ्गतम्। परीक्षिच्छुकसम्वादो योऽसौ व्यासेन वर्णितः" इति स्कान्दात्। "परीक्षिच्छुकसम्वादः श्रीमद्भागवताभिधः" इति पद्मात्। "प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीष" इति भक्तेषु गणितत्वात्। श्रीमद्भागवतमेवायाति॥ ११॥

ननु "प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम्। लिखित्वा तच्च यो दद्यादि"त्युक्त्या हेमसिंहसाहित्यं पौर्णमासी च तिथिश्च देवीभागवतमेव गमयति। यतो यद्दैवतपुराणदानेन तद्दैवतवाहनतिथ्योरुक्तत्वाद्यथा वाराहं हेमगरुडं मात्स्यं हेममत्स्ययुक्तमित्यत आहुः—**हेमसिंहेति**। अन्यत्र श्रीभागवतशङ्कानिरासवादे नामैकदेशे नामग्रहणमित्युक्तेः। यथा सत्यभामादिषु सत्येति भामेति

तवाभिधानादित्यत्र किरातेऽपि, "हेमसिंहयुतं चेति वैष्णवाय ददाति यः। कृष्णेन सहसा युज्यन्स पुमान् लभते ध्रुवमि"ति पाद्ममाहात्म्यात्। "अष्टादशपलैः कुर्याद्धेमसिंहासनं प्रिये" इति सर्वपुराणचक्रवर्तित्वात्, हेमसिंहासनं, युक्तं ब्रह्मादिवाराहान्तानां वैशाख्यादिपौर्णमास्यो दानकालाः, तत्क्रमतो भाद्रमास्यस्य दानं विधीयते। न तु देवीतिथित्वेन शैववैष्णवादिष्वपि वृषगरुडादिदानस्य शिवरात्रिजन्माष्टम्यादेरनुक्तेः। वैष्णवे धेनुदानोक्तेः। न तद्दैवतवाहनतिथ्योर्नियमः। ननु कोऽयं द्वेषः देव्या भागवतेन येन सर्वथैव खण्डनं क्रियते, तत्राहुः—**यदी**त्यादि। आदित्यादिपुराणान्तरे गारुडपाद्मनारदस्कान्दवाराहब्रह्मवैवर्तमात्स्यभिन्ने शैवपुराणे। "भगवत्यास्तु दुर्गायाश्चरितं यत्र विद्यते। तत्तु भागवतं प्रोक्तं न तु देवीपुराणकम्" **इत्युक्तेरित्यादौ**, तत्पक्षेऽपि नास्माकं क्षतिः। विष्णुमाहात्म्यस्य वेदसिद्धत्वात्। तच्च श्रीपुरुषोत्तमैः **प्रहस्ताख्ये वादे** विविक्तम्। परन्तु, देवीभागवते—"इदमखिलकथानां सारभूतं पुराणं निखिलागमतुल्यं सत्प्रमाणानुविद्धम्। पठति परमभावात् यः शृणोतीति ज्ञात्वा स भवति धनवान्वै ज्ञानवान्मानवोऽत्रे"त्युक्तेः। षष्ठस्कन्धादग्रे प्रकरणभङ्गः सम्वादभङ्गोऽग्रिमालाभश्च कल्पितत्वमनुमापयतीति। **अलम्। विशेष**जिज्ञासायां मातुलानां रामकृष्णचरणानां विजयवाद एव द्रष्टव्यः। श्रीमद्भागवतमाहात्म्यप्रतिपादकानि वचनानि इहोपष्टम्भकानि कानिचाल्लिख्यन्ते। तत्र नारदीये ब्रह्मादीनामनुक्रमण्यध्याये, "मरीचे शृणु वक्ष्यामि वेदव्यासेन यत्कृतम्। श्रीमद्भागवतं नाम्ना पुराणं वेदसम्मितम्। तदष्टादशसाहस्रं कीर्तितं पापनाशनम्। सुरपादपरूपोऽयं स्कन्धैर्द्वादशभिर्युतः॥ भगवानेव विप्रेन्द्र विश्वरूपी समाहितः। तत्र तु प्रथमस्कन्धे सूतर्षीणां च सङ्गमे। व्यासस्य चरितं पुण्यं पाण्डवानां तथैव च" इत्यादि। गारुडे—"अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः। गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ श्रीमद्भागवताभिधः। पुराणानां सारभूतः साक्षाद्भगवतोदितः" इति। पाद्मे—"ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसंयुतः। परीक्षिच्छुकसम्वादः श्रीमद्भागवताभिधः॥ पुराणेषु च सर्वत्र श्रीमद्भागवतं परम्। यत्र प्रतिपदं विष्णुर्गीयते बहुधर्षिभिः॥ इति सङ्कल्प्य मनसा श्रीमद्भागवताभिधम्। जन्माद्यस्य यतश्चेति धीमद्यन्तमुपावदत्"॥ अन्यत्र च स्कान्दमाहात्म्ये—"यद्वै भागवतं शास्त्रं भगवद्रूपमुच्यते। पादादिजानुपर्यन्तं प्रथमस्कन्ध उच्यते" इत्यादिना "द्वादशं तूत्तमाङ्गं स्यादाश्रयं सुनिरूपितमि"ति। तेन निरोधो द्वादशार्थ इति प्रत्युक्तम्। स्कन्दपुराणे भागवतमाहात्म्ये—"कृतकृत्या वयं सर्वे हरिभक्तेः प्रदर्शनात्। श्रीभागवतमाहात्म्यकथायाः समुदीरणात्" इत्यादीनि तानि बोध्यानि। या तु देवीमाहात्म्यप्रतिपादनपूर्वकं तन्निन्दकानां निन्दा तदीयवचनैरेव दर्शिता, सा तु न वैदिकानां सम्मता, वेदे तु पुरुषाराधनमेवोपलभ्यते काण्डत्रये। न तु महाकाल्याद्यर्चनं मकारपञ्चकस्यातिनिषिद्धस्य श्रुतिस्मृतिपुराणेषु महापातकेषु गणनात्। तेषां मते "पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले। उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥ पेये चापेयता बुद्धिः पापशङ्का च मैथुने। भक्ष्ये चाभक्ष्यता बुद्धिः कथं देवीं समर्चयेत्" इत्यादिकौलाचारप्रकरणे तन्त्रसारोदितवचनानां कथनाद्धेयत्वाभावादिदमपि सूचकस्यापि तद्द-

भागवतस्य दाने हेमसिंहदानस्य साहित्यं पुराणान्तरेऽभवेद्भवतु को, विरोधो नः, विष्णोः, सर्वाधिवाक्यं तु प्रहस्तादिग्रन्थेषु व्यक्तम् । देवीभागवतं तु पट्स्कन्धात्मकमेव प्राक् प्रसिद्धं तदग्रिमस्य प्राचीनपुस्तकेष्वलाभादतो द्वादशस्कन्धत्वासिद्धेः प्रकृतवचसामविषय इत्यलम् ॥ १२ ॥

वेदिति भयान्नातिप्रकाशितम् । "स्वशाक्तत्वं गोपयन्तः श्रोत्रनासादिहीनवत्" इत्युपमन्युवचनं प्रत्युत बाधकं शाक्तत्वं निषिद्धाचरणरूपं गोपयन्तः स्वयं तन्मार्गप्रवृत्ता भूत्वा ये, तेषामेषा निन्दा न तु वैदिकानाम् । "अन्तः शाक्ता बहिः शैवा" इत्यादि रूपा हि ते । न च, दक्षिणमार्गप्रशंसावचनानि मया लिखितानि "दक्षिणादुत्तमं वामं वामात्सिद्धान्तमुच्यते । सिद्धान्तात्तु परं कौलं कौलात्परतरं नहि" इति तत्सम्मतवाक्ये तत्पदवीमारुरुक्षतां तादृशत्वमेव वैदिकाचारपराङ्मुखत्वस्य तेषां भूषणत्वात् । "वैदिका पशवः प्रोक्ता दीक्षाहीनो नरः पशुः" इत्युक्तेः । "अलिपिशितपुरन्ध्री भोगपूजारतोऽहं बहुविधकुलमारम्भसम्भावितोऽहम् । गुरुचरणरतोऽहं भैरवीमाश्रितोऽहं पशुजनविमुखोऽहं भैरवोऽहं शिवोऽहम्" इत्युक्तेः । न चोपन्यस्तवचनेषु तथात्वं न ध्वन्यत इति वाच्यम् । "समयाचारविज्ञानविभागज्ञानवर्जिताः" इति तल्लिखितवाक्ये त्वस्य स्फुटत्वात् । तथाहि शाक्तानां समयाचारतन्त्रे—

"यानि कानि च शास्त्राणि कथितान्यागमस्य च । तानि तानि च कथ्यन्ते समयाचारणानि वै ॥ १ ॥
आचारः कथितस्तेषु मयाप्याचरितः स च । तस्याचारस्य नाम्नापि कुलाचारः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥
आचारो द्विविधो तत्र वामदक्षिणभेदतः । पञ्चमुद्रादिसहितो वामाचारः प्रकीर्तितः ॥ ३ ॥
पञ्चमुद्रादिरहितो दक्षिणाचार उच्यते । पूजाद्रव्यं प्रवक्ष्यामि पूजकाभीष्टसिद्धये ॥ ४ ॥
मद्यं मांसं तथा मत्स्यं मुद्रा मैथुनमेव च । मकाराः पञ्च सुभगे कर्मणां शान्तहेतवे ॥ ५ ॥
या सुरा सर्वतन्त्रेषु कथिता दिवि दुर्लभा । तस्या नाम भवेद्देवि तीर्थं सज्ज्ञानमुक्तिदम् ॥ ६ ॥
पशूनां भक्ष्ययोग्यानां मांसं देवि विनिर्मितम् । देवीतन्त्रेषु विधिवत्तस्योक्तिः शुद्धिरुच्यते ॥ ७ ॥
मांसस्य भक्ष्ये ये मत्स्याः कथिता रुधिरोज्झिताः । ते रहस्ये मया प्रोक्ता मीनाः सिद्धिप्रदायकाः ॥८॥
गुडादिमध्ये निक्षिप्य कुर्वन्ति द्युतिवर्द्धिनीम् । मुद्रां तां विबुधाः प्राहुः चणकादींश्च भर्जितान् ॥ ९ ॥
या रोटिका पोलिका च सापि मुद्रा प्रकीर्तिता । भगलिङ्गस्य योगेन मैथुनं यद्भवेत्प्रिये ॥ १० ॥
तस्य यन्नाम भवेत्पञ्चमं परिकीर्तितम् । पञ्चमे देवि सर्वेषां मम प्राणो भवेत्प्रिये ॥ ११ ॥
पञ्चमेन विना देवि चण्डीमन्त्रं वृथा जपेत् । यदि सर्वमकारेषु भ्रान्तिं च कुरुते प्रिये ॥ १२ ॥
तस्य सिद्धिः कथं देवि शक्तिमन्त्रं जपेत्कथम् । पञ्चमेन विना देवि भुक्तिर्मुक्तिः कथं भवेत् ॥ १३ ॥
पञ्चमेन नृणां देवि यदानन्दो भवेद्ध्रुवम् । तन्नाम मोक्षं विदुषामबुधानां च पातकम् ॥ १४ ॥
आनन्दः परमं ब्रह्म मकारास्तस्य सूचकाः । विशेषतोऽत्र देवेशि पञ्चमे परमं पदम् ॥ १५ ॥
भगस्य स्मरणे पुण्यं भगस्य दर्शने तथा । भगस्य पूजने पुण्यं भगस्य मैथुने महत् ॥ १६ ॥

भगस्य पञ्चमे देवि यत्सुखं मम जायते । न तत्सुखं जपैर्होमैर्न दानैस्तपसा तथा ॥ १७ ॥
अवश्यं पञ्चमे कुर्याच्छक्तिमात्रे महेश्वरि । पञ्चमस्य कृते पुण्यं कृतमक्षयतां व्रजेत् ॥ १८ ॥
स्नानार्थं देवतानां च रहस्यं परमं शृणु । येन स्नानेन देवेशि देवता सुप्रसीदति ॥ १९ ॥
स्त्रियो रजश्च प्रथमं यस्मिन्वयसि जायते । गृह्णीयाच्चाशु सुभगे ब्रह्मादीनां च दुर्लभम् ॥ २० ॥
स्वयम्भूकुसुमं नाम देवतानां च प्रीतये । ततः स्वदेवतानां च प्रकुर्यात्स्नानमुत्तमम् ॥ २१ ॥
वाञ्छितं लभते देवि सत्यं सत्यं वरानने । जीवति भर्तरि स्त्रीणां मैथुनं कारयेत्परैः ॥ २२ ॥
तस्या भगस्य यद्द्रव्यं कुण्डद्रव्यं प्रकीर्तितम् । विधवा मैथुनाज्जातं गोलद्रव्यं महोत्तमम् ॥ २३ ॥
कुण्डगोलोद्भवद्रव्यं षडाम्नायेषु चोत्तमम् ।" इति एवम्विधाः समयाचादर्शितास्तेषां च वैदिकागमबाह्यत्वमेव । वैदिकशास्त्रे तु "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" इति मनुवचनतद्विरुद्धार्थानां पाषण्डत्वमेव । तदुक्तम्, "न वेदबाह्ये पुरुषे पुण्यलेशोऽपि शङ्कर । सङ्गच्छति महादेव धर्मो वेदाद्विनिर्भव" इत्युक्त्वाग्रे—"कपालं भाङ्गलं शाक्तं भैरवं पूर्वपश्चिमम् । पञ्चरात्रं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रशः ॥ सृष्ट्वा तान् चतुर्देवो(?)कुर्वाणः शास्त्रचोदितम् । पतन्ति नरके घोरे बहुकालात्पुनः पुन"रिति कूर्मे गौतमशापमुनिप्रक्रमे हरिहराभ्यां मोहशास्त्राणि कृतानीत्युच्यते । वाराहे रुद्रगीतायां "यद्वेदबाह्यं कर्मस्याच्छास्त्रमुद्दिश्य पठ्यते । तद्दुर्गतिप्रदं नृणामिह लोके परत्र च ॥ सत्त्वेन मुच्यते जन्तुः सत्त्वं नारायणात्मकम्" इत्यादि कृतादिषु विष्णुपूजनं निरूप्य "कलौ मत्कृतमार्गेण बहुरूपेण तामसैः । ईर्ष्यते द्वेषबुद्ध्या च परमात्मा जनार्दनः" । ततो ब्रह्मविष्णुरुद्राणाममेदं बोधयित्वा "कथं सृष्टिर्भविता नरकेषु च को वसेत्" इति प्रकरणे युगत्रये मुक्तिरुक्ता । कलौ विरलानामेव सेत्यर्थे त्वं च रुद्रेति मोहनार्थं रुद्रस्यागमशास्त्रकरणम् । तत्र "वेदमार्गविनिर्मुक्तास्तेषां मोहार्थमेव च । तपःसिद्धान्तसञ्ज्ञाभिर्मया शास्त्रं तु दर्शितम्" इत्युपसंहृतमागममार्गीयानामेव निषिद्धमुच्यते । शाक्तानां तु तत्र किं वाच्यम् । न च पञ्चरात्रस्य वैष्णवाभिमतस्याप्यागमत्वम् तेन वैष्णवानां निन्दाऽऽगता इति वाच्यम् । तत्र भारते वैष्णवागमानां प्रशंसाश्रुतेर्न दोषः । तथाहि, मोक्षधर्मे "साङ्ख्ययोगः पञ्चरात्रं वेदारण्यकमेव चे"त्यादिप्रकरणे—"पञ्चरात्रविदो ये तु यथाक्रमपरायणाः । एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति हि" इति पठ्यते । तत्रायं भावः । वामागमे तु निषिद्धाचरणस्यैव सत्त्वान्निन्द्यत्वम् । पञ्चरात्रे तु निषिद्धाचाररूपनिन्दाबीजाभावात् । अत एव अपरार्के बौद्धायनः—"नग्नान्पाशुपतान्बौद्धान्कालान्कौलान्दिशश्चरान् । एतान्दृष्ट्वाऽपां स्पर्शः स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत्" इत्युक्तम् । तस्मान्निषिद्धाचारवत्त्वेन तेषां निषिद्धत्वम् । ननु वैदिकमते तेषां निन्दा, तेषां मते वैदिकानामिति तुल्य एव दोषः, इति चेद्भ्रष्टोऽसि वेदमन्तरा तेषां निर्वाहाभावात् । "कृत्वा तु वैदिकं कर्म ततस्तान्त्रिकमाचरेत्" इत्युक्तेः । य एवमपि न मनुते तदा तु जैनादितुल्यतापत्त्या न विवादास्पदमित्यलम् ॥

दुष्टाः प्राहुरनार्षमार्षमपरे शिष्टाः पुराणोत्तमं

उक्तार्थरहस्यं दर्शयन्तः शिष्टाचारप्राप्तं ग्रन्थपर्यवसाने मङ्गलमवतारयन्ति **दुष्टा** इति । तत्र जीवा द्विविधा दैवासुरभेदात् । "द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च । दैवो विस्तरतः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु" इति भगवदुक्तेः । तत्रासुरा मरणजन्मरूपे भवप्रवाहे पतिताः प्रावाहिकास्ते च स्वभावतो दुष्टाः शिष्टानां भागवतपरायणानामुत्कर्षमसहमानाः पुराणान्तरेभ्यो विचक्षणलक्षणं श्रीमद्भागवतं कथयन्तोऽनार्षमिदमिति वदन्ति । निष्कारणपरद्रोहोत्साहवत्त्वम्, तत्त्वम् । ते च काशीनाथादय एव । यतः, सर्वसम्मते श्रीमद्भागवते कुचोद्यं कुर्वन्ति । ननु देवीभागवतं खण्डयन्तो भवन्तोऽपि तादृशा इति चेन्न; प्रथमं निष्कारणं तैरेवतिरस्कृता लोका इति । नतु जिघृक्षया द्रुह्यामहे । तथाहि । अष्टादशपुराणेभ्योऽस्य पुराणस्य विलक्षणा गद्यपद्यमयी भारती भासतेतराम् । अत इदं व्यासकृतपुराणपदवीं नारोढुमर्हति इत्याहुः । अपरे शिष्टा आर्षमाहुः । यदि किंलक्षणा गद्यपद्यमयी भारती भवादृक्देवानांप्रियानवगाह्याऽऽर्षपदवीं नाधिगच्छेत्तर्हि बहूनां स्तोत्रपाठानां विचित्रकवितात्वेन पुष्करप्रादुर्भावादीनां चातिकठिनत्वेन तत्त्वं कथं भवेत्? किञ्च, यदि शास्त्रार्थगाम्भीर्येण ब्रूषे? तर्हि गीता सप्तशत्यादिसकाशात्, भागवते किं गाम्भीर्यादाधिक्यं येनानार्षत्वं सम्भवेत् । यदि नैवं पुराणान्तरमिति वदन्ति । तर्हि सर्वथैवैतादृशं विष्णुपुराणमिति तदपलापाभावे कथमस्यापलापः । तत एव कमलाकरादयो शिष्टा निबन्धेषु प्रमाणयन्ति । किञ्च, यदि देवीभागवतं प्रमाणं चेत्तर्हि स्मार्तास्ते लिखेयुः । किञ्च गङ्गेशेन देवीभक्तेनापि देवीभागवत्वेन देवीपुराणमेव लिखितं तत्रोक्तमेव । यदि भास्करेण लिखितमिति भवान्प्रतिपद्येत, तर्हि शृणु, भास्करस्य वाममार्गीयत्वेनाशिष्टत्वं प्रसिद्धम् । तस्य तत्राग्रहवादाच्च उक्तार्थेऽप्रामाण्यम् । यदि दिनकरसम्मत्या गृह्यते । तर्हि, दिनकरेण गायत्रीछन्दसारम्भ इति पाठः पठितः स च न शिष्टसम्मतः । अतोऽस्याप्याग्रहवादान्न सम्मतिः सिद्ध्यतीति दिक् । शिष्टैस्तु पुराणेषु पुराणगणनायां भागवतद्वयं गणितं तत्रापि व्यवस्थामाहुः—पुराणोपपुराणयोर्गणनक्रमनियतम् । यथा मत्स्यपुराणे पुराणगणनायां शैवपुराणं नोक्तं पाद्मोत्तरखण्डे शैवमुक्तं शैवपुराणे वायुपुराणं नोक्तं, आदित्येऽपि शैवं नोक्तम् । एवं च भागवतद्वयश्रवणं कस्मिंश्चित्पुराणे महापुराणगणनायां कस्मिंश्चित्पुराणे उपपुराणगणनायाम् । यद्वाऽऽदित्यपुराणदेवीपुराणकालीपुराणानामपि तत्र भागवतत्वश्रवणात्तदुक्तिः । न तु देवीभागवतस्वीकारेण तस्य प्राचीनेष्वप्रसिद्धेः दौर्गं भागवतं देवीभागवतं मूलं भागवतमिति श्रवणमपि तात्पर्यम्, तत्परतयैव योज्यम् । प्रतिपदोक्तत्वादेतत्परमित्यपि कश्चितत्सिद्धावपि नास्माकं क्षतिरित्युक्तमेव । स्कान्दपाद्मनारदीयब्रह्मवैवर्तविष्णुशिववाय्वादीनां महापुराणेषु गणितानामपि पुराणोपपुराणयोः उपपुराणेषु गणनं दृश्यत एवेति न कश्चिच्छङ्काकलङ्ककः । **अपरे** इत्यनेन दैवा जीवा उक्ताः । दैवासुरविभागयोर्भगवता दैवानां पूर्वमेव निरूपणात् । तल्लक्षणं तु "अभयं सत्त्वसंशुद्धि"रित्यादिना दर्शितम् । परद्रोहादिशून्यत्वे सति सात्त्विककर्मज्ञानयोगादिव्यवस्थितत्वं तत्र फलति । तेऽपि

श्रीमद्भागवतं वदन्ति भगवच्छास्त्रं मुमुक्षाजुषः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाङ्घ्रिरसिका ये दैवजीवोत्तमाः ।
साक्षाच्छ्रीपतिमूचुरत्र भवतां नः श्रेयसे सर्वदा ॥ १ ॥

इति श्रीमन्मुद्गलमुनिवंशावतंसवैष्णवाचार्य्याम्नायानुष्ठानख्यातिप्रचारकभट्टजगन्नाथभट्टात्मजहंसनन्दनन्दनोपासनलब्धगद्यपद्यचातुर्यकविकुलालङ्कारशिरोमणिगोरेलालान्वययशोरूपसर्वशास्त्रसम्पन्नसर्वाचार्यवर्यश्रीवल्लभाचार्यचरणोपसत्तिप्राप्तश्रीगोवर्द्धनधरचरणशरणभक्तिरसरसानन्दकृतार्थशास्त्रिगङ्गाधरभट्टविरचितेयं सङ्क्षिप्तदुर्जनमुखचपेटिका सम्पूर्णतामाप ॥

त्रिविधाः । कर्मनिष्ठा ज्ञाननिष्ठा भक्तिनिष्ठाश्च । कर्मनिष्ठास्तु, "एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे" "यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनमि"त्यादिभिर्दर्शिताः । ज्ञाननिष्ठास्तु, "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते", "ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति" इत्यादिना दर्शिताः । भक्तिनिष्ठास्तु—"माहात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमास्थिताः । भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्" ॥ तेषु ज्ञाननिष्ठा भक्तिनिष्ठाः श्रेष्ठाः—"उदाराः सर्व एवैते" "ज्ञानीत्वात्मैव मे मतः" "तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्यश्चाधिको मतः ॥ कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन । योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना श्रद्धावान्भजते" इति । सा च माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहरूपान्न फलति । भक्तेष्वपि भेदद्वयम् । मर्यादास्थभगवदनुग्रहरूपपुष्टिस्थभेदात् । तत्राद्यास्तु दर्शिताः । द्वितीयस्तु "भूय एव महाबाहो" इत्यारभ्य "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः । मच्चित्ता मद्गतप्राणा" इत्यादिभिस्तत्स्वरूपं निरूप्य "तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता" इत्यनेनानुग्रहमार्गीया दर्शिताः । तत्रादिमानाम् । **अपरे** शिष्टाः ॥ **आर्षं प्राहुरि**त्यनेनाभिमतं दर्शितम् । शिष्टत्वं श्रुतिस्मृत्यविरुद्धाचारवत्त्वे सति परद्रोहादिशून्यत्वमिति । द्वितीयकक्षास्थानामभिलषितमाहुः—**मुमुक्षाजुषः** । पुराणोत्तमं श्रीमद्भागवतं वदन्तीति । इदं हि महापुराणम् ॥ "दशाधिकं लक्षणं च महता परिकीर्तितमु"त्युक्तेः । पुराणोपपुराणेषु श्रेष्ठमेतत । अत एव अष्टादशतो पृथगपृथगुक्तिः । पृथगपृथगुक्तिश्च युगपत्कथं घटते इति चेत् ? शैवादिपुराणानां पुराणोपपुराणत्वात् अष्टादशान्तर्गतत्वमनन्तर्गतत्ववदित्यवेहि । आर्षशास्त्रस्य तादृशत्वात् । ऋषीणामचिन्त्यैश्वर्येण न कश्चिद्ध्रासः । "नैषा तर्केण मतिरनपनेये"ति श्रुतेश्च । भक्तिज्ञानवैराग्यमात्रप्रतिपादकत्वेन पारमहंसधर्मविषयत्वेन शुद्धाद्वैतब्रह्मप्रतिपादकब्रह्मसूत्रभाष्यरूपत्वेन व्यासस्य परितोषजनकत्वेन पुराणोत्तमत्वं स्फुटमेव । तृतीयकक्षास्थास्तु **साक्षाच्छ्रीपति**रूपमेव प्राहुः । "भगवानेव विप्रेन्द्र विश्वरूपी समाहितः" इति नारदीयोक्तेः । **श्रीगोपीजनवल्लभाङ्घ्रिरसिका** इत्यादि । स्फुटम् । श्रीभागवतं पुराणं नः श्रेयसे भूयादित्याशीर्लिङ् । स्वस्मिन्तद्वत्त्वमभिलषितम् ।

श्रीमद्भागवतं हरेस्तनुरवेर्बिम्बं पुराणैः स्तुतं
पापध्वान्तनिवारणं भयहरं हृत्पद्ममुद्घाटकम् ।
तस्मिन्मत्सरिणो क्षुद्रकशिशवो जल्पन्ति किं तेन हि
प्रत्यक्षं न प्रमाणयन्ति सुहृदो ये राजहंसाः द्विजा ॥ १ ॥

प्रक्षिप्तस्तस्य चपेटिकायाः स्याद्दुर्जनानां मुखभञ्जनाय ।
ततो मयैषा रचिता प्रहस्तिका सिद्धिर्यतोऽस्यां मुनिवाग्बलेन ॥ २ ॥
शास्त्रिगङ्गाधरकृतः कृष्णगोविन्दशर्मणः ।
लेखे यत्स्खलितं तत्तु सन्तः संशोधयन्तु मे ॥ ३ ॥

इति सर्वशास्त्रसम्पन्नशास्त्रिगङ्गाधरभट्टात्मजकन्हैयालालविरचिता
दुर्जनमुखचपेटिकाख्याख्या प्रहस्तिका समाप्ता ॥

श्रीकृष्णायनमः

श्रीमद्दामोदरविरचितः

श्रीमद्भागवतनिर्णयसिद्धान्तः

यस्यैव नेत्रसविधे घनवारिवाहः
किं तेन वा सपदि तीक्ष्णकरन्न पश्येत् ।
भानुश्चराचरविकाशकरः प्रदीप्तो
त्यक्त्वा स्वमेव परिराजति विश्वमध्ये ॥ १ ॥
दुष्कर्म्मजन्मदुरितोच्चयजातपीडा-
सन्तप्तरासनतया यदि वाऽमृतस्य ।
नाऽऽस्वाद्यते मधुरता नहि तन्मृदुत्व-
मास्वादहीनरसनस्य पुनर्विडम्बः ॥ २ ॥
सर्प्पः सदा दशति चेत्प्रलयेशदेहं
शम्भोर्न तेन मरणं भविता कदाचित् ।
सोऽसौ समश्चिरतरं पुनरेव सर्प्पा-
दन्तप्रपातजननद्धनघातनेन ॥ ३ ॥
तद्वत्सुधासमसुनिर्म्मलनित्यसत्त्वः
रत्नाकरोऽहमिह भागवताख्य एव ।
सुष्येन्न सूर्यशतकाच्चिरकालतोऽपि
खद्योतदीपनमथाधिकमस्य कुर्यात् ॥ ४ ॥
तथापि व्यासरचितं श्रीमद्भागवतामृतम् ।
एतदुद्धाव्यतेऽस्माभिरज्ञानं व्याधिशान्तये ॥ ५ ॥
मोहान्धकारान्धतमा जना ये
करैर्हरिश्चन्द्रकलानिधिस्तु ।
प्रमील्यनेत्रे परमार्थरूपं
पश्यन्तु ते भागवताख्यरत्नम् ॥ ६ ॥

व्यासकृताष्टादशपुराणपरिगणनपरेषु "ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं चे"त्यादिषु पुराणवाक्येषु भागवतं नाम पुराणमेकमेव परिगणितम् । लोके तु श्रीमद्भागवतदेवीभागवताख्यौ द्वौ प्रसिद्धौ, तत्र कतरो व्यासकृताष्टादशपुराणान्तर्गत इति जिज्ञासायां श्रीमद्भागवताख्य एव तथेति पुराणान्तरवचनैर्निर्णीयते । स्कान्दे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये "परीक्षिच्छुकसम्वादो योऽसौ व्यासेन वर्णितः । ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः सोऽसौ भागवताभिध" इत्युक्त्या, "मरीचे शृणु वक्ष्यामि वेदव्यासेन यत्कृतम् । श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं वेदसम्मितम्"इति नारदीयोक्त्या, "चकार संहितामेकां श्रीमद्भागवतीं परामि"ति वक्ष्यमाणपाद्मोक्त्या च श्रीमद्भागवतस्य व्यासकृतत्वं स्पष्टमुक्तम्, व्यासकृतत्वादेव चाष्टादशान्तर्गतत्वं सिद्ध्यति, व्यासकृतानाम् "अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः" इत्यादिवचनसिद्धत्वात्, अष्टादशव्यतिरिक्तानामुपपुराणत्वेन व्यासान्यकृतत्वस्यान्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कृतानि "अष्टादशपुराणानि श्रुत्वा सङ्क्षेपतो द्विजा" इति कौर्मोक्त्या, "अन्यान्युपपुराणानि कथितानि महर्षिभिः । अष्टादशपुराणानि श्रुत्वा सङ्क्षेपतो द्विजा" इति स्कान्दसौरसंहितोक्त्या,

एवमाज्ञापितास्तेन शिवेन मुनयः पुरा ।
श्रुत्वा सत्यवतीसूनोः पुराणं सकलं मुदा ॥
अन्यान्यपि पुराणानि चक्रुः सारतराणि वै ।

इति पराशरोक्त्या च सिद्धत्वाच्च । न च "स्कन्धा द्वादश एवात्र कृष्णेन मुनिना कृता" इति देवीभागवतोक्त्या, देवीभागवतस्यापि व्यासकृतत्वमिति वाच्यम्, द्वयोर्भागवतयोर्व्यासकृतत्वे व्यासकृतपुराणानामष्टादशत्वचतुर्लक्षश्लोकत्वयोर्हानिप्रसङ्गात्, द्वयोरेकस्याष्टादशव्यतिरिक्तव्यासान्यकृतत्वहानिप्रसङ्गाच्च । नचैवं देवीभागवतवचनाप्रामाण्यप्रसङ्गः, तस्य शिष्यद्वारा व्यासकृतत्वमित्याद्यर्थान्तरपरताया एवागत्या स्वीकार्यत्वात् ॥

न च देवीभागवतवचनमुख्यार्थानुरोधेन श्रीमद्भागवतव्यासकृतत्ववचनान्येवार्थान्तरपरतया नीयन्तामिति वाच्यम्, एकानुरोधेन बहूनामन्यथा नयनस्याप्यन्याय्यत्वेनैकस्य देवीभागवतवचनस्यैव पुराणान्तरसहायहीनस्योक्तस्कान्दादिवचनसहायेन श्रीमद्भागवतव्यासकृतत्वेन बोधकेन भारतोत्तरमसन्तुष्टो व्यासो भागवतं चकारेत्यादिश्रीमद्भागवतवचनेनाविरुद्धत्वायाऽर्थान्तरपरत्वेन नेतुमुचितत्वात् । किञ्च, पाद्मे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये श्रीमद्भागवतकथाश्रवणाय समागतानां परिगणनप्रसङ्गे "वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तन्त्राणि संहिताः । दशसप्तपुराणानि षट्सहस्राणि तदा ययुरि"त्युक्तम् । तत्र व्यासकृतपुराणानामष्टादशत्वादष्टादशेति वक्तव्ये सप्तदशत्वोक्तिः, श्रोतव्यस्य श्रीमद्भागवतस्याष्टादशत्वं गमयति, तस्याष्टादशानन्तरगतत्वे देवीभागवतस्याष्टादशान्तर्गतत्वे त्वाष्टादशानां श्रोतृत्वसम्भवेन श्रोतुमागतानां पुराणानामष्टादशत्वानुक्तेर्निर्बीजत्वप्रसङ्गात् ।

एवं पाद्मे "दशसप्तपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः । नाप्तवान् मनसस्तोषं भारतेनापि भामिनि । चकार संहितामेतां श्रीमद्भागवतीं परामि"ति सप्तदशत्वोक्तिरपि श्रीमद्भागवतस्यैवैतां संहितामिति निर्दिष्टस्याष्टादशत्वं गमयति । देवीभगवतस्याष्टादशत्वेऽष्टादशपुराणानीत्युक्तेर्निर्बीजत्वप्रसङ्गात् । किञ्च, नारदीये ब्राह्मादीन्यष्टादशपुराणानि प्रदर्श्य क्रमेण तेषामनुक्रमणिका दर्शिता तत्र—

विरिञ्चे शृणु, वक्ष्यामि वेदव्यासेन यत्कृतम् ।
श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं वेदसम्मितम् ॥
तदष्टादशसाहस्रं कीर्तितं पापनाशनम् ।
सुरपादपरूपोऽयं स्कन्धैर्द्वादशभिर्युतः ॥
भगवानेव विप्रेन्द्र विश्वरूपी समाहितः ।
तत्र तु प्रथमे स्कन्धे सूतर्षीणां समागमे ॥
व्यासस्य चरितं पुण्यं पाण्डवानां तथैव च ॥

इत्यादिना द्वादशानां स्कन्धानामनुक्रमणिका प्रोक्ता, तस्याश्च श्रीमद्भागवत एवोपलभ्यमानत्वात्तस्यैवाष्टादशत्वं गमयति, न तु देवीभागवतस्य तत्र तस्यानुपलम्भात् ।

किञ्च,

"वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम् ।

गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने ॥
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै ।

इत्युक्त्या,

सत्त्वाधमे मात्स्यकौर्म्ये समाहुर्वायुं चाहुः सात्त्विकं मध्यमं च
विष्णोः पुराणं सत्त्वोत्तमे गारुडं चाहुरार्या"—

इति गारुडोक्त्या च भागवतस्य सात्त्विकपुराणत्वमुक्तम् । अन्यानि विष्णोः प्रतिपादकानि सर्वाणि तानि सात्त्विकानि इति चाहुरिति गारुडोक्त्या, "सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेरि"ति कौर्म्योक्त्या च सात्त्विकपुराणानां विष्णुपरत्वमुक्तमतो विष्णुपरमेव भागवतमष्टादशान्तर्गतं न तु देवीभागवतम् । किञ्च, स्कान्दे प्रभासखण्डे "चतुर्भिर्भगवान्विष्णुर्द्वाभ्यां ब्रह्मा तथा रविः । अष्टादशपुराणेषु शेषेषु भगवान् शिव" इत्युक्तम् । स्कान्दे सौरसंहितायां च "कथ्यते दशभिर्विप्राः पुराणैः परमेश्वरः । चतुर्भिर्भगवान्विष्णुर्द्वाभ्यां ब्रह्मा प्रकीर्तितः ॥ एकेनाग्निस्तथैकेन भगवांश्चण्डभास्करः" इत्युक्तम् । ततोऽपि विष्णुपरमेव सात्त्विकोत्तमं, भागवतमष्टादशान्तर्गतं न तु देवीभागवतमिति निश्चीयते ॥

अत्र प्रत्यवतिष्ठमाना देवीभागवतपक्षपातिनो यदाहुः—श्रीमद्भागवतं न पुराणम् दशलक्षणत्वात्, पुराणानां पञ्चलक्षणत्वनियमादिति, तन्न; ब्रह्मवैवर्ते कृष्णखण्डे चरमाध्याये—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ।
एतदल्पपुराणानां लक्षणं च विदुर्बुधाः ।
महतां च पुराणानां लक्षणं कथयामि ते ।
दशाधिकं लक्षणं च महतां परिकीर्तितम्" ॥

इति वचनेन दशलक्षणस्यापि पुराणत्वसिद्धेः । उक्तं चैतच्छ्रीभागवते—"दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः । केचित्पञ्चविधं ब्रह्मन्महदल्पव्यवस्थये"ति । यच्चाहुः—श्रीमद्भागवते नारद उवाच- "कृतवान्भारतं यस्त्वमि"त्यादिना भारतोत्तरमसन्तुष्टो व्यासः श्रीमद्भागवतं चकारेत्युक्त्या श्रीमद्भागवतस्य भारतोत्तरत्वं प्रतीयते, तच्च श्रीमद्भागवतस्याष्टादशान्तर्गतत्वे—

अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः ।
भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहितम् ॥

इति मात्स्यवचनेन भारतपूर्वकबोधकेन विरुध्यते । अतो न श्रीमद्भागवतमष्टादशान्तर्गतमिति । तन्न, देवीभागवते तृतीयस्कन्धे—

"वेदशाखापुराणानि वेदान्तं भारतं तथा ।"
कृत्वा सम्मोहसम्मूढ"

इत्यादिना भारतोत्तरं सम्मूढो व्यासो देवीमाहात्म्यं ज्ञातवानित्युक्त्या देवीभागवतस्यापि भारतोत्तरत्वं प्रतीयते । तच्च देवीभागवतस्याष्टादशान्तर्गतत्वपक्षेऽप्युक्तमात्स्यवाक्येन विरुध्यते इति त्वत्पक्षेऽपि दोषस्तुल्य एव । यदि चोक्तं मात्स्यवचनं पुराणानि चतुर्लक्षाणि भारतमेकलक्षं

रामायणं लक्षपादसङ्ख्यम् । एवं सपादाः पञ्चैते लक्षा मर्त्ये प्रतिष्ठिता इति सङ्ख्या प्रकरणस्थत्वात्, सङ्ख्येयस्वरूपमात्रपरम्, न तु सङ्ख्यानपेक्षितक्रमपरमऽतो न भारतोत्तरत्वपरस्य वचनस्य बाधकम्, स्वार्थपरान्यपरयोः स्वार्थपरस्यैव प्राबल्यादित्युच्यते । यदि वा भारतकृतिर्मनसा पश्चात्कृतिस्तु वागीन्द्रियेणेति भेदादविरोध इत्युच्यते तदास्मत्पक्षेऽपि न दोषः । यच्चाहुः— भारते युधिष्ठिरं प्रति भीष्मेण शुकस्य मुक्तिरुक्ता सा च विदेहमुक्तिरेव भारतटीकायामुक्तम् ।

श्रीमद्भागवते तु तद्विरुद्धः शुकपरीक्षित्सम्वाद उच्यते, अतः श्रीमद्भागवतं भारतविरुद्धत्वादप्रमाणमिति, तन्न, भारते हि शुक्तिमुक्त्वा,—

छायां स्वपुत्रसदृशीं सर्वतोत्तमगां सदा ।
द्रक्ष्यसे त्वं च लोकेऽस्मिन्मत्प्रसादान्महामुने ॥

इति शुकप्रतिनिधिसद्भावो दर्शितः । शुकप्रतिनिधेश्च परीक्षित्कालेऽप्यनुवृत्तिसम्भवान्न सम्वादानुपपत्तिरिति कुतः श्रीमद्भागवताप्रामाण्यम् ?

अन्यथा, भारतदेवीभागवतादौ शुकस्य भार्यापुत्रादिकथनमपि कथं प्रमाणं स्यात् ? यच्चाहुः विष्णुपुराणे मायामोहननामकपुरुषस्य विष्णुना स्वशरीरादुत्पादितस्य बौद्धावतारत्वमुक्तम्, श्रीमद्भागवते तु बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीटकेषु भविष्यतीत्युच्यते, अतः श्रीमद्भागवतविष्णुपुराणविरोधादप्रमाणमिति, तन्न, पुराणानां भिन्नभिन्नकल्पवृत्तान्तपरत्वस्य मात्स्यादिषूक्तत्वात्कल्पभेदे च वृत्तान्तभेदसम्भवान्न बौद्धावतारवृत्तान्तभेदो विरुध्यते ।

अन्यथा "मयामोहस्वरूपोऽसौ बुद्धो दनुसुतोऽभवदि"त्याग्नेयवचनं "बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीटकेषु भविष्यती"ति गारुडवचनं च प्रमाणं न स्यात् । यच्चाहुः—

यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः ।
वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते ॥

इत्यादि मात्स्योक्तो गायत्र्यधिकारो देवीभागवत एवास्ति न श्रीमद्भागवत इति छन्दोविशेषस्य मन्त्रविशेषस्य वा गायत्रीपदमुख्यार्थस्योभयत्राप्यदर्शनात् । गायत्रीघटकधीमहीति पदस्य गायत्रीपदलक्ष्यार्थस्योभयत्रापि सत्त्वात्तच्च धीमहि प्रचोदयादिति पदद्वयमेव गायत्रीपदलक्ष्यार्थः । स च देवीभागवतारम्भ एवास्ति न श्रीमद्भागवतारम्भ इति वाच्यम्, एकपदस्यापि गायत्रीपदलक्ष्यत्वे बाधकाभावेन पदद्वयलक्ष्यताया आवश्यकत्वसिद्धेः । वस्तुतस्तु—

गायत्रीभाष्यरूपोऽयं द्वादशस्कन्धसंयुतः ।
ग्रन्थोष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः ॥

इति गौरीतन्त्रवचनसमानार्थत्वाय गायत्र्यर्थ एव गायत्रीपदलक्ष्यत्वमर्हति । गायत्र्यर्थश्च विष्णुध्यानम् । न तु शिवशक्तिसूर्यादिध्यानमित्याग्नेये गायत्र्यर्थनिरूपणाध्याये निर्णितम् । विष्णुध्यानं तु श्रीमद्भागवतप्रथमश्लोक एव वर्ण्यते, न तु देवीभागवते प्रथमश्लोके । शक्तिध्यानस्यैव तत्र वर्णनात ॥

यच्चाहुः—

सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये वै येऽन्तरामराः ।
तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तद्भागवतमुच्यते ॥

इति मात्स्योक्तं सारस्वतकल्पात्मकं भागवतम् । तस्य लक्षणं श्रीमद्भागवते नास्ति, तत्र सारस्वतकल्पानुक्तेरतो न तदष्टादशान्तर्गतमिति । तन्न । यतो मात्सीयं सारस्वतकल्पवाक्यं न भागवतलक्षणपरत्वे "यत्तदीशानकल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च वशिष्ठायाग्निना प्रोक्तमाग्नेयं तत्प्रचक्षते" इत्यादिमात्सीयकल्पान्तवाक्यानामपि लक्षणपरत्वस्य वक्तव्यत्वेनाग्नेयादेरपीशानादिकल्पोक्तिविधुरस्याष्टादशबहिर्भावप्रसङ्गात् । किन्तु, मात्सीयकल्पवर्णनाध्यायस्थसङ्कीर्णसात्त्विकराजसतामसकल्पभेदवाक्यवदिमानि पुराणवर्णनाध्यायस्थानि सारस्वतादिकल्पभेदवाक्यान्यपि परस्परविरुद्धवृत्तान्तवादिनां पुराणवचनानामप्रामाण्यनिरासाय भिन्नभिन्नकल्पवृत्तान्तविषयत्वप्रतिपादनपराण्येव । एवं सति मात्स्यवाक्यैरेव पुराणानां यथोक्तलक्षणादिमानसिद्धभागवतत्वादिविशेषणानां प्रति नियतकल्पसम्बन्धस्य विधित्सितस्य प्रतीतिनिर्वाहान्न भागवतादौ सारस्वतकल्पोक्त्यपेक्षास्ति । यच्चाहुः—"द्वात्रिंशत्त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखा" इत्यादि पद्मोक्त्या भागवतस्य द्वात्रिंशदधिकं शतत्रयसङ्ख्या अध्यायाः प्रतीयन्ते । व्याख्यातास्तु श्रीधरस्वामिभिस्ते त्र्यधिका । अतो न श्रीमद्भागवतमष्टादशान्तर्गतमिति । तन्न । अघासुरकथात्मकाध्यायत्रयस्य प्रक्षिप्तत्वेन श्रीमद्भागवतान्तर्गतत्वासिद्धेरितिमध्ववल्लभाचार्यादयः । "ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः । पञ्चत्रिंशोत्तराध्यायस्त्रिशती युक्त ईश्वरी"—तिगौरीतन्त्रवचनप्रामाण्यात्पञ्चाशदधिकशतत्रयसङ्ख्यापक्षोऽपि प्रमाणवानित्यन्ये । यच्चाहुः—

हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा । गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः ॥

इति श्रीधरस्वामिलिखितपुराणवचनोक्त्या हयग्रीवब्रह्मविद्या श्रीमद्भागवते नास्तीति । तन्न । यतः श्रीमद्भागवते षष्ठस्कन्धे अश्वशिरा दध्यङ्ङाथर्वणो नारायणवर्मोपदिदेशेत्युक्तम् । तत्र दध्यङ्ङाथर्वण एव हयग्रीवोऽश्वशिरस्त्वात्, नारायणवर्मैव ब्रह्मविद्या, नारायणस्य ब्रह्मत्वात् । यद्वा, पञ्चमस्कन्धे "भद्राश्ववर्षे साक्षाद्भागवतो वासुदेवस्य प्रियां तनुं धर्ममयीं हयशीर्षाभिधानां परमेण समाधिना सन्निधाप्येदमभिगृणन्नुपधावन्ति ॐ नमो भगवते धर्मायात्मविशोधनाय नम" इत्यादि गद्यवाक्येन हयग्रीवरूपस्य ब्रह्मणो मन्त्ररूपा विद्या दर्शिताऽस्ति । इयं विद्या देवीभागवतेऽप्यष्टमस्कन्धे प्रसिद्धा ।

यच्चाहुः—अत एव भागवतनामान्यदिति नाशङ्कनीयमिति श्रीधरोक्त्या भागवतं नामान्यदिति पक्ष ऐतिह्यसिद्ध इति लभ्यते । ऐतिह्यसिद्धत्वादेवाद्यापि प्रसिद्धिमर्हतीति, तन्न, ऐतिह्यबाधकप्रमाणस्यात्त एवेत्युक्त्या दर्शितस्य जागरूकत्वे ऐतिह्यानुवृत्त्यनुपपत्तेः । यच्चाहुः—

'अम्बरीषशुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु' इति पाद्मेऽम्बरीषं प्रति गौतमवचनेन शुकप्रोक्तत्वं भागवतविशेषणमुक्तम् । तच्च देवीभागवत एवास्ति, न श्रीमद्भागवते, यतः प्रोक्तमित्यस्य पाठितमित्येवार्थः । प्रवचनशब्दस्याध्यायनार्थकत्वप्रसिद्धेः । पाठितं तु शुकाय व्यासेन देवीभागवतमेव, "व्यासेन कृत्वाऽथ शुभं पुराणं शुकाय पुत्राय महात्मने यत् । वैराग्यशोभाय च पाठितं वै विज्ञाय चैवारणिसम्भवाय" इति देवीभागवतोक्तेः । श्रीमद्भागवतं तु शुकसम्वादरूपं न शुकाय शुकेन वाध्यापितम्, सम्वादस्याध्यापनत्वायोगादिति तन्न "ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसंयुतः । परीक्षिच्छुकसम्वादः श्रीमद्भागवताभिधः ॥ पुराणेषु तु सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम् । यत्र प्रतिपदं विष्णुर्गीयते बहुधर्षिभिः ॥ इति सङ्कल्प्य मनसा श्रीमद्भागवताभिधम् । जन्माद्यस्य यतश्चेति

धीमह्यन्तमुपावदेद्" इत्यादि पूर्वापरपाद्मवचने बोधितानां परीक्षिच्छुकसम्वादत्वादिविशेषणानां देवीभागवते कथमपि समन्वयासम्भवेनाम्बरीषशुकप्रोक्तमिति पाद्मवचनस्य देवीभागवतपरत्वायोगाच्छुकप्रोक्तत्वस्य च शुकाय शुकेन वा प्रोक्तत्वरूपस्य शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः । स तमध्यापयामास महाराजं परिक्षितमि"ति श्रीमद्भागवतवचनेन श्रीमद्भागवतेऽपि सम्भवात्। यच्चाहुः—

"लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमसिंहसमन्वितम् ।
प्रोष्ठपद्यां पौर्णमास्यां स याति परमां गतिम्" ॥

इति मात्स्यवचनोक्तेः । सिंहो देव्या एव वाहनम्, न तु भगवतः वाहनं च यद्यस्य तदेव तदीयपुराणदाने दातव्यम्, पौर्णमासी च देव्या एव तिथिर्न भगवतः, अतः इदं मात्स्यवचनं देवीभागवतदानपरमेव न श्रीमद्भागवतदानपरमिति। तन्न, मात्स्यवैष्णवादिदाने मत्स्यधेन्वादेरावाहनस्यैव देयत्वेन वाहनमेव देयमिति नियमासिद्धेः। गौरीतन्त्रे श्रीमद्भागवतदानप्रस्तावे "अष्टादशपलैः कुर्याद्धेमसिंहासनं प्रिये" इत्युक्त्या सिंहपदेन ग्राह्यत्वाच्च पौर्णमासी च देव्या एव नान्यस्येत्यत्र न किञ्चिन्मानमस्ति सर्वेषां पुराणानां प्रायेण पौर्णमास्यां देयत्वोक्तेः । यच्चाहुः—व्यासकृतग्रन्थान्तरेषु पदानि वाक्यानि च सुगमार्थानि, श्रीमद्भागवते तु दुर्गमार्थान्यतो न श्रीमद्भागवतं व्यासकृतमिति । तन्न, सर्वज्ञेन स्वतन्त्रेच्छेन व्यासेन सुगमस्येव दुर्गमस्यापि ग्रन्थस्य सुकरत्वेन दुर्गमत्वस्य व्यासकृतत्वाभावासाधकत्वात् । अन्यथा यत्र पदे वाक्ये वा तत्र मन्दमतेः क्लेशस्तस्य सर्वस्य व्यासकृतत्वाभावप्रसक्त्या भारतादौ पुष्करप्रादुर्भावादिग्रन्थस्य दुर्गमतरस्य नितरां व्यासकृतत्वाभावप्रसङ्गात् ।

यच्चाहुः—नव्याशिवपुराणे उत्तरभागेऽष्टादशपुराणान्युक्त्वा तन्नामनिर्वचनप्रसङ्गे भगवत्याश्च दुर्गायाश्चरितं यत्र वर्तते, तत्तु भागवतं प्रोक्तम्। तच्च देवीभागवत एवास्ति न श्रीमद्भागवते इति। तन्न, श्रीमद्भागवतेऽपि दशमस्कन्धे भगवत्या दुर्गाया अवतारस्य वर्णितत्वेनोक्तविशेषणानपायात्, नह्युक्तवचनस्य यत्र दुर्गाचरितं प्राधान्येन वर्ण्यते तद्भागवतमित्यर्थः। उक्तवचने प्राधान्येनेति पदाध्याहारस्यावश्यकत्वासिद्धेः । न च दुर्गाचरितस्य भागवतासाधारणधर्मत्वाय प्राधान्येनेति पदमध्याहर्तव्यम् । अध्याहारोऽपि कालिकापुराणादिसाधारण्यापरिहारात्, वृत्रासुरवधादिवद्दुर्गाचरितस्यासाधारणत्वानपेक्षायाः सुवचत्वाच्च । किञ्च, देवीपुराणकशब्देन कोऽर्थो विवक्षितः? न तावत् देवीपुराणसञ्ज्ञो ग्रन्थविशेषस्तस्य गायत्र्यधिकारादिभागवतधर्मशून्यत्वेन भागवतत्वाप्रसक्त्या निषेधवैयर्थ्यात्। दुर्गाचरितवत्त्वमात्रेण प्रसक्त्यभ्युपगमे कालिकापुराणस्यापि प्रसक्तत्वेन निषेधार्हतया तदनिषेधस्य निर्बीजत्वप्रसङ्गात्। नापि देवीवर्णनं यत्रास्ति तदित्यर्थः । विधिनिषेधयोरेकविषयत्वप्रसङ्गात्। नापि यत्रान्यानुषङ्गितया देवी वर्ण्यते तदित्यर्थः । देवीभागवतमित्यत्रैव देवीपुराणमित्यत्रापि देव्याः प्राधान्यस्यैव प्रतीयमानत्वेनानुषङ्गितायाः शब्दत्वायोगात् । यदि च यत्र प्राधान्येन देवी वर्ण्यते, तदत्र देवीपुराणशब्दार्थ इत्युच्यते । तदा देवीभागवतस्य देवीपुराणत्वेन निषेधविषयस्य विधिविषयत्वानुपपत्त्या प्रासङ्गिकदुर्गाचरितवतः श्रीमद्भागवतस्यैव विधिविपर्यत्वं पर्यवस्यति, तस्माद्भागवतमेवाष्टदशान्तर्गतं न देवी भागवतमिति सिद्धम् ॥

श्रीमद्भागवतं येन पुराणार्णवशोधनात् । दामोदरेण रूपेण निर्णीतं तं हरिं नुमः ॥ १ ॥

इति श्रीदामोदरविरचितं श्रीमद्भागवतनिर्णयसिद्धान्तः समाप्तः ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

नेतोपाह्वभट्टश्रीरामकृष्णशर्मविरचितः

श्रीमद्भागवतविजयवादः ।

श्रीमद्गिरिधराधीशपादाम्बुजरजःकणाः ।
प्रसीदन्तु सदा भक्तस्वान्तानन्तसुखाब्धयः ॥ १ ॥
सुन्दरमरविन्दद्युति वृन्दारकवृन्दवन्द्यसुखकन्दम् ।
शिरसा मुकुन्दचरणद्वन्द्वं वन्दामहेऽमन्दम् ॥ २ ॥
पाखण्डवारणेन्द्राणां दारणे सिंहसन्निभान् ।
श्रीमदाचार्यवर्याणां चरणान्प्रणमाम्यहम् ॥ ३ ॥
निजोद्गमविनिर्धुतप्रलययुक्तिपाखण्डवाक्-
प्रचण्डमहिमोद्धतिप्रसरकीर्तिदिङ्मण्डलाम् ।
व्रजेन्द्रहृदयङ्गमाखिलविशेषभावस्फुर-
त्प्रतापनिगमागमां हुतभुगिन्द्रवाणीं नुमः ॥ ४ ॥
कुतर्कनिकराटवीदवकृशानुमूर्तिः परा
शुकार्यवचनामृताम्बुधिसुधांशुभूतिर्वरा ।
रसार्द्रव्रजनायिकापतिविहारभावोद्धुरा
सुवैट्ठलमुखाम्बुजा जयति भारती सत्वरा ॥ ५ ॥
श्रीमद्गिरिधरचरणान्गिरिधरभावान् गुरूननिशम् ।
गोपालसूनुवर्यान्यदुपतिवंश्यान्मुदा वन्दे ॥ ६ ॥
श्रीपुरुषोत्तमचरणान्भगवद्व्यसनात्मजान्नमामि ।
वेदान्तपद्मभानून्यद्ग्रन्था विश्वसद्वन्द्याः ॥ ७ ॥
श्रीमद्भागवताभिधः सुरपतिः सम्राड्डुदारश्रवाः
कामक्रोधमदादिहृद्विजयते सिंहासने राजते ।
तस्मात्तद्विजयाभिधानमधुनाब्रूते प्रणम्याथ तं
ग्रन्थं संशयवंशवृन्दपरशुं श्रीरामकृष्णः सुधीः ॥ ८ ॥
श्रीमद्भागवतामृताम्बु[illegible] हित्वा हरेर्निन्दका
दोषग्रामवराहगर्तनिचयेऽमेध्याशिनः शेरते ।
तद्वाक्यप्रकरैकमोहितधियो हंसा यथा मानसा
माभूवन्निति मे विचाररचना विद्वन्मुखे मोदताम् ॥ ९ ॥
श्रीमद्भागवतामृतरसिका विद्वत्सभाभूषाः ।
सिद्धान्तविजयवादं सम्यक् पश्यन्तु मत्कृतं सन्तः ॥ १० ॥

अथ वेदवेदान्तसारस्य निखिलपुराणचक्रवर्तिनः श्रीमद्भागवतस्योत्कर्षमसहमानाः स्वमनीषया यत्किञ्चित्पुराणं भागवतत्वेन कल्पमानाः बहुविधवादिनो विवदमाना आहुः—

तत्र, गङ्गेशोपाध्यायाः—**“नमस्कृत्य शिवां देवीं शर्वं भागवतं तथा । पुराणं सम्प्रवक्ष्यामि यथोक्तमृषिभिः पुरा”** इति देवीपुराणाद्यपद्ये भागवतपदाद्देवीपुराणमेव भागवतमित्याहुः, तन्न रमणीयम्; **“यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः । वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते” “सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरामराः । तद्वृत्तान्तोद्भवं चैतत्पुराणं परिकीर्तितम्”** इति मात्स्योक्तलक्षणस्य “ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः । हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा । गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः” इति स्कान्दोक्तलक्षणस्यासम्भवात् । देवीपुराणसमाप्तौ भागवतपदानुल्लेखाच्च । “सर्वार्थबोधकं शास्त्रं ब्रह्मवक्त्रविनिःसृतम् । तेनापि नरशार्दूल कीर्तितं नरवाहनम् । ब्रह्मा दक्षप्रजापतये शिवो ब्रह्मणे चोक्तवान् । लक्षमात्रेण लोकस्य विद्या देवेन भाषिता” इति देवीपुराणस्याभ्युदयपादसमाप्त्यध्यायवाक्ये[1] लक्षसङ्ख्याकत्वेन देवीपुराणस्याष्टादशसहस्रसङ्ख्याविरोधाच्च । देवीपुराणस्य विजयत्रैलोक्याद्युदयनिशुम्भशुम्भमथनाख्यपादत्रयविशिष्टत्वेन द्वादशस्कन्धसम्मितत्वरूपलक्षणस्याभावाच्च । “नमस्कृत्य शिवां देवीं शर्वं भागवतं तथा । पुराणं सम्प्रवक्ष्यामि यथोक्तमृषिभिः पुरा” इति वचने भागवतमिति पदस्य शर्वविशेषणत्वात् । **“वैष्णवानां यथा शम्भुः”** इति द्वादशस्कन्धवाक्यात् । “भस्मोद्धूलितदेहस्तु जटामण्डलमण्डितः । अहं ध्यायामि तं विष्णुं परमात्मानमव्ययम् । विष्णोराराधनार्थाय व्रतचर्या पितामह” इति गारुडद्वितीयाध्याये रुद्रवाक्याच्च । न च भागवतपदस्य प्रस्तुतपुराणविशेषणत्वं शङ्क्यम्, तथापदेन व्यवधानात् ।

अथवाऽस्तु भागवतपदस्य प्रस्तुतपुराणविशेषणत्वम्, तथापि **“यत्राधिकृत्य”** इत्यादिलक्षणाक्रान्ततया न श्रीमद्भागवतस्य पदवीमधिरोढुं तदर्हति, प्राचीनदानसागरस्मार्तनिबन्धकारस्तु, तत्तत्पुराणोपपुराणसङ्ख्याबहिष्कृतनिन्दितकर्मयोगात्, पाखण्डशास्त्रानुगतं विविच्य देवीपुराणं न निबद्धमत्रेत्युक्त्वा देवीपुराणस्याप्रामाण्यमङ्गीचकार । वस्तुतस्तु तस्योपपुराणत्वं सर्वसम्मतम् । न चाष्टादशोपपुराणसङ्ख्यायां देवीपुराणं न श्रूयत इति वाच्यम्, उपपुराणानामष्टादशासङ्ख्यातोऽप्यधिकत्वात् ।

केचित्तु, “यदिदं कालिकाख्यं च मूलं भागवतं स्मृतम्” इति हेमाद्रौ पुराणदानप्रस्तावे कालिकापुराणवचनात्कालिकापुराणं भागवतमित्याहुः, तन्मूलमित्यपि पाठ इति च । तदप्यापातरमणीयम् । तत्रैव कालिकापुराणे, “शैवं यद्वायुना प्रोक्तं वैरञ्चं वैष्णवं तथा । यदिदं कालिकाख्यं च मूलं भागवतं स्मृतम् । सौरं च नारदीयं च मार्कण्डेयं च वह्निजम् । भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गं चैव त्रयोदशम् । वामनं कौर्मं मात्स्यं च सप्तदशं च गारुडम् । स्कान्दमष्टादशं प्रोक्तं पुराणं च न संशयः” इति लैङ्गादीनां त्रयोदशत्वादिकथनस्य ‘भागवतम्’ इतिपदस्य कालिकापुराणविशेषणत्वे विरोधापत्तेः । तस्मात्कालिकापुराणतो भिन्नमेव भागवतमुपपुराणम् । एतेन यदिदं कालिकाख्यं तन्मूलं भागवतं स्मृतम्” इति पाठमङ्गीकृत्य, तन्मूलं तस्य कालिकापुराणस्य मूलं भागवतं देवीभागवतमित्यर्थो निबन्धकारैर्दर्शितः । यथा ह्युपपुराणान्येकै-

1 अत्र पङ्क्तिद्वयात्मको ग्रन्थः खपुस्तके नास्ति ।

कस्मान्महापुराणान्निर्गतानि, तथेदं भागवतादुत्पन्नमिति यावत् । तच्च भागवतं वैष्णवं तन्मूलं भवितुं नार्हति । देव्युपपुराणस्य देवीपुराणमूलकत्व एव सामञ्जस्यात् । शैवोपपुराणानां शैवेभ्य एव, वैष्णवपुराणानां वैष्णवेभ्य एवोत्पत्तिदर्शनादिति देवीभागवतमेव तन्मूलमित्युक्तिः परास्ता । विशदतया परास्ता भविष्यति च ।

तदुपपुराणं भागवतं किमिति जिज्ञासायां यदादित्यपुराणे “ततो भागवतं प्रोक्तं भागद्वयविभूषितम्” इत्युक्त्वा “ददाति सूर्यभक्ताय यस्तु भागवतं द्विजः । सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वदोषविवर्जितः । जीवेद्वर्षशतं साग्रमन्ते वैवस्वतं पदम्” इति यद्दानफलमुक्तं, तदेव बोध्यम् ।

कश्चित्तु, कालिकापुराणसहचरितत्वेन देवीभागवतपरमित्याह । इतरस्तु देवीभागवतं निर्मूलमाह । अयं विचारश्च विस्तरतो निरूपणीयोऽग्रे ।

न च “शैवं यद्वायुना प्रोक्तम्” इत्यादिमहापुराणप्रक्रमपाठात्कालिकापुराणस्य महापुराणत्वमिति वाच्यम्, क्रमभेदात्, महापुराणगणनायां सर्वत्र कूर्मस्कान्दविष्णुमत्स्यादिक्रमदर्शनात् । कूर्मपुराणे प्रथमाध्याये चोपपुराणगणनायां द्वादशत्वेन कालिकापुराणस्य गणनात् । “आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहं ततः परम् । तृतीयं नारदमुपदिष्टं कुमारभाषितम् । चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नारदभाषितम् । दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदीयमतः परम् । कपिलं मानवं चैव तथैवोशनसेरितम् । ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमेव च । माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसञ्चयम् । पराशरोक्तमपरं मारीचं भार्गवाह्वयम्” इत्येव वाक्यात् ।

अत्र कश्चित् “पराशरोक्तमपरम्” इत्यस्याग्रे “तथा भागवताह्वयम्” इति कल्पितवान् । तदयुक्तम् । मारीचभार्गवयोरपलापापत्तेः । एकस्य भागवतस्य निवेशे एकस्य न्यूनतायां सप्तदशत्वापत्तेः अनेकेषु पुस्तकेषु “मारीचं भार्गवाह्वयम्” इत्येव पाठात् । सूतसंहितायां “ततः कालीपुराणाख्यं वासिष्ठं मुनिपुङ्गवाः” इत्युपपुराणेष्वेव गणनात् । अतएव कालिकापुराणोक्तगणनायां सौरनिवेशोऽपि सङ्गच्छते । अतः पुष्करपुराणशिवरहस्यविष्णुधर्मोत्तरविष्णुरहस्यशैवादीन्युपपुराणानि भिन्नान्येवेति तत्रोक्तं भागवतं भिन्नमेवेति निश्चयः । तस्मादादित्यपुराणमपि न श्रीमद्भागवतपदवीमधिरोढुमर्हति । मात्स्योक्तलक्षणानाक्रान्तत्वात् । एतेनादित्यपुराणस्य भागवतत्वं वदन्तो निरस्ताः ।

यत्तु भास्कराचार्याः, “सर्वचैतन्यरूपां तां विद्यामाद्यां च धीमहि । बुद्धिं यां नः प्रचोदयात्” इति देवीभागवतप्रारम्भश्लोकस्त्रिपदागायत्रीरूप उपपद्यते । स्कान्दे “हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा । गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः” इति स्मर्यते । विष्णुभागवते “जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्” इत्यारम्भश्लोके शार्दूलविक्रीडिते “गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः” इत्यस्यानन्वयादिति विष्णुभागवतपरमिदं लक्षणं न सम्भवति । “यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः । वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते” इति मात्स्योक्तलक्षणेऽपि गायत्रीमारभ्येत्यस्यानुपपत्तिर्द्रष्टव्या । यत्तु “सत्यं परं धीमहि” इति गायत्र्यन्तर्गतपदघटितत्वाद्गायत्रीसमानार्थकत्वाद्वा गायत्र्यारम्भोपपत्तिरिति, तन्न; गायत्र्यन्तर्गतपदानां गायत्रीप्रतिपाद्यब्रह्मणश्च सर्वत्र सुलभतयाऽसा-

धारणधर्मरूपलक्षणस्याभावाद् देवीभागवताद्यपद्य एवोपलभ्यमानत्वात् । "सारस्वतस्य कल्पस्य वृत्तान्तो यत्र वर्ण्यते । गायत्रीछन्दसाऽऽरम्भस्तद्भागवतमुच्यते" इति दिनकरलिखितवचने गायत्रीछन्दस एव गायत्रीप्रारम्भकथनाद्देवीभागवतमेव, न विष्णुभागवतम्, एवञ्चैतद्वचनानुसारेण "गायत्र्या च समारम्भः", "यत्राधिकृत्य गायत्रीम्" इत्यत्रापि गायत्रीछन्दसा यत्रारम्भो गायत्रीछन्दोऽधिकृत्यारम्भो वेत्यर्थ एव ।

किञ्च, "हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्य च" देवीभागवत एव विस्तरशो रूपणाद्विष्णुभागवते न तथा निरूपणम् । अल्पनिरूपणेऽपि सारस्वतवृत्तान्तस्य देवीभागवत एवोपलम्भादतो मात्स्यपुराणोक्तसकलभागवतलक्षणानां देवीभागवतपरत्वमेव । "प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम्" इति मात्स्यश्रीमद्भागवतवचनयोः सिंहवाहनत्वेन लिङ्गेन देवीविषयतया देवीभागवतमेव वक्ति ।

किञ्च, विष्णुभागवतं[1] हि भारतोत्तरं दशलक्षणलक्षितं निर्मितमिति श्रूयते । मात्स्यस्कान्दयोः "अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः । भारताऽऽख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहणम्" इति, "चक्रे भारतमाख्यानं वेदार्थैरुपबृंहितम्" इति च क्रमेण पठ्यते । तेनाष्टादशपुराणबहिर्भूतत्वे सिद्धे कथं महापुराणदानप्रकरणस्य श्लोकेषु विष्णुभागवतस्यावसर इति । "अम्बरीषशुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु" इत्यत्र शुकाय प्रोक्तमिति विग्रहे देवीभागवतपाठमेव विधत्ते । तस्माद्देवीभागवतं महापुराणं, विष्णुभागवतमुपपुराणमित्याहुः ।

तन्न, विचारचारु; "यत्राधिकृत्य" इत्युक्त्या श्रीमद्भागवतपरतयैवास्य लक्षणस्य युक्तत्वात् । उत्तरोत्तरानुवृत्ततया स्वार्थबोधकत्वरूपाधिकारलक्षणस्यार्थ एव सम्भवात् । तथा छन्दसो वक्तुमशक्यत्वात् । "अथ शब्दानुशासनम्" "अथ योगानुशासनम्" इत्यादावासमाप्तेः शब्दस्य योगस्य च विचारवत् । एवं च, "गायत्र्या च समारम्भः" इत्यत्रारम्भोऽधिकार इत्यर्थः । "अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः" इति महाभाष्ये 'अधिकारः प्रस्तावः' इति कैयटे । 'प्रारम्भः' इति विवरणकारैराम्भाधिकारयोः पर्यायत्वावबोधनात् । "सारस्वतस्य कल्पस्य वृत्तान्तो यत्र वर्ण्यते । गायत्रीछन्दसाऽऽरम्भस्तद्भागवतमुच्यते" इति दिनकरलिखितवचनस्य तु पुराणनाम्नाऽनुल्लेखादप्रसिद्धत्वाच्च निर्मूलत्वमेव भाति ।

अस्तु, समूलता वा, तथापि; गायत्रीछन्दसेत्यत्र गायत्रीमन्त्रेणेत्यर्थात्सानुकूलतैव; छन्दःशब्दस्य वेदपरत्वात् । तन्त्रेष्वपि गायत्र्यः सम्भवन्ति । तद्व्यावृत्तये तदुल्लेखः । यद्याग्रहेण छन्दःपरत्वमुच्यते, तर्हि; "अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः । गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः । पुराणानां साररूपः साक्षाद्भागवतोदितः । द्वादशस्कन्धसंयुक्तः शतविच्छेदसंयुक्तः । ग्रन्थोष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः" इतिगरुडपुराणवचनस्य विरोधो दुर्वारः । पाद्मे श्रीमद्भागवतमाहात्म्य एकोनविंशाध्याये "अर्थो यो ब्रह्मसूत्राणाम्' इत्यारम्य "श्रीमद्भागताभिधः" इत्यन्तं गारुडसमं पठित्वा "हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा । गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः" इत्युक्तम् । अत्र "गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ" "गायत्र्या च समारम्भः" इत्युक्तेश्च विरोधो दुष्परिहरः । "गायत्रीभाष्यरूपोऽयं द्वादशस्कन्धसंयुक्तः । ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः" इतिहरगौरीतन्त्रस्य विरोधश्च दुष्परिहरः । अत एव "ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसंयुतः । परीक्षिच्छुकसम्वादः श्रीमद्भागवताभिधः । पुराणेषु च सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम् । यत्र प्रतिपदं विष्णुर्गीयते बहुधर्षिभिः । इति सङ्कल्प्य मनसा श्रीमद्भागवताभिधम् । जन्माद्यस्य यतश्चेति धीमहीत्यन्तमुपावदत्" इति पाद्मोक्तं देवीभागवते कथमप्यसम्बद्धमत्रैव सङ्गच्छते । "श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं वेदसम्मितम्" इति नारदीयवचने वेदसम्मितत्वकथनेन वेदमूलगायत्र्याः समारम्भस्यैव युक्तत्वात् । "अथवा हवनं कुर्याद्गायत्र्या सुसमाहितः । तन्मयत्वात्पुराणस्य परमस्यास्य तत्त्वतः" इति पाद्मे षडध्यायश्रीभागवतमाहात्म्ये सप्ताहश्रवणविधिप्रसङ्गे गायत्रीमयत्वेन प्रतिपादनात् ।

———

1 विष्णुभागवतं हि भारतोत्तरं दशलक्षणलक्षितस्य भागवतस्य निर्माणं श्रूयत इति भ्रान्तः पाठ इति मे प्रतिभाति ।

किञ्च दिनकरवचने गायत्र्यारम्भसमभिव्याहृतसारस्वतकल्पवृत्तान्तवर्णनरूपलक्षणकथनाच्छ्रीमद्भागवत एव तदुपलम्भः । "ब्रह्मानन्दमयो लोके व्यापिवैकुण्ठसञ्ज्ञितः । तल्लोकवासी तत्रत्यैः स्तुतो वेदैः परात्परः" इत्यादिवेदस्तुत्यनन्तरं प्रसन्नेन भगवता स्वलोकादिप्रदर्शनोत्तरं "आगामिनि विरञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते । कल्पे सारस्वते प्राप्ते व्रजे गोप्यो भविष्यथ" इति बृहद्वामनपुराणस्थवेदाकाङ्क्षितवरदानवाक्येन सारस्वतकल्पीयदशमचरित्रस्य स्पष्टं प्रतीयमानतया श्रीमद्भागवत एव सम्भवेन तदारम्भे गायत्र्यर्थस्यैवोपलभ्यमानत्वात् । एतेन सारस्वतकल्पीयकथा श्रीमद्भागवते नास्तीति परास्तम् । अयं विचारस्तु निपुणतयाऽग्रे स्फुटीभविष्यति ।

किञ्च, श्रीमद्भागवते प्रथमे "सूत जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः । देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया" इत्यादिना श्रीकृष्णचरितस्यैव मुख्यतया पृष्टत्वात्तस्यैव दशमे स्फुटतरनिरूपणेन सूतेनोत्तरदानाद्दशमे चरितस्य सारस्वतकल्पीयत्वात् । तत्र गोपीनां श्रुतिरूपत्वस्य बृहद्वामने निरूपणात् । गायत्र्याश्च वेदमूलतया वेदसारस्य श्रीमद्भागतस्यारम्भेऽवश्यमवेक्षणीयत्वात् ।

यत्तु, गायत्र्यार्थकत्वे गायत्रीप्रतिपाद्यब्रह्मणः सुलभतयाऽसाधारणधर्मरूपलक्षणस्यासम्भव इति, तन्न; गायत्र्याऽधिकारस्यान्यत्रानुपलम्भादत्रैवोपलम्भात् । लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतरूपासाधारणधर्मस्य विद्यमानत्वात् । तथाहि—"गायत्री वेदमाता, वेदत्रयार्थप्रतिपादिका, तदर्थः श्रीमद्भागवते प्रथमं वीजार्थं निरूप्यते । यथा वेदस्तथा श्रीमद्भागवतमेकबीजत्वात् । अतो गायत्र्यर्थनिरूपणेन वेदविरोधो वेदादौर्बल्यं च परिहृतम्" इति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेन वेदवत्प्रामाण्यं गायत्र्यारम्भेणैवेति वक्तव्यम् । गायत्रीछन्दसारम्भे नैतादृश उत्कर्षः सिध्यति । निर्विघ्नं वाक्प्रसवार्थं भगवदुपस्थानं कुर्वाणो व्यासो गायत्र्यर्थमाह 'तत्' पदं व्याचष्टे, 'सत्यं परम्' इति । "तत्सत्यमित्याचक्षते" इतिश्रुतेः परस्यैव त्रिकालाबाध्यत्वात् । "मत्तः परतरं नान्यत्" इति स्मृतेश्च । 'सवितुः' इति व्याचष्टे "जन्माद्यस्य" इत्यादि । "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इतिश्रुतेराद्यस्याकाशस्य यतो जन्म इति । अथवोपलक्षणविधया स्थिति-

प्रलयौ बोध्यौ। तौ वरेण्यभर्गःशब्दाभ्यां सूचितौ। 'वरेण्यम्'इत्यस्यार्थमाह–"तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा" इति। ध्यानविषये भगवति जडजीवधर्माणां मायिकत्वात्तन्निराकरणेन, माया, तत्कार्यसम्बन्धलेशाभावाद्वरणीयं सुन्दरमिति। यश्च निर्दोषः स एव वरणयोग्यः। 'भर्ग'शब्दं व्याचष्टे–"धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्" इति। एतेन भर्जयत्यखिलामविद्यामिति भर्गःशब्दः सान्तो व्याख्यातः। 'देव'पदव्याख्यानमाह–"स्वराड्" इति। स्वरूपानन्द एव रमत इति। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' इति व्याचष्टे–"तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये" इति। 'यः' इति गायत्र्यन्तर्गतस्य ग्रहणमिति श्रीमदाचार्यचरणोक्तानुसारेणोक्त इति।

केचित्तु, तत्सवितुर्देवस्येत्यस्यार्थो 'जन्माद्यस्य' इति। 'वामं वरेण्यं परम्' इत्यभिधानात् 'वरेण्यम्' इत्यस्य व्याख्यानं 'परम्' इति। 'भर्गः' इत्यस्य व्याख्यानं 'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्' इति। भर्गः सकलदुरितभञ्जनज्योतीरूपम्। 'तत्' पदार्थव्याख्यानं 'स्वराट्' इति। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' इत्यस्य व्याख्यानं 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' इति प्रोचुः।

अन्ये तु, 'तत्' पदस्य प्रतिपदं 'यः' इति, 'वरेण्य' पदस्य प्रतिपदं 'अभिज्ञः' इति, 'भर्ग' इति पदस्य प्रतिपदस्वरूपं 'तेजः' इत्यर्थः, देवपदस्य प्रतिपदं 'अस्य' इति, 'धीमहि' इत्येव, 'धिय' इति पदस्य प्रतिपदं 'कवयः' इति, 'प्रचोदयात्' इत्यस्य प्रतिपदं 'आदिकवयः' इति, 'प्रचोदयात्' इत्यस्य प्रतिपदं 'तेने' इत्याहुः।

वीरराघवाचार्यास्तु 'जन्माद्यस्य यतः' इति सवितृपदार्थ उक्त इति, 'यः' इति पदेन 'तत् शब्दार्थश्च सूचितः' 'सूरयः' इत्येनेन वरेण्यशब्दार्थ उक्तः, उक्तं हि सावित्रीविवरणे "वरेर्नेयं वरेण्यं न तु वरा ध्यातार ईरिताः', 'तेने' इत्यादिना देवशब्दार्थ उक्तः, 'द्योतनः सर्वभावानां द्योतमानः स्वयं सदा' 'अज्ञानमखिलं तुदन्' इति, तत्रोक्तं द्यन् खण्डयन्, दोवखण्डने, द्योतकः प्रकाशकः 'जन्मादि' इत्यनेन देवशब्दार्थ उक्तः, जगद्व्यापारो हि तल्लीला; 'धाम्ना' इत्यादिना भर्गःशब्दार्थ उक्तः, 'भर्गस्तेजः समाख्यातम्', 'भर्जयत्यखिलं कष्टम्' इति च तत्रोक्तम्; 'स्वराट्' स्वतन्त्रः, प्रेरकत्वेन धीप्रचोदनम्; "धियो धीपूर्विकाश्चेष्टा प्रेरणं तु प्रचोदनम्' इति हि तत्रोक्तम्; एवं प्रदर्शितया रीत्या गायत्र्युपक्रमत्वसिद्धिरित्याहुः।

सर्वेष्वेतेषु पक्षेषु श्रीमदाचार्यचरणोक्त एव सम्यक्। एवं च गायत्र्यर्थाधिकारस्यैवात्र सुलभतया 'जन्माद्यस्य यतश्चेति धीमही ह्यन्तमुपावदत्' इति पूर्वोदाहृतपाद्मवचनस्य प्रतिपदोक्तत्वेन जागरूकतया 'गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ' इत्याद्यन्येषामपि वचनानामानुगुण्येन च 'यत्राधिकृत्य गायत्रीं' 'गायत्र्या च समारम्भः' इति वचनयोः समावेशः श्रीमद्भागवत एव न देवीपुराण इति प्रमाणानुसारिणो विभावयन्तु।

एतेनारम्भश्लोके शार्दूलविक्रीडिते गायत्र्यारम्भस्यान्वयाद्विष्णुभागवतपरमिदं लक्षणं न सम्भवतीति निरस्तम्। अत एव "गायत्रीभाष्यरूपोऽयम्" इति हरगौरीतन्त्रवचनसमानार्थत्वाय गायत्र्यर्थ एव गायत्रीपदलक्ष्यत्वमर्हति।

गायत्र्यर्थश्च विष्णुध्यानं, न तु शिवशक्तिसूर्यादिध्यानमित्याग्नेये गायत्र्यर्थनिरूपणाध्याये

निर्णीतम्। विष्णुध्यानं तु श्रीमद्भागवतप्रथमश्लोक एव वर्ण्यते, न तु देवीभागवतप्रथमश्लोके। शक्तिध्यानस्यैव तत्र वर्णनादिति दामोदरशास्त्रिण आहुः।

"ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधिः स्मृतः" इति भगवदुक्त्या, "परं ब्रह्म परं धाम" इति कृष्णसखवाक्ये परब्रह्मत्वेन बोधितस्य श्रीकृष्णस्य गायत्र्यां 'तत्' पदेन बोधित्वात्। तच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थकत्वेऽपि "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः (प्रसिद्धः) पुरुषोत्तमः" इति भगवद्वाक्याच्च तथा। तत्पदप्रतिनिधीभूतसत्यपदेन "सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम्। सत्यासत्यौ हि नामतः" इति भारतोद्योगपर्वण्युक्तत्वाच्च, भागवत एवाभिधानात्तस्यैव श्रीमद्भागवताद्यपद्ये ध्यानमिति वा बोध्यम्।

यत्तु कश्चित्, गायत्र्यर्थश्च विष्णुध्यानं न तु शिवशक्तिसूर्यादिध्यानमित्युक्तिस्तु नास्तिकत्वमूलिकैवेति। मैत्रायणीयानां 'भर्गो रुद्रः' इति श्रुतेः। प्रपञ्चसारादिसर्वतन्त्रपुराणादिषु शिवशक्तिसूर्यादिरूपार्थस्योक्तत्वाच्च। त्वदुदाहृतमाग्नेयवाक्यं तु "विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्" इति न्यायात्स्तावकत्वमेवेत्याह।

तदतितुच्छम्, अप्पय्यदीक्षितग्रन्थे शिवतत्त्वविवेके "विष्णुसंज्ञम्" इति श्रुतिः, "कश्चिद्वरेण्यं सवितुर्भर्गं विष्ण्वाभिधं जगौ। ततश्च विष्णोरेवार्थो गायत्र्याः..." इति कारिकायां 'विष्णुसंज्ञम्' इति श्रुतेः। बृहद्योगियाज्ञवल्क्येनापि "हिरण्यगर्भं पुरुषं व्योम्नि तद्विष्णुसंज्ञितम्। 'भ' इति भासयति लोकान् 'र' इति रञ्जयते प्रजाः। 'ग' इत्यागच्छतेऽजस्रं भरणाद् 'भर्ग' उच्यते" इति कथनाच्च भर्गाख्यो विष्णुरेव।

किञ्च, एतच्छ्रुतिस्मृत्येकवाक्यतया "अथ भर्गो देवस्य धीमहीति सविता वै देवस्ततो योऽस्य भर्गस्तं चिन्तयामि। अथ भर्ग इति यो ह वा अमुष्मिन्नादित्ये निहितस्तारकोऽक्षिणि रहस्यगिति भर्गो भर्जयति चैष भर्गाख्यो भाभिर्गतिर्वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनोऽथ 'भ' इति भासयतीमाँल्लोकान् 'र' इति रञ्जयतीमानि भूतानि 'ग'इति गच्छन्त्यस्मिन्नागच्छत्यस्मादिमाः प्रजास्तस्माद्भर्गः। सूयमानात्सूर्यः। सवनात्सविता।" इति मैत्रायणीयश्रुतावपि विष्णोरेव ग्रहणात्। आदित्ये वर्तमानस्य भर्गाख्यस्याऽक्षित्वलिङ्गेन च हरेरेव निश्चयात्।

एवं छान्दोग्ये "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः, आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासः पुण्डरीकमेवमक्षिणी" इत्यत्र ज्ञेयम्।

मनुः—"यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।

यत्तु शैवः, अन्तस्तद्धर्माधिकरणे द्विवचनस्य पुण्डरीकोपमाबोधनार्थत्वात्तृतीयनयनस्य मुकुलितत्वेन तदुपमाया अभावान्न तृतीयाभाव इति जगाद, तन्मन्दम्; द्वित्वस्योपमाबोधकत्वं तदा स्याद्यदि नीलकण्ठत्रिलोचनत्वसाधकमस्मिन्वाक्ये वाक्यान्तरे वा स्यात्।

ननु तैत्तिरीयाणां महोपनिषदि "आदित्यो वा एष तन्मण्डलं तपति" इत्यनुवाके "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः" इत्यादिनान्तर्यामिणमभिधाय तदग्रिमानुवाके "आदित्यो वै तेजः"

इत्यादिनाऽऽदित्यस्य विभूतित्वमभिधाय, "य एष पुरुषः एष भूतानामधिपतिः" इति भूतपतित्वेन तं निर्दिश्य तदग्रिमानुवाकेषु "सर्वो वै रुद्रः इत्यादिषु, "हिरण्यबाहव अम्बिकापतय उमापतये" इत्युपसंहारेण तत्र शिवाकारतानिर्णयसाधकमिति चेत्, न; "क्षरः सर्वाणि भूतानि" "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" "भूतग्रामः स एवायम्" "भूतानां योऽव्ययः पिता" इत्यादिवत् प्राणिमात्रवाचकत्वाभावान्न नीलकण्ठादिरूपं लिङ्गम्। आग्रहेण प्रेतमात्रवाचकत्वपरिच्छिन्नैश्वर्यबोधकत्वेन परमैश्वर्यविघटकत्वेनालिङ्गत्वमेवेत्युभयथापि तदगमकत्वात्। "सर्वो वै रुद्रः" इत्यादिनां तु न वाक्यशेषत्वम्। "आदित्यो वै तेजः इत्यनुवाकान्तः" इत्युपनिषदि समाप्तिबोधनात्।

यत्तु, अन्तर्यामिब्राह्मणे "एष आत्मान्तर्याम्यमृतः" इति कथनाज्जाबालोपनिषदि "एतानि ह वाऽमृतस्य नामधेयानि" इति शतरुद्रीयप्रशंसावाक्येनाऽमृतपदस्य शिवपरतानिर्णायकत्वमिति, तन्न; शतरुद्रीयस्यामृतनामत्वेऽपि अमृतपदस्य शिवनामत्वाभावात्। अतस्त्रिलोचनादिसाधकस्य पदस्याभावादक्षिद्वयविशिष्टो विष्णुरेव। अत एव मैत्रायणीयश्रुतौ "अक्षिणी" इति निरुपमस्य द्वित्वविशिष्टस्य बोधनाद्विष्णुरेवाऽक्ष्यन्तर्वर्ती। "ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः। केयूरवान्मकरकुण्डलवान्किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः" इति वाक्यात्। तथा च भारतेऽश्वमेधपर्वणि पार्थं प्रति भगद्वाक्यम्, "तन्मण्डलस्थं मां ध्यायेत्तेजोमूर्तिं चतुर्भुजम्। उदुत्यं च जपेन्मन्त्रं चित्रं तच्चक्षुरित्यपि। गायत्रीं च यथाशक्ति जप्त्वा सूक्ष्मं (त्वं) च मामकम्" इति। एवं च "आदित्यान्तर्गतं मण्डलासीनं रुक्माभं पुरुषं परम्। ध्यायेज्जपेत्तदित्येतन्निष्कामो मुच्यते द्विजः" इति। तथा "आदित्यमण्डलान्तस्थं परं ब्रह्माधिदैवतम्। छन्दो निवृ(चृ)त्स्याद् गायत्री मया दृष्टा सनातनी।" इत्यादिषु भगवानेव। एतेन भगवानेव न शिवशक्तिसूर्यादयो गायत्रीरूपा इति बोध्यम्। तस्मादादित्ये वर्तमानं भर्गाख्यं भगवत एव रूपम्। किञ्च, आपाततः शिवप्रतीतावपि "रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः। वह्निमध्ये स्थितं सत्यं सत्यस्यान्तःस्थितोऽच्युतः" इति मैत्रायणीयोपनिषदि। योगियाज्ञवल्क्योऽपि सूर्यान्तःसोममुमासहितमुक्त्वा सर्वान्तरच्युतो भगवानेवोक्तो ध्येयत्वेन भगवानेवाद्दत इति निराबाधः पन्था इत्युवाच। ततश्च भर्गाख्ये विष्णुरेवेति स्थिते मैत्रायणीयश्रुतौ भर्ग इति रुद्र उक्तस्तस्यायमभिप्रायः—भाभिर्गतिर्यस्य हीती भर्गो भर्जयतीति वैष भर्ग इति भर्गशब्दव्युत्पत्तिदर्शनेन भर्जयति भासयति संहरतीति व्युत्पत्त्या भगवति संहारकर्तृत्वबोधाय रुद्रपदापादानम्।

यद्वा, "अथ **भ** इति भासयतीमाँल्लोकान् **र** इति रञ्जयतीमानि भूतानि, **ग** इति आगच्छेदजस्रम्, भरणाद्भर्ग उच्यते" इत्युक्तम्। तस्माच्छिवपरत्वेन गायत्रीव्याख्यानमसङ्गतमेव।

यत्तु, "विष्णुसंज्ञितम्" इति श्रुतेः शिवपरत्वायाप्पयदीक्षितैः "सर्वे देवाः प्रवशन्ति" इत्यथर्वशिखावचनात् "शिवपरत्वादि भूम्यन्तःशरीरादि घटादि च अधितिष्ठति शिवस्तस्माद्विष्णू रुद्र उदाहृतः" इति वायुसंहितावचनात् "भगवान्भगसद्भावान्निर्मूलत्वाच्छिवः स्मृतः। स्वामी स्वमस्य यत्सर्वं विष्णुः सर्वप्रवेशनात्" इति लैङ्गनिरुक्तिबोधकवाक्याद्विष्णुपदस्य शिववाचकत्वे सिद्धे विष्णुसंज्ञमितिश्रुतेः शिवपरत्वम्। आदित्यान्तर्गतस्य च विष्णुत्वं शिवपरमेवेत्युक्तम्।

तन्न, "विष्णुसञ्ज्ञम्" इतिश्रुतौ "व्योम्नि तद्विष्णुसञ्ज्ञितम्" इति स्मृतौ च सञ्ज्ञाबोधनादत्र विष्णुशब्दस्य यौगिकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। योगरूढशब्दानां भगवदेकतानत्वात्। मैत्रायणीयरुद्रशब्दस्य रूढत्वस्य गमकत्वाभावात्। "ध्येयः सदा" इति, "तन्मण्डलस्थं मां ध्यायेत्" इति, "रविमण्डले स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः। वह्निमध्ये स्थितं सत्यं सत्यस्यान्तःस्थितोऽच्युतः" इत्याद्यनेकवचनैरक्षिणी इति द्विवचनेन चादित्यान्तर्वर्ती नारायण एव। "ध्येयः सदा" इति वाक्ये नारायणपदात्तस्य रूढत्वम्। णत्वात्तस्य यौगिकत्वकल्पने "पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्" इति णत्वानापत्तिः। सोमपदस्योमासहितस्य शिवस्य ग्रहणे तदन्तर्वर्तिभगवत एव निश्चयात्। न चादित्ये शिवस्य केवलस्यैव स्थितिर्वक्तव्येति वाच्यम्। "जगत्कारणतापन्नः शिवया मुनिपुङ्गवाः। सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः। न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः। उमाशङ्करयोरैक्यं यः पश्यति स पश्यति। उमार्धविग्रहः" इत्यादिसूतसंहितावचनैः केवलस्याभावादुमासहितस्य सर्वत्र स्थितेर्वक्तव्यत्वात्। तथाच सोमान्तर्वर्तिनारायणस्य सूर्ये वर्तमानत्वात्स एव।

यत्तु, भारताश्वमेधे "भगवन् वैष्णवा धर्माः किं फलाः किं परायणाः। कथं त्वमर्चनीयो हि मूर्तयः काश्च तेऽनघ। कथं वैखानसा ब्रूयुः कथं वा पाञ्चरात्रिकाः। एवमेव पुरावृत्तं वैष्णवं धर्मशासनम्। श्रुता मे मानवा धर्मा इति तेभ्यो विविच्य सः। युष्मदीयान्परान्धर्मान्पुण्यान्कथय मेऽच्युत" इति वैखानसपाञ्चरात्रिकाणां धर्मस्य पृष्टत्वेन वैदिकेतरविषयत्वम्। "यन्मनुरवदत्तद्भेषजम्" इति श्रुतेर्याज्ञवल्क्यस्मृत्यपेक्षया मनुस्मृतेः प्रबलत्वं चेत्याह।

तत्तुच्छम्, "पुराणे धर्मशास्त्रे च योंऽशः श्रुत्या विरुद्ध्यते। स तन्त्रार्थस्तु विज्ञेयः" इति पराशरपुराणवचनेन वेदविरुद्धे तन्त्रव्यवहारात् "विष्णुसञ्ज्ञम्" इति, "रविमध्ये स्थितः सोमः" इति श्रुतिविरुद्धपुराणबलेन शिवस्य गायत्र्यर्थकल्पनायास्तान्त्रिकत्वेन वैदिकैरनादरणीयत्वात्। यस्मिन्नंशे तन्त्रस्य वेदानुकूलत्वं तत्र तन्त्रस्यापि प्रामाण्यमिति निश्चयः। एकं साङ्ख्यं च योगं च वेदारण्यकमेव च। परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं च कथ्यते। एवमेकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः" इति मोक्षधर्मोक्तेः। पञ्चरात्रस्य प्रामाणिकत्वे योंऽशः श्रुत्या विरुध्यते स त्याज्यः। तन्त्रविशेषास्तु शुद्धाद्वैतमार्तण्डप्रकाशे निरूपिताः।

एवं सति "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इति गीतावाक्येन "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इति वेदार्थस्य भगवतो ध्यानस्य वैदिकत्वस्यासन्दिग्धत्वात्।

किञ्च, "श्रुता मे मानवा धर्मा" इत्युपसंहारवचनात्पूर्वं यदि गायत्र्यर्थ उक्तः स्यात्, तदा, याज्ञवल्क्यसमकक्षाणां "तन्मण्डलस्थं मां ध्यायेत्" इति वचनानां "तन्मण्डलगं ध्यायेत्" इत्याद्युत्तरवाक्यानां नैर्बल्यं सम्भाव्येत, तत्तूपसंहारवचनात्पूर्वं, मनुस्मृतौ च शिवपरत्वेनार्थः कुत्रापि नोक्त इति कथं साक्षाद्गायत्र्यर्थप्रतिपादकानां "विष्णुसञ्ज्ञम्" "रविमध्ये स्थितः सोमः" इत्यादिपूर्वोदितश्रुतिस्मृत्यनुकूलानां याज्ञवल्क्यस्य भारतस्य च वाक्यानां नैर्बल्यं स्यादित्याग्रहवादिनां विवादेनालम्।

६ त०वी०नि०परि.

किञ्च, "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः ससुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" इति बह्वृचसंहिताश्रुतेः, "तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रममृतं तद् ब्रह्म तदापः स प्रजापतिः । स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सोऽक्षरः परमः स्वराट् । अथ नित्यो देव एको नारायणः । ब्रह्मा च नारायणः शिवश्च नारायणः । शक्रश्च नारायणो द्वादशादित्याश्च नारायणो वसवोऽश्विनौ च नारायणः । सर्वे ऋषयश्च नारायणः कालश्च नारायणो दिशश्च" इति तैत्तिरीयनारायणोपनिषदि श्रूयमाणत्वात् । "त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणा" इत्यादिश्रीमद्भागवतदशमवचनेन सर्वरूपत्वनिश्चयाद् ब्रह्मैव भगवान् प्रतिपाद्यते । अत एव "पुराणेषु च सर्वेषु तत्तद्रूपो हरिस्तथा" इति श्रीमदाचार्यचरणैरुक्तम् । एतेन निर्णयेन कौमार्यादिषु "तदेकाक्षरमव्यक्तं तदादित्यगतं परम्" इत्यादिवाक्यं शिवं प्रक्रम्य पठितम् । तथा राजवंशानुकीर्तने गायत्र्या हिरण्मयं पुरुषमुपासमानस्य वसुमनसो राज्ञः शिवो रविमण्डलादाविर्भूय "साम्बं रूपमदर्शयत्" इत्युक्तम् । आदित्यपुराणे च गायत्र्याः परमं तत्त्वं शिवः" इत्युक्तम् । सुन्दरीतापिन्यां प्रथमे "शैवेयं भगवती त्रिपुरा" इति प्रक्रम्य तदधिष्ठातृत्वेन शिवं च प्रकृत्य द्वितीयादिखण्डेषु गायत्रीविवरणे पञ्चमखण्डे उक्तम् । "तस्मात्तदुच्यते कामः कामं कामी शिवो मतः । कृष्णोऽयं कामदवोऽयं वरेण्यं भर्ग उच्यते" इत्यादि च व्याख्यातम् । तादृशाधिकारिणस्तस्य सार्थक्यादिति दिक् ।

भर्गःशब्दस्तु सान्त एवेति । तस्य सिद्धिस्तु 'भृजी भर्जने' इत्यस्माद् "युजिन्मृजिभ्यः कुश्च" इत्युणादिसूत्रेणासुन्प्रत्यये कवर्गान्तादेशे बोध्या । न च "भ्रस्जपाके भवेद्धातुः" इति योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिविरोध इति वाच्यम् । आर्थिकार्थमादाय तदुक्तेः । यद्वा भृस्जेत्यस्यैवात्र रूपम् । असुन्प्रत्ययस्तु "सार्वधातुभ्योऽसुन्" इत्यनेनैव सिद्धः । कुत्वं छान्दसत्वादिति विद्यारण्यप्रभृतयः सान्तमेवाङ्गीचक्रुः ।

यत्तु केचिच्छैवाः, भ्रस्जपाके इतिधातोर्णिचि "भ्रस्जोरोपधयोः इति रमागमे स्थानषष्ठीनिर्देशाद्रोपधयोर्निवृत्तौ भर्जेरित्यस्मात् "अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्" इति बाहुलकात्कर्तर्यपि घञ् 'नेत्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तस्वरे 'भर्ग'इत्यदन्तप्रयोगसिद्धिः । अत एव 'भर्गाख्यं तं चिन्तयामि' इति श्रुतिप्रयोगः । "तद्भर्गाख्यं किमपि परम्" इति साम्बस्तुतेरपि । तथा, यो भर्गो नः प्रचोदयात् । तत्पदं च लुप्तषष्ठीकमङ्गीकृत्य तस्य सवितुर्देवस्य वरेण्यं धीमहीत्यन्वय वदन्तः शिवपरत्वम्, शिवस्य च परमपुरुषत्वम्; अन्यथा सवितृपदस्य ब्रह्मवाचकत्वे य इति पुंलिङ्गपदेन निर्दिष्टस्य कर्तुरनन्वयापत्तेरित्याहुः ।

तन्न, सान्तपक्षे भर्गाख्यप्रयोगस्य शकन्ध्वादित्वात्पररूपेण सिद्धेः । "कः सविता का सावित्री" इत्युपक्रम्य "द्वितीयपादो भर्गमयः" इति तलवकारब्राह्मणप्रयोगस्तु पृषोदरादित्वात्सिद्धः । तस्मादेकान्ततो नादन्तत्वसिद्धिः । अस्तु वाऽदन्तत्वे "तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसावादित्यः सविता स वा एव प्रवरणीय आत्मकामेनेत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्गो देवस्य धीमहीति सविता वै देवस्ततो वाऽस्य भर्गाख्यस्तं चिन्तयामीत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ धियो नः प्रचोदयादित्याहुः" इति

मैत्रामणीयश्रुतिविवरणवाक्येन तमिति द्वितीयान्तं भर्गाख्यं चिन्तयामीत्यन्वयबोधेन भर्गशब्दस्य प्रथमान्तकल्पनाया भर्गपदस्य तृतीयपादान्वयकल्पनायाश्चासङ्गतत्वबोधनात् । भर्ग इत्यत्र द्वितीयायाः "सुपां सुलुक्" इति स्वादेशसिद्धेः । तदित्यत्र अमो लुक् । सान्तपक्षेऽप्युभयत्र लुक् ।

वस्तुतस्तु "एवं प्रवरणीयः" इत्यनेन प्रवरणीयत्वकथनेन "सवितुर्देवस्य वरेण्यं तद्भर्गो धीमहीति यः सविताः नः धियः प्रचोदयात्" "योऽस्य भर्गाख्यः" इत्युक्त्या तस्य सवितुर्देवस्य वरेण्यं भर्गो धीमहि" इति च श्रुतिसिद्धान्वयः ।

ननु "तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यम्" इतिश्वेताश्वतरे, याजुषब्राह्मणे प्रथमाष्टकेऽपि "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इत्याह, प्रसूत्या इतिनिरूपणात्सवितुर्वरेण्यमित्येवान्वयो न भर्गशब्दोऽप्युच्युत इति चेत्, न; वरेण्यत्वाय तथोक्तं द्वितीये फलार्थं तदिति प्रसूत्या इत्युक्तत्वात्; तस्मान्मैत्रायणीयश्रुत्यनुरोधादन्वयो निराबाध इति दिक् ।

यच्च, सवितृपदस्य ब्रह्मवाचकत्वे 'यः' इति पुंलिङ्गनिर्देशानुपपत्त्या परमपुरुषः शिवो ग्राह्य इति । तदप्याग्रहादेव शोभते, न तु विचारेण । "एक एव नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" इति । "पुरुषो वै नारायणोऽकामयत" इति । "तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसौ वा आदित्यः सविता" इत्यादिश्रुतिषु "परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्" "मत्तः परतरं नान्यत्" "पुरुषः स परः पार्थ" "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" इत्यादिस्मृतिषु पुंलिङ्गपददर्शनात् । "सवनात्सविता" इति मैत्रायणीयश्रुतेः । "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते" इति गीतावाक्यादिसिद्धजगत्कर्तृत्वबोधकसवितृपदेन पुरुषोत्तम एव । याज्ञवल्क्येनाऽपि तथा विवृतत्वात् । तस्मादत्र सवितृशब्दो यौगिकः । "आदित्यमण्डलान्तस्थम्" इत्यादिवचनानां तु तत्र ध्येयभगवत एव सवितृपदेन बोधनात् । अत एव "सविता देवता" इति श्रुतिः । "विश्वामित्र ऋषिः छन्दो गायत्री देवता रविः" इति भरद्वाजस्मृतिरपि व्याख्याता । किञ्च, सर्वात्मकत्वाद्भगवतः सूर्यादिरूपेण निरूपणम् ।

यद्वा, "पुरः स्फूर्तिकमादाय रविरेतस्य देवता, तदन्तर्विधिमादाय शिवः सोमोऽस्य देवता सर्वान्तरविचारे तु भगवानेव देवता" इति श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणोक्तेः सर्वसङ्ग्रहो बोध्यः । इदं च "रविमध्ये" इति स्मृतिवचनान्न कापि शङ्कावकाश इति दिक् ।

गायत्र्याः शक्त्यादिरूपकल्पनापि तन्नानुरोधिनीति तदनुसारिपुराणवचनान्यपि तथा ।

यत्त्वाग्नेयवाक्यं, तत्तु "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' इति न्यायात्त्तावकत्वमेवेत्याह, "तदसङ्गतं विरोधे तु" इति सूत्रे "औदुम्बरीं वेष्टयेत्" इति ज्योतिष्टोमे सदो मण्डपस्य मध्ये काचिदौदुम्बरी शाखा निखन्यते । तत्र "औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या" इति वाससा वेष्टनं स्मर्यते । "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्" इति श्रुतम् । तत्र किं कार्यमित्यपेक्षयां पूर्वाधिकरणेऽष्टकादिस्मृतेः प्रामाण्यस्य साधितत्वादस्या अपि प्रामाण्यात्सर्ववेष्टनं कार्यमिति प्राप्ते प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धा स्मृतिर्नादरणीया । श्रुतिप्रामाण्यस्य श्रुत्यनुमानसापेक्षत्वात् । प्रत्यक्षश्रुतिमनादृत्य तस्या आदरे हेत्वभावादिति स्मृतिपादे सिद्धान्तितम् । तथा च पूर्वोक्तश्रुतिसिद्धस्य पुरुषोत्तमप्रतिपादनस्य

जाकरूकत्वेन द्वितीयपादभर्गपदान्वयस्य सिद्धत्वेन तद्विहाय शिवसूर्यादीनां गायत्र्यर्थप्रतिपादनं पुराणतन्त्रवचनानामनादरणीयत्वात्तदनुसारितृतीयपदान्वयस्याप्यनादरणीयत्वात् । आग्नेयवाक्यं तु प्रत्यक्षश्रुतिमूलकत्वात्स्वार्थप्रमाणमेवेति तस्य स्तावकत्वकथनं प्रत्यक्षश्रुत्यनालोचनादिति दिक् ।

तस्मात्पुरुषोत्तमो भगवानेव गायत्र्यर्थः । ततश्च "सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु । यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत् । परिहाप्यापि वेदांस्त्रीन् कर्माणि विहितानि च । गायत्रीमात्रमाश्रित्य द्विजो भवति निर्भयः । गायत्रीहीनवेदास्तु साङ्गा अपि च निष्फलाः" इत्यादिस्मृतयो गायत्र्युत्कर्षबोधनेन तदर्थभगवदुत्कर्षबोधिकाः । तथा च ज्ञात्वा ज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति । विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषः क्वचित्" इति गीतोक्तेरिदं निरूपितमित्यलम् ।

यत्तु, हयग्रीवब्रह्मविद्या देवीभागवत एव न विष्णुभागवते । हयग्रीवनामासुरो देवी भागवतप्रथमस्कन्धे प्रसिद्धस्तेनोपासिता ब्रह्मप्रतिपादिका विद्या स्त्रीदैवत्यो मन्त्रः, सा विद्या यत्र वर्तते तद्भागवतमित्यर्थः । स दैत्यस्तदुपासिता विद्या चेत्युभयमपि तत्रैव प्रथमस्कन्धे दर्शितम् । "जपन्नेकाक्षरं मन्त्रं मायाबीजात्मकं मम" इत्यादिनेत्याह, तन्न, वेदैकसमाधिगम्यस्य ब्रह्मणः प्रतिपादकत्वं मायाबीजस्य न सम्भवति । यतो मायाबीजप्रतिपाद्यं ब्रह्मेति क्वापि वेदे न श्रूयते । न च "पञ्चप्रेतासनारूढां परब्रह्मस्वरूपिणीम्" इति तन्त्र उक्तत्वात्तत्प्रतिपादकबीजस्य ब्रह्मप्रतिपादकत्वमिति वाच्यम् । वेदैकशरणानां वेदविरुद्धतन्त्राणामप्रामाण्यात् । अस्तु प्रामाण्यम्, परन्तु प्रत्यक्षश्रुत्यपेक्षया तस्यौदुम्बरीवेष्टनन्यायेन न्यायवदनादरणीयत्वात् । हयग्रीवब्रह्मविद्येत्यत्र श्रीमद्भागवते पञ्चमस्कन्धे "भद्राश्ववर्षे साक्षाद्भगवतो वासुदेवस्य प्रियां तनुं धर्ममयीं हयशीर्षाभिधानां परमेण समाधिना सन्निधाप्येदमभिगृणन्त उपधावन्ति ॐ नमो भगवते धर्मायात्मविशोधाय नमः" इत्यादिगद्येन हयग्रीवब्रह्मणो मन्त्ररूपा विद्या दर्शिता । देवीभागवतेऽप्यष्टमस्कन्धे दर्शितेति दामोदरशास्त्रिणो व्याचख्युः ।

तत्र कश्चित्, शारदातिलकादिषु "मन्त्राः पुंदेवताः प्रोक्ता विद्याः स्त्रीदेवताः पुनः" इत्यादिवचनैः स्त्रीदैवत्यमन्त्रेष्वेव विद्यापदप्रयोगो न पुंदैवेष्विति प्रतिपादनात्, क्वचित्पुंदैवत्यमन्त्रे तथा प्रयोगस्तु गौणः, नच गौणार्थमादाय तद्वचनस्य विष्णुभागवतपरत्वं कल्पयितुमुचितम्, लक्षणारूपदोषापत्तेरित्याह, तन्न; शारदातिलके "मन्त्रविद्याविभागेन द्विविधा मन्त्रजातयः" इति पूर्वार्धनिरूपणात् स्त्रीदैवतयोर्मन्त्रविद्ययोर्जातिशब्दत्वेन व्यवहारो बोधितः । एवं च "द्वादशाक्षरविद्या" इत्यादौ पुंदैवत्येषु विद्याप्रयोगः सञ्ज्ञाशब्दत्वेन बोध्यः । तथा च श्रीमद्भागवतद्वितीयस्कन्धे "सत्रे ममास भगवान् हयशीर्षनाम साक्षात्स यज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः । छन्दोमयो मखमयोऽखिलदेवतात्मा वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतो नमस्ते" इति वेदात्मकत्वेन वेदप्रवर्तकत्वेन प्रतिपादनाद्धयग्रीवब्रह्मणो मन्त्रस्य विद्या सञ्ज्ञा बोध्या ।

यद्वा, श्रीमद्भागवते षष्ठस्कन्धे "स चाधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्मनिष्कलम् । यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् । दध्यङ्ङाथर्वणस्त्वष्ट्रे वर्माभेद्यं मदात्मकम् । विश्वरूपाय यत्प्रादात्त्वष्टा यत्त्वमधास्ततः" इत्यत्र श्रीधरैर्व्याख्यातम् ।

एवं ह्यत्र प्रसिद्धा कथा । "निशम्याथर्वणं दक्षं प्रवर्ग्यब्रह्मविद्ययोः । दध्यञ्चं समुपागम्य तमूचतुरथाश्विनौ । भगवन्देहिनौ विद्याविति श्रुत्वा स चाब्रवीत् । कर्मण्यवस्थितोऽद्याहं पश्चाद्वक्ष्यामि गच्छताम् । तयोर्निर्गतयोरेवं शक्र आगत्य तं मुनिम् । उवाच भिषजोर्विद्यामवादीरश्विनोर्मुने । यदि मद्वाक्यमुल्लङ्घ्य ब्रवीषि सहसैव ते । शिरश्छिन्द्यां न सन्देह इत्युक्त्वा प्रययौ हरिः । इन्द्रे गते तथाऽभ्येत्य नासत्यावूचतुर्द्विजम् । तन्मुखादिन्द्रगदितं श्रुत्वा तावूचतुः पुनः । आवां तव शिरश्छित्वा पूर्वमश्वस्य मस्तकम् । सन्धास्यावस्ततो ब्रूहि तेन विद्यां च नौ द्विज । तस्मिन्निन्द्रेण संछिन्ने पुनः सन्धाय मस्तकम् । निजं ते, दक्षिणां दत्त्वा गमिष्यावो यथागतम् । एतच्छ्रुत्वा तथोवाच दध्यङ्ङाथर्वणस्तयोः । प्रवर्ग्यब्रह्मविद्यां च सत्कृतौ सत्यशङ्कितः" इति । ततश्चायमर्थः, दध्यङ् निष्कलं शुद्धं ब्रह्म अधिगतः । पाठान्तरे तु नितरां कृतं भवति धनं येन तं प्रवर्ग्यं चाधिगतः ज्ञातवान् । ततोऽश्विभ्यां प्रादादित्यनुषङ्गः । उपदिदेशेत्यर्थः । कथम्भूतं ब्रह्म? अश्वशिरसा प्रोक्तत्वादश्वशिरोनाम प्रसिद्धम् । तयोरमरतां जीवन्मुक्ततां व्यधादिति । तथाच श्रुतिः "अश्वस्य शीर्ष्णा प्रपदीमुवाच" इति । मदात्मकं वर्म नारायणकवचमधिगत इति पूर्वस्यानुषङ्गः । यद्यस्मात्त्वष्ट्रे प्रादात् । किं तत् यत्त्वष्टा विश्वरूपाय पुत्राय प्रादात् । कीदृशम्? यत्त्वं ततो विश्वरूपादधाः धृतवानसि । तदेवं विद्यया सारं वाचं याचध्वमित्यर्थ इति । अत्र निष्कलमित्यनेन "ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" इति श्रुत्युक्तं गृहीतम् । तदेव ब्रह्मविद्यापदाभिधेयम् । तदेवाश्विभ्यां प्रादात् । तदेव त्वष्ट्रे, इत्यादिना निरूपितम् । अत एव मदात्मकं वर्मेत्युक्तम् । नारायणस्य शुद्धब्रह्मात्मकत्वेन तत्प्रतिपादककवचस्य तदात्मकत्वेन ब्रह्मविद्यात्मकं नारायणकवचं दध्यङ्ङाथर्वणहयग्रीवप्रोक्तब्रह्मविद्यारूपम् । अत एव टीकाश्लोकेषु ब्रह्मविद्यापदेनोपादानम् ।

किञ्च, "जपन्नेकाक्षरं मन्त्रं मायाबीजात्मकं मम" इति देवीभागवतश्लोकेन मन्त्रत्वेन निरूपणात् । श्रीभागवते तु षष्ठे सप्तमाध्याये "सुरद्विषां श्रियं गुप्तामौशनस्यापि विद्यया । आच्छिद्याऽदान्महेन्द्राय वैष्णव्या विद्यया विभुः" इति । न कुतश्चिद्भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत्" "एतां विद्यां पुरा कश्चित्" इत्यादिषु विद्यापदोपादानेन प्रतिपदोक्तस्यातिदेशिकेन बाधायोगात् । एतेन शारदातिलकवचनं प्रायिकं तन्त्रैकविषयं चेति बोध्यम् । एतेन हयग्रीवब्राह्मणेनोपदिष्टा विद्येत्यर्थोऽपि बोध्यः ।

किञ्च, "हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा" इति साहचर्येण हयग्रीवप्रोक्तब्रह्मविद्या सहकृतो यत्र वृत्रवधो "महापुरुषसन्नद्धः" इत्यादिवचनबोधितस्तथा वृत्रवधसहचरितहयग्रीवब्रह्मविद्या नारायणकवचात्मिका यत्र तदेव श्रीमद्भागवतमिति परस्परसाहचर्यादिदं फलितम् ।

यद्वा, हयग्रीवब्रह्मणोर्विद्या । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वेन हयग्रीवविद्या या नारायणकवचरूपा, ब्रह्मविद्या वेदस्तुतिरूपा "ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता । स ब्रह्मविद्यां प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह" इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मविद्याशब्दो ब्रह्मविचारपरो, न तन्त्रोक्तविचारपरो, येन शारदातिलकवचनाक्रान्तो भवेत् ।

यद्वा, हयग्रीवो भगवान् ब्रह्मविद्या वेदस्तुत्यादिरूपा । बहुवचनं तु "सैषा भार्गवी वारुणी विद्या" इत्याद्यनेकोपनिषदां सङ्ग्रहाय । श्रीमद्भागवतस्य वेदसम्मितत्वेन वेदात्मकहयग्रीववर्णनस्यावश्यकत्वात् । ततश्च ब्रह्मविद्यासहचारितो भगवानेव ग्राह्यो न दैत्यः । तस्माद्धयग्रीवब्रह्मविद्या श्रीमद्भागवत एव न देवीभागवते इति निर्मत्सरं विभावनीयं वेदानुसारिभिः ।

यत्त्वादित्यपुराणदृष्ट्यापि देवीभागवतमेव महापुराणम्–तथाहि–आदित्यपुराणे रक्तासुरवधप्रस्तावे "आजघ्ने महिषं दैत्यं क्रूरं वृत्रासुरं तथा । साऽद्य रक्तासुरं हत्वा स्वराज्यं ते प्रदास्यति" इति वचनम् । अनेन वचनेन देवी भागवते स्वसम्मतिर्दर्शिता । न हि देवीभागवतातिरिक्तसर्वपुराणे देवीकृतो वृत्रवधः क्वचिदप्यस्ति । इन्द्रकृतस्यैव तस्य सत्त्वात् । केवलं देवीभागवत एव देवीकृतः सोऽस्ति । तद्ग्रहणे देवीभागवते स्वसम्मतिर्दर्शितेति युक्तमेवेत्याहुः । भास्कराचार्या अपि "वृत्रासुरवधोपेतम्" इति लक्षणे देवीकृतो वृत्रासुरवधो ग्राह्य इत्याहुः ।

तन्न, वेदसम्मितत्वकथनेन वेदानुकूलवृत्रावृत्रवधस्यासाधारणधर्मरूपलक्षणत्वेन युक्तत्वात् । वेदे वृत्रासुरवधः स्पष्टं निरूप्यते । तथाच, ऋक्संहितायां षष्ठाष्टके षष्ठाध्याये "वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण" इति श्रूयते । वाजसनेयिनामपि संहितायामस्ति । तैत्तिरीयसंहितायां "इन्द्रः शत्रुरभवसम्भवन्नग्नीषोमावभिसमवत् । स इषुमात्रमिष्टमात्रं विश्वङ्वर्धत । स इमाँल्लोकानवृणीत् । तद्वृत्रस्य वृत्रत्वम् । तस्मादिन्द्रो बिभ्यत् । स प्रजापतिमुपाधावच्छत्रुर्मेऽजनीति । तस्मै वज्रꣳसिक्त्वा प्रायच्छदेतेन जहि" इत्यारभ्य "इन्द्रो वृत्रमहं ते देवा वृत्रं हत्वा" इत्यादि "इन्द्रो वृत्रं जघ्निवान् । इन्द्रो वृत्रं हत्वा" इत्यादि "इन्द्रो वृत्रमहं तस्य शीर्षकपालमुदौब्जत्स द्रोणकलशोऽभवत्" इति "इन्द्रो वृत्रमहन्सोऽपोऽभ्यं म्रियता सा यन्मेध्यं यज्ञीयꣳसदेवमासीत्" इति "इन्द्रो वृत्रमहं तस्य कनीनिका परापतत् तदाञ्जनमभवत्" इत्यादि । अत एव श्रीमद्भागवते "वार्त्रघ्नलिङ्गैस्तमभिष्टुवाना मन्त्रैर्मुदा कुसुमैरभ्यवर्षन्" इतिश्लोकेन स्पष्टं वेदमूलत्वं बोधितम् । वृत्रहन्तृवीर्यप्रकाशका मन्त्रास्तु "वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाह्याय च" इत्याद्याः श्रीधरा ऊचुः ।

तथाच "हग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा । गायत्र्या च समारम्भस्तद्भागवतमुच्यते" इति लक्षणस्यायमभिप्रायः । हग्रीवब्रह्मविद्येत्यनेन भगवान् प्रतिपाद्यस्तत्प्रतिपादकोपनिषद्भागः क्रोडीकृतः । यज्ञार्थं वेदे वृत्रवधात्तन्निरूपणेन धर्मकाण्डः स्वीकृतः । "गायत्र्या च समारम्भः" इत्यनेन वेदस्य मूलं बोधितम् । तेनादिमध्यावसानेषु वेदार्थो बोधितः । अत एव "वेदार्थैरुपबृंहितम्" इति गारुडे गीयते । नैतादृशो विचारो देवीभागवते किन्तु श्रीमद्भागवत एवेत्यस्य लक्षणस्यात्रैवं समन्वयो बोध्यः । हयग्रीवब्रह्मविद्यासहकृतवृत्रवधस्येन्द्रकृतत्वात्तस्यैव सम्भव इत्युक्तं प्राक् । आदित्यपुराणे देवीकृतवृत्रासुरवधोक्त्या देवीभागवतलिङ्गबोधनेऽपि देवीकृतवृत्रासुरवधो यत्र तद्भागवतमिति लक्षणाऽभावान्न देवीभागवतस्य वृत्रासुरवधोपेतत्वमिति लक्षणम् ।

यत्त्वनन्तरं च तत्रैव पुराणदानप्रस्तावे "ददाति सूर्यभक्ताय यस्तु भागवतं द्विजः । सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वव्याधिविवर्जितः । जीवेद्वर्षशतं साग्रमन्ते वैवस्वतं पदम्" इति पठितम् । अत्र च स्वसम्मतभागवतं गृहीतुमुचितम् । किञ्चेदं वचनं देवीभागवतपक्ष एव स्वरसतः सङ्गच्छते ।

प्रथमश्लोक एकादशद्वादशयोश्च सविस्तरं गायत्रीविधानसहस्रनामादेः कथनात् । सूर्यस्य गायत्रीदेवतात्वात् । तद्भागवतपक्षे वैकुण्ठं गच्छेदित्येव वदेदिति ।

तत्तु, भ्रमादेव भणितम् । आदित्यपुराणे "यदुक्तं भानुना पूर्वं पुत्राय मनवे द्विजाः । तदहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणुध्वं गदतो मम" इति प्रतिज्ञाय "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च" इति पञ्चकपुराणलक्षणं निरूप्य "तत्रोपपुराणानां खिलत्वाल्लक्षणं स्मृतम् । ब्राह्मं पुराणं तत्राद्यम्" इत्यष्टादशोपपुराणनिरूपणे वायुपुराणोक्त्या "ततो भागवतं प्रोक्तं भागद्वयविभूषितम्" इति लक्षयित्वा "ददाति सूर्यभक्ताय" इत्यादिनाऽऽदित्यपुराणस्य भागवतत्वबोधनपुरःसरं दानफलबोधनात् । "सूर्यभक्ताय अन्ते वैवस्वतं पदम्" इत्यादिसूर्यसम्बन्धस्यैव स्पष्टं प्रतीतेः । इतरथा देवीभक्ताय देवीलोकं गच्छेदित्युक्तं स्यात् । देवीभागवते गायत्रीविधानसहस्रनामादेः कथनं गायत्रीरूपशक्तिदेवताकत्वेन, न सूर्यदेवताकत्वेन ।

किञ्च "भागद्वयविभूषितम्" इतिलक्षणं देवीभागवते नास्त्येव किन्त्वादित्यपुराण एव । द्वादशस्कन्धात्मकत्वाद्देवीभागवतस्य । आग्रहे तु महापुराणत्वभङ्गः । तस्मादादित्यपुराणात्मकं भागवतम् । "यदिदं कालकाख्यं च मूलं भागवतम्" इतिकालिकापुराणोक्तगणनायामुपपुराणत्वेन निविशते ।

यत्तु "सारस्वतस्य कल्पस्येति मात्स्यवचनादपि देवीभागवतमेव महापुराणम् । अत्र ह्येवं प्रकरणशुद्धिः । ऋषय ऊचुः "पुराणसङ्ख्यामाचक्ष्व सूत विस्तरतः क्रमात्" इति मुनिप्रश्नोत्तरं "ब्रह्मणाऽभिहितं पूर्वं यत्पाद्मं" पद्मकल्पवृत्तान्ताश्रयं पाद्मं, वराहकल्पवृत्तान्ताश्रयं वैष्णवं, श्वेतकल्पवृत्तान्ताश्रयं वायवीयमित्येवं तत्तत्कल्पवृत्तान्ताश्रयाणि पुराणान्युक्त्वा तदनन्तरं "यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः । वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते" इति । "सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये चे ये स्युर्नरामराः । तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तद्भागवतमिष्यते" इत्युक्त्वा ततोऽन्यान्यपि महापुराणान्येव तत्तत्कल्पवृत्तान्ताश्रयाणि दर्शितानि । पश्चादुपपुराणकथनार्थं "उपभेदान्प्रवक्ष्यामि" इति प्रतिज्ञाय पद्मपुराणान्नारसिंहं निर्गतम् । एवं नन्दिसाम्बाऽऽदित्य सञ्ज्ञकान्युक्त्वाऽन्योपपुराणान्यपि महापुराणेभ्य एव निर्गतानीति । "अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत्प्रदर्श्यते । विजातीयं द्विजश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतम्" इति वचनेन सूत ऋषिरुक्तवान् । ततश्च "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च" इत्यादि पुराणलक्षणान्युक्त्वा "सात्त्विकेषु च कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः । राजसेषु च कल्पेषु माहात्म्यं ब्रह्मणो विदुः । तद्वदग्नेश्च महात्म्यं तामसेषु शिवस्य च । सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां च निगद्यते" इति वचनेन पुराणप्रतिपाद्यहरिब्रह्माऽग्निहरसरस्वतीपितॄणां सम्बन्धात्कल्पानां सात्त्विकराजसतामसत्वसङ्कीर्णत्वभेदैश्चातुर्विध्यमुक्तवानिति । तत्र कल्पानां तत्तद्देवतासम्बन्धज्ञानं तु तत्तत्कल्पाश्रिततत्तत्पुराणप्रतिपाद्यमुख्यदेवताज्ञानेनैव बोध्यम् । अन्यप्रकारस्य क्वचिदपि पुराणेष्वनुपलम्भात् । तत्रैवं सति "सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरामराः । तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तद्भागवतमिष्यते" इति वचनं भागवतस्य लक्षणप्रतिपादकं प्रतिपादितम् । तदर्थस्तु यथा गरुडस्याऽयं गारुडः । यथा वाराहकल्प इत्यत्र "वरा-

हस्याऽयं वाराहः" इति व्युत्पत्तिः प्रसिद्धा । तद्वदेव सरस्वत्या अयं सारस्वत इति विग्रहः । "सरस्वत्यास्तथा कल्पो गौरीकल्पस्तथैव च" इति कल्पनामसु सरस्वतीकल्पत्वेनैव कथितत्वाच्च । मत्स्यपुराण उपान्त्याध्याये "सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां कल्प उच्यते" इति वचनेन तथैवोक्तत्वात् । ब्रह्मविष्णुरुद्राणां कल्पवत् गौरीलक्ष्म्योः कल्पवच्च सरस्वतीकल्पस्याऽर्थप्राप्तत्वाच्च तादृशसारस्वतकल्पसम्बन्धिनो ये देवमनुष्यास्तद्वृत्तान्तस्योद्भवं उत्पत्तिर्यस्मात्तत्पुराणं भागवतं विदुः, तद्वृत्तान्तप्रदर्शकं यत्पुराणं तद्भागवतसञ्ज्ञकमिति यावत् । अत्र च तत्तद्देवतानामाविर्भावाश्रया ये कल्पास्ते तत्तन्नाम्ना व्यवह्रियन्ते । एतच्च तत्तन्नामककल्पाश्रितेषु पुराणेषु तत्तद्देवताया मुख्यत्वेनोत्पत्तिप्रदर्शकवाक्यैर्लक्ष्मीकल्पादिकल्पाश्रितकूर्मपुराणादिषु सर्वत्र प्रसिद्धमेव । तथाच मुख्यत्वेन सरस्वत्या आविर्भावप्रतिपादकं पुराणं यत्तद्भागवतमिति रहस्यार्थः । सारस्वतकल्प इति पदेनैव कल्पस्य सरस्वतीसम्बन्धे बोधिते तस्य सङ्कीर्णत्वम् । "सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः" इति वचनेनेश्वरप्रेरणां विनापि गृहागतमेव । अस्मिँश्च वचने भागवतपदेन विष्णुभागवतस्य ग्रहणं वन्ध्यापुत्रोपममेव । तस्य मुख्यत्वेन सरस्वत्याविर्भावस्याऽसत्त्वात् । विष्णुभागवते द्वितीयस्कन्धे "पाद्मं कल्पमथो शृणु" इति वचनेन स्वमुखेनैव स्वस्य पाद्मकल्पकथाश्रयस्योक्तत्वात् । तद्विरोधाच्च । नच पाद्मकल्प एव सारस्वतः । सरस्वान् समुद्रः, तस्माज्जातं कमलं सारस्वतम् । तस्य कल्प इति व्युत्पत्त्येति वाच्यम् । "पद्मकल्पस्य वृत्तान्ताश्रयं यस्मादुदाहृतम् । तस्मात्पाद्मं समाख्यातम्" इति पूर्वोदाहृतशिवपुराणवचनेन एतदेव "यदा पद्ममभूद्धैरण्यमयं जगत् । तद्वृत्तान्ताश्रयं तद्वत्पाद्ममित्युच्यते बुधैः । पाद्मं तत्पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणीह कथ्यते" इति मत्स्यपुराणवचनेन "सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नराऽमराः" इति वचनेन पाद्मकल्पसारस्वतकल्पयोः पृथक् कथनात् । किञ्च सारस्वतकल्पपाद्मकल्पयोरेकत्वे पाद्मकल्पस्य प्रतिपादकं पुराणं पाद्मं भागवतं चेत्येव वदेत् । किञ्च पद्मकल्पस्य वृत्तान्तमित्यभिव्यक्तपदार्था ये प्रसिद्धा लोकविश्रुता इति न्यायेन पूर्वं बुद्ध्यारूढं पाद्मशब्दं विहायाऽप्रसिद्धं सारस्वतशब्दं पाद्मशब्दस्य वाचकं कृत्वा सारस्वतपदघटितकल्पने प्रयोजनाऽभावः । किञ्च "सरस्वत्यास्तथा कल्पः" इत्यादेः पूर्वोक्तसारस्वतपदनिरुक्त्यर्थकस्य वचनसमूहस्य विरोधश्च । नच पाद्यकल्पसारस्वतकल्पयोः प्रथक्त्वे त्रिंशत् कल्पेषु मत्स्यपुराणन्तिमाध्याये कीर्तितेषु सारस्वतपदेन पाद्मस्य ग्रहणं न स्यादिति वाच्यम् । प्रभासखण्डे त्रिंशत्कल्पेषु विष्णवजकल्पार्चिषकल्पानां ग्रहणेऽपि तेषां कल्पानां यथा मात्स्याऽन्तिमाध्याये न ग्रहणं, तथा पाद्मस्याऽपि न ग्रहणमित्यस्य तुल्यत्वात् । यदि तेषां पर्यायत्वेन कुत्रचिदन्तर्भावः क्रियते तर्ह्यस्याऽपि कुत्रचिदन्तर्भावोऽस्तु । अत एव विष्णुभागवतस्य प्रबन्धटीकाकारेण पितृकल्प एव पूर्वार्धान्ते पद्मस्योद्भवात्पितृकल्पपदेन पाद्मस्य सङ्ग्रहो वेदितव्य इत्युक्तम् । पुराणकल्पकथनप्रस्तावे सारस्वतकल्पपाद्मकल्पयोः पृथक्त्वकरणेन सारस्वतपदेन पाद्मस्य सर्वथा न ग्रहणम् । वस्तुतस्तु त्रिंशत्कल्पा ब्रह्मणस्त्रिंशत्तिथ्यात्मकास्त्रिंशत्तिथिषु प्रतिपदादिषूत्पद्यन्ते । भूःर्भुवः सुव इत्यादयस्त्रिंशत्कल्पाः । पाद्मादयश्च वायुपुराणोक्तदिनकल्पा ब्रह्मणः प्रतिदिवसेषूत्पद्यन्ते, इति दिनकल्पतिथिकल्पानां सुतरां भेदात्तिथिकल्पेषु दिनकल्पानां पाद्मादीनां न ग्रहणमिति सिद्धान्तः ।

यत्तु, विष्णुभागवतस्यारम्भतः पाद्मकल्पकथाश्रयत्वेऽपि श्रीकृष्णजन्मखण्डस्यैव सारस्वतकल्पभवत्वेन तस्य दशमस्कन्धे सत्त्वात् "सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नराऽमराः" इति वचनस्य विष्णुभागवतविषयोऽस्तीत्याहुः । तदसत् । श्रीकृष्णजन्मखण्डस्य सारस्वतकल्पभवत्वप्रतिपादकानां वचनानां निर्मूलत्वात् । समूलत्वेऽपि यस्मिन्पुराणे यस्य कल्पस्य प्रथमतः प्रतिपादनं तत्कल्पप्रतिपादकमेव तत्पुराणमिति नियमः । सर्वपुराणेषु तथा दृष्टत्वात् । तथाच श्रीकृष्णजन्मखण्डस्य दशमस्कन्धे विद्यमानत्वेऽपि प्रथमतस्तत्कथाया अभावात्पाद्मकल्पकथायाः प्रथमतो विद्यमानत्वस्य स्वेनैवोक्तत्वाच्च न सारस्वतकल्पस्येति वचनस्य विष्णुभागवतं विषयः ।

किञ्च, श्रीकृष्णजन्मखण्डस्य यथा दशमस्कन्धे कथनं, तथा सर्वपुराणेषु तत्कथनं वर्तत एवेति सर्वपुराणानां तद्वचनविषयत्वं स्यात् । तथाच सर्वपुराणानि भागवतपदवाच्यानि स्युः । तस्मात्सारस्वतस्य कल्पस्य यत्र प्रथमतः प्रतिपादनं स एव तद्वचनस्य विषयो वक्तव्यस्तादृशं च देवीभागवतमेवाऽस्ति, इति देवीभागवतं तद्विषयो वक्तव्य इति ।

किञ्च, शिवपुराण उमासंहितायां "ब्रह्मणा संस्तुता सेयं मधुकैटभनाशने । महाविद्या जगद्धात्री सर्वविद्याधिदेवता । द्वादश्यां फाल्गुनस्यैव शुक्लायां समभून्नृप" इतिवचनात्फाल्गुनशुक्लद्वादश्यां देव्या उद्भवः । तद्दिन एव सारस्वतकल्पोद्भवः । तदुक्तं हेमाद्रौ कल्पश्राद्धप्रकरणे नागरखण्डे "सारस्वतस्तु द्वादश्यां शुक्लायां फाल्गुनस्य च" इति । तथाच सरस्वत्याः कल्प इत्यर्थकस्य "सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नराऽमराः" इति वचनस्य सर्वथा देवीभागवतविषयो न विष्णुभागवतमिति बोध्यम् ।

किञ्च, तस्य ग्रहणेन तस्य हरिमाहात्म्यप्रतिपादकत्वात्तदाश्रितकल्पस्य सात्त्विकत्वमेवाऽऽयास्यति "सात्त्विकेषु च कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः" इति वचनात् । ततश्च "सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः" इति वचनेन, सारस्वतकल्प इति नाम्ना च, परमहंस्य सामग्र्येव कर्तव्या स्यात् । अतो विष्णुभागवतं विहाय देवीभागवतमेवास्य वचनस्य विषयोऽनिच्छताऽपि वक्तव्यस्तस्मात् "सारस्वतस्य कल्पस्य" इति वचनाद्देवीभागवतमेव महापुराणम् । अस्ति चात्र सरस्वत्याविर्भावप्रतिपादकं वचनम् । तदुक्तं देवीभागवते प्रथमस्कन्धे "तस्यास्तु सात्त्विकी शक्ती राजसी तामसी तथा । महालक्ष्मीः सरस्वती महाकालीति तास्त्रयः । तासां तिसृणां शक्तीनां देहाङ्गीकारलक्षणः । सृष्ट्यर्थं च समाख्यातः सर्गः शास्त्रविशारदैः" इत्याह ।

[1]तद्रभसात् । यतो [2]मत्स्यपुराणोक्तपुराणलक्षणविचारेण तदुक्तकल्पविचारेण बृहद्वामनपुराणसन्दर्भविचारेण च "सारस्वतकल्पस्ये"ति वचनं श्रीमद्भागवतस्यैव विषयो न देवीभागवतस्येति । तथाहि—मत्स्यपुराणे "कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो द्विजाः । व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे । चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा । तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन्प्रभासते । अद्याप्यमर्त्यलोके तच्छतकोटिप्रविस्तरम् । तदर्थो हि चतुर्लक्षे सङ्क्षेपेण निवेशितः । पुराणानि

१. उत्तरपक्षः । २. मत्स्यपुराणोक्तकल्पविचारेण बृहद्वामनपुराणसन्दर्भविचारेण लक्षणविचारेण तदुक्तसारस्वतेत्यादिः ख-पुस्तके पाठः ।

दशाष्टौ च साम्प्रतं तदिहोच्यते । नामतस्तानि वक्ष्यामि शृणुध्वमृषिसत्तमाः । ब्रह्मणाऽभिहितं पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये । ब्राह्मं तद्दशसाहस्रं पुराणं परिकीर्तितम् । एतदेव यदा पद्ममभूद्धिरण्मयं जगत् । तद्वृत्तान्ताश्रयं तद्वत्पाद्ममित्युच्यते बुधैः । पाद्मं तु पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणीह पठ्यते । वाराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः । यत्राह धर्मानखिलान् तदुक्तं वैष्णवं विदुः । त्रयोविंशतिसाहस्रं तत्प्रमाणं विदुर्बुधाः । श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मान्वायुरिहाऽब्रवीत् । यत्र तद्वायवीयं स्याद्रुद्रमाहात्म्यसंयुतम् । चतुर्विंशसहस्राणि पुराणं तदिहोच्यते । यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः । वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमुच्यते । सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नराऽमराः । तद्वृत्तान्तोद्भवं यच्च पुराणं परिकीर्तितम् । अष्टादशसहस्राणि पुराणं तत्प्रकीर्तितम् । यत्राह नारदो धर्मान् बृहत्कल्पाश्रयाँस्त्विह । पञ्चविंशत्सहस्राणि नारदीयं तदुच्यते । यत्राधिकृत्य शकुनीन् धर्माऽधर्मविचारणम् । व्याख्यातं जैमिनिप्रश्ने पक्षिभिर्धर्मचारिभिः । मार्कण्डेयेन कथितं तत्सर्वं विस्तरेण तु । पुराणं नवसाहस्रं बह्वर्थं तदिहोच्यते । यत्तदीशानकल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च । वशिष्ठायाऽग्निना प्रोक्तमाग्नेयं तत्प्रकीर्तितम् । तच्च षोडशसाहस्रं सर्वक्रतुफलप्रदम् । यत्राऽधिकृत्य माहात्म्यमादित्यस्य चतुर्मुखः । अघोरकल्पवृत्तान्तप्रसङ्गेन गतिं स्थितिम् । मनवे कथयामास भूतग्रामस्य लक्षणम् । चतुर्दशसहस्राणि तथा पञ्चशतानि च । भविष्यच्चरितप्रायं भविष्यं तदिहोच्यते । रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च सावर्णिना नारदाय कृष्णमाहात्म्यसंयुतम् । यत्र ब्रह्मवराहस्य चरितं वर्ण्यते मुहुः । तदष्टादशसाहस्रं ब्रह्मवैवर्तमुच्यते । यत्राऽग्निलिङ्गमध्यस्थः प्राह देवो महेश्वरः । धर्माऽर्थकाममोक्षार्थमाग्नेयमधिकृत्य च । कल्पान्ते लिङ्गमित्युक्तं पुराणं ब्रह्मणा स्वयम् । तदेकादशसाहस्रं फाल्गुन्यां यः प्रयच्छति । महावराहं तु पुनर्माहात्म्यमधिकृत्य च । विष्णुनाऽभिहितं क्षोण्यै तद्वाराहमिहोच्यते । मानवस्य प्रसङ्गेन कल्पं च मुनिसत्तमाः । चतुर्विंशत्सहस्राणि तत्पुराणमिहोच्यते । यत्र माहेश्वरान् धर्मानधिकृत्य च षण्मुखः । कल्पे तत्पुरुषे वृत्ते[1] चरितैरुपबृंहितम् । स्कान्दं नाम पुराणं तदेकाशीति निगद्यते । सहस्राणि शतं चैकमिति मर्त्येषु पठ्यते । त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः । त्रिवर्गमभ्यधात्तच्च वामनं परिकीर्तितम् । पुराणं दशसाहस्रं कूर्मकल्पानुगं शिवम् । यत्र धर्मार्थकामानां मोक्षस्य च रसातले । माहात्म्यं कथयामास कूर्मरूपी जनार्दनः । इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन ऋषीणां शक्रसन्निधौ । सप्तदशसहस्राणि लक्ष्मीकल्पाऽनुषङ्गिकम् । श्रुतीनां यत्र कल्पादौ प्रवृत्त्यर्थं जनार्दनः । मत्स्यरूपी च मनवे नरसिंहोपवर्णनम् । अधिकृत्याऽब्रवीत्सप्तकल्पवृत्तं मुनिव्रतम् । तन्मात्स्यमिति जानीध्वं सहस्राणि चतुर्दश । यदा च गारुडे कल्पे विश्वाण्डं गरुडोद्भवम् । अधिकृत्याऽब्रवीत् कृष्णो गारुडं तदिहोच्यते । तदष्टादश चैकं तु सहस्राणीह पठ्यते । ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याऽब्रवीत्पुनः । तच्च द्वादशसाहस्रं पुराणं द्विशतानि च । भविष्याणां च कल्पानां श्रूयते यत्र विस्तरः । तद्ब्रह्माण्डपुराणं तु ब्रह्मणा समुदाहृतम्" इति । अत्र "यत्राऽधिकृत्य गायत्रीम्" इतिश्लोकस्य सर्वथा श्रीमद्भागवतपरत्वस्य पूर्वं निश्चितत्वेन तदुत्तरस्य "सारस्वतस्य कल्पस्य" इति श्लोकस्य देवीभागवतबोधकत्वमर्धजरतीयं कथं भवेत् ?

1. तत्पुरुषवृत्तचरितैरिति कदाचित्स्यात्स्यात् ।

किञ्च, "यत्राऽधिकृत्य" इति श्लोकोक्तधर्मवत एव "सारस्वतस्य" इति श्लोकोक्तधर्मवत्त्वम् । तच्च "पुराण"मिति पदेन बोध्यते । किञ्च गरुडस्याऽयं गारुडः वराहस्याऽयं वाराह इतिवत् सरस्वत्या अयं सारस्वत इति व्युत्पत्तिप्रदर्शनेन, सरस्वत्याः सङ्कीर्णेषु माहात्म्यात्सारस्वतस्य सङ्कीर्णत्वात्सरस्वतीप्रतिपादनं देवीभागवत एवेति युक्तिर्न साधयसी । वैष्णवपुराणस्य वराहकल्पवृत्तान्ताश्रयत्वेन वाराहपुराणस्य मानवकल्पवृत्तान्ताश्रयत्वेन योगस्याऽयोगात् । श्वेतबृहदीशानाघोररथन्तरकूर्मलक्ष्मीसह्यकल्पादिषु सर्वत्र योगस्याऽभावात् । "सरस्वत्यास्तथा कल्पः" इति वचनस्य विचारोऽग्रे स्फुटीभविष्यति ।

किञ्च, देवीभागवतस्य सङ्कीर्णत्वे त्वदुक्त्या समागते व्यासकृताऽष्टादशपुराणबहिर्भावापत्तेः । तामससात्त्विकराजसभेदेनैकैकषट्कस्य प्रतिपादनात् । पाद्मोत्तरखण्डीयशिवोमासम्वादे द्विचत्वारिंशाध्याये । "मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च । आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे । वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम् । गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शन । सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै । ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्त्तं मार्कण्डेयं तथैव च । भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे" इति वचनैः । तथाच हरिमाहात्म्यस्य सात्त्विकत्वेन तत्प्रतिपादकश्रीमद्भागवतस्य च सात्त्विकत्वेनाऽनिच्छताऽप्यष्टादशपुराणगणनायामङ्गीकरणीयत्वात् । देवीभागवतस्य तु भवतैवाष्टादशपुराणबहिर्भावसाधनात् । यतस्तस्य सङ्कीर्णस्य प्रतिपादनात् ।

किञ्च, यद्भवता वैष्णवपुराणेषु सात्त्विकत्वं शैवपुराणेषु तामसत्वं, वैष्णवपुराणमतेन, शैवपुराणेषु सात्त्विकत्वं, वैष्णवपुराणेषु तामसत्वं, "दश शैवपुराणानि सात्त्विकानि विदुर्बुधाः । तामसानि च चत्वारि वैष्णवानि प्रचक्षते" इति स्कान्दे, शैवपुराणमतेनेत्येवं प्रकारेण प्रतिपादितम् । तेनाप्यष्टादशपुराणबहिर्भाव एव साधितो देवीभागवतस्य । यतो दशसात्त्विकानि, चत्वारि तामसानि, चत्वारि राजसानीति पुराणावलोकनेन ज्ञेयम् ।

किञ्च, सारस्वतकल्पस्य सङ्कीर्णत्वकथनं मत्स्यपुराणकल्पानुकीर्तन उपान्त्याऽध्यायविरुद्धम् । तथाहि–तत्र "प्रथमः श्वेतकल्पस्तु द्वितीयो नीललोहितः । वामदेवस्तृतीयस्तु ततो राथन्तरः परः । रौरवः पञ्चमः प्रोक्तः षष्ठः प्राण इति स्मृतः । सप्तमोऽथ बृहत्कल्पः कन्दर्पोऽष्टम उच्यते । सद्योऽथ नवमः प्रोक्त ईशानो दशमः स्मृतः । व्यान एकादशः प्रोक्तस्तथा सारस्वतोऽपरः । त्रयोदश उदानस्तु गारुडोऽथ चतुर्दशः । कौर्मः पञ्चदशः प्रोक्तः पौर्णमासी प्रजापतेः । षोडशो नारसिंहस्तु [1]वामनस्तु ततोऽपरः । आग्नेयोऽष्टादशः प्रोक्तः सोमकल्पस्तथाऽपरः । मानवो विंशमः प्रोक्त उदान इति चाऽपरः । वैकुण्ठश्चाऽपरस्तद्वल्लक्ष्मीकल्पस्तथाऽपरः । चतुर्विंशतिमः प्रोक्तः सावित्रीकल्पसञ्ज्ञकः । पञ्चविंशतिमोऽघोरो वाराहस्तु तथाऽपरः । सप्तविंशोऽथ वैराजो गौरीकल्पस्तथाऽपरः । माहेश्वरस्ततः प्रोक्तस्त्रिपुरो यत्र घातितः । पितृकल्पस्तथैवाऽन्यो या कुहूर्ब्रह्मणः स्मृता । इत्येवं ब्रह्मणो मासः सर्वपातकनाशनः । आदावेवाऽह्नि माहात्म्यं यस्मिन् यस्य विधीयते । तस्य कल्पशतं नाम विहितं ब्रह्मणा पुरा" इति । तत्रैवाऽग्रे "सङ्कीर्णा-

1 समान इति खपाठः ।

स्तामसाश्चैव राजसाः सात्त्विकास्तथा । रजस्तमोमयास्तद्वत्त्रयस्त्रय उदाहृताः । सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां व्युष्टिरुच्यते" । व्युष्टिर्माहात्म्यम् । "अग्नेः शिवस्य माहात्म्यं तामसेषूपवर्ण्यते । सात्त्विकेष्वधिकं तद्वद्विष्णोर्माहात्म्यमुच्यते । तत्रैव योगसंसिद्धा गमिष्यन्ति परां गतिम्" इति ।

अत्र सङ्कीर्णादयः पञ्चकत्रिकात्मकास्त्रयस्त्रय उदाहृता इत्युक्तेरेवं सिद्धम्—श्वेतो, नीललोहितो, वामदेव इतित्रयः सङ्कीर्णाः । रथन्तरो, रौरवः, प्राण इति त्रयस्तामसाः । बृहत्, कन्दर्पः, सद्य इति त्रयो राजसाः । ईशानो, व्यानः, सारस्वत इति त्रयः सात्त्विकाः । उदानो, गारुडः, कौर्म इति त्रयो रजस्तमोमयाः । एवमवशिष्टेषु नारसिंहमारभ्य पितृकल्पपर्यन्तेषु पञ्चदशसु विभागो बोध्यः । एवं पक्षद्वयात्मको ब्रह्मणो मासः ।

अत्र केचिच्छिष्टास्तु सत्त्वस्य निवेशक्रमेण "रजःसत्त्वतमोमयाः" इति तेन गारुडस्य सात्त्विकत्वम् । तेन गारुडकल्पोक्तवृत्तान्तबोधकगारुडपुराणस्य पाद्मे सात्त्विकत्वेनोच्यमानत्वात् । इतरथा केनाऽपि प्रकारेण गारुडस्य सात्त्विकत्वं नैव सिध्येदित्याहुः । एवमुद्देशनिरूपणक्रमेण सङ्कीर्णादिषु सरस्वत्यादीनां माहात्म्यनिरूपणाद्विष्णोर्माहात्म्यं सात्त्विकेषूच्यते । मात्स्य एव सङ्ख्यानुक्रमणिकाध्यायेऽपि "सात्त्विकेषु तु कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः । राजसेषु तु माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः । तद्वदग्नेस्तु माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च । सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां च निगद्यते" इत्युक्तम् । न चैतद्वचनक्रमानुरोधात्सारस्वतस्य सङ्कीर्णत्वमिति वाच्यम् । एतद्वचनस्य सङ्कीर्णादिषु प्रतिपाद्यस्वरूपप्रदर्शनपरत्वात् । अन्यथा पूर्वोदितवचनेषु सङ्कीर्णादिक्रमोद्देशस्य तद्वृत्तान्तक्रमस्य च बाधापत्तेः ।

किञ्च, यथा "अक्ताः शर्करा उपदधाति" इत्यत्र "तेजो वै घृतम्" इति वाक्यशेषस्य निर्णायकत्वेन घृताऽक्तोपधानम् । तथाऽत्र वाक्यशेषोक्तक्रमस्यैव ग्राह्यत्वम् । किञ्च, सात्त्विकादिक्रमाङ्गीकारे चतुर्णामेव ग्रहणे चतुर्भिस्त्रिंशतां समावेशस्य क्लिष्टत्वापत्तेः । रजस्तमोमयप्रतिपादनस्य 'त्रयस्त्रय उदाहृताः" इत्यस्य विरोधो दुर्वारश्च स्यात् । एतेन सात्त्विकराजसतामसभेदैश्चातुर्विध्यमुक्तवान् इति परास्तम् । न च रुद्रमहात्म्यस्य तामसकल्पीयत्वेन श्वेतकल्पप्रसङ्गेन "धर्मान् वायुरिहाब्रवीत् । यत्र तद्वायवीयं स्याद्रुद्रमाहात्म्यसंयुतम्"इति वचनविरोधः श्वेतकल्पस्य सङ्कीर्णत्वेनाऽङ्गीकारादिति वाच्यम् । "सात्त्विकेष्वधिकं तद्वत्"इति वचने "तद्वत्" इति पदेन, "महात्म्यमधिकं हरेः" इति, "अधिकं ब्रह्मणो विदुः"इत्युक्तेश्चाऽधिकपदोपादानेन, तद्वग्नेः शिवस्य चेत्यत्र तद्वत्पदोपादानात्पितॄणां चेत्यत्र चकारेण चाधिक्येन सरस्वत्यादीनां माहात्म्यबोधनेनाऽन्येषामपि माहात्म्यबोधनात् । न च सङ्कीर्णादिषु चतुर्णां देवानां माहात्म्यबोधनाद्रजस्तमोमयेषु कस्याऽपि माहात्म्याऽनवबोधनात् "रजस्तमोमयाः" इतिपदं विशेषणत्वेन योजनीयमिति वाच्यम् । "रजस्तमोमयास्तद्वदि"त्यत्र तद्वत्पदोपादानवैयर्थ्यापत्तेः । "त्रयस्त्रय उदाहृताः" इति त्रिंशतां सङ्ख्याबोधनाऽनुपपत्तेः । रजस्तमोऽधिष्ठातृब्रह्मादीनां माहात्म्यबोधनस्य प्राप्त्याऽनुक्तसिद्धेः । तस्माद्वाक्यशेषोक्तयथाश्रुतक्रमस्य जागरूकतया सारस्वतकल्पस्य सात्त्विकत्वे निष्प्रतिबन्धके सिद्धे तस्य सङ्कीर्णत्वकथनं गगनकुसुमायमानमेव । एतेन 'सारस्वतकल्पः

इति पदेनैव कल्पस्य सारस्वतसम्बन्धे बोधिते तस्य सङ्कीर्णत्वं "सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः" इति वचनेनेश्वरप्रेरणां विनाऽपि गृहागतमेव । अस्मिंश्च वचने भागवतपदेन विष्णुभागवतस्य ग्रहणं वन्ध्यापुत्रोपममेवेति निरस्तम् ।

किञ्च, श्वेतादितिथिकल्पेषूत्पद्यमाना दिनमध्यकल्पा भिन्नाः । तथा च—"सरस्वत्यास्तथा कल्पः" इति वचनेन सरस्वतीकल्पो भिन्न एव । यथा पुराणान्तरे क्वापि मयूरकल्पः । तथाच वाराहपुराणे मेघवाहनकल्प उक्तः प्रागितिहासे रुद्रगीतासु यत्र भगवान् "त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय । अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज" इत्यादिरुद्रमाज्ञप्तवान् । रुद्रश्च तन्निर्वाहाय "मां वह" इति प्रार्थितवान् । तदा भगवान् मेघो भूत्वा कल्पमेकं रुद्रमवहत् । स मेघवाहनकल्पः । तस्य तिथिरूपेष्वगणनात्तस्मिन् ब्रह्माण्डकरणाऽनुक्तेश्च, वराहपुराणलक्षणे महावराहकल्पाश्रितत्वकथनादेवं सति दिनमाध्यमिकत्वमायाति । एवमन्यत्राऽपि बोध्यम् ।

यच्चात्र तत्तद्देवतानामाविर्भावाश्रया ये कल्पास्ते तत्तन्नाम्ना व्यवह्रियन्ते । एतच्च तत्तन्नायककल्पाश्रितेषु पुराणेषु तत्तद्देवताया एव मुख्यत्वेनोत्पत्तिप्रदर्शकवाक्यैर्लक्ष्मीकल्पाश्रितकूर्मादिषु सर्वत्र प्रसिद्धमेवेत्युक्तम् ।

तदपि न साधीयः । अघोरकल्पवृत्तान्तबोधके भविष्येऽघोरापरपर्यायशिवस्य मुख्यत्वेनाऽऽविर्भावे माहात्म्ये च प्रतिपादनीये "यत्राऽधिकृत्य माहात्म्यमादित्यस्य चतुर्मुखः । अघोरकल्पवृत्तान्तप्रसङ्गेन" इत्यादि मात्स्यवाक्येनाऽऽदित्यमाहात्म्यप्रतिपादनस्य बोधनात् । एवं लक्ष्मीकल्पाऽनुगकुर्मपुराणे लक्ष्म्याः प्राधान्ये महात्म्ये च वर्णनीये शिवस्य प्राधान्येन महात्म्यस्य वर्णनात् । तथा च कूर्मपुराणे पूर्वभागे चतुर्थाऽध्याये "कुतः सर्वमिदं जातं कस्मिंश्च लयमेष्यति । नियन्ता कश्च सर्वेषां वदस्व पुरुषोत्तम । श्रुत्वा नारायणो वाक्यमृषीणां कूर्मरूपधृक् । प्राह गम्भीरया वाचा भूतानां प्रभवाऽप्ययौ । कूर्म उवाच । माहेश्वरः परोऽव्यक्तश्चतुर्व्यूहः सनातनः । अनन्तश्चाऽप्रमेयश्च नियन्ता विश्वतो मुखः" इत्यारभ्य "निशान्ते प्रतिबुद्धोऽसौ जगदादिरनादिमान् । सर्वभूतमयोऽव्यक्तादन्तर्यामीश्वरः परः । प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्याऽऽशु महेश्वरः । क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः" इत्यादिना चोक्ता, "प्रधानात्क्षोभ्यमानाच्च तथा पुंसः पुरातनात् । प्रादुरासीन्महद्बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्" इत्यादिना सृष्टिरुक्ता, ततः पञ्चदशाऽध्यायोत्तरमुपरिभागे दशभिरध्यायैरीश्वरगीतोक्ता, शिवमाहात्म्यं परब्रह्मरूपता चोक्तेति मुख्यतया शिवमाहात्म्यं प्रतिपादितं, न लक्ष्म्याः, इति लक्ष्मीनामककल्पत्वेन लक्ष्म्याः प्राधान्येन प्रादुर्भावो माहात्म्यं चेति भ्रमादेवोक्तमिति ज्ञेयम् ।

यत्तु, विष्णुभागवते द्वितीयस्कन्धे "पाद्मं कल्पमथो शृणु" इति वचनेन स्वमुखेनैव स्वस्य पाद्मकल्पकथाश्रयत्वमुक्तमिति जगाद । तच्चिन्त्यम् । श्रीमद्भागवते "अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सत्त्वकल्प (सविकल्प) उदाहृतः", "पाद्मं कल्पमथो शृणु", "अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्याऽपि भारत । वाराह इति विख्यातो यत्रासीच्छूकरो हरिः" इति त्रयाणां कल्पानां निरूपणात् । केवलपाद्मस्याऽभावात् । तत्र "चायं तु" इति द्वितीयस्कन्धश्लोके एतत्पूर्वं "पूर्वस्यादौ परार्द्धस्य

ब्राह्मो नाम महानभूत् । यत्र कल्पेऽभद्वेधा शब्दब्रह्माभवत्पुरा" इत्यनेन ब्रह्मकल्पवृत्तान्तस्य निरूपणम् । ततश्च द्वितीयस्कन्धान्ते पाद्मं कल्पमथो शृण्विति प्रतिज्ञाय तृतीयस्कन्धे पाद्मनिरूपणोत्तरं वाराहकथानिरूपणे "अयं तु कथितः" इत्यनेन वराहकल्पनिरूपणम् । वाराहकल्पनिर्वचनं "यत्रासीत्" इत्यादिना, ततो वाराहावतारप्रश्ने वाराहावतारनिरूपणमिति वाराहकल्पकथा निरूपिता ततश्च । द्वादशसमाप्तौ कल्पनाम कथनेन "सारस्वतस्ये"तिबोधितवृत्तान्तनिरूपणमिति ज्ञेयम् । एवञ्च, ब्राह्मपाद्मवाराहकल्पानां ब्राह्मपाद्मवैष्णवपुराणप्रसिद्धानामनुवादमात्रमिति निश्चयः । केवलपाद्मकल्पस्यैव कथेति निश्चये त्रयाणां निरूपणविरोधः । न च त्रयाणामेव कथा सम्पूर्णा श्रीमद्भागवत इति वाच्यम् । सङ्गतेर्निरूपितत्वेन त्रयाणां समाप्तिबोधनात् । एतेन "न च पाद्मकल्प एव सारस्वतः" इत्यारभ्य "सारस्वतपदेन पाद्मस्य सर्वथा न ग्रहणम्" इत्यन्तं कथनं गगनकुसुमसौरभ्यसदृक्षं काकदन्तपरीक्षाऽनुसारित्वात्परास्तम् ।

यदपि "विष्णुभागवतस्य पाद्मकल्पकथाश्रयत्वमि"ति तदपि निरस्तम् । "पाद्मं कल्पमथो शृणु" इत्यत्राऽथोपदवैय्यर्थ्याच्च । यदपि श्रीकृष्णजन्मखण्डस्यैव सारस्वतकल्पभवत्वेन तस्य दशमस्कन्धे सत्त्वात् "सारस्वतस्य"इति वचनस्य विष्णुभागवतं विषय इति शङ्काग्रन्थस्य "तदसदि"त्यारभ्य "देवीभागवतमेव तद्विषयो वक्तव्यः" इत्यन्तं खण्डनग्रन्थस्य निरूपणं तदपि शशस्य निजशृङ्गभिया विशालकन्दराप्रवेशवद्भाति । यतः "रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च । सावर्णिना नारदाय कृष्णमाहात्म्यसंयुतम् । यत्र ब्रह्मवराहस्य चरितं वर्ण्यते मुहुः[1] । तदष्टादशसाहस्रं ब्रह्मवैवर्त्तमुच्यते" इति मत्स्यपुराणवचनेन ब्रह्मप्रकृतिगणपतिश्रीकृष्णजन्माख्यखण्डचतुष्कविशिष्टब्रह्मवैवर्तपुराणस्य रथन्तरकल्पाश्रितवृत्तान्तबोधकत्वात् ।

यदपि "ब्रह्मणा संस्तुता" इति शिवपुराणस्थोमासंहितावचनात्फाल्गुनशुद्ध[2]द्वादश्यां देव्या उद्भवः । तद्दिन एव सारस्वतकल्पोद्भवः "सारस्वतस्तु द्वादश्याम्"इति हेमाद्रिधृतनागरखण्डवचनात् । तथाच सरस्वत्याः कल्प इत्यर्थकं "सारस्वतस्य कल्पस्ये"ति वचनं सर्वथा देवीभागवतविषयो न विष्णुभागवतमित्युक्तम्, तदपि न; "युष्माकं बदरीचक्रमस्माकं बदरीगृहम्" इति बादरायणसम्बन्धसदृशत्वात् ।

किञ्च, मधुकैटभनाशाय तस्य उद्भवोक्तेः का व्यवस्था निश्चीयते । अत एव सप्तशतीप्रथमचरितस्य काली देवतेति कात्यायनीतन्त्रादिषु स्फुटम् । एतेन देवीभागवतप्रथमस्कन्धे महालक्ष्म्यादीनां सर्ग उक्तः । ततश्च सरस्वत्याऽऽविर्भावप्रतिपादकत्वमुक्तमिति निरस्तम् । मुख्यत्वेन सरस्वत्या आविर्भावप्रतिपादकत्वमिति भवदुक्तिविरोधाच्च । नात्र सरस्वत्या मुख्यत्वेन प्रतिपादनम् । अस्तु वा यथोक्तम् । परन्तु द्वादश्या विष्णुतिथित्वेन निश्चयाद्वाराहपुराणे धरणीकृते मार्गशीर्षमारभ्योर्ज्जमासपर्य्यन्तानां शुक्लद्वादशीक्रमेण मत्स्यकूर्मवराहनृसिंहवामनपरशुरामरामश्रीकृष्णबुद्धकल्किपद्मनाभनारायणदेवताकाः प्रसिद्धाः । तत्र नृसिंहद्वादशीत्वेन नृसिंहदेवताकत्वेन फाल्गुनशुक्लद्वादश्याः प्रसिद्धत्वात् ।

---

१ द्वादश्यामिति कपुस्तकम् । २ बौद्धेति खपुस्तकम् ।

किञ्च, योगबाहुल्येन गोविन्दद्वादशीत्वेन प्रसिद्धत्वाच्च पद्मपुराणे, "कुम्भेऽर्के देवपूज्ये यदि धनुषि गते सप्तगे कर्कटस्थे पुष्यार्के फाल्गुने मास्यथ शुभफलदे शोभने शुक्लपक्षे । चेत्स्याद्व्यातिरेकादिह जलधितटे द्वादशी विष्णुतीर्थे गोविन्दद्वादशीयं कलिकलुषहरा विष्णुसायुज्यदात्री"इति ब्रह्माण्डपुराणेऽप्यस्ति लक्षणम् । एवं फाल्गुनशुक्लद्वादश्या अनेकप्रकारेण भगवत्सम्बन्धित्वनिश्चितत्वाद्देव्युद्भवस्यैकस्य सम्बन्धस्याऽकिञ्चित्करत्वात् । तत्रोद्भूतसारस्वतकल्पस्य सात्त्विकत्वेन तदधिष्ठातृभगवत्प्रतिपादकश्रीमद्भागवतस्य 'सारस्वतस्ये'तिवचनोक्तलक्षणं निराबाधमिति सर्वथैवाऽस्माकमेवेष्टसिद्धिः । यच्च तस्य ग्रहणे हरिमाहात्म्यप्रतिपादकत्वेन सात्त्विकत्वमेवाऽऽयातीत्यापत्तिर्दर्शिता सात्वनुकूलैवेति प्रतिपादितमेव, तस्य सात्त्विकत्वमिति 'सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः' इति वचनस्य न सारस्वतकल्पो विषय इति सिद्धम् ।

केचित्तु, मात्सीयं सारस्वतकल्पवाक्यं न भागवतलक्षणपरम्, लक्षणपरत्वे "यत्तदीशानकल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च । वसिष्ठायाऽग्निना प्रोक्तमाग्नेयं तत्प्रचक्षते" इत्यादिमात्सीयकल्पान्तवाक्यानामपि लक्षणपरत्वस्य वक्तव्यत्वेनाऽऽग्नेयादेरीशानकल्पोक्तिविधुरस्याऽष्टादशबहिर्भावप्रसङ्गात् । किन्तु, मात्सीयकल्पवर्णनाध्यायस्थसङ्कीर्णसात्त्विकराजसकल्पभेदवाक्यवदिमानि पुराणवर्णनाऽध्यायस्थसारस्वतादिकल्पभेदवाक्यान्यपि परस्परविरुद्धवृत्तान्तवादिनां पुराणवचनानामप्रामाण्यनिरासाय भिन्नभिन्नकल्पवृत्तान्तविषयत्वप्रतिपादनपराण्येव । एवं सति मात्स्यवाक्यैरेव पुराणानां यथोक्तलक्षणादिमानसिद्धभागवतत्वादिविशेषाणां प्रतिनियतकल्पसम्बन्धस्य विधिरस्ति तस्य प्रतीतिनिर्वाहान्न भागवतादौ सारस्वतकल्पोक्त्यपेक्षास्तीत्याहुः । तत्रोक्तव्यवस्थया वक्ष्यमाणबृहद्वामनपुराणसन्दर्भेण च सारस्वतकल्पोक्तवृत्तान्तस्य श्रीमद्भागवतविषयत्वे जागरूकेऽस्याः कल्पनायाः प्रयोजनाऽभावः ।

परे तु, सरस्वतीतीरवासिनां भृग्वादिमुनीनां 'को देवः श्रेष्ठः' इति 'कल्प एव सारस्वतकल्प' इत्यपि वक्तुं शक्यत्वेन भवदभिमते प्रमाणाऽभाव इत्येकया युक्त्या वादिनि प्रतिहते यथाकथञ्चिद्युक्त्यन्तरकथनमभ्युच्चय इति उक्तलक्षणाऽभ्युच्चयेनैवोपन्यस्तमित्याहुः । अत्र, 'एवं सारस्वता विप्राः' इति श्रीमद्भागवतवचनं मानम् । अस्या अपि कल्पनायाः क्लिष्टत्वेन पूर्वोक्तमेव ज्यायः ।

वस्तुतस्तु बृहद्वामनपुराणसन्दर्भेण तु कस्या अपि कल्पनायाः प्रयोजनाभावात्सारस्वतकल्पवृत्तान्तः श्रीमद्भागवतोक्तः स्पष्टमेव प्रतीयते । बृहद्वामनपुराण उत्तरस्थाने खिले च भृगुब्रह्मसम्वादे ब्रह्मणो वाक्यानि "षष्टिवर्षसहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा । नन्दगोपव्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये । तथापि न मया प्राप्तास्तासां वै पादरेणवः । श्रुत्वैतद्ब्रह्मणो वाक्यं भृगुः प्राहाथ सादरम् । वैष्णवानां पादरजो गृह्यते त्वद्विधैरपि । सन्ति ते बहवो लोके वैष्णवा नारदादयः । तेषां विहाय गोपीनां पादरेणुस्त्वयाऽपि यत् । गृह्यते संशयो मेऽत्र को हेतुस्तद्वद प्रभो । ततो ब्रह्मा भृगुं प्राह चिन्तयित्वा पुरातनीम् । कथां सर्वश्रुतीनां यद्रहस्यं परमाद्भुतम् । ब्रह्मोवाच । न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किल । नाहं शिवश्च शेषश्च श्रीश्च ताभिः समाः क्वचित् । प्राकृते प्रलये प्राप्ते व्यक्तेऽव्यक्तं गते पुरा । शिष्टे ब्रह्मणि चिन्मात्रे कालमायाऽतिगेऽक्षरे । ब्रह्मा-

नन्दमयो लोको व्यापिवैकुण्ठसञ्ज्ञकः । निर्गुणोऽनाद्यनन्तश्च वर्त्तते केवलेऽक्षरे । अक्षर ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तमम् । तल्लोकवासी तत्रस्थैः स्तुतो वेदैः परात्परः । चिरं स्तुतस्ततस्तुष्टः परोक्षं प्राह तान् गिरा । तुष्टोऽस्मि ब्रूत भोः प्राज्ञा वरं यन्मनसीप्सितम् । श्रुतय ऊचुः । नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत । सगुणं ब्रह्म सर्वेदं वस्तुबुद्धिर्न तेषु नः । ब्रह्मेति पठ्यतेऽस्माभिर्यद्रूपं निर्गुणं परम् । वाङ्मनोगोचरातीतं ततो न जायते तु तत् । आनन्दमात्रमिति यद्वदन्ति पुराविदः । तद्रूपं दर्शयाऽस्माकं यदि देयो वरो हि नः । श्रुत्वैतद्दर्शयामास तं लोकं तमसः परम् । केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमव्ययम् । यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः । मनोरमनिकुञ्जाढ्यं सर्वत्र कुसुमाकरम् । यत्र गोवर्धनो नाम सुनिर्झरदरीयुतः । रत्नधातुमयः श्रीमान् सुपक्षिगणसङ्कुलः । यत्र निर्मलपानीया कालिन्दी सरितां वरा । रत्नबद्धोभयतटी हंसपद्मालिसङ्कुला । नानारासरसोन्मत्तं यत्र गोपीकदम्बकम् । तत्कदम्बकमध्यस्थः किशोराकृतिरच्युतः । दर्शयित्वेति तं प्राह ब्रूत किं करवाणि वः । दृष्टो मदीयो लोकोऽयं यतो नास्ति परं वरम् । श्रुतय ऊचुः । कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः । कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयम् । यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाऽजनि नस्तथा । श्रीभगवानुवाच । दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं सुमनोरथः । मयाऽनुमोदितः सम्यक् सत्यो भवितुमर्हति । आगामिनि विरिञ्चे तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते । कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ । पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले । वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डले । जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोऽधिकम् । मयि सम्प्राप्य सर्वेऽपि कृतकृत्या भविष्यथ''इत्यत्र स्पष्टं सारस्वतकल्पीयश्रीकृष्णलीलाया उक्तत्वात्सारस्वतकल्पवृत्तान्तबोधकब्रह्मवैवर्ताऽन्तर्गतश्रीकृष्णजन्मखण्डे प्रवेशमलभमानाऽन्यकल्पेष्वप्यन्यकल्पवृत्तान्ताश्रयत्वाच्च कुत्राऽपि प्रवेशमलभमाना श्रीमद्भागवतदशमे स्पष्टं प्रतीयमाना सारस्वतकल्पीयैवेति निश्चीयते । ''गोप्यो गाव ऋचस्तथा (भिन्नभिन्ना एतास्तु) आभिर्भिन्नो न वै प्रभुः । भूमावतारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम्''इति कृष्णोपनिषच्छ्रुत्याऽपि । ''गोप्यश्च श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा देवकन्याः । मुनिकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कथञ्चन''इति पद्मपुराणवचनेन च व्यापिवैकुण्ठस्यैव, श्रुतयस्तु भगवता प्रकटिततया गोपीनां च श्रुतिरूपात्वेनाऽपि कथनाच्छ्रुतीनां च भगवता गोपीभवनस्य तत्साहित्येन रमणस्य च सारस्वतकल्प उक्तत्वेन श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे कृष्णस्कन्धे ''कृष्णं च तत्र च्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मितम्'' इत्युक्त्वा ''मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः'' इति दृष्टान्तरीत्याऽप्युक्तत्वाद्दशमस्कन्धोक्तचरितस्य सारस्वतकल्पीयत्वनिश्चयात् ।

एवञ्च ''सरस्वत्यास्तथा कल्पो गौरीकल्पस्तथैव च''इतिवचनस्य वेदात्मकसरस्वत्या इत्यर्थः । ततश्च वेदात्मकसरस्वतीरूपगोपिकानां प्रादुर्भावो यत्र स सारस्वत इति योगोऽप्यस्माकमनुकूलः । श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे ''सूत जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः । देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया । तन्नः शुश्रूषमाणानामर्हस्यङ्गाऽनुवर्णितुम् । यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च'' इत्यादिना श्रीकृष्णचरितस्यैव मुख्यतया शौनकादिभिः प्रष्टत्वेन सूतेन ''एते

चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्'' इति श्रीकृष्णस्यैवाऽवतारित्वमूलपुरुषत्वबोधनेन, तदवतारनिरूपणेन, तत्कर्तृकसृष्टिनिरूपणेन, तद्भक्तानां माहात्म्यनिरूपणेन, मुख्यतया श्रुतिरूपगोपिकामनोरथपूर्त्त्येऽवतीर्णस्य तच्चरितनिरूपणेन, तत्कर्तृकोपदेशनिरूपणेन, ''सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् । सत्यासत्यौ हि गोविन्दस्तस्मात्सत्यो हि नामतः'' इत्युद्योगपर्ववाक्यात् ''सत्यं परं धीमहि'' इत्याद्यन्तवाक्येन च सर्वत्र श्रीकृष्णस्यैव माहात्म्यनिरूपणेन तदुपयोगिनरानरवृत्तान्तवर्णनेन ''सारस्वतस्य कल्पस्ये''ति श्लोकस्य विषयः श्रीमद्भागवतमेव न देवी भागवतमिति सिद्धम् । एतेन मत्स्यपुराणमते देवीभागवतं महापुराणमिति परास्तम् ।

यत्तु, शैवपुराणमते देवीभागवतं महापुराणमिति । तथाहि–शैवपुराण उत्तरखण्डे मध्यमहेश्वरमाहात्म्ये शिवाल्लब्धवरेण व्यासेन महापुराणानि प्रणीतानीत्युक्त्यन्तरं तेषां नामान्यष्टादशोक्त्वा तेषां योगरूढानां नाम्नां विवेचनं तत्रैव कृतम् । तद्यथा ''यत्र वक्ताऽभवत्तण्डे ब्रह्मा साक्षाच्चतुर्भुजः । तस्माद्ब्राह्मं समाख्यातं पुराणं प्रथमं मुने'' । 'तण्ड'इतिमुनिसम्बोधनम् । ''पद्मकल्पस्य माहात्म्यं तत्र यस्मादुदाहृतम् । तस्मात्पाद्मं समाख्यातं पुराणं च द्वितीयकम् । पराशरकृतं यच्च पुराणं विष्णुबोधकम् । तदेव व्यासकथितं पुत्रपित्रोरभेदतः । यत्र पूर्वोत्तरे खण्डे शिवस्य चरितं बहु । शैवमेतत्पुराणं हि पुराणज्ञा वदन्ति हि । भगवत्याश्च दुर्गायाश्चरितं यत्र विद्यते । तत्तु भागवतं प्रोक्तं न तु देवीपुराणकम् । नारदोक्तं पुराणं तु नारदीयं प्रचक्षते । यत्र वक्ताऽभवत्तण्डे मार्कण्डेयो महामुनिः । मार्कण्डेयं पुराणं हि तदाख्यानं च सप्तमम् । अग्नियोगात्तदाग्नेयं भविष्योक्तेर्भविष्यकम् । विवर्तनाद्ब्रह्मणस्तु ब्रह्मवैवर्तमुच्यते । लिङ्गस्य चरितोक्तत्वात्पुराणं लिङ्गमुच्यते । वराहस्य च वाराहं पुराणं द्वादशं मुने । यत्र स्कन्दः स्वयं श्रोता वक्ता साक्षान्महेश्वरः । तत्तु स्कान्दं समाख्यातं वामनस्य तु वामनम् । कौर्मं कूर्मस्य चरितं मात्स्यं मत्स्यस्य कीर्त्तितम् । गरुडस्तु स्वयं वक्ता यत्तद् गारुडसञ्ज्ञकम् । ब्रह्माण्डचरितोक्तत्वाद्ब्रह्माण्डं परिकीर्त्तितमि''ति । अत्र क्वचिद्वक्तृसम्बन्धः, क्वचित्प्रतिपाद्यमुख्यदेवतासम्बन्धः प्रवृत्तिनिमित्तमिति स्पष्टमेव दर्शितम् । तत्र भागवतनाम्नो निर्वचनवाक्यमेतत् । भगवत्याश्च दुर्गायाश्चरितं यत्र विद्यते । तत्तु भागवतं प्रोक्तं न तु देवीपुराणकम्''इति । अनेनात्र निर्वचनवाक्येन भगवत्या इदं भागवतमिति व्युत्पत्त्या ग्रन्थप्रतिपाद्यमुख्यदेवताचरितसम्बन्धः प्रवृत्तिनिमित्तमिति स्पष्टमेव दर्शितम् । का सा भगवतीत्यपेक्षायामाह ''दुर्गाया'' इति । ''तत्तु भागवतमि''ति । तुशब्दो निश्चयार्थः । तदेव भागवतपदवाच्यं प्रोक्तमित्यर्थः । न तु पुराणान्तरमतप्रासं विष्णुभागवतम् । महापुराणान्तर्गतभागवतमित्यर्थं इति शैवपुराणेन स्वमत प्रदर्शितम् । कश्चिदेतत्पुराणान्तरमतेन जानीयात्तत्राह । न तु देवीपुराणकम् । पुराणकमित्यत्र कप्रत्ययोऽल्पार्थकः, ''अल्प'' इति सूत्रात् । पुराणकमल्पं पुराणमुपपुराणमिति यावत् । देव्याः पुराणकं देवीपुराणकं यदिदमुक्तं तद्देव्या उपपुराणं नैवास्तीत्यर्थः । अनेन च वाक्येनाऽन्यस्य महापुराणत्वनिषेधे स्वाभिप्रेतस्योपपुराणत्वनिषेधेन श्रीमद्देवीभागवतस्यैव महापुराणत्वं बोधयति व्यासः । मुख्यत्वेन भगवतीचरितप्रतिपादकस्य महापुराणमध्ये कस्यचित्पुराणस्य अन्यस्याऽभावात् । ननु नारदादिपुराणवचनबलाद्वि-

ष्णुभागवतस्य महापुराणान्तर्गतत्वे निर्विघ्नं निश्चिते तद्बलाद्भागवतद्वयस्य मतभेदेन महापुराणकल्पनापेक्षया यत्किञ्चिद्भगवतीचरितस्याऽस्मिन्वचने ग्रहणेनाऽनेन वचनेन विष्णुभागवतनाम्न एव निरुक्तिः कृतेति कुतो न कल्प्यते । वर्तते च तत्र विष्णुभागवते दशमस्कन्धे किञ्चिद्विन्ध्यवासिन्याश्चरितमिति चेन्न, तथा सति मुनेर्विष्णुभागवतविषय एव तात्पर्यसत्त्वे भगवत इदं भागवतमित्येव व्युत्पत्तिं कुर्यान्नहि केनचिन्मुनेः शिरसि भारः स्थापितो यत्स्वाऽभिप्रेतां युक्तां निरुक्तिं त्यक्त्वा निष्प्रयोजनाऽनभिप्रेतां निरुक्तिं करोति । किञ्च "यत्र पूर्वोत्तरे खण्डे शिवस्य चरितं बहु । शैवमेतत्पुराणं तु पुराणज्ञा वदन्ति चे"ति वचनैर्बहुचरितस्य मुख्यचरितसम्बन्धरूपप्रवृत्तिनिमित्तस्यैवाभिप्रेतत्वं मुनेरवसीयते । मतभेदेन पुराणभेदकल्पना तु नात्रैव नवीनाऽस्ति । पूर्वोक्तयुक्त्या नारदशैववाय्वादिपुराणेष्वन्यत्राऽपि सत्त्वात् । अस्तु वा गौरवम् । नहि तद्भयान्मुनेस्तात्पर्यमन्यथाकर्तुं कश्चिदीष्टे । तस्मात्पूर्वोक्तं तात्पर्यं विहायान्यतात्पर्येणाऽन्यथाकरणं महासाहसमेव । ननु लक्षणवाक्यमेतत् । ततश्च दुर्गाचरितं यत्र वर्तते तद्भागवतमित्यर्थः । तच्च न देवीभागवतं भवितुमर्हति । तस्य तल्लक्षणलक्ष्यत्वे "न तु देवीपुराणकमि"ति निषेधविषयत्वेन निषेधविध्योः समानविषयत्वापत्तेः । किन्तु विष्णुभागवतमेवेति चेन्न, पूर्वोक्तनिरुक्तिवचनप्रकरणस्थत्वविरोधात् । किञ्च लक्षणवाक्यमेतदिति पक्षेऽप्येतल्लक्षणस्य महापुराणोद्देशेनैव सत्त्वादुपपुराणेष्वस्य प्रसक्त्यभावाद्देवीपुराणकालिकापुराणयोरुपपुराणत्वस्य निश्चितत्वात्तत्रैव तल्लक्षणस्य प्रसक्तिरेव नास्तीति "न तु देवीपुराणकम्"इति निषेधो व्यर्थ एव स्यात् । तस्मादेतद्वचनस्य पूर्वोक्त एवाऽर्थः । किञ्च, लक्षणवाक्यमेतदिति पक्षे यत्किञ्चिच्चरितं ग्रह्यते ?, उत यावच्चरितम् ? यत्किञ्चिच्चरितस्य सर्वपुराणेषु सत्त्वाद्देवीपुराणमात्रनिषेधेन निर्वाहः । तस्माद्देवीपुराणस्यैव निषेधस्वारस्याद्यावच्चरितं मुख्यत्वेन भगवतीचरितमेव ग्राह्यम् । तदा तव नाभीष्टार्थसिद्धिः । मुख्यत्वेन विष्णुभागवते दुर्गाचरितस्याऽभावान्ममैव त्वभीष्टसिद्धिः । निषेधविध्योः समानविषयत्वरूपं दूषणं नैव सम्भवति । प्रकरणबलात्तात्पर्ये निश्चिते तद्विहायैव निषेधप्रवृत्तेः । वृत्रासुरवधोपेतत्वलक्षणं गायत्र्यारम्भविशिष्टमिति तदतिप्रसक्तम् । तस्मात्पूर्वोक्त एतद्वचनार्थ इति तद्वचनाद्देवीभागवतं महापुराणं, न तु विष्णुभागवतमिति शिवपुराणमतम् । अत्र च नियमद्वयस्य पूर्वोक्तस्य सत्त्वाद्विष्णुभागवतविषये नियमद्वयाऽभावादिदं शिवपुराणमतमेव मुख्यम् । अन्यपुराणमतं त्वेकदेशीति नियमद्वयप्रदर्शकव्यासवाक्येन स्पष्टमेव बोधितमिति सुधियो विभावयन्त्वित्याह कश्चित् ।

तदसङ्गतम् । अष्टादशपुराणगणनायां पठितस्य भागवतस्योपपुराणत्वाऽप्रसक्त्या निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वेन, निषेधाऽयोगात् । कालिकापुराणदेवीपुराणयोरुपपुराणत्वेन महापुराणत्वनिषेधवत् । यदि च देवीभागवत उपपुराणत्वशङ्काप्रहाणाय निषेधसिद्धिस्तदा "नमस्कृत्य शिवां देवीं शर्वं भागवतं तथा । पुराणं सम्प्रवक्ष्यामि यथोक्तमृषिभिः पुरा" इति देवीपुराणप्रारम्भपद्ये भागवतपददृष्ट्या दुर्गाचरितवत्त्वाऽपि निषेध इत्यस्य वक्तुं शक्यत्वात् । यतश्चोभयं न निषेध्यमप्रसक्तेः । तदा तु देवीभागवते महापुराणत्वप्रसक्त्या तस्यैव निषेधः । देवीभागवतस्य निर्मूलत्वत्वादिनस्तु नत्विति निषेधस्य पूर्वाऽन्वयित्वं, यतस्तदुपपुराणमिति हेतुगर्भितमुपपुराणकमिति विशेषणमिति वदन्तो "नमस्कृत्य" इति वचनबलाद्गङ्गेशोपाध्यायानां देवीपुराणे यो महापुराणत्वपुरस्सरो भागवतत्वव्यवहारस्तं खण्डयति । केचित्त्वेवमन्वयं वदन्तो देवीभागवतस्योपपुराणत्वं साधयन्ति । परन्त्वेवमन्वये प्रक्रमविरोधो दुर्वारो यतस्तत्र विधायकत्वमेव दृश्यते । ततश्चायमर्थः "विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्" इति श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धोक्तभगवतीत्वबोधाय भगवत्या इति तत्रैव प्रभुणा "अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां" "नामधेयानि कुर्वन्ती"त्युक्त्वा "दुर्गेति भद्रकालीति"इत्यादिनामस्वभ्यर्हितत्वेन पूर्वमुक्तस्यैतद्वचने बोधाय 'दुर्गाया' इत्युक्तम् । तादृश्याश्चरितं यत्र, चकाराद्भगवतोऽपि यत्र चरितं तद्भागवतमित्यर्थः । तथा च भगवती च भगवाँश्च भगवन्तौ, भगवतश्चरितं भागवतमिति व्युत्पत्तिः । यदि चैकवचनान्तैव व्युत्पत्तिः, प्राधान्येन भगवत्याश्चरितमित्युच्यते, तदा चकारवैयर्थ्यम् । न च 'यत्र पूर्वोत्तरे खण्डे' इतिवचनेन शिवचरितं बाहुल्येन यत्र तच्छैवं यथा, तथा भगवत्या दुर्गायाश्चरितं यत्र तद्भागवतम् इति बोधाय चकार इति वाच्यम् । "न तु देवीपुराणक"मित्यस्य निर्विषयत्वापत्तेः । न च देवीभागवतस्योपपुराणत्वव्युदासेन चारितार्थ्यमिति वाच्यम् । महापुराणगणनायामस्याप्रसक्त्या निषेधाऽप्रसक्तेरित्युक्तम् । ततश्च "द्वितीयकं भविष्यकमि"ति पूर्वोत्तरत्र दृष्ट्वा'त्पुराणकमि'त्यत्र कप्रत्ययः स्वार्थेऽस्यार्थकप्रत्ययसमासे नत्विति निषेधान्वयस्य क्लिष्टत्वाच्च तस्माद्देवीभागवतस्यैव निषेधः । वस्तुतस्तु देवीपुराणपदोल्लेखाद्देवीपुराणाद्यपद्ये भागवतपदसत्त्वात्प्राधान्येन दुर्गाचरितवत्त्वाच्च भागवतत्वप्रसक्तौ तस्यैव निषेधः । न चोपपुराणत्वं तस्येति वाच्यम् । अन्यपुराणदृष्ट्योपपुराणत्वेऽपि तत्र पुराणत्वेनैवोक्तत्वात् । अत एव गङ्गेशोपाध्यायानां महापुराणव्यवहारः । न च दुर्गाचरितवत्त्वेन कालिकापुराणेऽतिप्रसङ्गः । तस्य देवीप्रतिपादकत्वेऽपि देवीपुराणपदेन व्यवहाराभावात् । भागवतपदाऽनुल्लेखात् । "यदिदं कालिकाख्यं च मूलं भागवतं स्मृतम्" इति कालिकापुराणे भागवतपदोल्लेख इति न भ्रमितव्यम् । गणनाबाधापत्त्या कालिकापुराणाद्भिन्नमेव भागवतमुपपुराणमित्युक्तमसकृत्प्राक् । किञ्च, 'भगवत्याश्चे'ति श्लोकेन तस्य महापुराणत्वे प्रसक्ते तस्य निषेधेनोपपुराणत्वनिश्चयः । न च "इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे । स्थिताय भवभीताय कारुण्यात्सम्प्रकाशितम्"इति श्रीमद्भागवतवाक्यात् "इदं भागवता प्रोक्तं चतुःश्लोक्या स्वयम्भुवे । नारदाय स वै मह्यं कृष्णाय मुनये ह्ययम् । शुकाय विष्णुराताय स तु राज्ञेऽभिमन्यवे" इति पद्मोत्तरखण्डवाक्याच्च, "भगवता प्रोक्तं भागवतम्" इति व्युत्पत्तेर्दर्शनाद् "भगवतोरिदं भागवतम्" इति व्युत्पत्तिः कथमिति वाच्यम् । "श्रीमद्भागवतस्याथ श्रीमद्भगवतस्तथा । स्वरूपमेकमेवाऽस्ति सच्चिदानन्दलक्षणम् । श्रीकृष्णासक्तभक्तानां तन्माधुर्यप्रकाशकम् । समुज्जृम्भति यद्वाक्यं विद्धि भागवतं च तत् । ज्ञानविज्ञानभक्त्यङ्गचतुष्टयपरं वचः । मायामर्दनलक्ष्यं यद्विद्धि भागवतं च तत् । प्रमाणं तस्य को वेद ह्यनन्तस्याऽक्षरात्मनः । ब्रह्मणे हरिणा तादृक् चतुःश्लोक्या प्रदर्शिता । तदानन्त्याऽवगाहेन स्वेप्सितावहनक्षमाः । त एव सन्ति भो विप्रा ब्रह्मविष्णुशिवादयः" इति स्कन्दपुराणस्थश्रीमद्भागवतवचनैर्भगवतः स्वरूपं भागवतम् । भगवतो

१ चरितत्वेनेति कपुस्तकम् ।

भक्ता भागवतास्तेषामिदम्, भगवती माया तस्या व्यावर्तकम्, भगवता प्रोक्तमिति व्युत्पत्तयो निरूपिताः। तथैव "भगवत्याश्च"इति श्लोकेन भगवतोरिदमिति व्युत्पत्तेः सत्त्वात्।

वस्तुतस्तु योगरूढमिदम्। "इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्। उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः" "इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्। अधीतवान्द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम्"इति श्रीमद्भागवतप्रथमद्वितीयस्कन्धवाक्यात्। "शुकोक्तं विष्णुराताय सदसि ब्रह्मवादिनाम्। श्रीमद्भागवतं नाम ध्रुनद्यां तमसः परम्"इति पाद्मोत्तरखण्ड उक्तत्वाच्च। अत्र भगवता व्यासेन "तत्राऽभवद्भगवान् व्यासपुत्रः"इति श्रीमद्भागवतप्रथमस्कन्धाद्भगवाञ्छुकस्तेन प्रोक्तमिति योगस्य भागवतं नाम श्रीमद्भागवतं नामेति रूढेश्च स्पष्टं प्रतीयमानत्वात्। एवञ्च शिवपुराणमतेनाऽपि देवीभागवतस्य महापुराणत्वं नैव सिद्धम्। एतेनात्र नियमद्वयस्य पूर्वोक्तस्य सत्त्वाद्विष्णुभागवते नियमद्वयाऽयोगस्य च भावादिदं शिवपुराणमतमेव मुख्यं अन्यपुराणमतं त्वेकदेशीति नियमद्वयप्रदर्शकव्यासवाक्येन स्पष्टमेव बोधितमिति सुधियो विभावयन्त्विति निरस्तम्।

यदपि "शैवमादिपुराणं च देवीभागवतं तथा"इतिपाद्मवचनसम्वादितया "नवरात्रे तु देवेशि दौर्गं भागवतं पठेत्। जपेत्सप्तशतीं चण्डीं नियमेन समाहितः"इति दुर्गातरङ्गिणीधृतयामलवचनेन। तथा "देवीभागवतं नित्यं पठेद्भक्त्या समाहितः। नवरात्रे विशेषेण श्रीदेवीप्रतये मुदा" इति महेशठक्कुरकृत "दुर्गाप्रदीप" धृतदेवीयामलवचनेन च सप्रमाणस्य देवीभागवतस्य सर्वथोपपुराणमध्य एव निवेशे "तत्र भागवतं पुण्यं पञ्चमं वेदसम्मितम्" इति प्रथमस्कन्धस्य महापुराणेषु पञ्चममिदं पुराणमित्यर्थकस्य देवीभागवतोक्तवचनस्य निरालम्बनत्वादप्रामाण्यापत्तेर्मन्मते तस्य विषयलाभान्नाप्रामाण्यम्। तद्वचनप्रामाण्यादपि देवीभागवतमेव महापुराणमिति।

तच्चिन्त्यम्। देवीभागवते सूत उवाच–"शृण्वन्तु सम्प्रवक्ष्यामि पुराणानि मुनीश्वराः। यथाश्रुतानि तत्त्वेन व्यासात्सत्यवतीसुतात्। मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्। अनापलिङ्गकूस्काख्यं पुराणानि पृथक् पृथक्। चतुर्दशसहस्रं च मात्स्यमाद्यं प्रकीर्तितम्। तथाग्रहसहस्रं तु मार्कण्डेय महाद्भुतम्। चतुर्दशसहस्राणि तथा पञ्चशतानि च। भविष्यं परिसङ्ख्यातं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। अष्टादशसाहस्रं तु वैष्णवं भागवतं किल। तथा चायुतसङ्ख्यातं पुराणं ब्रह्मसञ्ज्ञकम्। द्वादशैव सहस्राणि ब्रह्माण्डं च शताधिकम्। तथाऽष्टादशसाहस्रं ब्रह्मवैवर्तमुच्यते। अयुतं वामनाख्यं च वायव्यं षट्शतानि च। त्रयोविंशतिसाहस्रं वैष्णवं परमाद्भुतम्। चतुर्विंशतिसाहस्रं वाराहं परमाद्भुतम्। षोडशैव सहस्राणि पुराणमग्निसाक्षिकम्। पञ्चविंशतिसाहस्रं नारदं परमं मतम्। पञ्चपञ्चाशत्साहस्रं पद्माख्यं विपुलं महत्। एकादशसहस्राणि लिङ्गाख्यं चातिविस्तरम्। एकोनविंशत्साहस्रं गारुडं हरिभाषितम्। सप्तैवं दशसाहस्रं पुराणं कूर्मभाषितम्। एकाशीतिसहस्राणि स्कान्दाख्यं परमाद्भुतम्। पुराणसङ्ख्या सङ्ख्याता विस्तरेण मयाऽनघ। तथैवोपपुराणानि शृण्वन्तु मुनिसत्तमाः। सनत्कुमारं प्रथमं नारसिंहमतः परम्। नारदीयं शिवं चैव दुर्वाससमनुत्तमम्। कपिलं मानवं चैव तथा औशनसेरितम्। वारुणं कालिकाख्यं च साम्बं नन्दीकृतं शुभम्। सौरं पाराशरं प्रोक्तमादित्यं चातिविस्तरम्। माहेश्वरं भागवतं वशिष्ठं च सविस्तरम्। एतान्युपपुराणानि कथितानि महात्मभिः" इत्यष्टादशमहापुराणगणनायां चतुर्थत्वेन भागवतस्य

निरूपणात्। उपपुराणगणनायां सप्तदशत्वेनोक्तेर्देवीभागवतस्य पुराणोपपुराणबहिर्भावापत्तिभिया "पञ्चमं वेदसम्मतम्" इत्येतस्य वचनस्य श्रीमद्भागवतपरत्वेनैव सार्थक्यात्। मात्स्यश्रीमद्भागवतादौ ब्राह्माद्यष्टादशपुराणनिरूपणे पञ्चमत्वेन श्रीमद्भागवतस्य निरूपणात्। श्रीमद्भागवते "ब्राह्मं दशसहस्राणि" इत्यारभ्य ब्रह्माण्डं द्वादशैव त्वित्यन्ताष्टादशपुराणगणनोत्तरं "तत्राष्टादशसाहस्रं श्रीमद्भागवतमिष्यते" इत्युक्तम्। अत्र पञ्चमत्वेन निरूपितस्य "दशाष्टौ श्रीभागवतम्" इति वचनस्यैवाऽनुवादः। तस्य भागवतान्तरसन्देहे "इदं भगवता प्रोक्तं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे" इत्याद्युक्तम्। अत्र "इदम्" इति पदेन भागवतान्तरव्युदासो बोधितः। तत्र भागवतमिति श्लोक इदं पदाभावाद्देवीभागवतोक्तपुराणगणनायां देवीभागवतस्य पञ्चमत्वाभावाच्च श्रीमद्भागवतस्यैव सङ्ग्रह इति निश्चयः। ततश्च ब्रह्मवैवर्ते "ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लिङ्गं सगारुडम्। ततो भागवतं प्रोक्तम्" इत्यष्टादशपुराणगणनायां श्रीमद्भागवतस्य सप्तमत्वेन यथा निरूपणं, तथा देवीभागवते पुराणगणनायां चतुर्थत्वेन निरूपणम्। पञ्चमत्वेन निरूपणं तु श्रीमद्भागवतं मात्स्यादिप्रोक्तगणनयेति बोध्यम्। देवीभागवते तु पूर्वाऽपरविरोधान्नैवं वक्तुं शक्यमिति सुधियो विभावयन्तु। बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यत्वात्पाद्मवाराहमात्स्यस्कान्दनारदादिशैवगौरीतन्त्रादिष्वष्टादशपुराणान्तर्गतत्वेन प्रसिद्धस्य श्रीमद्भागवतस्याऽन्यथात्वेन वक्तुमशक्यतया तत्रोक्तवचनस्य तत्परत्वेनैव न्याय्यत्वादिति दिक्।

वस्तुतस्तु "शैवमादिपुराणं च देवीभागवतं तथा" इतिपाद्मवचनस्य, "नवरात्रे तु देवेशि दौर्गं भागवतम्" इति यामलवचनस्य 'देवीभागवतं नित्यमि'ति देवीयामलवचनस्य चैतज्जातीयकानामन्यवचनानां च देवीपुराणपरत्वात्। 'नमस्कृत्य शिवां देवीं शर्वं भागवतं तथा। पुराण सम्प्रवक्ष्यामि यथोक्तमृषिभिः पुरा' इतिदेवीपुराणाद्यपद्ये भागवतपदोपादानात्। न च तथा पदेन व्यवधानेन भागवतपदं न पुराणविशेषणम्, किन्तु शर्वस्येति पूर्वमुक्तत्वादिति वाच्यम्, शाब्दिकव्यवधानस्याकिञ्चित्करत्वात्। शर्वस्य भगवद्भक्तत्वेऽप्यत्र तथा प्रतिपादनस्य प्रयोजनाभावादयौक्तिकत्वाच्च। पूर्वोपादानस्याष्टादशपुराणान्तर्गतत्वखण्डने तात्पर्यम्। अत एव श्रीपुरुषोत्तमचरणैर्भगवत्या इदमिति व्युत्पत्तेः काल्पनिकत्वमङ्गीकृत्य "नमस्कृत्य शिवां देवीमि"तिश्लोकस्य भागवतपदस्य शर्वविशेषणत्वेन समर्थनोत्तरं श्रीमद्भागवतस्य देवीपुराणोपजीव्यत्वात्। 'अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरीमि'त्यादिदशमस्कन्धविस्तारस्य देवीपुराणे दर्शनात्। अत एव 'यथोक्तमृषिभिः पुरे'ति ऋषिप्रोक्तत्वरूपमुपपुराणलिङ्गत्वमपि युज्यते। "अष्टादशपुराणानि श्रुत्वा सत्यवतीसुतात्। अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि तु" इतिसूतसंहितावाक्यात्। शब्दखण्डे गङ्गेशोपाध्यायानां यो देवीपुराणे महाभागवतत्वव्यवहारः सत्वस्योपपुराणस्य महापुराणत्वमूलकत्वेन, तेषां श्रद्धातिशयने च साम्प्रयोगिकानां चतुःषष्टिव्यवहारवत्पूजार्थ एवेत्युक्तम्। बहुभिः प्राचीनार्वाचीननिबन्धकारैर्देवीभागवतस्य कुत्राप्यनिरूपणान्निर्मूलत्वमेव। भवतां तोषाय समूलताऽस्तु, नास्माकमाग्रहो व्यवस्थाया दर्शितत्वादिति दिक्।

न च श्रीमद्भागवतेऽपि कस्यचिद्बहिर्मुखस्य वोपदेवकृतत्वेन निर्मूलत्वशङ्कोदेतीति वाच्यम्। स्कान्दे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये "परीक्षिच्छुकसम्वादो योऽसौ व्यासेन वर्णितः। ग्रन्थोऽष्टादश-

साहस्रः सोऽसौ भागवताऽभिधः" इत्युक्तेः । "मरीचे शृणु वक्ष्यामि वेदव्यासेन यत्कृतम् । श्रीमद्भागवत नाम पुराणं वेदसम्मितम् । तदष्टादशसाहस्रं कीर्तितं पापनाशनम् । सुरपादपरूपोऽयं स्कन्धैर्द्वादशभिर्युतः । भगवानेव विप्रेन्द्र विश्वरूपी समाहितः । तत्र तु प्रथमस्कन्धे सूतर्षीणां समागमे । व्यासस्य चरितं पुण्यं पाण्डवानां तथैव च" इत्यादिना द्वादशस्कन्धानामनुक्रमणिकानिरूपकनारदीयोक्तेश्च । "दशसप्त पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः । नाप्तवान्मनसस्तोषं भारतेनाऽपि भामिनि । चकार संहितामेकां श्रीमद्भागवतीं परामि"ति पाद्मवाक्याच्च व्यासकृतत्वेन स्पष्टमुक्तत्वात् । पाद्मे चोत्तरखण्डे "इदं भगवता प्रोक्तं चतुःश्लोक्या स्वयम्भुवे । नारदाय स वै मह्यं कृष्णाय मुनये ह्यहम् । शुकाय ब्रह्मराताय स तु राज्ञेभिमन्यवे" तथा "शुकोक्तं विष्णुराताय सदसि ब्रह्मवादिनाम् । श्रीमद्भागवतं नाम धुनद्यां तमसः परमि'ति । एतदेव लक्षणं वाराहेऽपि परीक्षितः शापकथनसङ्गे श्लोकान्तरेणास्ति । तथा 'ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो[1] द्वादशस्कन्धसम्मितः । परीक्षिच्छुकसम्वादः श्रीमद्भागवताभिधः । पुराणेषु तु सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम् । यत्र प्रतिपदं विष्णुर्गीयते बहुधर्षिभिः । इति सङ्कल्प्य मनसा श्रीमद्भागवताभिधम् । जन्माद्यस्य यतश्चेति धीमह्यन्तमुपावददि"त्यादिपूर्वापरपाद्मवचनबोधितानां भगवद्ब्रह्म–ब्रह्मनारद–नारदव्यास–व्यासशुक–शुकपरीक्षित्सम्वादत्वादिविशेषाणां श्रीमद्भागवत एवोपलम्भेन बहिर्मुखशङ्काया एवाऽनुदयात् । रामाश्रमास्तु दुर्जनमुखचपेटायां बहुविधयुक्तीराहु तास्ततो ज्ञेया विस्तरभियेति नानूद्यन्ते ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणास्तु श्रीभागवतस्वरूपविषयकशङ्कानिरासवादे केषाञ्चिदन्त्यजनजातसङ्कातानां सकलप्रमाणमौलिभूतवेदफलभूते श्रीमद्भागवतेऽर्वाचीनत्वशङ्का, सा तु 'त्रयो वेदस्य कर्तारो मुनिभाण्डनिशाचराः'इति तथागतप्रणीतकारिकोक्तसरणीमनुसरन्तो माध्यमिकमतमध्यास्ते । यदि तथा स्यात्तदा महान्तः प्रामाणिका निबन्धकर्तारः स्वस्वग्रन्थेषु सम्मतिं न दद्युः । काऽस्ति सम्मतिरिति चेत्, अवधेहि–प्रथमं तावच्छङ्कराचार्यकृते चतुर्दशमतविवेके 'परमहंसधर्मो भागवते पुराणे कृष्णेनोद्धवायोपदिष्टः' इति पुराणनाम गृहीत्वोक्तम् । पाद्मसहस्रनामटीकायां वचनान्येव बहूनि तत्र लिखितानि । तथोपदेशसाहस्र्याष्टीकायां समाप्तौ श्रीभागवतं लिखितमस्ति । तथा सम्वत्सरप्रदीपनाम्नि प्राचीनगौडकृते स्मार्त्तनिबन्धे 'शतशोऽथ सहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसङ्ग्रहैः । गृहे न तिष्ठते यस्य शास्त्रं भागवतं कलौ । कथं सः वैष्णवो ज्ञेयः शास्त्रं भागवतं कलौ । गृहे न तिष्ठते यस्य श्वपचादधिको हि सः' इत्यादिस्कन्दवचनैर्गृहे श्रीभागवताऽभावे दोषं प्रदर्श्य कलिदोषतः पावित्र्याय कतिचिच्छ्रीभागवतवचनानि लेख्यानीत्युक्त्वा भूयांसि श्रीभागवतवचांसि लिखितानि । तथा हेमाद्रिव्रतदानखण्डकालनिर्णयादिषु कलिधर्मनिर्णये च 'कलिं सम्भाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः । कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्' इत्यादीन्युदाहृतानि ।

१ तथा "ग्रन्थोष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः । परिक्षिच्छुकसम्वादः शृणु भागवतं च तत्" इति पाठोधिकः खपुस्तके चतुर्थचरणमात्रव्यात्यासेन लब्धः ।

एवं प्रक्रियाकौमुदीकृता रामचन्द्राचार्यस्य पुत्रेण, नृसिंहाचार्येण च कालनिर्णयदीपिकाविवरणे भागवत इत्युक्त्वा 'आचार्यं मां विजानीयादि'ति देवपूजाप्रकरणे चाथो विष्णुः सितरक्तपीतासिततनुः कृष्णकृतान्नामभिर्हंसाद्यैरित्यत्र 'कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः । नानावर्णाभिधाकारो नानेव विधिनेज्यते'इत्यादीनि लिखितानि । तथा विद्यानिवासभट्टाचार्यकृतसच्चरितमीमांसाख्ये स्मार्तनिबन्धे 'देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्' इति, 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धे' त्यादीनि सम्मत्यर्थं लिखितानि । तथा मधुसूदनसरस्वतीभिरपि भक्तिरसायने श्रीमद्भागवतवचांस्येवोपनिबद्धानि । तथा जन्माद्यस्य यत इत्यादिश्लोकत्रयस्य मधुसूदनसरस्वतीकृता टीकास्ति । भगवद्गीतायाः सप्तमाऽध्यायव्याख्याने च जीवप्रतिबिम्बपक्षे 'नैवात्मनः प्रभुरि'तिसप्तमस्कन्धीयं वाक्यं च लिखितम् । अन्यान्यपि च तीरभुक्तदेश्यविष्णुपुरीनाम्नाऽपि भक्तरत्नावल्यां नवधा–भक्तिनिरूपणाय श्री[illegible]वतीयान्येव तत्र तत्र प्रदर्शितानि वाक्यानि ।

एवं काश्मीरदेशीयक्षेमेन्द्रनाम्ना क्षेमेन्द्रप्रकाशाख्ये स्वनिबन्धे 'त्वयोपभुक्ते' त्यादीनि लिखितानि । तथा निर्णयसिन्धौ वामनजयन्तीनिर्णयेऽष्टमस्कन्धीय "श्रोणायां श्रवणद्वादश्या" मित्यादि लिखितम् । भगवद्भास्करे श्राद्धमयूखे श्राद्धे मांसनिषेधके "न दद्यादामिषं श्राद्धे" इति सप्तमस्कन्धीयमलेखि । भट्टोजिदीक्षितकृतायां चतुर्विंशतिमतव्याख्यायामाचारकाण्डे तर्पणोत्तरं "पूजानिर्णयेऽपि भागवतेऽप्येवमेवोक्तमि"त्युक्त्वा "मूर्त्याऽभिमंतयाऽऽत्मन" इति "उद्वासाऽऽवाहने न स्त" इति चोक्तम् । नागोजीभट्टेनापि सप्तशतीव्याख्यायां "वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रः" इत्येकादशस्थवचनमलेखि । अत एवं प्राचीनाऽर्वाचीननानादेशीयनिबन्धकर्तृभिरादृतमपि ये न पश्यन्ति ते चक्षुष्मतोऽप्यन्धा इति दिगित्याहुः[1] । एवञ्च श्रीमद्भागवतस्याऽनेकपुराणवचनैर्व्यासकृतत्वेन निरूपणात्तत्कथाऽनुवादेन चाप्रामाण्यशङ्काऽनुत्थानाद्विविधनिबन्धकारैरादरणीयत्वेनोत्प्रेक्षितत्वगन्धाभावाच्च न कोऽपि शङ्कावकाश इति ।

न च श्रीधरैरत एव भागवतं नामाऽन्यदिति न शङ्कनीयमिति कथमुक्तमिति वाच्यम् । तत्र केषाञ्चिच्छ्रद्धातिशयेन पूजार्थं[2] भागवतव्यवहारोपपुराणपरत्वात् । उपपुराणस्य देवीपुराणस्य तथा प्रसक्त्या तन्निषेधात् । "यत्राधिकृत्ये"त्यादिलक्षणोपन्यासेन तद्विरहबोधकोऽत एवेत्यस्योक्तत्वात् । युक्तं चैतत् । जैनिनिना वेदानां काठककौथुमादिसमाख्यावशेन पौरुषेयत्वमाशङ्क्य तत्समाधानवदाचारमाधवे स्मृतीनामप्रामाण्यमाशङ्क्य तन्निरासवत्स्थूणानिखननन्यायेन दृढीकरणस्यावश्यकत्वादिति श्रीपुरुषोत्तमचरणैरेव समाहितत्वात् । एतेन देवीभागवतसत्ता निषेधप्रतियोगित्वेन बोधिता श्रीधरैरिति निरस्तम् । "यत्राधिकृत्ये"त्यादिलक्षणवाक्यस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् । देवीभागवते तु "यत्राधिकृत्य" इत्यादिलक्षणसमन्वयस्य यथाकथञ्चित्कैश्चिद्दर्शितत्वात् ।

किञ्च, देवीभागवतस्य समूलतोया उपपुराणानि विविच्यन्ते । अष्टादशपुराणान्तर्गतत्वसाधिका युक्तयो निरस्ताः । अग्रे च निरसनीयाः । तत्रोपपुराणानि सलक्षणानि मात्स्य एव कानिचिद्द-

१ "श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणा" इति पूर्वोक्तेनान्वेति । २ चतुर्थ्यन्तमिदम् ।

णितानि । तथा हि—"पाद्मे पुराणे यत्प्रोक्तं नरसिंहोपवर्णनम् । तच्चाष्टादशसाहस्रं नारसिंहमिहोच्यते । नन्दाया यत्र माहात्म्यं कार्तिकेयेन वर्ण्यते । नन्दापुराणं तत्प्रोक्तं सङ्ख्यानमिति कथ्यते । यत्र साम्बं पुरस्कृत्य भविष्येऽपि कथानकम् । प्रोच्यते तत्पुनर्लोके साम्बमेतन्मुनिव्रताः । एवमादित्यसञ्ज्ञं च तत्रैव परिपठ्यते । अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत्र दृश्यते । विजानीध्वं मुनिश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतम्" इति । एवमेव स्कान्दप्रभासखण्डेऽपि । आदित्यपुराणे तु "यदुक्तं भानुना पूर्वं पुत्राय मनवे द्विजाः । तदहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणुध्वं गदतो मम । सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंशाऽनुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् । यत्तत्रोपपुराणानां खिलत्वाल्लक्षणं स्मृतम् । ब्राह्मं पुराणं तत्राद्यं संहिताभ्यां विभूषितम् । श्लोकानां दशसाहस्रं नानापुण्यकथायुतम् । पाद्मं द्वितीयं कथितं तृतीयं वैष्णवं स्मृतम् । चतुर्थं वायुना प्रोक्तं वायवीयमिति स्मृतम् । ततो भागवतं नाम भागद्वयविभूषितम् । चतुर्भिः पर्वभिः प्रोक्तं भविष्यं तदनन्तरम् । मार्कण्डेयमथ ज्ञेयं नारदीयमतः परम् । दशमं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गमेकादशे स्मृतम् । भागद्वयेन लिङ्गं च ततो वाराहमुत्तमम् । संयुक्तमष्टभिः खण्डैः स्कान्दं चैव सविस्तरम् । ततस्तु वामनं कौर्मं भागद्वयविराजितम् । मात्स्यं च गारुडं प्रोक्तं ब्रह्माण्डं च ततः परम् । भागद्वयेन कथितं ब्रह्माण्डमभिसञ्ज्ञितम् । खिलान्युपपुराणानि यानि चोक्तानि सूरिभिः । इदं ब्रह्मपुराणस्य खिलं सौरमनुत्तमम् । संहिताद्वयसंयुक्तं पुण्यं शिवकथायुतम् । आद्या सनत्कुमारोक्ता द्वितीया सूर्यभाषिता" इति । अत्र "भागवतं भागद्वयविभूषितम्" इति पुराणक्रम उक्तम् । तत्र भागद्वयं किमिति विचिकित्सायां "संहिताद्वयसंयुक्तम्"इत्यनेन भागद्वयं व्याख्यातम् ।

किञ्च, तत्रैव दानप्रस्तावे "ततो भागवतं प्रोक्तं भागद्वयविभूषितम्" इति लक्षयित्वा "ददाति सूर्यभक्ताय यस्तु भागवतं द्विजाः । सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वरोगविवर्जितः । जीवेद्वर्षशतं साग्रमन्ते वैवस्वतं पदम्" इत्युक्तम् । उपपुराणानां गणना कौर्म्मेऽपि । आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहं ततः परम् । तृतीयं नान्दमुदिष्टं कुमारेण तु भाषितम् । चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम् । दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदीयमतः परम् । मानवं कापिलं चैव तथैवोशनसेरितम् । ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमेव च । माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसञ्चयम् । पराशरोक्तमपरं मारीचं भार्गवाह्वयम्" इति । अत्र "पराशरोक्तमपरम्"इत्यस्याग्रे "तथा भागवताह्वयम्"इति कल्पितवान् कश्चित् । तदसङ्गतम् । मारीचभार्गवयोरग्रहणापत्तेः । अनेकेषु पुस्तकेषु "मारीचं भार्गवाह्वयम्"इत्येव पाठाच्च । एकस्य भागवतस्य ग्रहणेऽष्टादशसङ्ख्यायां न्यूनतापत्तेश्चेति प्रागप्युक्तम् । सूतसंहितायां तु क्रमस्तु कौर्मोक्त एव । किन्तु, नान्दस्थाने स्कान्दमुक्त्वाऽऽग्रे तल्लक्षणमुक्तम् । "लक्षं तु ग्रन्थसङ्ख्याभिः सर्वविज्ञानसागरम् । स्कान्दमथाऽभिवक्ष्यामि पुराणं श्रुतिसम्मतम् । षड्विधैः संहिताभेदैः पञ्चाशत्खण्डमण्डितम् । आद्या सनत्कुमारोक्ता द्वितीया सूतसंहिता । तृतीया शाङ्करी विप्रा चतुर्थी वैष्णवी मता । तत्परा संहिता ब्राह्मी सौराऽन्या संहिता मता"इति । एवं "ततः कालीपुराणाख्यं वासिष्ठं मुनिपुङ्गवाः" ततो वासिष्ठलिङ्गाख्यमित्युक्तम् । कालिकापुराणे तु क्रमो

नामानि भिन्नान्येव । तथा हि—"शैवं यद्वायुना प्रोक्तं वैरञ्चं वैष्णवं तथा । यदिदं कालिकाख्यं च मूलं भागवतं स्मृतम् । सौरं च नारदीयं च मार्कण्डेयं च वह्निजम् । भविष्यं ब्रह्मवैवर्त्तं लैङ्गं चैव त्रयोदशम् । वामनं कौर्म्मं मात्स्यं च सप्तदशं च गारुडम् । स्कान्दमष्टादशं प्रोक्तं पुराणं च न संशयः" ।

अत्र तन्मूलमिति पाठमङ्गीकृत्य तस्य कालिकापुराणस्य मूलं भागवतम् । तच्च भागवतं वैष्णवं तन्मूलं भवितुं नार्हति । देव्युपपुराणस्य देवीपुराणमूलत्व एव सामञ्जस्यात् शैवोपपुराणानां शैवेभ्यो वैष्णवोपपुराणानां वैष्णवेभ्य एवोत्पत्तिदर्शनादिति देवीभागवतमेव तन्मूलमित्युक्तम् । तदसङ्गतम् । एतेषामुपपुराणत्वनिश्चयादुपपुराणगणनायां प्रसक्तस्य भागवतस्य महापुराणत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । यदि चात्रत्यभागवतपदस्य कालिकापुराणमूलबोधन एव तात्पर्यं न गणनायां, तदोपक्रमविरोधो, लैङ्गादीनां त्रयोदशत्वादिकथनविरोधश्च स्यात् । तस्माद्भागवतमुपपुराणं भिन्नमेव । तच्च 'ततो भागवतं प्रोक्तं भागद्वयविभूषितमि'त्यादिना लक्षितमादित्यपुराणात्मकं भागवतं ज्ञेयमित्युक्तम् । कालिकापुराणीयभागवतपदं देवीभागवतपरमिति कश्चिदित्यप्युक्तम् । ततश्च तन्मूलपदं कालिकाख्यविशेषणं भागवतविशेषणं वेति बोध्यम् । न च कालिकाख्यविशेषणे पुराणत्वप्रसक्तिरिति वाच्यम् । 'ततः कालीपुराणाख्यमि'ति सूतसंहितावचनेन कालिकाह्वयमेव चेति कौर्मोक्त्या च, कालीपुराणं तु तत एकादशमुच्यत इति ब्राह्मवैवर्तोक्त्या चोपपुराणत्वनिश्चयात् । मूलपदस्य कालिकाख्योत्कर्षबाधकत्वात् । पुराणानां स्वोत्कर्षकथनस्य दृष्टचरत्वात् । (ब्रह्मवैवर्तेऽप्यष्टादशपुराणनिरूपणोत्तरं) 'आद्यं सनत्कुमारं च नारदीयं द्वितीयकम् । तृतीयं नारसिंहाख्यं शैवधर्मं चतुर्थकम् । दौर्वाससं पञ्चमं च कापिलेयमतः परम् । सप्तमं मानवं प्रोक्तं शौक्रमष्टममेव च । वारुणं नवमं प्राहुर्ब्रह्माण्डं दशमं स्मृतम् । कालीपुराणं तु तत एकादशमुच्यते । वाशिष्ठं तु द्वादशमं माहेशं तु त्रयोदशम् । साम्बं चतुर्दशं प्रोक्तं सौरं पञ्चदशं स्मृतम् । पाराशर्यं षोडशमं मारीचं तु ततः [1] । अष्टादशं भार्गवाख्यं सर्वधर्मप्रवर्त्तकम्" इति पाद्मोक्तविंशत्यध्याये श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये "गणेशं नारसिंहं च नारदीयं तथैव च । शैवमादिपुराणं च देवीभागवतं तथा । वासिष्ठं लैङ्गं कालेयं पाराशर्यं तथैव च । जैमिन्याग्नेयमादित्यं वायव्यं शाम्भवं तथा । सनत्कुमारप्रोक्तं च भार्गवं नान्दिनं तथा"इति । गारुडे "पुराणं भागवतं दौर्गं नन्दिप्रोक्तं तथैव च । पाशुपत्यं रेणुकं च भैरवं च तथैव च"इति । पाद्मे शकुनपरीक्षायां तु "ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च मार्तण्डं नारदेरितम् । तथैव गदितं राम पुराणं कापिलं तथा । वाराहं ब्रह्मवैवर्तं शकुनेषु प्रशस्यते । शैवं भागवतं दौर्गं भविष्योत्तरमेव च"इति । अत्रोदाहृतवचनेषु ब्राह्मपाद्मवैष्णवशैववायुस्कान्दनारदीयब्रह्माण्डब्रह्मवैवर्तादीनां पुराणगणनायां मात्स्यादिप्रसिद्धानामुपपुराणकोटौ प्रविष्टानां नाममात्रसाम्येऽप्युपपुराणत्वमेव । यतो मात्स्यादौ लक्षितेषु ब्राह्मस्य लक्षणं प्रसिद्धे ब्राह्मे नास्ति । तदुपपुराणम् । वैष्णवे सङ्ख्या न मिलत्यतस्तदुपपुराणम् । काशीमाहात्म्यादियुक्तं ब्रह्मवैवर्त्तमुपपुराणमेव । "स्कान्दं शतसहस्रं तु श्लोकानां शतमेव हि । भविष्यमेतदृषिणा लक्षार्धे सङ्ख्यया स्मृतम्"इति भविष्यपुराणप्रथमाध्यायवाक्ये सङ्ख्याभेदेन स्कान्दभविष्यो-

१ त०वी०नि०परि.

रुपपुराणत्वमेव । अष्टादशपुराणेषु प्रसिद्धस्कान्दभविष्ययोस्तु "स्कान्दं नाम पुराणं तदेकाशीति निगद्यते । सहस्राणि शतं चैकम्"इति । "चतुर्विंशत्सहस्राणि तथा पञ्चशतानि च । भविष्यच्चरितप्रायं भविष्यम्" इति मात्स्ये सङ्ख्यानिरूपणात् ।

एवं बृहद्वामनबृहल्लिङ्गबृहत्कूर्मबृहद्विष्णुदेवीपुराणपुष्करशिवरहस्यविष्णुधर्मोत्तराद्यनेकपुराणानामुपपुराणत्वमेव, बाहुल्यभिया विरम्यते । अत्रविशेषविवेचनम् "एवमाज्ञापितास्तेन शिवेन मुनयः पुरा । अन्यान्युपपुराणानि चक्रुः सारतराणि च" इति पराशरवचनेन, "अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कथितानि तु । अष्टादशपुराणानि श्रुत्वा सङ्क्षेपतो द्विजाः"इति कौर्मवचनेन, "अष्टादशपुराणानि श्रुत्वा सत्यवतीसुतात् । अन्यान्युपपुराणानि ऋषिभिः कथितानि तु" इतिसूतसंहितावचनेन चोपपुराणानामन्यऋषिकृतत्वमेव ज्ञेयम् । ननूपपुराणानि व्यासमुनिकृतान्येव सन्तीति चेत्, न; नारदीयशैववायव्यादिषु व्यासकृतत्वेऽपि कस्यचित्पुराणमतेनोपपुराणत्वदर्शनात्तादृशनियमस्याऽस्वीकारादिति प्रत्याख्यातम् ।

अत्र सौरकौर्मस्कान्दान्तर्गतसूतसंहिताब्रह्मवैवर्त्तेषु देवीभागवतं नोपलभ्यते । कालिकापुराणे तु भागवतपदमादित्यपुराणपरमित्युक्तम्, तस्य भागवतत्वेनोल्लेखात् । पाद्मगारुडयोस्तु देवीभागवतं दौर्गं भागवतमित्युक्तम् । तस्य देवीपुराणपरत्वेन सम्भवात् । विजयत्रैलोक्याऽभ्युदयशुम्भनिशुम्भमथनाख्यपादत्रयात्मकदेवीपुराणे प्राधान्येन दुर्गाचरितस्य सत्त्वात् । अत एव गङ्गेशोपाध्यायानां तत्र देवीभागवतत्वेन व्यवहारः । तत्राऽऽद्ये पद्ये भागवतपदस्य पुराणसामानाधिकरण्येन सत्त्वात् । तैश्च भगवत्या इदमिति व्युत्पत्तेर्दर्शितत्वात् । यदि देवीभागवतं तस्मिन्समये तैरुपलब्धं चेत्तदा भागवतोक्तलक्षणसम्भावितदेवीभागवतं हित्वा तल्लक्षणाऽनाक्रान्तं देवीपुराणं तदीयाऽऽद्यपद्ये भागवतपदमात्रेणाऽष्टादशपुराणान्तर्वर्त्तित्वेन न स्वीकुर्युः । अन्येऽपि निबन्धकारा देवीपुराणवचनानि प्रामाण्यपुरस्कारेणोदाजह्रुः । ततश्च पुराणोपपुराणगणनायां देवीपुराणस्य प्रवेशाय दौर्गं भागवतं देवीभागवतमित्यादौ देवीपुराणमेव ग्रहीतुमुचितमिति विद्वांसो विभावयन्तु । अस्माकं तु नाग्रहो देवीभागवतस्य निर्मूलतायाम् । दौर्गं भागवतं देवीभागवतमित्यनेन देवीभागवतस्य ग्रहणमस्तु प्रतिपदोक्तत्वात् । देवीपुराणसङ्ग्राहकवचनमन्यत्स्यात् । उपपुराणानामष्टादशसङ्ख्यातोऽप्यधिकत्वात् । 'अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कथितानि तु । अष्टादशपुराणानि श्रुत्वा सङ्क्षेपतो द्विजाः" इति कौर्मवचनाद् विविधैर्निबन्धकारैरेवं निर्णीतमिति । न च 'स्कन्धा द्वादश एवाऽत्र कृष्णेन मुनिना कृताः' इति देवीभागवतवचनेन देवीभागवतस्याऽपि व्यासकृतत्वप्रत्ययेन नोपपुराणत्वमिति वाच्यम् (पूर्वोक्ता–) नेकवचनैः श्रीमद्भागवतस्य व्यासकृतत्वेन निराबाधे देवीभागवतस्यापि व्यासकृतत्वाङ्गीकारे 'अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः' इति वचनसिद्धाऽष्टादशपुराणकर्तृत्वे 'एवं पुराणसन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः' इतिवचनसिद्धचतुर्लक्षताया बाधापत्तेः । न च देवीभागवतवचनस्य का गतिः, तस्य शिष्यद्वारा व्यासकृतमित्याद्यर्थान्तरपरताया एवाऽगत्याऽङ्गीकार्यत्वात् । श्रीमद्भागवते तु नैवं वक्तुं शक्यम् । बहूनां वचनानामनुरोधादनेकवचनानामन्यथानयनाऽपेक्षयैकस्यैव देवीभागवतवचनस्य पुराणान्तरसहायहीनस्य तथा नेतुमुचितत्वादिति दामोदरशास्त्रिण आहुः ।

यत्तु, पुराणानां पञ्चलक्षणत्वेन श्रीमद्भागवतस्य दशलक्षणत्वेन नाऽष्टादशान्तवर्तित्वमिति, तन्न; "सर्गोऽस्याऽथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च । वंशो वंशानुचरितं संस्थाहेतुरपाश्रयः । दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः । केचित्पञ्चविधं प्राहुर्महदल्पव्यवस्थया"इति निरूप्याग्रे सर्गादीनां लक्षणानि निरूप्य "एवं लक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुरा विदुः । मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महान्ति च" इति श्रीमद्भागवतद्वादशस्कन्धवाक्यात् । "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् । एतदल्पपुराणानां लक्षणं च विदुर्बुधाः । महतां च पुराणानां लक्षणं कथयामि ते । दशाधिकं लक्षणं च महतां परिकीर्तितम्" इति ब्रह्मवैवर्त्तस्थश्रीकृष्णजन्मखण्डचरमाऽध्यायवाक्याच्च दशलक्षणस्यापि सिद्ध्या पञ्चलक्षणवत्त्वनियमाऽसिद्धेः । यत्र पञ्चलक्षणवत्त्वं तत्र महापुराणनामसाम्येऽपि न महापुराणत्वं, किन्तु पुराणत्वमेव । दशलक्षणलक्षितं, तु महापुराणम् । दशलक्षणानि तु श्रीमद्भागवते स्पष्टमेव प्रतीयन्ते । आदित्यपुराणे 'सर्गश्चे'ति 'पुराणं पञ्चलक्षणम्'इत्युक्त्वा 'ब्राह्मादीनां पुराणानामुक्तमेतत्तु लक्षणम् । एतच्चोपपुराणानां खिलत्वाल्लक्षणं स्मृतम्' इति पञ्चलक्षणत्वमेवोक्तम् । 'अष्टादशपुराणानि श्रुत्वा सत्यवतीसुतात् । अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्त्तितानि तु'इति सूतसंहितावाक्याच्चेत्यलं प्रसक्ताऽनुप्रसक्त्येति दिक् ।

यत्तु, "अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः । भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहणम्" इति स्कान्दमात्स्ययोः क्त्वाप्रत्ययेनाष्टादशपुराणोत्तरं भारतस्य निर्माणोक्तेस्तदुत्तरं श्रीमद्भागवतस्य करणादष्टादशपुराणबहिर्भावे सिद्धे देवीभागवतमेवाऽष्टादशान्तर्गतमित्याह ।

तदसत्, 'अष्टादशपुराणानां कर्त्ते'ति पाठान्तरस्य प्राचीनपुस्तकेषु दर्शनात् । 'पुराणानि कृत्वे'ति पाठेति तु पूर्वापरभावस्याऽविवक्षितत्वात् । अष्टादशपुराणानामभिप्रायस्य भारते वर्णने तात्पर्यात् । "अष्टादशपुराणानि अष्टौ व्याकरणानि च । ज्ञात्वा सत्यवतीसूनुश्चक्रे भारतसंहिताम्" इति भविष्यप्रथमाध्यायवाक्यात् । पूर्वापरभावविवक्षाग्रहे तु स्कान्दे काशीखण्डेऽष्टाविंशाध्याये श्रीगङ्गामाहात्म्ये 'तदा भागीरथो राजा क क भागीरथी तदा । यदा विष्णुस्तपस्तेपे चक्रपुष्करणीतटे' इति देव्या पृष्टे 'सन्देहोऽत्र न कर्तव्यो विशालाक्षि सदाऽमले । श्रुतौ स्मृतौ पुराणे च कालत्रयमुदीर्यते । भूतं भव्यं भवच्चाऽपि संशयं मा वृथा कृथाः' इति शिवेनोत्तरदानात्कालस्याऽविक्षितत्वनिश्चयात् । अत एव पूर्वापरभावस्याऽपि न तथात्वसिद्धिः । 'एकत्र दृष्टः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि तथा' इति न्यायात् । यदि च पूर्वापरभावस्य विवक्षितत्वमित्याग्रहस्तदा पुराणान्तरस्याऽपि बहिर्भावापत्तेः । तथा हि मार्कण्डेयपुराणारम्भे 'भगवन् भारताख्यानं व्यासेनोक्तं महात्मना । पृच्छामस्तमलैः(?)शब्दैर्नाना शास्त्रसमुच्चयैः'इत्याद्युक्त्वा 'तदिदं भारताख्यानं बह्वर्थं बहुविस्तरम् । तत्त्वतो ज्ञातुकामोऽहं भगवँस्त्वामुपागतः' इति चोक्त्वा । व्यासशिष्यजैमिनिना कृतेन प्रश्नचतुष्केन पुराणावतारे कथा दृश्यते । सा च भारतोत्तरभावित्वमन्तरेणाऽसङ्गता सती मार्कण्डेयपुराणस्याऽष्टादशभ्यो बहिर्भावनामापादयति । तथाऽग्निपुराणारम्भे "सूत त्वं पूजितोऽस्माभिः सारात्सारं वदस्व नः । येन विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञत्वं प्रजायते" इति शौनकप्रश्ने 'सारात्सारो हि

भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः' इत्याद्युक्त्वा पुराणमवतार्य तत्र द्वेधा सारं वदन्प्रसङ्गतो ग्रन्थान्ते 'गीतासारं प्रवक्ष्यामि सर्वगीतोत्तरोत्तरम् । कृष्णोऽयमर्जुनायाह'इति प्रतिज्ञाय 'दैवी ह्येषा गुणमयी' 'यस्यां जाग्रति भूतानि'इत्यादीनि कतिचित्पद्यान्येवोक्तवान् । अर्थमात्रोक्तौ तु पद्यानि न वदेत् । अतो भारतोत्तरभावित्वमाग्नेयस्याऽपि सिद्ध्यति । एवञ्चाष्टादशपुराणानीति वाक्यस्यैवाऽसङ्गतत्वापत्तिश्च । अतः पौर्वापर्यं न विवक्षितमष्टादशपुराणानि इति श्लोके इति बोध्यम् ।

यदि योगबलेनादावेवादिप्राक्कल्पीयं वाऽवादि इति नानेन भारतोत्तरत्वरत्वसिद्धिस्तेन वाक्यस्याऽपि नासङ्गतिरित्युच्यते, तर्हि प्रकृतेऽपि तौल्यात्परिहृत एव भवता विरोध इति न ते वक्तुमवकाशः । ननु व्यासस्याऽपरितोषाऽसङ्गतेरिति चेत्, न, प्राक्कल्पीयव्यासापरितोषानुवादस्यात्रापि शक्यवचनत्वादिति पुरुषोत्तमचरणाः । एवमनङ्गीकारे पाद्मस्कान्दनारदीयवाराहादीनां श्रीमद्भागवतमाहात्म्यप्रतिपादकानामष्टादशतो बहिर्भावापत्त्याऽष्टादशपुराणानीति श्लोकस्यैवाऽसम्भवापत्तेः ।

किञ्च, पाद्मोक्तस्य 'दशसप्त पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः । नाप्तवान्मनसस्तोषं भारतेनापि भामिनि । चकार संहितामेतां श्रीमद्भागवतीं पराम्'इति वचनस्य सप्तदशपुराणोत्तरं भारतनिर्माणबोधकस्य विरोधापत्त्या 'अष्टादशपुराणानी'त्यात्राऽष्टादशशब्दोऽष्टादशसमीपसप्तदशसङ्ख्यापरपौर्वापर्याऽभावविवक्षापरो वेति ज्ञेयम् । न चात्र पाद्मवचने सप्तदशपदं लक्षणया अष्टादशत्वबोधकमिति वाच्यम् । पाद्मे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये श्रीमद्भागवतकथाश्रवणाय समागतानां 'वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तन्त्राणि संहिताः । दशसप्तपुराणानि षट्शास्त्राणि समाययुः' इत्युक्तौ सप्तदशपुराणानां कथनस्य विरोधापत्तेः । अथवा सप्तकल्पवृत्तान्ताश्रये मात्स्ये तत्पुरुषवृत्तान्ताश्रये च स्कान्दे 'अष्टादशपुराणानि'इत्यस्य वचनस्य सत्त्वाच्छ्रीमद्भागवतस्य तु सारस्वतकल्पीयवृत्तान्ताश्रयस्य सत्त्वान्न शङ्कालेशः । एतेन अघोरकल्पवृत्तान्ताश्रयस्य भविष्यपुराणस्य 'अष्टादशपुराणानि अष्टौ व्याकरणानि च । ज्ञात्वा सत्यवतीसूनुश्चक्रे भारतसंहिताम्'इति वचनस्य न विरोधः । अत एव परस्परं पुराणेषु विरोधे कल्पभेदेनैव समाधानं सङ्गच्छते । अत एव विष्णुपुराणे मायामोहनात्मकपुरुषस्य विष्णुना स्वशरीरादुत्पादितस्य बौद्धावतारत्वमुक्तम् । 'मायामोहस्वरूपोऽसौ बुद्धो दनुसुतोऽभवत्' इति आग्नेय उक्तम् । श्रीमद्भागवते तु 'बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीटकेषु भविष्यती' इत्युक्तं न विरुद्ध्यते ।

यद्वा, भविष्यपुराणवचने व्याकरणसाहचर्याच्छतकोटिप्रविस्तरपुराणान्तर्गताष्टादशसजातीयवाक्यसमूहस्य ग्रहणम् । नानाविधशुद्धशब्दवन्नानाविधाऽर्थस्य भारत उपनिबन्धनीयतया तज्ज्ञानस्याऽऽवश्यकत्वात् । तेनाऽष्टादशपुराणानि न स्वकर्तृकानि । शतकोटिप्रविस्तरज्ञानेनैव चारितार्थ्यान्नैतज्ज्ञानस्याऽऽवश्यकतया तत्कथनाऽनुपयोगादसार्वज्ञताऽऽपादकत्वाच्च । ततश्चैतद्वचनैक वाक्यतया शतकोटिप्रविस्तरपुराणान्तर्गताऽष्टादशसजातीयवाक्यसमूहरूपाण्यष्टादशपुराणानि मनसि कृत्वेत्यर्थो वा । यद्याग्रहेणाऽष्टादशपुराणानि व्यासकृतान्येवाऽस्मिन्पद्ये गृह्यन्ते तदुत्तरं भारतमिति क्रम इत्यप्युच्यते, तदस्तु; "ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमितिहासपुराणं न्यायो मीनांसा धर्मशास्त्राणि" इति मुण्डकश्रुतौ । "वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायते । ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्" इति "अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्" इत्यादिबृहदारण्यकश्रुतौ "ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणं पञ्चमो वेदानां वेदः" इति छान्दोग्यश्रुतौ च "इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते" इत्याद्यनेकवाक्येषु चेतिहासपुराणयोः क्रम[illegible] दुर्वारः स्यात् ।

न च शब्दक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात्पुराणोत्तरमितिहास इति वाच्यम् । निःश्वसितक्रमप्राबल्यतया तथावक्तुमशक्यत्वात् । शब्दक्रमे बाधे सति तथा कल्पनीयम् । अत्र त्वष्टादशपुराणानीत्यस्यार्थो निरूपितदिशासम्भवन्न तथा बोधयतीति । अत एवेतिहासपुराणानीति गृह्यमपि सङ्गतं भवति । अथवा "सर्वाण्येव पुराणानि कथितानि नरर्षभ । द्वादशैव सहस्राणि प्रोक्तानीह महर्षिभिः । पुनर्वृद्धिं गतानीह आख्यानैर्बहुभिर्नृप" इति भविष्यपुराणप्रथमाध्याये सर्वपुराणानां पूर्वं द्वादशसहस्रश्लोकसङ्ख्याकत्वेन निरूपणेन द्वादशसहस्रश्लोकसङ्ख्याकश्रीमद्भागवतस्य पूर्वं प्रादुर्भावितत्वेनाष्टादशपुराणान्तर्गतत्वे सम्पन्ने भारतोत्तरं नारदोपदेशेन "न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः" इति प्रथमस्कन्धवचनेन सामान्यतया श्रीमद्भागवतस्य पूर्वं निर्माणसिद्धेः पश्चा"द्भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहिते मले । अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रिताम् । तया सम्मोहितो जीवः" इत्यादिसिद्धान्तं समाधावुपलभ्याऽष्टादशसहस्रसङ्ख्याकश्रीमद्भागवतस्य करणात् ।

न च भविष्योक्तवचने "महर्षिभिः प्रोक्तानि"इति लिङ्गेनोपपुराणत्वबोधनादग्रे यथा स्कान्दमित्यादिना स्कान्दभविष्ययोरष्टादशपुराणोक्तस्कान्दभविष्यसङ्ख्यातो भिन्नसङ्ख्याविशिष्टबोधनाच्च दशसहस्रसङ्ख्याकत्वेन पूर्वं, पश्चाद्वृद्धिरिति कथनमुपपुराणपरमेवेति वाच्यम् । "सर्वाण्येव पुराणानि" इत्यत्र सर्वाणीति कथनादेवकाराच्च पुराणोपपुराणानां सर्वेषां सङ्ग्रहात् । "महर्षिर्भगवान् व्यासः" इत्यादौ महर्षित्वस्य व्यासेऽपि प्रसिद्धत्वेन व्यासकृताऽन्यऋषिकृतानि पूर्वं द्वादशसहस्राणि, पुनर्वृद्धिगतानीत्यर्थलाभात् । अत्रत्य स्कान्दभविष्ययोस्तूपपुराणत्वमेव सङ्ख्याभेदात् । दृष्टान्तस्तु विवक्षितैकदेशत्वेनाऽपि निर्वहति । एवञ्च प्रथमस्कन्धे "लोकस्याऽजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्" इत्यनेन पूर्वं सात्वतसंहितानिर्माणमित्यवगम्यते । ततश्च "स संहितां भागवतीं कृत्वाऽनुक्रम्य चात्मजम् । शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिम्" इत्यनेन सात्वतसंहितां भागवतीं भगवत्प्रधानां भगवन्नाम्नीं वा कृत्वा । यद्वा पूर्वं पञ्चमत्वेन प्रसिद्धं भागवतं द्वादशश्लोकसहस्रात्मकं कृतमेव । तां भागवतीं भागवतस्येयं तद्व्याख्यात्मकाष्टादशसहस्रसङ्ख्याकां कृत्वा । यद्वा पूर्वं भागवतीं संहितां कृत्वा पश्चादनुक्रम्य प्रथममारभ्याऽनुक्रम्येत्यर्थान्न शङ्कोदयः । अनुक्रम्येत्यस्य शोधयित्वेत्यर्थं श्रीधरादय ऊचुः । श्रीव्यासचरणानां शोधनस्य न लौकिकसरणिः, किन्तु समाध्यनुभूतपदार्थानामनुक्रमस्यैव तत्त्वात् ।

वस्तुतस्तु, बहुभिः शिष्टैः "राजनि युधि कृञः" इति योगविभागात्क्वनिपि कृत्वेति निष्पा-

धाऽष्टादशपुराणानि यः कृतवान् स भारतं चक्रे इति व्याख्यातत्वान्निर्देशेन कर्तृकर्मणोरिति षष्ठ्या अनित्यत्वात् । अत एव 'धार्यैरामोदमुत्तम्'इति भट्टिरिति दीक्षिताः । यदि त्वामोदं गृहीत्वा धार्यैरिति व्याख्यायते जयमङ्गलारीत्या तदेहाऽपि तद्रीत्यैव विमृश्येति अध्याहारेण तेषां पुराणानां कृत्वा कर्तेति व्याख्यानादथवाऽन्यभ्योऽपि दृश्यन्त इति वा कनिप्, षष्ठी तु न तदर्हमिति न दोषावकाश इति दिक् ।

दामोदरशास्त्रिणस्तु पूर्वोक्तशङ्कामुत्पाद्य देवीभागवते तृतीयस्कन्धे "वेदः शाखाः पुराणानि वेदान्तं भारतं तथा । कृत्वा सम्मोहसम्मूढोऽभवं राजन् मनस्यपि" इत्यादि भारतोत्तरं सम्मूढो व्यासो देवीमाहात्म्यं ज्ञातवानित्युक्त्या देवीभागवतस्याऽपि भारतोत्तरत्वं प्रतीयते । तच्च देवीभागवतस्याऽष्टादशान्तर्गतत्वपक्षेऽप्युक्तमात्स्यवाक्येन विरुध्यत इति त्वत्पक्षेऽप्येष दोषस्तुल्य एव । यदि वोक्तमात्स्यवचनं पुराणानि चतुर्लक्षाणि, भारतमेकलक्षं, रामायणं लक्षपादसङ्ख्यं, "एवं सपादाः पञ्चैते लक्षा मर्त्ये प्रतिष्ठिताः"इति सङ्ख्याप्रकरणस्थत्वात्सङ्ख्येयस्वरूपमात्रपदम् । न तु सङ्ख्याऽनपेक्षितक्रमपरमतो न भारतोत्तरत्वमस्य वचनस्य बाधकम् । स्वार्थपरान्यपरयोः स्वार्थपरस्यैव प्राबल्यादित्युच्यते । यदि भारतपूर्वकृतिर्मनसा पश्चात्कृतिस्तु वागिन्द्रियेणेति भेदादविरोध इत्युच्यते तदाऽस्मत्पक्षेऽपि न दोष इत्याहुः ।

अत्र केचित्, मन्मते तदानीं ग्रन्थो नैव जातः । किन्तु जन्मेजयं प्रत्येवं वक्ताऽस्मीति ज्ञानचक्षुषा ज्ञात्वा भारतात्पूर्वमेव देवीभागवतं कृतमित्यर्थस्य कल्पनात् । त्वन्मते तथा कल्पयितुं न शक्यते । चतुःश्लोकीभागवतोपदेशस्य जायमानत्वात् । उपदेशात्पूर्वं तज्ज्ञानाऽभावस्यावश्यं कल्पनीयत्वात् । यदि तत्रापि पूर्वं व्यासस्य ज्ञानमस्तीति स्वीक्रियते, तथा वक्ष्यमाणः सर्वोऽप्यर्थवादः स्यात् । ततश्च ग्रन्थसारस्य भङ्गप्रसङ्ग इत्यास्तां तावदित्याहुः ।

तच्चिन्त्यम् । जन्मेजयं प्रति वक्तृत्वं न व्यासस्य, किन्तु वैशम्पायनस्य । यदि जन्मेजयवैशम्पायनसम्वादात्मकं भारतं करिष्यामीति ज्ञानचक्षुष्ट्वमुच्यते । तदा देवीभागवतं करिष्यामीति ज्ञानचक्षुष्ट्वेन देवीभागवतात्पूर्वं देवीमाहात्म्यज्ञानस्य सिद्धतया "सम्मोहसम्मूढः" इत्यस्य विरोधोऽनिर्वार्यः । क्त्वाप्रत्यायार्थस्य च यदि तन्निर्वाहाय पूर्वं मनसा कृतिः पश्चाद्वाचेतीति कल्प्यते, तत्तु दामोदरशास्त्रिभिरेवोक्तमिति न ततः कश्चिद्विशेष इति ज्ञेयम् । अष्टादशपुराणानीत्यस्य योऽर्थस्तमवोचाम, विस्तरतस्ततोऽवधेयम् ।

किञ्च, पाद्मे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये श्रीमद्भागवतकथाश्रवणाय समागतानां परिगणनप्रसङ्गे 'वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तन्त्राणि संहिताः । दशसप्त पुराणानि षट् शास्त्राणि समाययुः" इत्युक्तौ सप्तदशत्वोक्तिः श्रोतव्यस्य श्रीभागवतस्याष्टादशत्वं बोधयति । तस्याऽष्टादशाऽनन्तर्गतत्वे देवीभागवतस्याऽष्टादशान्तर्गतत्वेऽष्टादशानां श्रोतृत्वसम्भवेन श्रोतुमागतानां पुराणानां सप्तदशत्वोक्तेर्निर्बीजत्वप्रसङ्गात् । एवं पाद्मे "दशसप्तपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः । नाप्तवान्मनसस्तोषं भारतेनाऽपि भामिनि । चकार संहितामेतां श्रीमद्भागवतीं पराम्" इति सप्तदशत्वोक्तिरपि श्रीमद्भागवतस्यैव "एतां संहिताम्" इति निर्दिष्टस्याऽष्टादशत्वं गमयति । देवीभागवतस्याष्टादशत्वेऽष्टादशपुराणानीत्यनुक्तेर्निर्बीजत्वप्रसङ्गादित्यपि दामोदरशास्त्रिण आहुः ।

अत्रापि, यत्तु, तेषामेव वचनेनैव विष्णुभागवतस्याऽष्टादशपुराणान्तर्गतत्वं न सिध्यति, किन्तु देवीभागवतस्यैवेति वार्धुषिकत्वं कुर्वाणो मूलमेव विनाशितवान् इति न्याय आपतितः । तथा हि—भारतं व्यासमुखाच्छ्रुतं, तत्र सन्दिहानः क्रौष्टकिर्मार्कण्डेयं प्रत्यागत्य सन्देहं प्रष्टवान् । तस्य मार्कण्डेयो मार्कण्डेयं पुराणमुक्तवान् । तदुक्तं मार्कण्डेयपुराणे "तदिदं भारताख्यानं बह्वर्थं श्रुतिविस्तरम् । तत्त्वतो ज्ञातुकामोऽहं भगवन्तमुपस्थितः" इति । तथाच पूर्वोक्तवचनमध्ये षोडशेत्येव वक्तव्ये सप्तदशेत्युक्तत्वाद्देवीभागवतमेव महापुराणम् । अन्यथा सप्तदशत्वपूर्तिर्न स्यात् । तस्मात्तद्वचनप्रामाण्याद्देवीभागवतमेव सिद्ध्यति । न तु विष्णुभागवतम् । भारतात्पूर्वं सप्तदशमदीयभागवतसहितानिः (?) मार्कण्डेयमष्टादशमुभयमितसिद्धमेव । विष्णुभागवतस्य भारतोत्तरं जायमानत्वेन तन्मध्ये तस्यावस्थानस्थलालाभादित्येवं लापनेनाऽपि दोषाभावादिति सुधियो विभावयन्त्विति ।

तदमनोरमम् । अष्टादशसु पुराणेषु देवीभागवतस्य प्रवेशायैवं षोडशत्वे प्रतिपादिते पूर्वोक्तरीत्याऽऽग्नेयस्याऽपि भारतोत्तरोत्पादनेन पञ्चदशत्वे सम्पन्ने देवीभागवतप्रवेशेऽपि षोडशस्यैव सिद्ध्या सप्तदशत्वाऽसिद्धेः "अष्टादशपुराणानि कृत्वा"इति श्लोकस्यासङ्गतेश्च, तस्मात्पुराणानां प्रादुर्भावे पौर्वापर्यस्याऽविवक्षयैव निर्वाहोऽन्यथा न सिद्ध्यतीति पूर्वत्रोपपादनेन बोध्यम् । किञ्च, भवदभिमत्या भारतात्पूर्वं षोडशस्य सिद्ध्याऽपि भारतोत्तरत्र प्रसिद्धस्य मार्कण्डेयस्य श्रीमद्भागवतश्रवणायागमने बाधकाऽभावात् । येन भवदभिमतं भवेत् । पद्मपुराणे षडध्यायश्रीमद्भागवतमाहात्म्ये तृतीयाध्याये सनत्कुमारादयो यदा श्रीमद्भागवतकथाप्रारम्भाय समुद्युक्तास्तदा "भृग्वादयः समाजग्मुः" इत्युक्तम् । तन्मध्ये दशसप्तपुराणान्याययुरित्युक्तम् । अग्रे च षष्ठाध्याये "आकृष्णनिर्गमात्त्रिंशद्वर्षाधिकगते कलौ । नवमीतो नभस्ये च कथारम्भं शुकोऽकरोत् । परीक्षिच्छ्रवणान्ते च कलौ वर्षशतद्वये । शुद्धे शुचौ नवम्यां च धेनुजोऽकथयत्कथाम् । अस्मादपि कलौ याते त्रिंशद्वर्षशताधिकम् । ऊचुरूर्जे सिते पक्षे नवम्यां ब्रह्मणः सुताः" इत्युक्तम् । अत्र सनत्कुमारकथनसमये सकलपुराणानां पूर्वमेव सिद्धतया मार्कण्डेयपुराणस्याऽनागमने कारणाभावे सिद्धे षोडशेति वक्तव्ये सप्तदशत्वोक्तिर्देवीभागवतं महापुराणं बोधयतीत्युक्तिः स्वसन्तोषाय, न विद्वत्कदम्बसन्तोषायेत्यलम् ।

किञ्च, "वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम् । गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने । सात्त्विकानि पुराणानि शुभानि"इत्युक्त्वा । "स चाधर्मे मात्स्यकौर्मे समाहुर्वायुं चाहुः सात्त्विकं मध्यमं च । विष्णोः पुराणं भागवतं पुराणं सत्त्वोत्तमे गारुडं चाहुरार्याः"इति गारुडोक्त्या च भागवतस्य सात्त्विकत्वं पुराणानां विष्णुपरत्वमुक्तमतो विष्णुपरमेव भागवतमष्टादशान्तर्गतं, न तु देवीभागवतम् ।

किञ्च, स्कान्दे प्रभासखण्डे "चतुर्भिर्भगवान् विष्णुर्द्वाभ्यां ब्रह्मा तथा रविः । अष्टादशपुरा-

णेषु शेषेषु भगवान् भवः'' इत्युक्तम् । स्कान्दे सौरसंहितायां च ''कथ्यते दशभिर्विप्राः पुराणैः परमेश्वरः । चतुर्भिर्भगवान् विष्णुर्द्वाभ्यां ब्रह्मा प्रकीर्तितः । एकेनाग्निस्तथैकेन भगवाँश्चण्डभास्करः'' इत्युक्तम् । ततोऽपि विष्णुपरमेव सात्त्विकोत्तमं भागवतमष्टादशान्तर्गतं, न तु देवीभागवतमिति निश्चीयते इत्यन्यामपि श्रीमद्भागवतस्याष्टादशपुराणान्तर्गतत्वसाधिकां युक्तिं दामोदरशास्त्रिण आहुः ।

अत्रापि यदिदमनूद्यते तदसत्, त्वन्मते मात्स्योक्तसात्त्विकराजसतामससङ्कीर्णपुराणे मध्ये त्रयाणां व्यवस्था पूर्ववचनैस्त्वयोक्ता सङ्कीर्णपुराणानां तु नोक्ता केषु पुराणेष्वन्तर्भाव इतिवदन् करिष्यामि कुत्रचिदिति चेन्मन्मतेऽपि भगवत्या विष्णुशक्तित्वाभिधानेन मन्त्राधिष्ठात्रीं देवतां वन्दमानो दुर्गां दुर्बोधध्वान्तभानुगुरुं चेतिक्रमदीपिकोक्तप्रकारेण विष्णुमन्त्राणां दुर्गाया अधिष्ठातृत्वेन तयोरैक्याद्वा तत्प्रतिपादकभागवतस्य वैष्णवेष्वेवान्तर्भावात् । अत एव ''हरिर्द्वाभ्यां रविर्द्वाभ्यां द्वाभ्यां चण्डीविनायकौ । द्वाभ्यां ब्रह्मा समाख्यातः शेषेषु भगवान् शिवः'' इति वचनं सङ्गच्छत इत्याह ।

तदसाधु । मात्स्ये कल्पाननुक्रम्य ''सङ्कीर्णास्तामसाश्चैव राजसाः सात्त्विकास्तथा । रजस्तमोभयास्तद्वत्त्रयस्त्रय उदाहृताः''इति कल्पानुकीर्त्तनोपान्त्याध्यायवाक्यात् । सङ्ख्यानुक्रमणिकाध्याये तु ''सात्त्विकेषु तु कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः'' इत्यादिना सात्त्विकराजसतामससङ्कीर्णकल्पानामेवोक्तत्वान्न पुराणेषु सङ्कीर्णत्वकथनम् । तामससात्त्विकराजसभेदेनैकैककल्पभेदेनाऽष्टादशसङ्ख्यासम्भवेन सङ्कीर्णस्य पुराणस्य नामापि नास्तीति विस्तरशोऽयमेव विचारः प्रत्यपादि ततोऽवधेयम् ।

किञ्च, देवीभागवतस्य सात्त्विकाऽन्तर्भावोऽपि स्वतः पूर्वग्रन्थविरुद्धः । तत्र ग्रहणेन तस्य हरिमाहात्म्यप्रतिपादकत्वात्तदाश्रितकल्पस्य सात्त्विकत्वमेवायास्यति । 'सात्त्विकेष्वथ कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः' इति वचनात् । ततश्च 'सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः' इति वचनेन सारस्वतकल्प इति नाम्ना च पारमहंस्यसामर्थ्येव कर्तव्या स्यात् । अतो विष्णुभागवतं विहाय देवीभागवतमेवास्य वचनस्य विषयः । अस्ति चात्र सरस्वत्याविर्भावप्रतिपादकं वचनमिति त्वयैव पूर्वमुक्तम् । ततश्च देवीभागवतस्य सरस्वत्याविर्भावप्रतिपादनेन सङ्कीर्णसमर्थनेन विष्णोश्च सात्त्विकत्वसमर्थनेन भेदप्रतिपादनाद्देवीभागवतस्य सात्त्विकान्तर्भावप्रतिपादनस्य विरुद्धत्वात् । 'शैवेयं भगवती त्रिपुरा' इति सुन्दरीतापनीश्रुत्या शिवशक्त्यास्तामसत्वनिश्चयात्सात्त्विकत्वं दूरापास्तम् । मम तु सर्वरूपत्वाद्भगवत ऐक्येऽपि न क्षतिरिति दिक् ।

यत्तु 'लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमसिंहसमन्वितम् । प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां स याति परमां गतिम्' इति मात्स्ये श्रीमद्भागवतवचनयोर्वाक्ये सिंहवाहनेनाऽसाधारणधर्मेण देवीपुराणमेवाऽस्य श्लोकस्य विषय इति गङ्गेशोपाध्यायाः, देवीभागवतमिति भास्कररायादय आहुः । तदप्यसङ्गतम् । सिंहपदस्याऽनेकार्थत्वात् । 'सिंहस्तु राशिभेदे मृगाधिपे' इत्यनेकार्थकोशेऽभिधानात् । प्रौष्ठपद्यां च सिंहे सूर्यस्य सत्त्वात् । हेम्नि फलार्थं कालसम्बन्धस्याऽपि शक्यवचनत्वात् । भीमसेनादिपदवत्सिंहासनस्य बोधाच्च । 'अष्टादशपलैः कुर्याद्धेमसिंहासनं प्रिये' इति गौरीतन्त्रवाक्यात् । एतेन 'हेमसिंहयुतं चैतद्वैष्णवाय ददाति यः । कृष्णेन सह सायुज्यं स पुमांल्लभते ध्रुवम्'इति पाद्मे षडध्यायश्रीमद्भागवतमाहात्म्यश्लोको व्याख्यातः । स्कान्दे तु 'लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धुरल-

समन्वितम्'इत्युक्तम् । किञ्च श्रीमद्भागवते 'पुराणसङ्ख्यां सम्भूतिमस्य वाच्यप्रयोजने । दानं दानस्य माहात्म्यं पाठादेश्च निबोधत' इति प्रतिज्ञाय 'ब्राह्मं दशसहस्राणि' इत्यारभ्य 'चतुर्लक्ष उदाहृतः' इत्यन्तेनाऽष्टादशान्तर्गतत्वाय प्रासङ्गिकमुक्त्वा 'तत्राऽष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते' इत्यनेन सङ्ख्यां, 'इदं भगवता पूर्वम्' इत्यनेन सम्भूतिम्, 'आदिमध्यावसाने' इत्यादिना वाच्यम्, 'कैवल्यैकप्रयोजनम्'इत्यनेन प्रयोजनं चोक्त्वा 'प्रौष्ठपद्याम्' इत्यनेन दानतन्माहात्म्ये उच्येते । तथैव मात्स्येऽपि सङ्ख्योक्तिपुरस्सरमिदमुच्यते । देवीपुराणं च 'लक्षमात्रेण'इति वाक्यान्न तावत्सङ्ख्याकम् । यद्यपि देवीभागवतं न तावत्सङ्ख्याकमुपलभ्यते तथापि यत्राऽधिकृत्येति लक्षणस्य श्रीमद्भागवतपरत्वेन निश्चयाद्दानप्रतिपादकस्यापि श्रीमद्भागवतपरत्वात् । पाद्मे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये श्रीमद्भागवतस्यैव 'हेमसिंहयुतं चैतत्' इति वचनेन श्रीकृष्णसायुज्यफलदानस्योक्तत्वात्तदेकवाक्यतयाऽस्याऽपि वचनस्य श्रीमद्भागवतपरत्वस्यैव निश्चयात् ।

किञ्च, मात्स्यवैष्णवादिदाने मत्स्यधेन्वादेर्वाहनस्यैव देयत्वेन वाहनमेव देयमिति नियमाभावः । ब्राह्मादिवाराहान्तानां वैशाखाद्याः पौर्णमास्यो दानकालाः । तत्र क्रमप्राप्तश्रीमद्भागवतस्य दान 'प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां' इति गौरीतन्त्रवाक्यानुरोधाद्धेमसिंहासनसमन्वितस्योक्तम् । सर्वपुराणचक्रवर्त्तित्वात् । एतेन श्रीमद्भागवतस्य वैष्णवपुराणत्वेन तद्दान एकादश्यादिकालो गरुडादिवाहनयोगश्च युक्त इति परास्तम् । शैवलिङ्गादौ शिवरात्र्यादिकालस्य नन्द्यादिवाहनस्यादर्शनादिति न कुतर्कसञ्चारः । अपरे पुनर्भाद्रपौर्णमास्याः पारायणसमाप्तौ तद्दानं, तथासदाचारादित्याक्षत इति दिक् ।

यत्तु, श्रीमद्भागवतसदृशप्रबन्धो व्यासकृतोऽन्यो नास्तीति कथं व्यासकृतं श्रीमद्भागवतमिति, तदसङ्गतम्; भगवत्प्रसादजनिताऽलौकिकसमाधावनुभूतस्य प्राकट्यात् । काठिन्येनाऽव्यासकृतत्वे पुष्करप्रादुर्भावादिदुर्गमतरग्रन्थस्य व्यासकृतत्वाभावापत्तेः ।

यदपि, 'अम्बरीषशुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु । पठस्व स्वमुखेनापि यदीच्छसि भवक्षयम्' इति पाद्मेऽम्बरीषं प्रति गौतमवाक्ये प्रोक्तमित्यस्याऽध्यापितमित्यर्थात् 'व्यासेन कृत्वाऽथ शुभं पुराणं शुकाय पुत्राय महात्मने यत् । वैराग्यशीलाय च पाठितं वै विज्ञाय चैवारणिसम्भवाय' इति देवीभागवतोक्तेः । 'शुकाय प्रोक्तम्'इति देवीभागवतपाठं विधत्त इति न श्रीमद्भागवतपाठमिति । तदपि न सम्यक् । स्कान्दे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये 'परीक्षिच्छुकसम्वादो योऽसौ व्यासेन वर्णितः । ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः सोऽसौ भागवताऽभिधः' इति वाक्यस्य 'ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसंयुतः । परीक्षिच्छुकसम्वादः श्रीमद्भागवताभिधः । पुराणेषु तु सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम् । यत्र प्रतिपदं विष्णुर्गीयते बहुधर्षिभिः । इति सङ्कल्प्य मनसा श्रीमद्भागवताभिधम् । जन्माद्यस्य यतश्चेति धीमह्यन्तमुपावदत् । इदं भगवता प्रोक्तं चतुःश्लोक्या स्वयम्भुवे । नारदाय स वै मह्यं कृष्णाय मुनये ह्यहम् । शुकाय ब्रह्मराताय स तु राज्ञेऽभिमन्यवे । शुकोक्तं विष्णुराताय सदसि ब्रह्मवादिनाम् । श्रीमद्भागवतं नाम द्युनद्यां तमसः परम् । ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः । परीक्षिच्छुकसम्वादः शृणु भागवतं च तत्' इत्याद्यनेकपूर्वापरपाद्य-

वचनानां देवीभागवते कथमपि समन्वयासम्भवेन 'अम्बरीषशुकप्रोक्तम्'इतिपाद्मवचनस्य देवीभागवतविषयाभावतया श्रीमद्भागवतं शुकाय प्रोक्तं, शुकेन प्रोक्तमित्युभयविधप्रसिद्ध्या श्रीमद्भागवतपरत्वस्य निराबाधात् ।

तथा च श्रीमद्भागवतेऽपि 'शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः । स तमध्यापयामास महाराजं परीक्षितम्'इति ।

किञ्च, पाद्मे 'अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम् । कृत्वा कृष्णोपभोग्यं हि सदा सेव्यं हि वैष्णवैः' इति वचनेनाम्बरीषाय वैष्णवधर्मबोधनप्रसिद्ध्या श्रीमद्भागवतपाठस्यापि वैष्णवधर्मत्वादुपदेशो युक्तः ।

वस्तुतस्तु, 'शुकाय प्रोक्तम्'इति चतुर्थीसमासो दुर्लभः । 'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः'इति सूत्रेण तादर्थ्यचतुर्थीसमासो वक्तव्यः । स च प्रकृतिविकृतिभाव एव । बलिरक्षितग्रहणाज्ज्ञापकात् । यूपाय दारु । नेह रन्धनाय स्थाली । 'अश्वघासादयस्तु षष्ठीसमासाः' इति सिद्धान्तकौमुद्यां स्पष्टम् । इदं च तत्सूत्र एव महाभाष्ये । तथा हि किञ्च चतुर्थ्यन्तस्य तदर्थमात्रेण समासो भवति । एवं भवितुमर्हति । चतुर्थीमात्रेण चेत् सर्वप्रसङ्गोऽविशेषात् । सर्वत्र सर्वस्य चतुर्थ्यन्तस्य तदर्थमात्रेण सह प्रसङ्गे भवति समासः प्राप्नोति । अनेनाऽपि प्राप्नोति । रन्धनाय स्थाली । अवहननायोलूखलमिति । किं कारणम् ? अविशेषात् । न हि कश्चिद्विशेष उपादीयते । एवं जातीयकस्य चतुर्थ्यन्तस्य तादर्थ्येन सह समासो भवतीति । अनुपादीयमाने विशेषे सर्वप्रसङ्गः । बलिरक्षिताभ्यां चानर्थकं वचनम् । यो हि महाराजाय बलिः स महाराजार्थो भवति । तत्र तदर्थ इत्येव सिद्धम् । यदि पुनर्विकृतिश्चतुर्थ्यन्ता प्रकृत्या सह समस्यते इत्येतल्लक्षणं क्रियते । विकृते प्रकृत्येति चेदश्वघासादीनामुपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यम् । श्वसू सुरा हस्तिविधेति । अर्थेन नित्यसमासवचनमित्यादि विविच्य तर्हीदं बहु वक्तव्यम्, विकृत्येति वक्तव्यम् । अश्वघासादीनामुपसङ्ख्यानं कर्तव्यम् । अर्थेन नित्यसमासो वक्तव्यः । सर्वलिङ्गता च वक्तव्या । न वक्तव्यं यत्तावदुच्यते । विकृत्येति वक्तव्यम् । न वक्तव्यम् । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति । विकृतिश्चतुर्थ्यन्ता प्रकृत्या सह समस्यते इति । यदयं बलिरक्षितग्रहणं करोति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । यथाजातीयकानां समासे बलिरक्षितग्रहणेनाऽर्थः । तथा जातीयकानां समासः । यदि च विकृतिश्चतुर्थ्यन्ता प्रकृत्या समस्यते । न तदर्थमात्रेण । ततो बलिरक्षितग्रहणमर्थवद्भवति । यदप्युच्यतेऽश्वघासादीनामुपसङ्ख्यानं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । अश्वघासादयः षष्ठीसमासा भविष्यन्तीत्युक्तम् ।

अत एव पस्पशाह्निके धर्माय नियमो धर्मनियम इत्यत्र च चतुर्थ्या तादर्थ्ये प्रतिपाद्यते । सम्बन्धसामान्ये तु षष्ठीं विधाय समासः कर्तव्यः । चतुर्थीसमासस्य प्रकृतिविकृतिभाव एव विधानादिति कैय्यटः । विधानादिति प्रतीकानुवादाय तादर्थ्यस्य षष्ठ्यर्थत्वबोधनाय त्वेवं प्रयोग इति भानमत्र चतुर्थीयोगविभागो न भाष्यारूढः सुप्सुपेति समास इत्यगतिकगतिरित्येवं व्याख्यातमिति विवरणग्रन्थश्च सङ्गच्छते । शब्देन्दुशेखरे तु रन्धनाय स्थालीत्यादावभिधानस्वाभाव्यात्तादर्थ्यत्वेनैव तस्या भानं न सम्बन्धत्वेनेति षष्ठ्यभावान्न तत्र षष्ठीसमासः । चतुर्थीसमासवारणाय

प्रकृतिविकृतिभाव एवेत्युक्तम् । अश्वघासादावुपकारत्वेन बोधे षष्ठ्यन्तेन समासोऽपीति व्यवस्थेत्युक्तम् । एवं च प्रकृतिविकृतिभावाऽभावाच्छुकाय प्रोक्तमिति न समासः । शुकस्य प्रोक्तमित्यपि न उक्तयुक्त्या । तस्माच्छुकेन प्रोक्तमित्येव समास इति विद्वद्भिरवधेयम् । एतेन शुकाय प्रोक्तमिति चतुर्थीयोगविभागात्सुप्सुपेति वा समास इति परास्तम् ।

न च साधनं कृतेतिवार्तिकेनात्र समास इति वाच्यम् । तस्य हितरक्षितग्रहणेन चतुर्थीसमासेतरविषयत्वात् । छान्दसत्वकथनं त्वगतिकगतिरिति बोध्यम् ।

किञ्च, पाद्मे षडध्यायश्रीमद्भागवतमाहात्म्ये "सदा सेव्या सदा सेव्या श्रीमद्भागवती कथा । यस्याः श्रवणमात्रेण हरिश्चित्तं समाश्रयेत् । ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मतः । परीक्षिच्छुकसम्वादः शृणु भागवतं च तत् । तावत्संसारचक्रेऽस्मिन्भ्रमते शौनकः(?)पुमान् । यावत्कर्णगता नास्ति शुकशास्त्रकथा क्षणम् । श्लोकार्द्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम् । पठस्व स्वमुखेनैव यदीच्छसि परां गतिम्"इत्यादिवचनैः । स्कान्दे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये 'श्रीमद्भागवतं शास्त्रं यत्र भागवतैर्यदा । कीर्त्यते भूपते चापि श्रीकृष्णस्तत्र निश्चितः । यत्र भागवतं शास्त्रं श्लोकं श्लोकार्धमेव वा । तत्रापि भगवान्कृष्णो वल्लवीभिर्विराजते । भारते मानुषं जन्म प्राप्य भागवतं न यैः । भुक्तं पापं पराधीनैरात्मघातस्तु तैः कृतः । श्रीमद्भागवतं शास्त्रं नित्यं यैः परिषेवितम् । पितुर्मातुश्च भार्याया कुलपङ्क्तिस्तु तारिता । विद्याप्रकाशो विप्राणां राज्ञां शत्रुजयो विशाम् । धनं स्वास्थ्यं च शूद्राणां श्रीमद्भागवताद्भवेत् । योषितामपरेषां च सर्ववाञ्छितपूरणम् । यतो भागवतात्तं वै को न सेवेत भाग्यवान्"इत्यादिवचनैश्चान्यपुराणवचनैश्च श्रीमद्भागवतस्य पठने सिद्धेऽम्बरीषशुकप्रोक्तमिति श्लोके श्रीमद्भागवतस्यैव पाठं विदधति । अत एव "अथवा सर्वमेतद्धि श्रीभागवतमादरात् । पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्'इति । "पठेच्च नियमं कृत्वा श्रीभागवतमादरात्"इति च श्रीमदाचार्यचरणैरुक्तम् 'विद्याप्रकाश'इत्यादिषु फलबोधनं द्विजातीनां त्रैवर्णिकानामेव पाठेन, स्त्रीशूद्राणां तु श्रवणेनेति बोध्यम् । यदौपनिषदं ज्ञानं श्रीभागवतमेव वा । वर्णानामेव तद्धि स्यात्स्त्रीशूद्राणां ततोऽन्यथा"इति तृतीयस्कन्धनिबन्धे श्रीमदाचार्यचरणोक्तेः । शङ्कराचार्यैर्विष्णुसहस्रनामभाष्ये शूद्रस्य सहस्रनाम्नः श्रवणेनैव फलोक्तेः । स्मृतिकौमुद्यां स्कान्दवचनै"रस्ति शूद्रस्य शुश्रूषा पुराण" इत्यादिभिश्च तथैव निर्णयोक्तेश्चेत्यलं प्रासङ्गिकविचारेण । तस्मात्सकलपुराणसम्मत्या श्रीमद्भागवतमेवाष्टादशपुराणान्तर्गतं महापुराणमिति सिद्धम् ।

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जप्रसादतः ।
श्रीविठ्ठलेशपादाब्जकृपाबलमुपाश्रितः ॥ १ ॥
पुरुषोत्तमपादानां ग्रन्थानां युक्तिवृन्दतः ।
पुराणानां प्रचारेण विचारेण सुमेधसाम् ॥ २ ॥
श्रीमद्भागवते शङ्कासमुन्मूलनहेतवे ।
यदस्फुरत्तदलिखद्रामकृष्णाभिधः सुधीः ॥ ३ ॥

श्रीविट्ठलेशचरणाम्बुजराजहंसो
गोपालनन्दनपदाम्बुजचञ्चरीकः ।
श्रीकृष्णचन्द्रचरणाम्बुजसेवनात्मा
विद्वत्कदम्बवचनानुगतार्थसार्थः ॥ ४ ॥
विज्ञापयामि विबुधान्प्रणिपत्य पूर्वं
ग्रन्थं निधाय निकटे विजयाभिधानम् ।
हेलोपहासविधयापि यदा कदापि
कश्चित्क्षणं करुणयैष कृतार्थनीयः ॥ ५ ॥
यदत्र सदसद्वापि प्रमादाद्यन्निरूपितम् ।
साधवः कृपया पूर्णा भूषयन्तु शिशोर्वचः ॥ ६ ॥
न द्वेषान्न च मत्सरान्न च हठान्नो शास्त्रगर्वान्न वै
लोभान्नाप्यनुवृत्तितो न च चमत्कारादियं मे कृतिः ।
किन्तु श्रीशुकशास्त्रसिन्धुरसिकस्वान्तःप्रमोदाय स—
च्चिन्तापङ्कसुमार्जनाय विदुषां प्रीत्यै च भूयाच्चिरम् ॥ ७ ॥
श्रीमद्भागवतोत्कर्षो यथार्थोऽयं निरूपितः ।
तेन प्रसीदतु श्रीमत्कृष्णः सप्तार्थरक्षकः ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्सहजनिजकटाक्षपातप्रतिहतपाखण्डवादकदम्बश्रीमदाचार्यचरणतनूज-
श्रीप्रभुचरणात्मजश्रीयदुनाथकुलावतंसश्रीमद्गिरिधरचरणकोकनद-
परागरागसनाथनेतोपनामकरामकृष्णभट्टप्रणीतः
श्रीमद्भागवतविजयवादः सम्पूर्णतामाप ।

वेदविष्णुपदाङ्केन्दु १९२४ मुग्वर्षे फाल्गुने सिते ।
कृष्णवर्मतिथौ रामकृष्णेनालेख्यशोधि च ॥ १ ॥

श्रीगोपालो जयति

श्रीरामचन्द्राश्रमविरचिता

दुर्जनमुखचपेटिका

वल्लवीवल्लभं नत्वा ब्रुवे विद्वद्विनिश्चयम् ।
भागवताभिधे ग्रन्थे आर्षानार्षत्वसंशये ॥ १ ॥

भागवतमनार्षमिति वदन्तः पृष्टव्याः कथमनार्षत्वमिति, ग्रन्थे व्यासनामदर्शनात् । यो हि ग्रन्थं कृत्वाऽन्यस्य नाम लिखति सो हि प्रीत्या, यथा विद्यारण्यैर्वेदभाष्ये माधवनाम लिखितम् । एवं धनादिलोभाद्वा । यथा बोपदेवेन हेमाद्रेर्नाम्ना । अत्र च व्यासनामलेखने ग्रन्थकर्तुः किं कारणम् । नापि धनादिलोभो नापि प्रीत्यतिशयः । किञ्च, यस्य स्वतः शक्तिर्नास्ति स धनादि दत्वाऽन्येन ग्रन्थं कारयति, नैतद्व्यासस्य युज्यते । किञ्च, ग्रन्थकरणं यशोर्थं लोभार्थं वा पण्डितस्य, व्यासनामलिखने तूभयं न सम्भवति । यदि ग्रन्थकर्तुर्नाम्नि सत्यपि सन्देहः स्यात्तर्हि महाभाष्ये पतञ्जलिकृतत्वे तर्कादौ गौतमकृतत्वे शारीरकादौ शङ्कराचार्यकृतौ च सन्देहो दुर्वारः ।

किञ्च, माध्वेन विजयध्वजेन भागवते टीका कृता । तत्र तावदष्टौ टीका अवलोक्येत्युक्तम् । हनुमट्टीका शङ्कराचार्यटीका चेत्याद्युक्तम् । तत्कथं सङ्गच्छताम् । बोपदेवस्य पञ्चशती सम्वत्सराणां व्यतीता, शङ्कराचार्याणां सप्तदशशती व्यतिक्रान्ता । आचार्यादिटीका कुतो न प्रवर्तत इति चेत् । कठिनत्वादधिकार्थभावात्त्वचि छुरिकावत् । किञ्च, आचार्यैर्गोविन्दाष्टके मृत्स्नामत्सीहेति यशोदेत्याद्युक्तम्, मृद्भक्षणस्य भागवतादन्यत्रादर्शनात् ।

किञ्च, "अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुतः ।" इति वचनादपि व्यासकृतत्वं निश्चीयते । नच ब्रह्मवैवर्त्तेऽष्टादशपुराणमेव गणितमिति वाच्यम् । तत्रोपपुराणमध्ये देवीपुराणस्य पृथग्गणितत्वात् ।

किञ्च, मत्स्यपुराणे पुराणदानप्रस्तावे भागवतस्य लक्षणमुक्तम् । ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः इत्यादिना । अम्बरीषशुकप्रोक्तमिति पद्मपुराणे । नचैतद्देवीपुराणं सम्भवति । अप्पयदीक्षितैः शिवतत्त्वविवेकादौ सम्मतित्वेन भागवतं स्वीकृतम् । मधुसूदनसरस्वतीभिर्भक्तिरसायने भागवतं व्याख्यातम् । विद्यमानैः पूर्णेन्द्रब्रह्मेन्द्रादिसरस्वतीभिर्भागवतं स्तूयते । भट्टोजिदीक्षितैर्भागवतं स्वीकृतम् । तदपेक्षया कोऽयमधिको पण्डितो यो निन्देद्भागवतम् ।

वाममार्गगाः भागवतं द्विषन्ति । "विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासव"मित्यादिना वाममार्गस्य भागवते निन्दितत्वात् ।

किञ्च, वाममार्गगा विष्णुमपि निन्दन्ति, "विष्णोर्नाम न गृह्णीयान्न स्पृशेत्तुलसीदलम्" इत्यादिना । वेदमपि निन्दन्ति—

"त्रयो वेदस्य कर्तारो मुनिभाण्डनिशाचरा" इति वदन्तः मांसाशिनो भागवतं निन्दन्ति—

"न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद्धर्मविदि"त्यादिना मांसभक्षणस्य भागवते निषिद्धत्वात् ।

द्वैतवादिनोऽपि भागवतं द्विषन्ति—"भयं द्वितीयाभिनिवेशितः स्यादि"त्यादिना द्वैतदर्शनस्य भागवते निन्दितत्वात् ।

किञ्च, ते वेदमपि द्विषन्ति–वेदे ईश्वरो निर्गुण उक्तस्ते सगुणं वदन्ति । वेदे जीवेश्वरयोरैक्यमुक्तम्, ते तु पारमार्थिकं भेदं वदन्ति । वेदे आकाशो मनश्च जायत इत्युक्तम् । ते तु अनाद्यनन्तं वदन्ति । वेदे तु मायया जगदुत्पन्नमित्युक्तम्, ते तु परमाणून्वदन्ति । इत्यादिवेदविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वात्, पाखण्डविशेषा एव ते, पालनाच्च त्रयीधर्मे या शब्देनेह कथ्यते, तं खण्डयन्ति, ते यस्मात्पाखण्डास्तेन ते स्मृता इति पाखण्डलक्षणस्य तेषु सत्त्वात् ।

किञ्च, माधवसरस्वतीसमये केनचित्पण्डितेन भागवतमप्रमाणमित्युक्तम् । तदा स्वामिभिरुक्तम् । अयं जारजो भविष्यतीति विचारणीम् । तदा पण्डितैर्विचारिते स गोलक इति निश्चितम् ।

किञ्च, बोपदेवकृतग्रन्थगणनायां त्रयो ग्रन्था उक्ताः, परमहंसप्रियाख्यटीका, फलाख्यग्रन्थः, हरिलीलाख्यश्च । यदि भागवतमपि तत्कृतं भवेत्तर्हि चत्वार इति वक्तव्ये त्रय इति कथमुक्तम् ? वैषम्ये न बीजं पश्यामः । भागवते व्यासनाम लिखितं त्रिषु स्वनामेति ।

यत्तु, निबन्धेषु भागवतसम्मतिर्नास्तीत्युक्तम् । अत्रोच्यते । निबन्धेषु श्राद्धोपवासादिसकामधर्मनिरूपणं क्रियते । भागवते तु श्राद्धादिनिरूपणं नास्ति ।

यत्तु, व्यासकृतपुराणान्तरस्थश्लोकानुपूर्वीसादृश्यं भागवतश्लोकेषु न दृश्यते इत्युक्तम् । अत्राप्युच्यते । धर्मशास्त्रेतिहासाद्यनन्तरं व्युत्पन्नदशायां परमप्रेम्णा भागवतं कृतम् । अतः, तेषु पुराणान्तरवैलक्षण्यमनुमीयते । यथा शङ्कराचार्यकृतषोडशभाष्येष्वन्यभाष्यसादृश्यं शारीरिकभाष्ये न दृश्यते, तत्किं शङ्कराचार्यकृतं न भवति ? तथा भागवतमपि ।

किञ्च, कर्मस्वनादरात्प्रीत्यभावान्न तत्र सौष्ठवम् ।

अथ भागवतं नामान्यदिति न शङ्कनीयमिति श्रीधरस्वामिवचनाच्छङ्का प्रागस्तीति गम्यते । अन्यथा न शङ्कनीयमिति किमर्थमिति चेत्, उच्यते, मीमांसकवैशेषिकादिभिर्वेदप्रामाण्यं साधितमिति प्राग्वेदाप्रामाण्यशङ्का स्थिता इति न स्वीक्रियते यथा, तथात्रापि स्वीकार्यम् । अथास्तिकानां वेदाप्रामाण्यशङ्काभावेऽपि नास्तिकानां सा स्थितेति समः समाधिः । यथा च मन्वादिधर्मशास्त्रेऽपि चौर्यहिंसादिनिषेधात्, प्राक् तदनुष्ठानं स्थितमिति न स्वीक्रियते । तथा प्रकृतेऽपि ।

अथ विधिना चौर्याद्यनुष्ठानाभावेऽपि रागप्राप्तं तदासीदिति, तर्ह्यत्रापि द्वेषतस्तदाशङ्कनं स्थितमिति समं समाधानम् । वस्तुतः श्रीधरस्वामिनां नायमाशयः प्राक् शङ्का स्थितेति । किन्त्वन्य एव । तथाहि । सर्गादीनि दशलक्षणानि यत्रोक्तानि तद्भागवतमिति स्थिते द्वितीयस्कन्धस्य भागवतत्वमस्तु । दशानामपि लक्षणानां सङ्क्षेपेणोक्तत्वात्तृतीयादीनामप्यस्तु सर्गाद्येकैकस्योक्तत्वात् । प्रथमस्कन्धस्य तु न कथमपि भागवतत्वम् । एकस्यापि लक्षणस्यानुक्तत्वादिति प्रथमस्कन्धो न भागवतमिति शङ्कते कश्चित्, तत्, स्वामिभिर्निराक्रियते । अन्यत्प्रथमातिरिक्तं भागवतमिति, कुत इत्याकाङ्क्षायामत एव उक्त लक्षणवशादेव । अष्टादशसहस्रत्वद्वादशस्कन्धसम्मितत्वगायत्रीसमारम्भादीनां प्रथमेन विनाऽसम्भवात् । उपोद्घातत्वेनाधिकारिनिरूपणेन प्रथमस्यापि भागवतत्वमस्ति । यथा "अशोच्या नन्वशोचस्त्वमि"त्यारभ्य भगवद्गीतत्वेऽपि, ततः प्राक्तनस्य ग्रन्थस्योपोद्घातत्वेन गीतात्वम् । तथा प्रथमस्यापि । "अव्यक्तं व्यक्ति"मापन्नमिति । "सहेश्वरात् सतोऽवमन्यन्ते हरिप्रियान्खला" इति वचनाद्भगवतोऽपि निन्दकानां भागवतनिन्दने कोऽतिभारः । "न वेद यो यस्य गुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम् । वने किराता करिकुम्भजातां मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जामि"ति न्यायेन भगवतो भागवतस्य च निन्दकस्योक्तेषु चतुर्ष्वन्तर्भावो बोध्यः । इदानीन्तनाः कवयः स्वल्पमपि भाषाकवित्वं कृत्वा तत्र स्वनाम निक्षपन्ति । अयं तु अष्टादशसाहस्रीं कृत्वा श्लोकादिना विनापि व्यासनाम निक्षिपन्न भ्रान्तः स्यात् । "नहि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते" इति न्यायात् ।

किञ्च, निबन्धकारैरष्टादशपुराणानां च मध्ये यस्यैव नाम न लिखितं तस्यैवाप्रमाण्यं स्यात् । शङ्कराचार्यैर्वेदस्य बहूनां शाखानां मध्ये यस्या नाम न लिखितं तस्या अप्रमाण्यं स्यात् । भगवत्या इदमिति व्युत्पत्तिबलेन देवीपुराणं भागवतं यदुच्यते । तर्हि गच्छतीति गौः इति व्युत्पत्तिबलेन खरोष्ट्रादेरपि गोत्वं स्यात् । मनोरपत्यं मनुष्य इति व्युत्पत्त्याऽश्वसूकरादेरपि मनुष्यत्वं स्यात् ।

अथ तत्र सास्नादिमत्त्वादिना लक्षणेन व्यवस्था यदि, तर्ह्यत्रापि, अष्टादशसहस्रादिलक्षणेन व्यवस्था बोद्धव्या ।

ननु "यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्यलोकेषु गीयते । तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥" इति वचनात्स्वर्गप्राप्त्यर्थं व्यासनामनिक्षेपेण भागवतनिर्माणं वै चित्कृतमिति किं न स्यात् ? मैवम्; कीर्तिप्रवारोहितादुक्तश्लोकात्स्वर्गप्राप्तिहेतुत्वेनावगम्यते । कीर्तिश्च व्यासनामनिक्षेपाद्व्यासस्यैव । नतु ग्रन्थकारस्यानार्षत्वमभ्युपेत्य । ब्रुवेऽयं ग्रन्थो वेदेन विरुद्धार्थस्य प्रतिपादकोऽविरुद्धार्थस्य वा । आद्येऽस्यार्षत्वेऽप्यप्रामाण्यमेव स्यात् । बृहस्पतिप्रणीतचार्वाकशास्त्रवत् अन्त्येऽनार्षत्वेऽपि वेदमूलकत्वेन स्मृतिवदस्य प्रामाण्यमेव । स्मृतीनां प्रामाण्यं हि वेदमूलकत्वेन, न तु ऋषिप्रणीतत्वेन ।

अन्यथा कणादप्रणीतशास्त्रस्यापि प्रामाण्यं स्यात् । तस्याप्रामाण्यं वाग्भट्टसङ्गृहीतपराशराद्युपपुराणे विस्तरेण प्रपञ्चितम् । अत एव माधवरामचन्द्राचार्यप्रणीतकालनिर्णयादेः प्रामाण्यम् । वाग्भट्टसङ्गृहीतवैद्यकस्यापि चरकाद्यविरोधात्प्रामाण्यम् । न तु स्मृतीनां ऋषिप्रणीतत्वे सति वेदाविरुद्धार्थकत्वेन प्रामाण्यमिति चेत्, न; लाघवेन वेदाविरुद्धार्थकत्वेन तत्प्रामाण्यस्योचितत्वात् ॥

॥ इति श्रीरामाश्रमविरचिता दुर्जनमुखचपेटिका समाप्ता ॥

परिशिष्ट (३)

महाप्रभु–श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण–विरचिता

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धानुक्रमणिका

गोस्वामिश्रीद्वारिकेश्वरविरचितया
व्याख्यया
समलंकृता

महाप्रभु-श्रीवल्लभाचार्यचरण-प्रवर्तितशुद्धाद्वैतसम्प्रदाय-
पञ्चमपीठाधिष्ठितगोस्वामिश्रीगोविन्दरायात्मजेन
श्रीद्वारिकेशेन सम्पादिता

सम्पादकीय

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचित दशमस्कन्धानुक्रमणिकाकी प्रस्तुत व्याख्या इदंप्रथमतया प्रकाशित हो रही है ।

भक्तकवि श्रीसूरदासजी तथा श्रीपरमानन्ददासजी को महाप्रभुने ये कारिकायें पढाई थी । श्रीमहाप्रभुके मेघोपममुखसे इन कारिकाओंकी दिव्य रसवृष्टीके श्रवणके कारण इन दोनों महानुभवोंके हृदय तथा वाणी में श्रीमद्-भागवतके दशमस्कन्धमें वर्णित भगवल्लीलाओंका भाव पूर्णतया भरकर लहराने लग गया था यह प्रसिद्ध है । ऐसे लहराते हुवे भगवल्लीलावर्णनके सागर जैसे सूरसागर तथा परमानन्दसागर मे कौन पुष्टिमार्गीय अपरिचित हो सकता है !

ये मूल कारिकायें तो पहले भी वैसे एकाधिक वार प्रकाशित हो चुकी हैं किन्तु व्याख्याके साथ यह प्रकाशन प्रथम वार हो रहा है । इस ग्रन्थकी मूलप्रति स्वयं ग्रन्थकारके हस्ताक्षरोंमें लिखित हमारे यहां (पंचमपीठ-कामा-राज-स्थान में)के ग्रन्थालयमें सुरक्षित है । इस एकमात्र प्रतिके आधार पर यथा-मति यह सम्पादन किया गया है । प्रतीत होता है कि प्राथमिक लेखनके वाद स्वयं ग्रन्थकार इसका पुनरवलोकन-संशोधन कर नहीं पाये हैं । अतएव विषय वर्णन तथा लेखनशैलीमें सर्वत्र एकरूपता नहीं झलकती है । उस एक-रूपताके निर्वाहके लिये, अतएव, हमने कभी-कहीं कोष्ठकमें कुछ-कुछ अंश जोडे हैं ।

प्रस्तुत व्याख्याकार श्रीमथुरानाथात्मज गो. श्री द्वारिकेश्वरजी गो. श्रीविठ्ठलनाथप्रभुचरणके ज्येष्ठात्मज श्रीगिरधजीके वंशमें उनसे दसवीं पीढ़ी-पर वि. सं. १८५६ में प्रकट हुए हैं (दृष्टव्य : श्रीवल्लभवंशवृक्ष प्रथम/२ गृह) । षोडशग्रन्थान्तर्गत यमुनाष्टक आदि अनेक ग्रन्थोंपर इनकी व्याख्या उपलब्ध तथा प्रकाशित भी हैं ।

भागवतार्थनिवन्धके परिशिष्टके रूपमें इसे प्रकाशित करते हुवे हमें प्रसन्नता हो रही है । विश्वास है कि इससे भागवतरसावगाहनके प्रेमियोंका निरतिशय उपकार होगा ।

गोस्वामी द्वारिकेश

श्रीमद्भागवतदशमस्कंधार्थानुक्रमणिका

श्रीकृष्णाय नमः ।

राजप्रश्नो हरेर्जन्मकारणं भूमिसांत्वनम् ।।
कंसवोधनषट्पुत्रवधः कंसभयं नृषु ।। १ ।।

मायाज्ञापनदवादिस्तुतिः कृष्णसमुद्भवः ।।
वर्णनं कृष्णरूपस्य वसुदेवस्य संस्तुतिः ।। २ ।।

देववयादिपुराकृत्यकथनं जगदीशितुः ।।

गोकुले नयनं कन्यामारणं[1] तद्विभाषणम् ।। ३ ।।

सांत्वनं वसुदेवस्य मोचनं भार्यया सह ।।
कंसदुर्मंत्रदैत्येषु (त्यानां!) साधुबालउ (लाद्यु!)पद्रवः ।। ४ ।।
प्रादुर्भूते व्रजे कृष्णे व्रजराजमहोत्सवः ।।
मथुरागमनं नंदवसुदेवसमागमः ।। ५ ।।

पूतनासुपयःपानं नंदगोपादिविस्मयः ।।
शकटव्यत्ययो दैत्यचक्रवातवधः शिशोः ।। ६ ।।

संलालने मुखे धात्र्या जृंभणे विश्वदर्शनम् ।।
रामकेशवयोर्नाम्नः करणं केलिरेतयोः ।। ७ ।।

धौर्त्यं गोपवधूगेहे प्रसंगाद्भक्षणं मृदः[2] ।।
दर्शनं विश्वरूपस्य नंदभाग्यपुराकथा ।। ८ ।।

चौर्यं हैयंगवस्याथ बंधनं दामभिर्बलात् ।।

यमलार्जुनताशापो भंगश्चैव स्तुतिस्तयोः[3] ।। ९ ।।

---

१. मारणम् २. प्रसंगमृदभक्षणम् ३. चैवानतिस्तयोः.

बालक्रीडोपनंदादिमंत्रणं गमनं ततः ॥
वृंदावने तयोः क्रीडा वयस्यैर्वनचारिणोः[1] ॥ १० ॥

वत्सासुरस्य च वधो बकाघासुरयोरपि ॥
भोजनं सखिभिस्तीरे यमुनाया हरेर्मुदा ॥ ११ ॥

वत्सापहरणं[2] धात्रा कृष्णत्वं वत्सपालयोः ॥
ब्रह्मणो मोहगमनं स्तुतिः कृष्णरतिर्गतिः ॥ १२ ॥

गोचारणे महाकाय[3]धेनुकादिवधस्तथा[4] ॥
व्रज आगमनं[5] कृष्णगोपीनेत्रमहोत्सवः ॥ १३ ॥

मृतान् विषांभपानेन गोपान् हरिरजीवयत् ॥
कालीयदमने[6] स्तोत्रं तद्भार्याणां प्रलापनम्[7] ॥ १४ ॥

ह्रदे कालीयसंबंधकथनं वह्निमोचनम् ॥
क्रीडाप्रलंबनिधनं दावाग्नेर्मोचनं गवाम् ॥
वर्षाशरद्वर्णनं च गोपीनां वचनामृतम् ॥ १५ ॥

व्रतं गोकुलकन्यानां वस्त्राणां हरणं मुदा ॥
वनभाग्यकथा गोपप्रार्थना प्रेषणं मखे ॥ १६ ॥

विप्रभार्याप्रसादश्च पश्चात्तापो द्विजन्मनाम् ॥
यागभंगो महेंद्रस्य धृतिर्गोवर्धनस्य च ॥ १७ ॥

सुरेंद्रगर्वहरणं गर्गगीतस्य वर्णनम् ॥
गोपशंकापगमनमिंद्रधेन्वभियाचनम् ॥ १८ ॥

---

१. वत्सचारिणोः २. वत्साद्याहरणं. ३. महाक्रीडा
४. वधस्ततः, ५. व्रजे कृष्णस्यागमनं ६. दमनम् ७. विलापनम्.

नंदस्य मोक्षणं गोपवैकुंठागमनं[1] ततः ॥
पंचाध्याय्यां निशि[2] क्रीडा सर्पान्नंदस्य मोक्षणम् ॥ १९ ॥

शंखचूडवधः पश्चाद् गोपीगीतं[3] वृषार्दनम् ॥
कंसनारदसंवादः कंसाक्रूरकथा ततः ॥ २० ॥

केशिनो निधनं कृष्णान्नारदर्षिकथा ततः ॥
व्योमासुरवधोऽक्रूरागमनं गोकुलेषु[4] च ॥ २१ ॥

दर्शनानंदहृष्टा[5]त्मरोमांचो गद्गदा गिरः ॥
संवादो रामकृष्णाभ्यां वर्णितं कंसचेष्टितम् ॥ २२ ॥

रामकृष्णप्रयाणं च तथा गोपीप्रलापनम् ॥
मथुरागमनं मध्ये ह्रदे क[illegible]य दर्शनम् ॥ २३ ॥

स्तुतिः पुरगतिः पश्चाद्दर्शनं पुरसंपदः ॥
रजकस्य शिरश्छेदो वायकस्य वरादयः ॥ २४ ॥

सुदाम्नो वरदानं च कुब्जासंदर्शनं हरेः ॥
धनुर्भंगः सैन्यवधः कंसदुर्हेतुदर्शनम् ॥ २५ ॥

रंगोत्सवे कुवलयापीडयुद्धविघातनम् ।
दर्शनं रामकृष्णस्य पौराणां प्रेमदर्शनम् ॥ २६ ॥

मल्लानां निधनं रंगे कंसस्य सह बंधुभिः ॥
पित्रोश्च सांत्वनं सर्वसुहृदां परितोषणम् ॥ २७ ॥

उग्रसेनाभिषेकश्च नंदादिव्रजप्रेषणम् ॥
ईषद्द्विजातिसंस्कारः पठनं च गुरोर्गृहे ॥ २८ ॥

---

१. वैकुंठगमनम् २. निशा ३. गोपीगीतवृषार्दनम् ४. नंदगोकुले
५. हृष्टात्मा.

मृतपुत्रप्रदानं च गुरोः चजनार्दनम् ॥
पुनरागमनं शौरेर्मधुपुर्यां महोत्सवः ॥ २९ ॥
उद्धवप्रेषणं गोपीविलापपरिसांत्वनम् ॥
कुब्जारतिस्तथाक्रूरप्रेषणं गजसाह्वये ॥ ३० ॥
पांडवेषु च वैषम्यं धृतराष्ट्रस्य बोधनम् ॥
इत्येवं दशमस्कंधपूर्वार्धे[1] विनिरूपितम् ॥ ३१ ॥
जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधः ॥
जामातृ[2]वधसंतप्तजरासंधचमूवधः ॥
बहुशः सेनयोद्वेगो द्वारकादुर्गकारणम् ॥ ३२ ॥
यवनस्य वधो दृष्टया मुचुकुंदस्य संस्तुतिः ॥
वरं दत्वा ततो म्लेच्छवधं कृत्वा धने ततः ॥ ३३ ॥
नीयमाने वरै[3]र्दृप्तजरासंधात्पलायनम् ॥
रैवताद्रेवतीकन्या बलदेवसमर्पणम् ॥ ३४ ॥
रुक्मिणीप्रियसंदेशश्रवणादखिलान्रिपून् ॥
निर्जित्य निर्गमो गेहादंबिकाया हृतिर्बलात् ॥ ३५ ॥
चैद्यसांत्वनमुर्वीशैस्ततो रुक्मिसमागमः ॥
युद्धाक्षेपापराधे[4] च मुंडनं तस्य कृष्णतः ॥ ३६ ॥
रुक्मिणीदुःखशमनं रामवाक्यं च मोक्षणम् ॥
ततो विवाहो रुक्मिण्या विधिसत्स्वपुरे तदा[5] ॥ ३७ ॥
प्रद्युम्नोत्पत्तिकथनं हरणं सूतिकागृहात् ॥
मायावत्योक्तवृत्तांतः शंबरस्य वधस्ततः ॥ ३८ ॥

१. स्कन्धे पूर्वार्धविनिरूपितम् २. जामातुः ३. धनैः
४. युद्धाक्षेपापराधौ ५. मुदा.

पुनरागमनं गेहे संतोषो द्वारकौकसाम् ॥
सूर्यात्स्यमंतकप्राप्तिर्याचनं तस्य वै हरेः ॥ ३९ ॥
तत्संबंधात्प्रसेनस्य वधोऽकीर्तिर्हरेस्तथा ॥
तन्मार्जनाय ऋक्षस्य गेहे गमनमेतयोः ॥ ४० ॥
ज्ञात्वा सुरर्षभं युद्धाज्जांबवत्याः समर्पणम् ॥
सत्राजितस्य प्राप्तस्य स्वतो[1] दानं मुरारिणा ॥ ४१ ॥
विवाहः सत्यभामाया दत्तायाः प्रीतये हरेः ॥
रामेण सह कृष्णस्य गमनं गजसाह्वये ॥ ४२ ॥
अक्रूरकृतवर्मभ्यां प्रेरिताच्छतधन्वनः ॥
सत्राजितवधो मध्ये कृष्णाच्छतधनोर्वधः ॥ ४३ ॥
रामस्य मिथिलायात्रा[2] गदाशिक्षा सुयोधने ॥
अक्रूरमणिदानं च शक्रप्रस्थे[3] हरेर्गतिः ॥ ४४ ॥
कालिंद्या संगतिः शौरेर्विवाहः स्वपुरे ततः ॥
मित्रविंदाहृतिर्नाग्नजित्युद्वाहो[4]ऽत एव च[5] ॥ ४५ ॥
भद्राया लक्ष्मणायाश्च विवाहो मुरघातिना ॥
पितुस्तत्तनयानां[6] च नरकस्य च घातनम् ॥ ४६ ॥
भूमिस्तुती राजकन्याप्रेषणं स्वपुरे ततः ॥
गत्वा महेंद्रभवनं परिजाताहृतिर्बलात् ॥ ४७ ॥
उद्वाहो राजकन्यानां रुक्मिणीकृष्णकौतुकम् ॥
कृष्णभार्याकथा पुत्रनाम्न्युद्वाहपर्वणि ॥ ४८ ॥

१. सतः २. वासो. ३. इन्द्रप्रस्थे. ४. नाग्नजित्युद्वाहनमेवच ।
५. मदैव च. ६. पीठतत्तनयानां च ७. पारिजातहृतिः.

रामाद्रुक्मिवधो द्यूते बाणस्य हरसंकथा ॥
उषास्वप्नकथा चित्रलेखया हरणं हरेः ॥ ४९ ॥

पौत्रस्य बंधनं चापि बाणयादवसंयुगे ॥
कृष्णशंकरयोर्युद्धं ज्वरसंस्तवनं ततः ॥ ५० ॥

बाणबाहुच्छिदा रुद्रस्तुतिर्बाणाभयं वरः ॥
उषाप्राप्तिर्नृगाख्यानं बलभद्रव्रजागमः ॥ ५१ ॥

गोपीविलापो रामस्य स्तुतिर्गोपीभिरेव च ॥
यमुनाकर्षणं काशीपतिपौंड्रकघातनम् ॥ ५२ ॥

काशीदाहः स्वकृत्यातो[1] द्विविदस्य बलाद्वधः ॥
लक्ष्मणाहरणं रामविक्रमो गजसाह्वये ॥ ५३ ॥

नारदेन हरेर्लीलादर्शनं गृहमेधिनाम्[2] ॥
आह्निकं वासुदेवस्य राज्ञां विज्ञापनं त्वृषेः[3] ॥ ५४ ॥

मंत्रणादुद्धवस्येंद्रप्रस्थे गमनमीशितुः ॥
जरासंधवधः स्तोत्रं राज्ञां सत्कृतिरेव च ॥ ५५ ॥

राजसूये हरेः पूजा शिशुपालवधस्तथा ॥
दुर्योधनाभिमानस्य भंगः प्रद्युम्नशाल्वयोः ॥ ५६ ॥

युद्धं त्रिणवरात्रं च हरेरागमनं ततः ॥
शाल्वस्य दंतवक्रस्य तद्भ्रातुर्लीलया वधः ॥ ५७ ॥

तीर्थयात्राथ रामस्य मध्ये सूतवधस्ततः ॥
तत्पुत्रस्थापनं तत्र बल्वलस्य वधस्ततः ॥ ५८ ॥

यात्रासमस्ततीर्थानामृषिभिर्याजनं बलात्[4] ॥
भक्तानां जन्मसाफल्यं पृथुकाख्यानमेव च ॥ ५९ ॥

---

१. स्वकृत्यादि २. गृहमेधिनः ३. हरेः ४. बलेः.

सूर्योपरागे निखिलैः कुरुक्षेत्रे समागमः ॥
बंधुभिर्वसुदेवस्य गोपिकाप[illegible]वनम् ॥ ६० ॥

कृष्णभार्याविवाहानां कथनं विस्मयो नृणाम् ॥
ऋषीणां गमनं तत्र कृष्णेन प्रतिपूजनम् ॥ ६१ ॥

वसुदेवस्य संप्रश्नो नारदोक्तिरथोत्तरम् ॥
याजनं तस्य ऋषिभिः प्रमोदोऽखिलदेहिनाम् ॥ ६२ ॥

वसुदेवस्य विज्ञानं देवक्याः षट्सुतागमे[1] ॥
बलिकृष्णस्तुतिकथा षण्णां[2] गमननिर्गमे ॥ ६३ ॥

सुभद्राविजयोद्वाहो मिथिलागमनं हरेः ॥
मैथिलश्रुतदेवाभ्यां[3] पूजनं गतिरेतयोः ॥ ६४ ॥

वेदस्तुतिर्हरेर्भक्त्या दारिद्र्यविनिरूपणम् ॥
आशुतोषकथा शंभोरनर्थोऽस्य[4] वरस्य च ॥ ६५ ॥

वृकासुरवधे[5] बुद्धेर्मोचनं गिरिजापतेः ॥
मृतपुत्रप्रदानं च विप्रस्य स्वालयाद्धरेः ॥ ६६ ॥

हरेरेवास्ति देवत्वं[6] भृगुवाक्यैश्च निश्चयः ॥
क्रीडा स्त्रीभिर्हरेः पूजा विरहात्[7] स्त्रीविभाषणम् ॥ ६७ ॥

महारथानां नामानि हरेर्वंशावलिस्तथा ॥
यादवानंत्य[8]मित्येवमुत्तरार्धे निरूपितम् ॥ ६८ ॥

इतिश्रीमद्वल्लभदीक्षित[9]विरचिताश्रीमद्भागवतदशमस्कंधार्थानुक्रमणिका समाप्ता ।

---

१. षट्सुतागमः २. षडागमननिर्गमौ ३. श्रुतदेवस्य ४. अनर्थोऽसौ न तस्य च ५. वृकासुरवधो ६. हरेरेव सुदेवत्वम् ७. विरहस्त्र्यभिभाषणम् ८. यादवानेक ९. श्रीमद्वल्लभाचार्य.

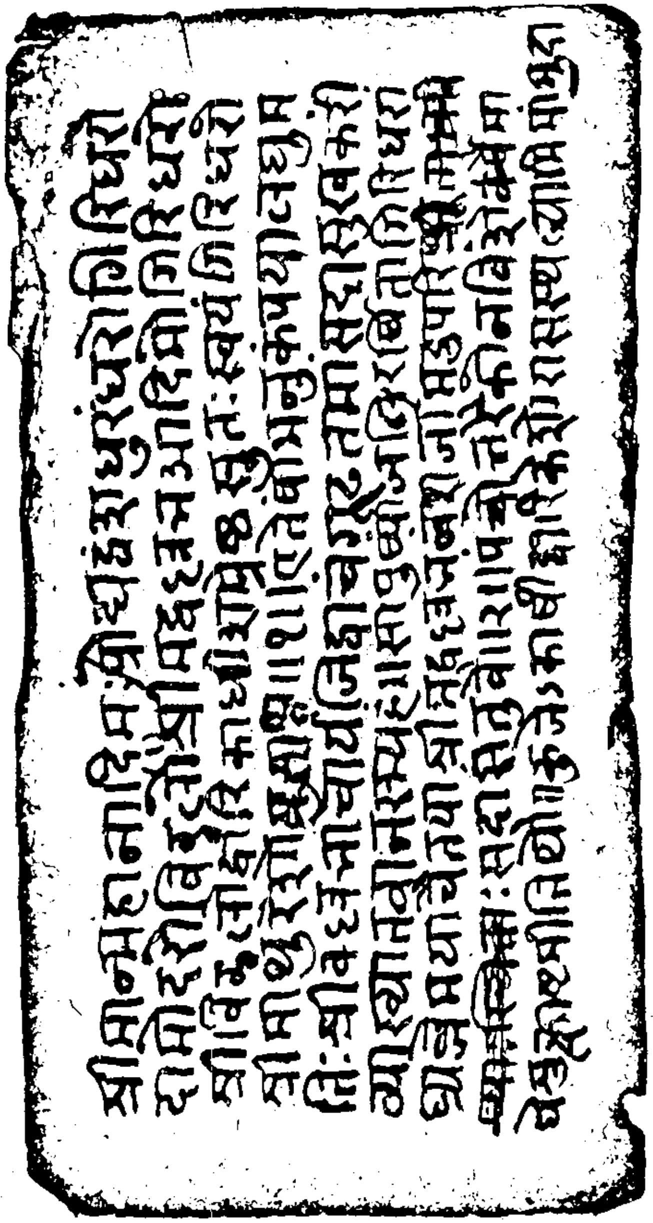

ग्रन्थकारके हस्ताक्षर

।। श्रीमद्वल्लभाधीशो जयति ।।

दशमानुक्रमणिका सटीका

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

गिरिवराधिपं चिक्कणप्रियं
ललितत्रिभङ्गं महाद्भुतम् ।
शुक नमाम्यहं वल्लभाधिपं
सिद्धिबुद्धि-प्रदायकम् ।।१ ।।

दशमानुक्रमणिकां व्याख्यास्येहं यथामतिः ।
सहायं तत्र कुर्वन्तु श्री[illegible]चार्यवंशाजाः ।।२ ।।

अथ श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः स्वीयानां हृदये दशमस्कन्धार्थम् अनायासेनैव स्थापयितुं दशमस्कन्धमहावाक्यानुक्रमणिकां कृत्वा निजसेवकौ सूरदास-परमानन्ददासौ अध्यापयामासुः । तौ च तदनुसारेण गापयाञ्चक्रतुः । ततः परम्परया स्वकीयान् बोधयितुम् उपन्यसन्ति––

राजप्रश्नो हरेर्जन्मकारणं भूमिसांत्वनम् ।
कंसबोधन षट्पुत्रवधः कंसभयं नृषु ।। १ ।।

'राजप्रश्नः' इति । राज्ञः प्रश्नो **राजप्रश्नः** । अथवा प्रश्नानां राजा राजप्रश्नः । "राजदंतादिषु परम्" । "कथितो वंशविस्तारः . . ." **इत्यादि । हरेः जन्मनः कारणम् ।** "विषयसापेक्षस्थले क्वचिदसमर्थेऽपि समासः" इति भाष्यम् । "भूमिदृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः . . ." इत्यादि **भूमेः सान्त्वनम्,** "आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ" । **कंसस्य बोधनम् ।** षट् च ते पुत्राश्च **षट्पुत्राः** तेषां **वधः** । कंसबोधनपूर्वकः षट्पुत्रवधः । शाकपार्थिवादि । न द्वन्द्वो, द्वयेकवचनाभावात् । कंसबोधनं तु मायाकृतं वसुदेवकृतं

नारदकृतं च ज्ञेयम् । "अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां नयसेऽबुधः" इत्यादि तामसं वधोद्यमहेतुत्वात् । तदुक्तम् "इत्युक्तः स खलः पापो भोजानां कुलपांसनः । भगिनीं हन्तुमारब्धः. . ." (इति) । "श्लाघनीयगुणः शूरैर्भवान् भोजयशस्करः । स कथं भगिनीं हन्यात् . . ." इत्यादि वसुदेवकृतं सात्विकं सुहृद्वधनिवृत्तिहेतुत्वात् । तदुक्तम्– "सुहृद्वधान्निववृते कंसस्तद्वाक्यसारवित् . . ." ।। २ ।। "नंदाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषां च योषितः". . . इत्यादि नारदकृतं राजसं वधावधरूपबंधनहेतुत्वात् । तदुक्तम् "देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे . . ." ।। ३ ।। **षट्पुत्रवधः** ". . .जातं जातमहन् पुत्रं तयोरजनशङ्कया" । कंसाद् भयम् **कंसभयम्, नृषु** पुंसु । तेन देवादीनामपि सङ्ग्रहः । प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टाग्रहणात् स्त्रीणामपि सङ्ग्रहः । अत एव "मातरम्. . ." इत्यादिकं देवकीनिग्रह रोहिण्यादि–सप्तदशानां गोकुले प्रेषणं कन्यायाः शिलायां क्षेपः । तदुक्तम्–"मातरं पितरं भ्रातॄन् सर्वांश्च सुहृदस्तथा । घ्नन्ति ह्यसुतृपोलुब्धाः राजानः प्रायशो भुवि ।।" त्रयोदशभिः प्रश्नः त्रयोदशमासीयलीलानां पृष्टव्यत्वात् । एकेन संगतिः । द्वाभ्यां प्रशंसा । नवभिः जन्मकारणम्, पूर्णत्वाय । एकेन भूमिसांत्वनम् । कंसबोधनम् अष्टविंशद्भिः, दुष्टबोधनस्य वहूपायसाध्यत्वात् । षट्पुत्रवधः द्वाभ्याम् । भयं त्रिभिः **।। ६९ ।। एकोनसप्ततिः श्लोकाः । इति प्रथमाध्यायसङ्ग्रहः ।। १ ।।**

द्वितीयम् अनुक्रामन्ति—

मायाज्ञापनदेवादिस्तुतिः

'माया' इति । **मायाया आज्ञपनम् । देवादीनां स्तुतिः** । मायाज्ञापनपूर्विका देवादिस्तुतिः । पूर्वकालेति समासः । मायाज्ञापनं सार्द्धपञ्चदशभिः । तत्र षड्भिः विपरीतगुणवर्णनम् । सार्द्धसप्तभिः आज्ञा । एकेन कृतिः । एकेन फलम् । सप्तविंशतिभिःदेवादिस्तुतिः । तत्र द्वाभ्यां वसुदेवे आवेशः । द्वाभ्यां देवक्याम् । पञ्चभिः कंसविचारः । एकेन ब्रह्माद्यागमनम् । पञ्चदशभिः भगवत्स्तुतिः । एकेन देवकीस्तुतिः । एकेन गमनम् ।। ४२ ।। **(द्विचत्वारिंशत् श्लोकाः । इति द्वितीयाध्यायसङ्ग्रहः)।।** २ ।।

तृतीयम् अनुक्राम्यन्ति—

कृष्णसमुद्भवः ।

वर्णनं कृष्णरूपस्य वसुदेवस्य संस्तुतिः ।। २ ।।

देवक्यादि–पुराकृत्य–कथनं जगदीशितुः ।

गोकुले नयनं

कृष्णस्य फलरूपस्य सम्यक् ऊर्ध्वभवनं सर्वोत्कर्षेण वर्तनं **समुद्भवः** । "अथ सर्वगुणोपेतं. . . "इत्यादि सार्द्धाष्टभिः, ऐश्वर्यस्य अष्टविधत्वात् अर्द्धमात्रायाः हरौ परत्वात् । "ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्मात् अष्टैश्वर्यगुणान्वितः" । **कृष्णस्य रूपस्य वर्णनं** "तमद्भुतम्. . ." इत्यादि चतुर्भिः वीर्यस्य चतुर्व्राहुसाध्यत्वात् । **वसुदेवस्य संस्तुतिः** "कर्त्तरि षष्ठी" । "विदितोसि भवान्साक्षाद्. . ." इत्यादि दशभिः भगवद्यशसः (दश) दिगन्तलंवित्वात् । लिङ्गाविशिष्टपरिभाषया देवकीस्तुतेरपि सङ्ग्रहः । सा च नवभिः "अथैनमात्मजं वीक्ष्य. . ." इत्यादिभिः, श्रिया नवनिधिरूपत्वात् । **देवकी आदिर्यस्य** तस्य **पुराकृत्यस्य कथनं** "त्वमेव पूर्वसर्गे भूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति" इत्यादि चतुर्दशभिः, ज्ञानस्य चतुर्दशविद्यासाध्यत्वात् । देवक्याः आदित्वं पूर्णप्राकट्यात् । **जगदीशितुः गोकुले नयनं** प्रापणम् "इत्युक्त्वासीद्धरिः तूष्णीं भगवान्. . ." इत्यादि अष्टभिः, अष्टैश्वर्यवति कृष्णे पूर्णराग एव वैराग्यसिद्धेः । ।। ५३ ।। **(त्रिपञ्चाशत् श्लोकाः । इति तृतीयाध्यायसङ्ग्रहः)** ।। ३ ।।

चतुर्थ (म् अनुक्रामन्ति)—

कन्यामारणं तद्विभाषणम् ।। ३ ।।

सान्त्वनं वसुदेवस्य मोचनं भार्यया सह ।

कंसदुर्मन्त्रदैत्येषु साधुब...उपद्रवः ।। ४ ।।

कन्यायाः **मारणं** "वहिरन्तः पुरद्वार. ." इत्यादि अष्टभिः, (ऐश्वर्यम्) । **तस्याः विभाषणं** "सा तद्धस्ताद्. . ." इत्यादि पञ्चभिः, (अविद्या पञ्चपर्वा) । **वसुदेवस्य सांत्वनं** दशभिः (यशोरूपम्) "तथाभिहितमाकर्ण्य. . ." इत्यादिभिः । **भार्यया सह मोचनं** "मोचयामास निगडाद्विश्रब्धाः कन्यका गिरा । देवकीं

वसुदेवं च. . .'' इत्यादि पञ्चभिः (विद्यापर्वरूपैः)। कंसस्य दुष्टो मन्त्रो यैः ते **कंसदुर्मन्त्राः** ते च ते **दैत्याश्च तेषु** तन्निमित्तं **साधुबालानाम् उपद्रवः**। तदुक्तम्–''आकर्ण्य भर्तृगदितं तमूचुर्देवशत्रवः। देवान् प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः॥'' (इति)। यदि कोविदाः स्युः भर्तृकार्यं साधयेयुरेव। अतः तन्निमित्तमेवेति। यद्वा। कंसदुर्मन्त्राश्च ते दैत्याश्च कंसदुर्मन्त्रदैत्याः तेषाम् इषवः तैः साधुबालानाम् उपद्रवः। यद्वा। कंसस्य दुर्मन्त्राश्च दैत्याश्च इषवश्च तैः साधुबालानाम् उपद्रवः। तदुक्तम्–''एवं दुर्मन्त्रिभिर्कंसः सह संमन्त्य दुर्मतिः। कामरूपधरान्दिक्षु दानवान् गृहमाविशत्॥ अस्यतस्ते शरव्रातैर्हन्यमानाः समंततः। संदिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान्॥ अनिर्दशान्निर्दशांश्च हनिष्यामोऽद्य वै शिशून्॥'' अष्टादशभिः, अष्टादशविद्याविपरीतज्ञानम् असुरणाम् ॥४६॥ **(षट्चत्वारिंशत् श्लोकाः। इति चतुर्थाध्यायसङ्ग्रहः) ॥४॥**

पञ्चमम् अनुक्रामन्ति––

प्रादुर्भूते व्रजे कृष्णे व्रजराजमहोत्सवः।
मथुरागमनं नन्दवसुदेवसमागमः॥५॥

'प्रादुर्भूते' इति। व्रजस्य राजा **व्रजराजः** तस्य **महोत्सवः** ''नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने. . .'' इत्यादि अष्टादशभिः, महोत्सवस्य अष्टादशविद्या–साध्यत्वात्। ''गोपान् गोकुलरक्षायाम्. . .'' इत्यनेन **मथुरायां गमनम्। नन्दवसुदेवयोः समागमः** ''वसुदेव उपश्रुत्य. . .'' इत्यादि त्रयोदशभिः, त्रयोदशसु मासेषु वसुदेवस्य सांत्वनाय ॥३२॥ **(द्वात्रिंशत् श्लोकाः। इति पञ्चमाध्यायसङ्ग्रहः) ॥५॥**

(षष्ठाध्यायम् अनुक्रामन्ति)

पूतनासुपयःपानं नन्दगोपादिविस्मयः।

असवश्च पयश्च असुपयसी, **पूतनायाः असुपयसो** तयोः **पानं** ''नन्दः पथि वचः शौरे. . .,'' इत्यादि त्रिंशद्भिः। तदुक्तम्–''तत्प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिवत्. . .'' (इति)। तत्र एकेन पूर्वानुवादः। अष्टभिः पूतनायाः आगमनम्।

एकेन असुपयःपानम्। सप्तभिः तस्याः मरणम्। त्रयोदशभिः रक्षा। **नन्दगोपः** आदिर्येषां तेषां **विस्मयः** ''तावन्नंदादयो गोपा मथुरायाः व्रजं गताः. . .'' इत्यादि अष्टभिः ॥३८॥ **(अष्टात्रिंशत् श्लोकाः। इति षष्ठाध्यायसङ्ग्रहः) ॥६॥**

सप्तमम् अनुक्राम्यन्ति–––

शकटव्यत्ययो दैत्यचक्रवातवधः शिशोः ॥६॥
संलालने मुखे धात्र्या जृभंणे विश्वदर्शनम्।

शकटस्य व्यत्ययः ''येन येन. . .'' इत्यादि सप्तदशभिः। तत्र त्रिभिः प्रश्नः। त्रिभिः उत्सववर्णनम्। एकेन अनोव्यत्ययः। त्रिभिः आश्चर्यवर्णनम्। सप्तभिः स्तनपान-शकटस्थापन-स्वस्तिवाचनाशीर्गोदानादि-गोपाभिषेकाशिषः। दैत्यश्चासौ चक्रवातश्च **दैत्यचक्रवातः** तस्य **वधः शिशोः** शिशुकर्तृकः ''एकदारोहमारूढं लालयंती सुतं सती. . .'' इत्यादि सप्तदशभिः। **संलालने** क्रियमाणे **जृभंणसमये धात्र्याः** यशोदायाः पुत्रस्य **मुखे विश्वस्य दर्शनम्** ''एकदार्भकमादाय . . .' इत्यादि चतुर्भिः। तदुक्तम्–मुखं लालयती राजन् जृभंतो ददृशे इदम्. . .'' (इति) ॥३८॥ **(अष्टात्रिंशत् श्लोकाः। इति सप्तमाध्यायसङ्ग्रहः) ॥७॥**

अष्टमम् अनुक्रामन्ति––

रामकेशवयोर्नाम्नो कारणं केलिरतयोः ॥७॥
धौर्त्यं गोपवधूगेहे प्रसङ्गमृदभक्षणम्
दर्शनं विश्वरूपस्य नन्दभाग्यपुराकथा ॥८॥

रामश्च केशवश्च **रामकेशवौ तयोः नाम्नः** गर्गाचार्यद्वारा **कारणम्** ''गर्गः पुरोहितो राजन्. . .'' इत्यादि एकविंशतिभिः, स्वर्गैः। **एतयोः** रामकेशवयोः **केलिः** ''कालेन व्रजताल्पेन. . .'' इत्यादि षड्भिः, धर्मैः। **धौर्त्यं गोपवधूनां गेहे** ''ततस्तु भगवान् कृष्ण. . .'' इत्यादि पञ्चभिः, (अविद्यापर्व)। मृदः अभक्षणं मृदभक्षणम्, प्रसङ्गात् मृदभक्षणं **प्रसङ्गमृदभक्षणम्** ''एकदा. . .'' इत्यादि पञ्चभिः (विद्यापर्व)। तदुक्तम्–''नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः . . .'' (इति)। षड्भिः **विश्वरूपस्य दर्शनम्** ऐश्वर्यादिभिः ''सा तत्र ददृश

विश्वं जगत्स्थाष्णु चरिष्णु च . . .'' (इति)। ''इत्थम् . . .'' इत्यादि त्रिभिः मोहनम् एतदङ्गमिति पृथक् न उक्तम्। **नन्दस्य भाग्यस्य पुरा** पूर्वकल्पसम्बन्धिनी **कथा** ''नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम्। यशोदा च महाभागा. . .'' इत्यादि सप्तभिः, (धर्मसहितैः) ।। ५३ ।। **(त्रिपञ्चाशत् श्लोकाः। इति अष्टमाध्यायसङ्ग्रहः) । ८ ।।**

नवमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

चौर्यं हैयंगवस्याथ बन्धनं दामभिर्बलात्

चोरस्य भावः कर्म वा **चौर्यं** ष्यञ्, गोदोहोद्भवस्य ''एकदा. . .'' इति दशभिः, दशविधभक्तियुक्तस्यैव ग्राह्यत्वात्। तदुक्तम् . . . ''जहार हैयंगवमन्तरं गतः।'' (इति)। **बन्धनं** त्रयोदशभिः, त्रयोदशमासेषु भक्तप्रेरणावद्धत्वात्। ''कृतागसं तं प्ररुदंतमक्षिणी कषन्तम् . . .'' इत्यादिभिः। तदुक्तम् ''गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा'' (इति)। तत्र द्वाभ्यां वशीकरणोद्यमः, कर्मकाण्डज्ञानकाण्ड-समावेशार्थः। ''न चान्तर्न बहिर्यस्य . . .'' इत्यादि षड्भिः वशीकरणम्, गुणानां षड्विधत्वात्। ''एवं संदर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता'' इत्यादि पञ्चभिः भक्तिप्रशंसा, भक्तेः विद्यायाः पंचमपर्वत्वात् ।। २३ ।। **(त्रयोविंशति श्लोकाः। इति नवमाध्यायसङ्ग्रहः) ।। ९ ।।**

दशमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

यमलार्जुनताशापो भङ्गश्चैवानतिस्तयोः ।। ९ ।।

'यमलाः' इति। यमलौ च तौ अर्जुनौ च **यमलार्जुनौ** तयो र्भावः **तत्ता**। यमलार्जुनतायै **शापः** ''कथ्यतां भगवन् . . .'' इत्यादि द्वाविंशतिभिः। तत्र एकेन प्रश्नः। ''रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा . . .'' इत्यादि षड्भिः शापोद्यमः। ''न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान् . . .'' इत्यादि द्वादशभिः शापहेतुः। ''यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ . . .'' इत्यादि त्रिभिः शापः। **भङ्गः** ''स एवमुक्तो देवर्षिः . . .'' इत्यादि षड्भिः। तत्र पंचभिः पातनम्। एकेन स्तुत्युद्यमः। **तयोः** यमलार्जुनयोः **आ** समन्तात् **नतिः** स्तुतिः ''कृष्ण कृष्ण महायोगिन् . . .'' इत्यादि दशभिः, भगवद्गुणानां दशदिक्षु व्याप्तत्वात्। पञ्चभिः अनुग्रहः

''इत्थं संकीर्तितस्ताभ्याम् . . .'' इत्यादिभिः ।। ४३ ।। **(त्रिचत्वारिंशत् श्लोकाः। इति दशमाध्यायसंग्रहः) ।। १० ।।**

एकादशाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

बालक्रीडोपनन्दादिमन्त्रणं गमनं ततः।
वृन्दावने तयोः क्रीड़ा वयस्यैर्वत्सचारिणोः ।। १० ।।

वत्सासुरस्य च वधो बकाघासुरयोरपि।
भोजनं सखिभिस्तीरे यमुनाया हरेर्मुदा ।। ११ ।।

वत्साद्याहरणं धात्रा कृष्णत्वं वत्सपालयोः।
ब्रह्मणो मोहगमनं स्तुतिः कृष्णरतिर्गतिः ।। १२ ।।

'बालक्रीडा' इत्यादि। **बालानां क्रीडा,** बालवत् क्रीडा (वा) ''गोपा नन्दादयः श्रुत्वा. . .'' इत्यादि नवभिः, पूर्णत्वाय। **तत्र** आद्यैः षड्भिः मोचनम्, भगवदीयगुणानां मोचकत्वाय। तदुक्तं ''नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह'' (इति)। ''गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद् भगवान्. . .'' इत्यादि त्रिभिः मुग्धलीला, मोहस्य सात्विकादिभेदेन त्रिविधत्वात्। तदुक्तम् ''उद्गायति क्वचिन्मुग्धः. . .'' (इति)। **उपनन्दा आदिः येषां** तेषां **मन्त्रणं** गुप्तपरिभाषणम् ''गोपवृद्धाः. . .'' इत्यादि नवभिः, पूर्णत्वाय। तदुक्तं—''ब्रजकार्यममन्त्रयन्'' (इति)। **ततः** बृहद्वनाद् **गमनं** ''तच्छ्रुत्वा. . .'' इत्यादि पञ्चभिः, पञ्चभिः कार्यसिद्ध्यै। तदुक्तं—''ययूरूढपरिच्छदाः'' (इति)। **तयोः** कृष्णबलभद्रयोः **क्रीडा** लीला **वयस्यैः** सखिभिः ''वृन्दावनं संप्रविश्य. . .'' इत्यादि षड्भिः। तत्र आद्याभ्यां प्रीतिः। सा उक्ता—''वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीतिः. . .''(इति)। चतुर्भिः **क्रीड़ा** लीला ''एवं ब्रजौकसां प्रीतिः. . .'' इत्यादिभिः सा उक्ता। **वत्सान् चारयितुं** शीलं ययोः तौ, **तयोः** ''चारयामासतुर्वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ'' (इति)। वत्सरूपः असुरः **वत्सासुरः तस्य वधः** प्राणवियोगः ''कदाचित्. . .'' इत्यादि षड्भिः। तदुक्तं—''वत्सासुरं हतं श्रुत्वा ब्रजे गोप्याश्च विस्मिताः'' (इति)। बकश्च अघश्च **बकाघौ तौ च**

तौ **असुरौ** च तयोः **अपि वधः**। तत्र वकस्य वधः "स्वं स्वम्..." इत्यादि नवभिः। तदुक्तम् "तदा वकारिं सुरलोकवासिनः..." (इति)। ततो ज्ञानं पञ्चभिः "अहो बतास्य बालस्य..." इत्यादिभिः। **अघासुरवधस्तु प्रक्षिप्ताध्याये प्रथमे।** तदुक्तम्–"... अघोपि यत्स्पर्शनधौतपातकः प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम्" (इति)। 'वकाघासुरयोः' इति समासस्तु प्रक्षिप्ताध्यायत्रयस्य एकादशाध्याये प्रक्षिप्तत्वसूचनाय। अध्यायत्रयान्ते "एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः॥" इति श्लोकोपन्यासात्। **'अपि'** शब्दः प्रक्षिप्तत्वसूचनार्थः। **एकादशाध्यायस्य एकपञ्चाशत् श्लोकाः॥ प्रक्षिप्तप्रथमस्य चतुश्चत्वारिंशत्।** तत्र दशभिः लीला। भाग्याभिनन्दनं द्वाभ्याम्। एकविंशतिभिः अघासुरवधः। ततो द्वाभ्यां देवसुखम्। द्वाभ्याम् आश्चर्यम्। द्वाभ्याम् अघासुरमुक्तिः। एकेन राजप्रशंसा। त्रिभिः प्रश्नः। एकेन शुकसमाधिः (इति) ॥४४॥ **(प्रक्षिप्तद्वितीयस्य चतुष्षष्टिः) मुदा** हर्षेण **सखिभिः** समं **यमुनायाः तीरे हरेः भोजनं** चतुर्भिः। तत्र त्रिभिः प्रश्नाभिनन्दनपूर्वकं कथनप्रतिज्ञा। "तथाघवदनान्मृत्योः..." इति एकादशभिः भोजनम्। तदुक्तं–"...स्वर्गे लोके मिषति वुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः" (इति)। वत्साः आदौ येषां ते **वत्सादयः** गोपाः तेषाम् **आ** समन्तात् **हरणं** प्रापणं स्वीकारः स्तेयं नाशनं च। नाशनम् अदर्शनम् अत्र **धात्रा** ब्रह्मणा "अंभोजन्मजनिस्तदंतरगतः..." इत्यादि चतुर्भिः। तदुक्तं "... तद्वत्सानितो वत्सपान्। नीत्वान्यत्र कुरूद्वहांतरदधात्..." (इति)। वत्सश्च पालश्च **वत्सपालौ तयोः कृष्णत्वम्**। जातौ एकवचनम्। "यावद्वत्सकवत्सकाल्पकवपुः..." इत्यादि एकादशभिः। तदुक्तं "स्वयमात्मात्मगोवत्सान् प्रतिवार्यात्मवत्सपैः" (इति)। **ब्रह्मणः मोहस्य गमनं** "तावदेत्यात्मभूः..." इत्यादि पञ्चविंशतिभिः। तदुक्तम्–"एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम्। स्वयैव माययाजोपि स्वयमेव विमोहितः॥" (इति) ॥६४॥ **(प्रक्षिप्ततृतीयस्य एकषष्टिः) स्तुतिः** प्रकरणात् ब्रह्मणा कृता कृष्णस्य स्तुतिः "नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय..." इत्यादि चत्वारिंशद्भिः। तदुक्तं **कृष्णस्य रतिः** रमणं क्रीडा सखिभिः सह भोजनरूपा "इत्यभिष्टूय

भूमानम्..." इत्यादि पञ्चभिः। तदुक्तं–"नैकोप्यभोजिकवल एहीतः साधु भुज्यताम्..." (इति)। **गतिः** गमनं प्रकरणात् कृष्णस्य **व्रजे**। तदुक्तं "ततो हसन्..." इत्यादि त्रिभिः। अग्रे एकादशभिः एतस्यैव प्रपञ्चः प्रियत्वकारणरूपः, स तु नानुक्रान्तः प्रक्षिप्तत्वात्॥

द्वादशाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

गोचारणे महाक्रीडा धेनुकादिवधस्तथा।
व्रज आगमनं कृष्णगोपीनेत्रमहोत्सवः॥१३॥
मृतान्विषांभपानेन गोपान् हरिरजीवयत्।

'गोचारणे' इति। **गोचारणं** "ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ..." इत्यादि नवभिः, पूर्णत्वाय। तदुक्तं–"गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैः" (इति)। **तस्मिन् महती क्रीडा** दशरसोद्बोधिका "एवं वृन्दावने..." इत्यादि दशभिः। तदुक्तं–"क्वचिद् क्रीडापरिश्रान्तम्..." इत्यादिभिः। **धेनुकादिवधः तथा** महान् "श्रीदामा नाम..." इति विंशत्या, दैत्यानां नखरूपत्वात्। **तदुक्तं**– "ज्ञातयो धेनुकस्य ये..." (इति)। **व्रजे आगमनम्** "अथ तालफलानि..." इत्यादि सप्तभिः, धर्मिरूपैः। तदुक्तं–"साग्रजो व्रज आव्रजत्..." (इति)। तत्रैव **कृष्णस्य गोपीनां नेत्राणां महोत्सवः**। तदुक्तं–"पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गैः..." (इति)। अत्र एवं क्रमः–एकेन पूर्वोपसंहारः। **एकेन** आगमनम्। द्वाभ्यां वर्णनम्। द्वाभ्यां मातृसत्कृतिः। एकेन **सर्वमनोरथपूर्तिः**। यद्वा– कृष्णगोप्योः नेत्रयोः महोत्सवः। कमलभृङ्गयोः संगमे उत्सवो लोकप्रसिद्धः। कृष्णनेत्रे कमलपत्रिकातुल्ये गोपीनां भृङ्गतुल्ये। **हरिः विषांभपानेन मृतान् गोपान् अजीवयत्।** तदुक्तं–"विषांभः तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः। निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरुद्वह॥४९॥,, "वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरः। ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत्॥५०॥" "एवं योगेश्वरः कृष्ण..." इत्यादि षड्भिः **धर्मरूपैः**। **एवञ्च अस्मिन् अध्याये द्विपञ्चाशत् श्लोकाः** ॥५२॥ **(इति द्वादशाध्यायसङ्ग्रहः)** ॥१२॥

त्रयोदशाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति--

कालीयदमनं स्तोत्रं तद्भार्याणां प्रलापनम् ।। १४ ।।

'कालीय' इति । कालियः कालीयः इति पाठद्वयं साधु । **कालीयस्य दमनं** द्वात्रिंशद्भिः लक्षणरूपैः । तत्र एवं क्रमः–"उद्यमश्चापराधश्च परीक्षा कार्यमेव च । स्तुतिः प्रसादः इत्यत्र षडर्थाः परिकीर्तिताः ।। १ ।।" तत्र उद्यमः अष्टाभिः ऐश्वर्यरूपैः । तत्रापि एकेन संक्षेपः । द्वाभ्यां प्रश्नः । पञ्चभिः हृदप्रवेशः । तदुक्तं "विलोक्य दूषितां कृष्णाम्. . ." इति । ततः अपराधः त्रिभिः "तं प्रेक्षणीयम्. . ." इत्यादि वीर्यरूपैः । ततः परीक्षा "अथ व्रज. . ." इत्यादि एकादशभिः यशोरूपैः । ततो दमनरूपं कार्यम् "इत्थं स्वगोकुलमनन्य. . ." इति श्रीरूपैः दशभिः । तदुक्तं–"नृत्यत्पदानुनमयन् दमयांबभूव. . ." इत्यादि । **स्तोत्रं तद्भार्याणां** नागपत्नीनां स्तोत्रं ज्ञानरूपम् एकत्रिंशत्या आदित्यांतैः । तत्र "दंडानुमोदनं षड्भिर्नमनं दशभिस्तथा । प्रार्थना पञ्चभिश्चेति मेधा स्तुतिरुदीर्यते ।। १ ।।" "न्याय्यो हि दंड. . ." इत्यादि षड्भिः दण्डानुमोदनं धर्मरूपैः । "नमस्तुभ्यं भगवते. . ." इत्यादि दशभिः नमनम् इन्द्रियरूपैः । "त्वं ह्यस्य जन्मस्थिति संयमान् . . ." इति पञ्चभिः प्रार्थना विद्यारूपैः । **प्रलापनं** प्रसादः वैराग्यरूपः चतुर्दशविद्यासाध्यः कालीयस्य अर्थात् "इत्थं स नागपत्नीभि . . ." इत्यादि चतुर्दशभिः । तत्र द्वाभ्यां नेत्ररूपाभ्यां कालीयस्य देहानुसन्धानम् । चतुर्भिः कालीयप्रलापनम् "इत्याकर्ण्य . . ." इति । पञ्चभिः भगवत्प्रसादः विद्यापर्वरूपैः । "एवमुक्तः . . ." इत्यादि त्रिभिः पूजनगमने । एकेन उपसंहारः । **एवंच अस्मिन् अध्याये सप्तषष्टि श्लोकाः ।। ६७ ।। (इति त्रयोदशाध्यायसंग्रहः) ।। १३ ।।**

चतुर्दशम् अनुक्रामन्ति--

हृदे कालीयसम्बन्धकथनं वह्निमोचनम् ।

'हृदे' इति । श्रीयमुनायाः **हृदे कालीयसम्बन्धः** कथम् इति राज्ञा एकेन प्रश्ने कृते श्रीशुकैः (शुकस्य) तदुत्तरत्वेन एकोनविंशतया उत्तर**कथनम्** "नागालयः. . ." इत्यादिभिः । तदुक्तम्–"अवात्सीद् गरुडाद्भीतः. . ." (इति) । तत्र एकेन प्रश्नः । "उपहार्यैः सर्वजनैः. . ." इत्यादि सप्तभिः गरुडाख्यायिका । चतुर्भिः सौभर्युपाख्यानम् । "कृष्णं हृदाद्. . ." इति **वह्नेः** दावाग्नेः **मोचनं** मुक्तिः । भगवत्प्रीतस्य वह्नेः मुक्तिरेव जाता । अष्टभिः कृष्णनन्दादिसङ्गमः ।। १९ ।। अन्यथा कालान्तरे पुनरपि उपद्रवं कुर्यात् । वह्नेः सकाशाद् गोपानां च मोचनं पञ्चभिः विद्यापर्वभिः । तदुक्तं "तमग्निमपिबच्छीघ्रमनंत . . ." (इति **पञ्चविंशति श्लोकाः) ।। २५ ।। (इति चतुर्दशाध्यायसंग्रहः) ।। १४ ।।**

पंचदशाध्यायम् अनुक्रामन्ति--

क्रीडाप्रलम्बनिधनं–

'क्रीडा' इति । "अथ कृष्णः परिवृतः–" इत्यादि षोडशभिः कृष्णकलाभिः **क्रीडा** । तदुक्तम्–"एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने. . ." (इति) । तत्र एकेन प्रत्यापत्तिः । द्वाभ्यां ग्रीष्मप्रवृत्तिः । त्रिभिः सरसता । एकेन कुसुमादिसंपत्तिः । एकेन भगवत्प्रवेशः । सप्तभिः क्रीडा । एकेन उपसंहारः । षोडशभिः रामकलाभिः **प्रलम्बनिधनम् ।। ३२ ।। (द्वात्रिंशत् श्लोकाः । इति पञ्चदशाध्यायसंग्रहः)** ।। १५ ।।

षोडशाध्यायम् अनुक्रामन्ति--

दावाग्नेर्मोचनं गवाम् ।। १५ ।।

'दावाग्नेः' इति । अज्ञानरूपात्मदोषरूप**दावाग्नेः** सकाशाद् **गवां मोचनं** रक्षणम् । गवाम् इति उपलक्षणम् गोगोपालमहिषाश्वहरिणादीनाम् । "गोपाश्च गावः प्रसमीक्ष्य भीताः" इति वाक्यात् । तत्र षड्भिः धर्मैः वनप्रवेशः । द्वाभ्याम् अज्ञानात्मदोषाभ्यां भयम् । द्वाभ्यां ज्ञानदैन्याभ्यां प्रार्थनम्। चतुर्भिः पुरुषार्थैः भयमोचनम् । द्वाभ्यां दयास्नेहाभ्यां गोकुले प्रत्यापत्तिः । ।। १६ ।। **(षोडश श्लोकाः । इति षोडशाध्यायसंग्रहः ।। १६ ।।)**

सप्तदशम् अनुक्रामन्ति--

वर्षाशरद्वर्णनं च

'वर्षा' इति। **वर्षा** एकत्रिंशद्भिः। तत्र द्वाभ्यां पूर्वस्माद्विशेषः। "ततः. ." इति द्वाविंशत्या वृष्टिः। तत्र एकेन प्रावृट्प्रवृत्तिः। एकविंशतिः दिव्यधर्माः "सान्द्रनीलाम्बुदै. . ." इति एकविंशत्या। तत्रापि एकेन आदित्यवर्णनम्। त्रिभिः लोकवर्णनम्। पंचभिः... (क्र) तुन्यायेन वर्णना। "जलस्थलौकसः सर्वे. . ." इत्यादि द्वादशभिः मासन्यायेन वर्णनम्। तत्र कारिका मासन्यायेन—"जीवा नद्यः पर्वताश्च मार्गाः कामिन्यः एव च। विद्यावान् चन्द्रमा बर्हीं भक्ता वा तापसस्तथा ।। गृहिणो वैदिका मार्गाः राजानश्चेति कीर्तिताः।" ततः सप्तभिः भगवतः गुणानां च रमणम्। तत्र 'एवं वनं तद्वर्षिष्ठम्. . ." इत्यनेन भगवत्प्रवेशः। "धेनवो मन्दगामिन्यः. . ." इति पञ्चभिः क्रीडा। "प्रावृट्श्रियं च तां वीक्ष्य. . ." इति एकेन अभिनन्दनम्। **शरद्वर्णनम्** अष्टादशभिः "एवं निवसतोस्तस्मिन् रामकेशवयो. . ." इत्यादिभिः। तत्र सामान्यतः शरत्प्रवृत्तिः एकेन। सप्तदशभिः शरत्कार्याणि। तत्र षोडशकलासहितस्य जीवस्य सप्तदशात्मकस्य शुद्धिः उच्यते। तथाच कारिका—"जलानां सर्वभूतानाम् अभ्राणां ज्ञानिनां तथा। कुटुम्बिनां दरिद्राणां विरक्तानां विमुक्तिनाम् ।। १ ।। योगिनां गोपिकानां च शरत्सम्बन्धतो हरिः। दशदोषान् निवार्याथ चित्तस्यापि निवार्य च ।। २ ।। सर्वानिशोभयद्देवः षड्गुणैश्चन्द्रमानवाः। गावः पद्मानि भूमिश्च वर्णाश्चैव विभाविताः ।। ३ ।। शरदः कार्यमेतावद्भगवानविशद्यतः।" ।। ४९ ।। **(एकोनपञ्चाशत् श्लोकाः इति सप्तदशाध्यायसंग्रहः) ।। १७ ।।**

अष्टादशम् अनुक्रामन्ति——

गोपीनां वचनामृतम्।

'गोपी' इति। **गोपीनां वचनम् अमृतञ्च**। तत्र एवं क्रमः कारिकायाम्—"प्रवेशबोधने तासाम्. . ." इत्यादि। एकेन वनप्रवेशः। द्वितीयेन वेणुवादनम्। तृतीयेन गोपीनां वर्णनोद्यमः। चतुर्थेन अशक्तिः। पञ्चमेन गुणलीला-विशिष्टोद्बुद्ध—शृङ्गार—रसात्मक—स्वरूप—स्थापनम्। षष्ठेन वर्णनाभिरमणे। "अक्षण्वताम्. . ." इति त्रयोदशभिः वेणुगीतम्। कारिका—"रसद्वयार्थं द्वितयं वेणुपूरणमेकतः। स्वच्छन्दपादगमने हेतुश्चापि तथा परः ।। १ ।। चतुर्भिः

पीठिकैवं स्यात् षड्भिर्वेणोस्तु वादनम्। द्वाभ्यां भक्तेः प्रतिष्ठा च दोषः स्याद्वर्णनेन्यथा। वैपरीत्यात्समाधानमन्यथा स्यात्तु दूषणम् ।। २ $\frac{1}{2}$ ।।" **अन्तिमेन** अमृतं मोक्षः। तदुक्तं "वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः ।। २० ।। **(विंशति श्लोकाः। इति अष्टादशाध्यायसंग्रहः) ।। १८ ।।**

एकोनविंशाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति——

व्रतं गोकुलकन्यानां वस्त्राणां हरणं मुदा ।। १६ ।।

वनभाग्यकथा

'व्रतम्-' इति। गवां कुलं समूहो यस्य स **गोकुलः** नन्दगोपः तस्य **कन्यानां** सम्पादितानां **व्रतं** व्रतकरणं "हेमन्ते प्रथमे मासि. . ." इत्यादि सार्द्धसप्तभिः। **वस्त्राणां हरणं मुदा** हर्षेण अर्थात् तासामेव, देहलीदीपकन्यायेन मध्यमे (मुदा ?) तत्रापि योज्यम्, "भगवांस्तदभिप्रेत्य. . ." इति एकविंशत्या, कालकृत-प्रतिबन्धापगमार्थम्। तत्र एकेन भगवदागमनम्। एकेन **वस्त्रहरणम्। द्वाभ्यां** गोप्याकारणम्। द्वाभ्यां व्रीडावचनोद्यमे। द्वाभ्यां गोपीवचनानि। **एकेन** भगवद्वचनम्। एकेन किञ्चिद् भगवद्वाक्यकरणम्। एकेन भगवत्प्रसादः। **एकेन** भगवद्वाक्यम्। एकेन भगवदुक्तकरणम्, सगुणनिर्गुणभेदेन। "तास्तथा. . ." इत्यनेन वासोदानम्। "दृढं प्रलुब्धाः. . ." इत्यनेन तासां धैर्यम्। "परिधाय. . ." इत्यनेन वासोधारणम्। "तासां विज्ञाय. . ." इति एकेन वरोद्यमः। "सङ्कल्पो विदितः. . ." इत्यादि त्रिभिः वरदानम्। "इत्यादिष्टाः भगवता. . ." **इति** एकेन कुमारीणां व्रजगमनम् ।। २८ $\frac{1}{2}$ ।। **वनस्य भाग्यस्य कथनम्** "अथ गोपैः. . ." इति दशभिः। तत्र "अथ गोपैः. . ." इत्यनेन स्थानान्तरगमनम्। "निदाघार्कातपे. . ." इत्यनेन वचनहेतुः। "हे कृष्णा. . ." इत्यादि पञ्चभिः वनभाग्य-कथनम्।" इति प्रवालस्तवकः. . . "इत्यनेन यमुनापुलिनगमनम्।" तत्रगाः पाययित्वाप. . ." इत्यनेन जलपानम्। "तस्य उपवने. . ." इत्यनेन प्रार्थनोद्यमः। **एवं सार्द्धोनचत्वारिंशत्** ।। ३९ $\frac{1}{2}$ ।। **(इति एकोनविंशाध्याय संग्रहः ।। १९ ।।)**

विंशाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति--

गोपप्रार्थना प्रेषणं मखे ।

विप्रभार्याप्रसादश्च पश्चात्तापो द्विजन्मनाम् ।। १७ ।।

'**गोपप्रार्थना-**' इति । श्रीरामकृष्णं प्रति **गोपकृता प्रार्थना** "राम राम. . ." इति एकेन । श्रीकृष्णेन गोपानां **प्रेषणं** द्विज**मखे** आङ्गिरसाख्ये "इति विज्ञापितो गोपैः. . ." इति षोडशभिः कलाभिः । "श्रुत्वाच्युतमुपायान्तम्. . ." इति एकविंशत्या **विप्रभार्यासु प्रसादः** । **च**कारेण एकस्याः अङ्गीकारः । **(अत्र[1] शोधपत्रम्–** "मखे प्रेषणं द्वादशभिः पुरुषावयवैः । तत्र एकेन भगवद्वचनोद्यमः । द्वाभ्यां हरिवचः ।। ३ ।। एकेन गोपगमनम् ।। ४ ।। त्रिभिः गोपैः अन्नयाचनम् ।। ७ ।। चतुर्भिः द्विजतूष्णींभावेन गोपप्रत्यापत्तिः ।। १२ ।। (?) विप्रभार्याप्रसादश्च "तदुपाकर्ण्य:" इत्यादि एकविंशत्या । तत्र एकेन भगवद्वचनोद्यमः । एकेन आज्ञा । एकेन यज्ञपत्नीसमीपे गमनम् । द्वाभ्यां याचना । चतुर्भिः अभिसार-दर्शने । एकेन भगवद्रूपवर्णनम् । एकेन तापहानिः । एकेन हर्युक्त्युद्यमः । चतुर्भिः हरिवचनानि । द्वे यज्ञपत्नीवचने । द्वे कृष्णवचने एकेन पत्नीगमनम् ।। २१ ।। चकारेण एकस्याः अभ्युपगमः । एकेन भोजनम् । एकेन उपसंहारः । **इतिशोधपत्रम्)** "अथानुस्मृत्य विप्राः" इति पञ्चदशभिः **पश्चात्तापो द्विजन्मनाम् । एवञ्च एकपञ्चाशत् (श्लोकाः) ।। ५१ ।। (इति विंशाध्यायसंग्रहः ।। २० ।।)**

एकविंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति---

यागभङ्गो महेन्द्रस्य

'**याग-**' इति । "भगवानपि तत्रैव. . ." इति अष्टत्रिंशद्भिः । तत्र द्वाभ्याम् इन्द्रयागोद्यमः । पञ्चभिः भगवत्कृतः प्रश्नः विद्यापर्वरूपैः । "पर्ज्जन्यो भगवानिन्द्रः. . ." इति चतुर्भिः नन्ददत्तोत्तरः पुरुषार्थरूपैः । "वचो निशम्य. . ." इति एकेन भगवद्वाक्यहेतुः । "कर्मणा जायते. . ." इति अष्टादशभिः

१ अत्र शोधपत्रमिदं ग्रन्थकृतैव पत्रेषु योजितम् (संपादकः)

भगवद्वाक्यानि विद्यारूपैः । "कालात्मना. . ." इति सप्तभिः धर्माधर्मरूपैः भगवदुक्तगोवर्द्धनयागकरणम् । "इत्यद्रिगोद्विजमखम्. . ." इति एकेन प्रत्यापत्तिः ।। ३८ ।। **(अष्टात्रिंशात् श्लोकाः । इति एकविंशाध्यायसंग्रहः)** ।। २१ ।।

द्वाविंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति---

धृतिर्गोवर्धनस्य च ।

सुरेन्द्रगर्वहरणम्

'धृतिः. . .' इति । "इन्द्रस्तदात्मनः पूजाम्. . ." इत्यादि त्रयस्त्रिंशद्भिः । तत्र आद्यैः दशभिः ऐ. . . रुषार्थनाशकैः इन्द्रकृता व्रजपीडा । "अत्यासार. . ." इति त्रिभि. कायवाङ्मनोभिः गोपानां शरणगमनम् । "शिलावर्ष. . ." इति पञ्चभिः भगवद्विचारः । "इत्युक्त्वैकेन हस्तेन. . ." इति पञ्चभि **गोवर्द्धनोद्धरणं** विद्यापर्वरूपैः । **चकारः** अनुच्चयसमुच्चायकःमुरलीस्वरादिषु अङ्गुल्यादि. . . । "कृष्णयोगानुभावं तम्. . ." इति पञ्चभिः गोवर्द्धन-स्थापनम् । **सुरेन्द्रस्य गर्वस्य हरणम्** "कृष्णयोगानुभावम्. . ." इति एकेन । "तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकस. . ." इत्यादि पञ्चभिः प्रेमोद्रेकः । **(।। ३३ ।।) एवं त्रयस्त्रिंशत् (श्लोकाः । इति द्वाविंशाध्यायसंग्रहः)** ।। २२ ।।

त्रयोविंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति---

गर्गगीतस्य वर्णनम् ।

गोपशङ्कापगमनम्

'**गर्गगीतस्य वर्णनम्**' इति । "एवं विधानि. . ." इति चतुर्दशभिः चतुर्दशविधाज्ञानम्, गोपानां शङ्का । "श्रूयतां मे वचो गोपाः. . ." इति अष्टभिः '**गर्गगीतस्य वर्णनम्**' ऐश्वर्यं च अष्टधा । "इत्यद्धा माम्. . ." इति सार्धद्वाभ्यां **गोपशङ्कापगमनम्**। 'देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा. . ." इति एकेन शुककृतं भगवन्नमनम् ।। २५$\frac{1}{2}$ ।। **(सार्द्धपञ्चविंशति श्लोकाः । इति त्रयोविंशाध्यायसंग्रहः)** ।। २३ ।।

चतुर्विशाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

इन्द्रधेन्वभियाचनम् ॥ १८ ॥

'इन्द्रधेनुः... "इति। **इन्द्रश्च धेनुश्च** ताभ्याम् **अभियाचनं** "गोवर्धने धृते शैले..." इति अष्टाविंशतिभिः। तत्र आद्यैः सप्तदशभिः इन्द्राभियाचनम्। शिष्टैः एकादशभिः धेन्वभियाचनम्। तत्र आदौ त्रिभिः इन्द्रधेन्वागमनम् इन्द्र**प्र**पत्तिश्च। दशभिः प्राणश्लोकैः इन्द्रकृता भगवत्स्तुतिः। "एवं संकीर्तितो कृष्णः..." इत्यादि चतुर्भिः इन्द्रस्य मनःपीडादूरीकरणम् (पुरुषार्थाः)। "अथाह सुरभिः कृष्णम्..." इत्यादि चतुर्भिः सुरभिप्रार्थना। "एवं कृष्णमुपामन्त्य..." इति सप्तभिः इन्द्राभिषेको भगवतः ॥ २८ ॥ **(अष्टाविंशति श्लोकाः। इति चतुर्विशाध्यायसङ्ग्रहः)** ॥ २४ ॥

पञ्चविंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

नन्दस्य मोक्षणं गोपवैकुण्ठगमनं ततः।

'नन्दस्य मोक्षणम्' इति। "एकादश्यां निराहारः..." इत्यादि अष्टभिः **नन्दमोक्षणम्** ऐश्वर्यरूपैः। तत्र सार्द्धाभ्यां नन्दापकारः। द्वाभ्यां भगवतः वरुणलोकगमनम्। त्रिभिः वरुणस्तुतिः। "एवं प्रसादितः..." इति एकेन प्रत्यापत्तिः। "नन्दस्त्वतीन्द्रियम्..." इत्यादि अष्टभिः **गोपवैकुण्ठगमनम्।** तत्र चतुर्भिः दर्शनोद्यमः। चतुर्भिः वैकुण्ठदर्शनम् ॥ १६½ ॥ **(सार्द्धषोडश-श्लोकाः। इति पञ्चविंशाध्यायसंग्रहः)** ॥ २५ ॥

अध्यायपञ्चकम् अनुक्रामन्ति—

पञ्चाध्याय्यां निशाक्रीडा

'पञ्चाध्याय्याम्' इति। पञ्चानाम् अध्यायानां समाहारः पञ्चाध्यायी तस्यां निशाक्रीडा निशायां निशायाः निशायाः निशायै निशया निशां निशा वा क्रीडा। आक्रीडा वा। 'क्रीड़ विहारे' विहारः इति यावत् हरणं प्रापणं स्तेयं नाशनं स्वीकारः। तत्र प्रथमे प्रापणम्। द्वितीये स्तेयम्। तृतीये नाशनम्। चतुर्थे स्वीकारः। पञ्चमे विहारः। तथाहि प्रथमं भगवानपि

व्रजसीमंतिन्यो मद्दत्तं फलं प्राप्नुवन्तु इति इच्छया वेणुनादं चक्रे। ततः व्रजरमण्यः अन्योन्यमलक्षितोद्यमाः भगवन्तम् आजग्मुः प्रापुः। 'या प्रापणे'। ययुः अभिययुः। "ध्यानप्राप्ताच्युतश्लेषनिर्वृत्या...," । "चैद्यः सिद्धिं यथा गतः" प्राप्तः। "यान्ति तन्मयतां हि ते..."। "तां दृष्ट्वान्तिकमायाताः..."। "तद् यात ..." प्रतियात। "चिन्तामापुर्दुरत्ययाम्..."। "संत्यज्य सर्वविषयांस्तव-पादमूलम्..." प्राप्ताः। "ध्यानेन याम पदयोः पदवीम्..."। "लब्ध्वापि वक्षसि पदम्..."। "तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलम्..." प्राप्ताः। "ताभिः समेताभिः"। "एवं भगवतः कृष्णात् लब्धकामाः"। "तत्रैवांतरधीयत" अन्तर्द्धानं प्राप्तः। एवं च "भगवानपि..." इति त्रिभिः भगवत्कृतः स्वप्राप्ति-उद्यमः। "निशम्य गीतं तद्..." इति त्र[illegible]भिः कुमारिकादीनां भगवत्प्राप्तिः। "तां दृष्टवान्तिक..." इति एकादशभिः प्राप्तानां व्रजस्त्रीणां परीक्षार्थं भगवद्वचांसि। " इति विप्रियमाकर्ण्य..." इति त्रिभिः व्रजयोषितां चिन्ताप्राप्तिः। "मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुम्" इति एकादशभिः भगवत्प्राप्त्युदर्काणि व्रजाबलावचनानि। "इति विक्लवितम्..." इति सप्तभिः भगवतः दया-लीला-मानांतर्द्धानानि। प्राप्तिरात्मनः इति आत्मना प्रथमा लीला अष्टचत्वारिंशद्भिः उक्ता। अष्टचत्वारिंशत् संस्काराः आत्मनः प्रथमस्कन्धीय–द्वादशाध्यायस्थाः "एष ह्यस्मिन्..." इति पद्यसुबोधिन्यां स्फुटः इति ततः अवगन्तव्याः ॥ ॥ ४८ ॥ **(अष्टचत्वारिंशत् श्लोकाः। इति षड्विंशाध्यायसंग्रहः)** ॥ २६ ॥

द्वितीये स्तेयं मनसः। स्तेनस्य भावः कर्म वा। चौरो यथा **अलक्षितः** स्थित्वा अतिगूढं वस्तु चोरयित्वा ततः गच्छति तथा **अन्तर्हितः भगवान् व्रज**-योषाणाम् अतिगूढं मनः हृत्वा गतः। ततः हृतवस्तुभिः **स्तेनस्य विचयनादिकं** क्रियते एव। तदुक्तं... "**मनोरमालापविलासविभ्रमैः। आक्षिप्तचित्ता** प्रमदाः..."। "...नो मनः। नन्दसूनुर्गतो हृत्वा..."। "कृष्णोऽहं **पश्यत** गतिं ललितामिति तन्मनाः"। "चेरुर्गोप्यो विचेतसः..."। "...**नय मां** यत्र ते मनः..."। "तन्मनस्काः..."। एवं च "अन्तर्हिते भगवति..." इति सपादत्रिभिः तापलीला-भगवद्गुणगानानि उद्देशतः उक्तानि। "विचि-

क्युरुन्मत्तकवद् . . ." इति पादोनदशभिः तापस्य लक्षणम् । "इत्युन्मत्तवचो गोप्यः . . ." इति अर्द्धेन तापस्य फलम् । "लीला भगवतः. . ." इति सार्द्धनवभिः लीलायाः लक्षणम् । "एवं कृष्णं पृच्छमाना. . ." इति एकेन लीलायाः फलम् । "पदानिव्यक्तमेतानि. . ." इति दशभिः भगवतः लक्षणम् । "इत्येवं दर्शयंत्यस्ताः . . ." इति अर्द्धेन भगवत्फलम् । ". . . यां गोपीमनयत्. . ." इति सार्द्धनवभिः गुणातीतायाः मानांतर्द्धानतापाः । गानस्य तु लक्षणं तृतीये । फलं चतुर्थे ।। **एवं चतुश्चत्वारिंशत् श्लोकाः । (४४ ।। इति सप्तविंशध्यायसंग्रहः ।। २७ ।।)**

एषाम् अदर्शने । अष्टाविंशे दर्शनाभावो गोपीनां । तेन वाक्प्राण-व्यापाराः । ". . . दयितदृश्यताम् . . ." ". . . सरसिजोदरश्रीमुषादृशा" । "जलरुहाननं चारु दर्शय. . ." । ". . . धनरजस्वलं दर्शयन्मुहुः" । "प्रिय-प्रेमवीक्षणम्" । "त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्" । "जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम्" । ". . . प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् । बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते. . ." । वाक् प्राणैस्तु तृतीयः स्यात् । गोप्य ऊचुः- "त्वयि धृतासवः" । "मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया. . ." । "तव कथामृतम्. . ." । ". . . रहसि संविदो या हृदि स्पृशः . . ." । "रहसि संविदं हृच्छयोदयम्. . ." । तथा च "जयति. . ." इत्यादि चतुर्षु पद्येषु राजसी-तामसी-सात्त्विकी-निर्गुणा क्रमेण अन्यपूर्वाः । "विरचिताभयम्. . ." इति चतुर्षु गुणातीता-सात्विकी-तामसी-राजसी इति क्रमेण अनन्यपूर्वाः । "तव कथामृतम् . . ." इति त्रिभिः सात्विकी-तामसी-राजसी इति क्रमेण अनन्यपूर्वाः । "दिनपरिक्षये. ." इति त्रिभिः तामसी-राजसी-सात्विकी इति क्रमेण अन्यपूर्वाः । "अटति. . ." इत्यादि त्रिभिः राजसी-तामसी-सात्विकी इति क्रमेण अन्यपूर्वाः । "वृजवनौकसाम् . . ." इति द्वाभ्यां राजसीसात्त्विक्यौ अनन्यपूर्वे ।। **एवम् एकोनविंशति श्लोकाः ।। १९ ।। (इति अष्टाविंशध्यायसंग्रहः) ।। २८ ।।**

चतुर्थे स्वीकारः गोपीनाम् । ततः इन्द्रियैः लीला । "ताः समादाय कालिंद्या निर्विश्य पुलिनं विभुः. . ." । "काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहे . . ." इत्यादि । तथा च "इति गोप्यः . . ." इत्यादि त्रिभिः प्रादुर्भावः । "काचित्

कराम्बुजं शौरेः. . ." इत्यादि पंचभिः इन्द्रियैः कार्यम् । "**सर्वास्ताः. . ." इति** द्वाभ्यां तापपरित्यागः । "ताः समादाय. . ." इति चतुर्भिः **पुलिनप्रवेशः ।** "सभाजयित्वा. . ." (इति) एकेन वाक्यप्रस्तावना । "भजतोऽनुभजन्ति . . ." इत्यनेन प्रश्नः । "मिथो भजन्ति. . ." इति षड्भिः प्रत्युत्तरः ।। **एवं द्वाविंशति श्लोकाः ।। (।। २२ ।। इति एकोनत्रिंशाध्यायसंग्रहः ।।) ।। २९ ।।**

पञ्चमे विहारः । शारीरीलीला । ". . .तदङ्गोपचिताशिषः ।। **तत्रारभत** गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ।।" "गृहीत कंठयस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे" । "रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिः. . ." । "कृष्ण विक्रीडितं वीक्ष्य . . ." । ". . .रेमे स भगवांस्ताभिः" । "तासामतिविहारेण. . ." । "रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलील. . ." । "विक्रीडितं व्रजवधूभिः. . ." । "जहुर्विरहजं तापं तदङ्गो-पचिताशिषः" । ". . .अन्योन्याबद्धबाहुभिः" । ". . .गृहीतानां कंठे स्वनिकटं स्त्रियः" । "पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः. . ." । ". . .गोप्य समं भगवता ननृतुः . . ." । ". . .तत्करुरहस्पर्शप्रमोदाः" । ". . . अङ्गसङ्गधृष्टस्रजः. . . " । ". . .आत्मन्यवरुद्धसौरतः. . ." । ". . .तस्येच्छयात्तवपुषः. . ." । ". . .एष क्रीडनदेहभाक्" । तथाच "इत्थं भगवतो गोप्य. . ." इति एकेन तापत्यागः "तत्रारभत. . ." इति सप्तभिः रासः । "उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना. . ." **इति सप्तभिः** गानपूर्विका षड्धर्मलीला । "कर्णोत्पलालक. . ." इति पद्येन **गाढनृत्यम् ।** "एषं परिष्वङ्गकराभिमर्शः. . . " इति चतुर्भिः **निधुननम् ।** "तासामति-विहारेण. . ." इति श्रमापनोदनम् । "गोप्यः स्फुरत्पुरटकुंडल. . ." **इति** मानगाने । "ताभिर्युतः श्रममपोहितुम्. . ." इति द्वाभ्यां जलक्रीडा । "**ततश्च** कृष्णोपवने. . ." इति द्वाभ्यां विचरणोपसंहारौ । "संस्थापनाय. ." **इति** त्रिभिः प्रश्नः । "धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः. . ." इति अष्टभिः **प्रश्नस्य उत्तरः ।** "नासूयन् खलु कृष्णाय. . ." इति व्रजवृत्तान्तः । "ब्रह्मरात्र. . ." इति **गोपीनां** प्रत्यापत्तिः । अन्तिमेन फलम् । **एवञ्च एकोनचत्वारिंशत् (श्लोकाः) ।। ३९ ।। (इति त्रिंशाध्यायसङ्ग्रहः) ।। ३० ।।**

एकत्रिंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

सर्पान्नन्दस्य मोक्षणम् ।। १९ ।।

शंखचूडवधः

'सर्पात्' इति। 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति अपादानम्। मथुरातः पश्चिमदेशे अर्बुदाचलाद् योजनचतुष्टये स्थिते तीर्थविशेषे अंबिकालये कोटीश्वराधिष्ठिते सरस्वतीतीरे सुप्तस्य **नन्दस्य** सर्वविद्याधररूपात् **सर्पात् विमोक्षणं** श्रीकृष्णेन कृतम् विंशत्या पद्यैः। अत्र अर्द्धं पद्यं पतितम्। अर्द्धस्यैव वा पूर्णत्वेन गणना। तदुक्तम्—"एकदा देवयात्रायाम्..." इत्यादि। तत्र एकेन अम्बिकावनगमनम्। "तत्र..." इति त्रिभिः तीर्थकृत्यम्। "कश्चिन्महान्‌हिस्तस्मिन्..." इति सार्द्धैस्त्रिभिः सर्पेण नन्दग्रासः। "तमस्पृशत्पदा..." इति सार्द्धेन कृष्णेन नन्दमोचनम्। "तमपृच्छद्..." इति एकेन प्रश्नोद्यमः। "को भवान्..." इति प्रश्नः। "अहं विद्याधरम्..." इति सार्द्धैः षड्भिः सप्तभिः वा प्रत्युत्तरः। "इत्यनुज्ञाप्य..." इति द्वाभ्यां प्रत्यापत्तिः सर्पनन्दयोः। "कदाचिद्..." इति त्रयोदशभिः **शंखचूडवधः**। तत्र सार्द्धेन रासोद्यमः। "अलंकृतः..." इति सार्द्धैः त्रिभिः षड्गुणवर्णनम्; "एवं विक्रीडितोः स्वैरं..." इति अष्टभिः शंखचूडनाम्नः नारदसंप्रेषितस्य धनदानुचरस्य वधः। न तु मोक्षः। अतः मुष्टिना मारणम्। तत्सत्ता अग्रहणं च। तदुक्तम्—"अग्रजायाददात्प्रीत्या पश्यन्तीनां च योषिताम्॥" **(एवं त्रयस्त्रिशत्श्लोकाः) ॥ ३३ ॥ (इति एकत्रिंशाध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ३१ ॥**

द्वात्रिंशाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—–

पश्चाद् गोपीगीत

'पश्चाद्' इति पारोक्ष्ये। यद्वा भगवति वने गते "तमनुद्रुतचेतसः"। **पश्चाद्** पदं फलप्रकरण-समाप्ति-सूचकम्। गोपीभिः गीतं **गोपीगीतम्**। **वृषस्य अर्दनं** हिंसनम्। 'अर्दहिंसने, चुरादिः। गोपीगीतं च वृषार्दनं च एतयोः समाहारः। 'गोपीः' इति समासः तमःप्रधाने गोकुले अध्यायत्रयेण राजसप्रकरणीय लीलाकरणसूचकः। द्वादशभिः युगलैः गोपीगीतम्। तत्र अयं क्रमः- "देवस्त्रियस्तथा गावः सरितः पादपा लताः। पक्षिणश्च तथा मेघाः ब्रह्माद्या गोपिकास्तथा॥ हरिण्यो देवगन्धर्वः द्विधा च भगवान् हरिः।" उपक्रमोपसंहाराभ्यां च एकं युगलम् अधिकमासलीलाबोधकम्॥

(एवं षड्विंशति श्लोकाः) ॥ २६ ॥ (इति द्वात्रिंशाध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

वृषार्द्दनम्।
कंसनारदसंवादः कंसाक्रूरकथा ततः॥ २०॥

'वृषार्द्दनम्' इति। **वृषस्य अर्द्दनं** नाशः सार्द्धपंचदशभिः। तत्र सार्द्धाभ्याम् अरिष्टागमनम्। सार्द्धेन अरिष्टबलवर्णनम्। सार्धेन व्रजौकसां भयम्। एकेन भगवता व्रजवास्याश्वासनपूर्वकम् अरिष्टाह्वानम्। एकेन अरिष्टाक्षेपः। **पंचभिः** अरिष्टेन समं भगवतः युद्धम्। एकेन अरिष्टमारणम्। एकेन म्रियमाणस्य वर्णनम्। एकेन भगवतः गोष्ठप्रवेशः। सार्द्धाभ्यां **कंसनारदसंवादः। कंसाक्रूरकथा ततः** त्रयोविंशतिभिः। तत्र द्वाभ्यां वसुदेवबन्धः। सप्तभिः केशिप्रेषणम्। एकादशभिः अक्रूराज्ञापना। द्वाभ्याम् अक्रूरविज्ञापनम्। एकेन कंसस्य गृहप्रवेशः॥ **(एवं चत्वारिंशत् श्लोकाः) ॥ ४० ॥ (इति त्रयस्त्रिंशाध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ३३ ॥**

चतुस्त्रिंशाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—–

केशिनो निधनं कृष्णान्नारदर्षिकथा ततः।

व्योमासुरवधः

कृष्णात् हेतोः **केशिनः निधनं** मरणं नवभिः। कृष्णः आकर्षकः। स च केशी। केशेषु गृहीत्वा आक्रष्टुं सुगमः। अन्ये मारयित्वा त्यजन्ति **भगवाँस्तु** मारयित्वा गृह्णाति। अतएव तदुदरे भुजप्रवेशः। नवभिः इथं कथा (**नव**-गुणसंख्या)। तत्र द्वाभ्यां सबलस्य केशिनः व्रजे आगमनम्। एकेन भगवता केशी आहूतः। चतुर्भिः केशिभगवतः युद्धम्। एकेन केशिमरणम्। **नारदर्षि-कथा** षोडशभिः कलासंख्याकैः। पार्श्वतो गुणाः मध्ये षोडशकलः पूर्णश्चन्द्रः। एकेन नारदागमनम्। चतुर्दशभिः नारदवाक्यानि। तत्र पञ्चभिः कृतवर्णनम्। सप्तभिः करिष्यमाणवर्णनम्। द्वाभ्यां गतिनती। **व्योमवधः** नवभिः। **व्योम्नः** व्यापकत्वात्। व्यापकत्वस्य ईश्वरधर्मत्वेन तत्समसंख्याकैः पद्यैः तद्वध-

निरूपणम्, नवगुणातीत ईश्वरः (इति) । **(एवं चतुस्त्रिंशत् श्लोकाः)** ।। ३४ ।। **(इति चतुस्त्रिंशाध्यायसङ्ग्रहः)** ।। ३४ ।।

पंचत्रिंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति––

अक्रूरगमनं गोकुलेषु च ।। २१ ।।

दर्शनानन्द हृष्टात्मारोमांचो गद्गदा गिरः ।

द्वाभ्याम् अक्रूरगमनम् । विंशत्या अक्रूरमनोरथः । चतुर्भिः भगवदीय-देहप्राप्तिः । षड्भिः दर्शनम् । द्वाभ्यां भक्तिप्रपत्ती । पञ्चभिः भगवत्कृतं सन्मानम् । त्रिभिः नन्दकृतम् । एवं त्रिचत्वारिंशत् । "अक्रूरागमनं गोकुलेषु ..." इति वहुवचनं तु सर्वेषां गोपानां गोकुलानि पृथक्-पृथक् स्थितानि तत्र सर्वत्र भगवान् गोदोहनं कुरुते । तत्र सर्वत्र अक्रूरगमनं भातम् । चकारेण स अक्रूरः भगवत्पदं प्राप्तः । तस्मिन् देहे भगवता अमङ्गलनिवृत्त्यर्थम् अन्यः जीवः स्थापितः । अतएव मणिचौर्यादिकं सङ्गच्छते । (तथा च) "अक्रूरोऽपि..." इति द्वाभ्याम् **आगमनम्** । "किं मयाचरितम्..." इत्यादि विंशत्या मनोरथः । प्रथमेन भगवन्माहात्म्यम् । द्वाभ्यां वाधकपरिहारः । "कंसो वत..." इत्यनेन कंसप्रशंसा । "यदर्चितम्..." इति सप्तभिः दर्शनप्र(आ?)शंसा । "अथावरूढ..." इति अष्टभिः दर्शनानन्तरमनोरथः । "किं वाग्रजः..." इति एकेन वलदेवविषयकः मनोरथः । "इति संचिन्तयन्..." इत्यनेन **गोकुलप्रवेशः** । **दर्शनानन्देन हृष्टः आत्मा** चतुर्भिः । "ददर्श..." इति षड्भिः दर्शनम् । "रथात्तूर्णमवप्लुत्य..." इति द्वाभ्यां **रोमांचः गद्गदा गिरः** । "भगवांस्त-मभिप्रेत्य..." इति पंचभिः सन्माननम् । "पप्रच्छ..." इति त्रिभिः नन्दकृतं वाचिकं सन्माननम् ।। श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।। **(एवं त्रिचत्वारिंशत् श्लोकाः)** ।। ४३ ।। **इति पञ्चत्रिंशाध्यायसंग्रहः ।। ३५ ।।**

षट्त्रिंशाध्यायम् अनूत्क्रामन्ति––

संवादो रामकृष्णाभ्यां वर्णितं कंसचेष्टितम् ।। २२ ।।

रामकृष्णप्रयाणं च तथा गोपीप्रलापनम् ।

मथुरागमनं मध्ये हृदे कृष्णस्य दर्शनम् ।। २३ ।।

'संवादः' इति । "सुखोपविष्टः..." इत्यादि नवभिः अक्रूरस्य **राम-कृष्णाभ्यां संवादः** । तत्र त्रिभिः सुखेन स्थितिः । चतुर्भिः भगवत्कृतः प्रश्नः । द्वाभ्याम् अक्रूरेण **कंसचेष्टितं वर्णितम्** । "तच्छ्रुत्वा भगवान्कृष्ण..." इत्यादि सार्द्धत्रिभिः **रामकृष्णप्रयाणम्** । **चकारेण** गोपिकानामपि सहयानम् । "गोप्यस्तास्तदुपश्रुत्य..." इत्यादि पंचविंशतिभिः **गोपीप्रलापनम्** । । तत्र आद्यः षड्भिः कायिकः प्रलापः । "अहो विधातस्तव न क्वचिद् दयाः..." इत्यादि द्वादशभिः वाचनिकः । तत्र त्रिभिः ब्रह्मोपालम्भः । चतुर्भिः भगव-दुपालम्भः । "नैतद्विधः..." इति एकेन अक्रूरोपालम्भः । "अनार्द्रधीः..." इत्यनेन सर्वोपालम्भः । "निवारयामः..." इति एकेन बांधवोपालम्भः । "यस्यानुरागः..." इति द्वयेन स्वात्मोपलम्भः । "एवं ब्रुवाणा..." इति एकेन मानसिकः । **मथुरागमनं** "स्त्रीणामेव..." इत्यादि षड्भिः **मध्ये हृदे कृष्णस्य दर्शनं** "भगवानपि संप्राप्तः..." इत्यादि विंशत्या । तत्र **सप्तभिः**– "प्राप्तिश्च जलपानं च स्नानं च त्रिधिपूर्वकम् । जपतो दर्शनं भूयः स्पंदने दर्शनं तयोः ।। १ ।। विस्मयः सलिले भूयो रूपांतरनिदर्शनम् । एकेन वलरूपस्य वर्णनं सप्तभिर्हरेः ।। २ ।। द्वयेन भक्तसाहित्यं शक्तिसाहित्यमेकतः । भावो-त्पत्तिस्तथैकेन गिरागद्गदया स्तुतिः ।।" **(एवं सप्तपञ्चाशत् श्लोकाः ।। ५७ ।। इति षट्त्रिंशाध्यायसङ्ग्रहः)** ।। ३६ ।

सप्तत्रिंशाध्यायम् अनूत्क्रामन्ति––

स्तुतिः

'स्तुतिः' इति । अक्रूरकृता भगवत्स्तुतिः । सा चतुर्द्धा सुबोधिन्याम् उक्ता– "स्वरूपेण प्रमाणेन युक्त्या वस्तुस्वरूपतः । अवतारफलैश्चैव सर्वस्यैव विनिर्णयः" इति । तत्र "नतोस्म्यहम्..." इति द्वाभ्यां स्वरूपेण स्तुतिः स्वरूपस्य मूलरूपावताररूपाभ्यां द्विविधत्वात् । "नैते स्वरूपम्..." इत्यादि **नवभिः** प्रमाणेन, प्रमाणस्य ब्रह्म-योगि-साधु-वैतानिक-द्विज-ज्ञानि-संस्कृतात्मशैवा-न्यदेवभक्त-तत्समुदायभेदेन नवविधत्वात् । "तुभ्यं नमस्त..." इत्यादि चतुर्भिः युक्त्या वस्तुस्वरूपतः स्तुतिः । अवतारफलैः स्तुतिः "यानि यानीह

रूपाणि. . ." इति पञ्चदशभिः। तत्रापि एकेन सामान्यतः सर्वावतारनिरूपणम्। षड्भिः दशावतारनिरूपणम्। "भगवत्सर्वलोकोयम्. . ." इत्यनेन सर्वदुःखनिवेदनम्। "अहं च. . ." इति चतुर्भिः स्वदुःखनिवेदनम्। "सोऽहं तव. . ." इत्यनेन शरणागतिः। "नमो विज्ञानमात्राय. . ." इति द्वाभ्यां नतिप्रार्थने ॥ **एवं त्रिंशत् (श्लोकाः ॥ ३० ॥ इति सप्तत्रिंशाध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ३७ ॥**

अष्टत्रिंशाध्यायम् अनुत्क्रामन्ति---

पुरगतिः पश्चाद्दर्शनं पुरसंपदः ।
रजकस्य शिरच्छेदो वायकस्य वरादयः ॥ २४ ॥
सुदाम्नो वरदानं च

'पुर' इति। आद्याः पञ्चश्लोकाः "स्तुवतस्तस्य भगवान्दर्शयित्वा जले वपुः" इत्यादयः पूर्वशेषाः। "इत्युक्त्वा चोदयामास. . ." इत्यादिभिः त्रयोदशभिः, तत्र त्रयोदशमासीय-लीलायाः कर्त्तव्यत्वात्। तत्र एवं विभागः– एकेन **गमनम्**। "मार्गे ग्रामजनाः. . ." इत्यनेन **सर्वेषां दर्शनम्**। "तावद्. . ." इत्यनेन नन्दादिप्रतीक्षा। "तान्. . ." इत्यनेन नन्दकृष्णसमागमः। "भवान् . . ." इत्यनेन अक्रूरं प्रति गमनाज्ञा। "नाहं भवद्भ्याम्. . ." इत्यादि षड्भिः ऐश्वर्यादिक्रमेण अक्रूरकृता भगवत्प्रार्थना। "आयास्य. . ." इत्यनेन अक्रूरं प्रति गृहागमनाज्ञा। **पश्चाद्** इति "एवमुक्तो भगवता. . ." इत्यनेन अक्रूरगमनानन्तरम्। **पुरसंपद्दर्शनं** त्रयोदशभिः। तत्र "अथापराह्ण . . ." इत्यनेन गमनोद्यमः। चतुर्भिः धर्मार्थकाममोक्षबोधनैः "ददर्श ताम्. . ." इत्यादिभिः दर्शनम्। "तां संप्रविष्टौ वसुदेव. . ." इत्यादि पञ्चभिः स्त्रीसत्कारः। "दध्यक्षतैः. . ." इत्यादि द्वाभ्यां पौरकृतः कायिकवाचिकसत्कारः। **रजकस्य शिरच्छेदो** "रजकं कंचिद्. . ." इत्यादि अष्टभिः। **वायकस्य वरादयः।** आदिपदेन सारूप्य-बलैश्वर्य-स्मृतीन्द्रियाणि। "ततस्तु वायकः . . ." इत्यादि त्रिभिः। **सुदाम्नो वरदानं च** दशभिः। "ततः सुदाम्नः. . ." इत्यादिभिः। तत्र अर्द्धेन एतद्गृहप्रवेशः। "तौ दृष्ट्वा. . ." इत्यादि सार्द्धैः षड्भिः तस्य भक्त्यादिभिः, तत्रापि सार्द्धेन कायिकी पूजा। "प्राह नः सार्थकं

जन्म. . ." इत्यादिभिः चतुर्भिः (वाचिकी ?)। का. . . "तावां ज्ञापयताम् . . ." इत्यनेन मानसी। "इत्यभिप्रेत्य. . ." इत्यनेन मालापरिधापनम्। "ताभिःस्वलंकृतौः. . ." इत्यनेन भगवति शोभा। "सोपि. . ." इति द्वाभ्यां वरदानगती ॥ **एवं द्विपञ्चाशत् (श्लोकाः ॥ ५२ ॥ इति अष्टत्रिंशाध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ३८ ॥**

एकोनचत्वारिंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति---

कुब्जासंदर्शनं हरेः ।
धनुर्भङ्गः सैन्यवधः कंसदुर्हेतु दर्शनम् ॥ २५ ॥

'कुब्जा. . .' इति। द्वादशभिः "अथ व्रजन्. . ." इत्यादिभिः। तत्र एकेन कुब्जासमागमः। "का त्वं वरोर्वा. . ." इत्यनेन भगवत्प्रश्नः। "दास्यस्म्यहं सुन्दरवर्य. . ." इति कुब्जोत्तरम्। "रूपपेशलमाधुर्य. . ." इति अनुलेपदानम्। "ततस्ता वङ्ग. . ." इति अनुलेपाङ्गीकारः। "प्रसन्नो भगवान् . . ." इति प्रसादः। "पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे. . ." इति ऋजुकरणम्। "सा तदर्जुसमानाङ्गी. . ." इति द्वाभ्याम् अनङ्गवृद्धिः। "एहि वीर गृहम्. . ." इति भगवत्प्रार्थना। "एवं स्त्रिया. . ." इति भगवद्वचनोद्यमः। "एष्यामि . . ." इति भगवद्वचनम्। "विसृज्य माध्व्या वाण्या ताम्. . ." इति वणिग्जनकृतपूजा। "तद्दर्शनस्मरक्षोभाद्. . ." इति साधारणस्त्रीणाम् उपयोगः। **धनुर्भङ्गः** "ततः. . ." इति पञ्चभिः। तत्र "ततः पौरान्. . ." इति पञ्चभिः धनुर्भङ्गः। "अथ तान्. . ." इति द्वाभ्यां **सैन्यवधः**। "तयोः. . ." इति चतुर्भिः भगवच्चरित्रम्। "कंसस्तु धनुष. . ." इति षड्भिः **कंसदुर्हेतुदर्शनम्।** "व्युष्टायां निशि. . ." इत्यादि सप्तभिः रङ्गोत्सवः। **(एवम् अष्टात्रिंशत् श्लोकाः ॥ ३८ ॥ इति एकोनचत्वारिंशाध्यायसङ्ग्रहः ॥ ३९ ॥)**

चत्वारिंशाध्यायम् अनुत्क्रामन्ति---

रङ्गोत्सवे कुवलयापीड-युद्ध-विधातनम् ।
दर्शनं रामकृष्णस्य पौराणां प्रेमदर्शनम् ॥ २६॥

'कुवलयापीड...' इति। **कोः** पृथिव्याः **वलयं** समुद्रम् **आसमन्ताद् पीडयति** तस्य **युद्धे विघातनम्** "अथ कृष्णश्च रामश्च..." षोडशभिः। "अथ कृष्ण..." इत्यनेन अनाहूतयोः रामकृष्णयोः रङ्गदर्शनार्थं प्रवृत्तिः। "रङ्गद्वारं समासाद्य..." इति त्रयोदशभिः। कालस्य त्रयोदशमासात्मकत्वात् कुवलयापीडस्य कालांतक-यमोपमत्वात् तस्य जयस्य तावद्भिः निरूपणम्। तत्र एकेन गजदर्शनम्। "बद्ध्वा परिकरम्..." इति वचनोद्यमः। "अम्बष्ठ..." इति निर्भर्त्सनम्। "एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठ..." इति दशभिः कुवलयापीडेन सह भगवतः युद्धम्। "पतितं तम्..." इत्यनेन विधातनम् ॥ १४ ॥ **'दर्शनम्'** इति—"मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणिः समाविशत्..." इति अर्द्धेन प्रवेशः। "अंसन्यस्तविषाणः..." इति पञ्चभिः **दर्शनं रामसहितकृष्णस्य**। तत्र द्वाभ्याम्.....

(पांडुलिप्याम् इतः त्रुटिः पत्रद्वयात्मिका)

पित्रोश्च सांत्वनं सर्वसुहृदां परितोषणम् ॥ २७ ॥
उग्रसेनाभिषेकश्च नन्दादिव्रजप्रेषणम्।
ईषद्द्विजातिसंस्कारः पठनं च गुरोर्गृहे ॥ २८ ॥
मृतपुत्रप्रदानं च गुरोः पञ्चजनार्दनम्।
पुनरागमनं शौरेर्मधुपुर्यां महोत्सवः ॥ २९ ॥

...नम्। एकेन शक्तिः। "मयि भृत्य..." इति त्रिभिः उग्रसेनस्य राज्यदानम्। पितरि मृते पुत्रस्य राज्यं क्रमः। पुत्रे मृते पितुः राज्यं व्युत्क्रमः इति ज्ञापयितुं श्रीभागवते पूर्वमुक्तोऽपि **उग्रसेनराज्याभिषेकः** श्रीमदाचार्यचरणैः पश्चाद् अनूत्क्रान्तः। **सर्वसुहृदां परितोषणम्** "सर्वान्स्वज्ञाति संबन्धान्..." इत्यादि पञ्चभिः। **नन्दादीनां व्रजे प्रेषणम्** "अथ नन्दम्..." इत्यादि षड्भिः। तत्र कारिका: "संभाषणार्थमुद्योगः पूर्वस्थापनमेव च। निराकृतिश्च बाधानां प्रेषणाज्ञापना ततः ॥ १ ॥ दानं च प्रीतिसंसिद्धौ गमनं चापि रूप्यते" ॥ २ ॥ **ईषद्द्विजातिसंस्कारः** "अथ शूरसुत..." इत्यादि पञ्चभिः। "संस्कारो दक्षिणापूर्वस्मृतिमन्त्रोपदेशनम्। स्वरूपगोपनं लोकनाट्येनेति त्रिनिश्चयः ॥ १ ॥ **गुरोः गृहे पठनं** "अथ गुरुकुले वासम्..." इत्यादि षड्भिः। "गुरौ वासो गुरोः सेवा गुरोः संतोषणं हरौ। **वेदोपदेशः** सांगः सोपनिषत्को रहस्यवान् ॥ १ ॥ धनुर्वेदोपदेशाश्च **धर्मन्यायोपदेशनम्।** आन्वीक्षिकी राजनीतिरुपदिष्टे सकृद्धरिम् ॥ २ ॥ चतुःषष्टि **कलाशिक्षा** तावद्भिर्दिवसैः हरेः। गुरुदक्षिणयाचार्यच्छन्दनं भगवत्कृतम् ॥ ३ ॥"

चकारेण गुरुसेवा दोहनपात्रार्थं श्रीकरप्रसारणं यष्ट्यानयनं च **समुच्चीयते**। यद्वा चकारेण गुरौ पूर्वसर्वगुणस्थापनं समुच्चीयते। **मृतपुत्रप्रदानं च गुरोः** "द्विजस्तयोस्तं महिमानम्..." इति द्वादशभिः। तत्र एवं क्रमः– **आद्येन गुरोः** मृतपुत्रयाचना। "तथेत्यथ..." इत्यनेन मृतपुत्रानयनार्थं **प्रभासे गमनं हरेः।** "तमाह..." इत्यनेन समुद्रं प्रति गुरुपुत्रानयनाज्ञा। **"नैवाहार्षमहम्..."** इति पद्येन गुरुपुत्रः शंखासुरेण हृतः न मया इति समुद्रेण विज्ञप्तम्। **"तच्छ्रुत्वा: ..."** इत्यनेन **पंचजनार्दनम्।** "ततः संयमनीम्..." इति हरेः **यमपुरगमनम्** "शंखनिर्ह्रादम्..." इति यमेन सपर्या कृता "उवाचावनत..." इति यमकृता प्रार्थना। "गुरुपुत्रमिहानीतम्..." इति भगवदाज्ञा यमं प्रति। "तथा..." इति पद्येन गुरवे यमानीतपुत्रदानम्। "सम्यक् संपादितः..." इति द्वाभ्यां गुरुणा हरौ आशीर्दानम् ॥ ४८ ॥ "गुरुणैवम्..." अनेन **पुनरागमनम्।** "समनन्दन..." इति **मधुपुरीमहोत्सवः। एवं सार्द्धपञ्चशत् (श्लोकाः) ॥ ५०½ ॥ (इति द्वाचत्वारिंशाध्यायसङ्ग्रहः ॥ ४२ ॥)**

त्रिचत्वारिंशाध्यायार्थम् अनूत्क्राम[illegible]—

उद्धवप्रेषणम्

'उद्धवप्रेषणम्' इति। तत्र एवं विभागः—"वृष्णीनां प्रवरः..." इत्यनेन उद्धवप्रशंसा। "तमाह..." इति भगन्नियोगः। "गच्छोद्धव..." इति चतुर्भिः भगवद्वाक्यं प्रमाणप्रमेयोपपत्तिबाधकभेदेन। "इत्युक्त उद्धव..." पद्येन उद्धवगमनम्। "प्राप्तो नन्द..." इति उद्धवस्य गोकुलप्राप्तिः ॥ ८ ॥ "वासितार्थे नियुध्यद्भिः..." इति पंचभिः वीर्यादिभेदेन **श्रीगोकुलवर्णनम्।** "तमागतम्..." इति द्वाभ्यां नन्दकृतम् उद्धवार्चन-भोजन-शयन-प्रश्नादिकम्।

"कच्चिदंग. . ." इति पद्यैकादशेन नन्दोक्तिः। तत्र एकेन वसुदेवकुशलप्रश्नः। "दिष्टया. . ." इत्यनेन कंसवधानुवादः। "अपि स्मरति. . ." इति पद्यनवकेन भगवद्गुणवर्णनम्। "इति संस्मृत्य. . ." इति द्वाभ्यां नन्दयशोदा-प्रेम-वर्णनम्। "तयोरित्थम्. . ." अनेन उद्धववचनोद्योगः। "युवां श्लाघ्यतमौ. . ." इति त्रयोदशभिः। तत्र प्रथमेन नन्दयशोदयोः प्रशंसा। "एतौ हि. . ." इति द्वाभ्यां भगवतः महत्त्वम्। तत्र एकेन स्वरूपोत्कर्षः। द्वितीयेन धर्मोत्कर्षः। "तस्मिन् भवन्तौ. . ." अनेन विषयसाधनाभिनन्दनम्। "आगमिष्यति. . ." इति खेदवारणम् पद्यनवकेन। "एवं निशा. . ." इति षड्भिः गोपीभाववर्णनम्। तत्र आद्येन गोप्युत्कर्षः। "ता दीपदीप्तैः" इति कायिकीशोभा। "भगवत्युदिते. . ." इति त्रिभिः गोप्युद्धवसमागमः, जिज्ञासाप्रकारेण। **एवम् अष्टचत्वारिंशत् (श्लोकाः) ।।४८।। (इति त्रिचत्वारिंशाध्याय-सङ्ग्रहः ।। ४४ ।।)**

चतुश्चत्वारिंशाध्यायम् अनूत्क्रामन्ति——

गोपीविलाप परिसांत्वनम्।

'गोपीविलाप' इति एकविंशत्या। तत्र आद्यः त्रिभिः गोपीकृतः उद्धवनिर्द्धारः, आकृति-निश्चय-चेष्टा-भेदेन। स प्रथमो दोषः,। द्वितीय-दोषोक्तिः "जानीम. . ." इति सप्तभिः। तत्रापि "जानीम. . ." इत्यनेन उद्धवस्य अन्यथागमन-निरूपणम्। "अन्यथा गोव्रजे. . ." इति पद्येन अन्यथागमन-समर्थनम्। "अन्येषु. . ." इति त्रिभिः दृष्टान्तदशकेन कृतघ्नतासमर्थनम्। तत्र "निस्स्वम्. . ." इति द्वाभ्यां दृष्टान्ताष्टकम्। "इति गोप्य. . ." इति द्वाभ्यां देहादिस्मरणं भगवदासक्तिः च। इदमेव बीजम्। "काचिद्. . ." इति एकादशभिः भक्तिः। "अथोद्धव. . ." इत्यादि एकोन पंचाशता **परिसांत्वनम्**। तत्र एकेन स्तोत्रप्रस्तावना। "अहो यूयम् स्म. . ." इति षड्भिः स्तोत्रम्, ऐश्वर्यादिभेदेन। "भवतीनां वियोगो मे. . ." इत्यादि दशभिः उपदेशः। तत्र षड्भिः स्वरूपकथनं, पुरुषार्थाः ततः परे। "एवं प्रियतमादिष्टम्. . ." इति पंचदशभिः दोषनिवृत्या पूर्वस्नेहः। "चतुर्दश-

महाविद्या एकस्तासामुपक्रमः। श्रीवृन्दावनचन्द्रस्य सिद्धास्तासु कलाः समाः ।। १ ।।" "ततस्ताः कृष्ण सन्देश . . ." इति चतुर्भिः भक्ति(ज्ञान ?)रूपस्य सर्वपुरुषार्थरूपत्वात्। "पूजोपदेशो स्थानं च सुखो दर्शनमेव च"। "दृष्ट्वैमादि गोपी. . ." इत्यादि सप्तभिः। तत्र "एताः परं तनुभृतः. . ." इत्यादि षड्भिः स्तुतिः। अन्यस्योपयोगाभावेच्छा च प्रार्थना। विशेषोत्कर्षनमने षडर्था क्रमशः स्थिताः ।। १ ।। "अथ गोपी. ." इति षड्भिः द्वाभ्यां द्वाभ्यां त्रयोर्थाः। "उद्धवस्य रथे स्थानं नन्दादिप्रार्थनं ततः। प्रत्यापत्तिर्ह्युद्धवस्य षड्भिरर्थत्रयं ध (?) तम्।।१।।" **एवं सप्ततिः (श्लोकाः) ।। ७० ।। (इति चतुश्चत्वारिंशाध्यायसङ्ग्रहः ।। ४४ ।।)**

पंचचत्वारिंशाध्यायार्थम् अनुक्रामन्ति——

कुब्जारतिस्तथाक्रूरप्रेषणं गजसाह्वये ।। ३० ।।

'कुब्जा' इति। **कुब्जायाः रतिः** रमणं "अथ विज्ञाय. . ." इति एकादशभिः, एकादशेन्द्रिय-साध्यत्वात् भोगस्य। तत्र एवं विभागः– "श्रीकृष्णागमनं गेहे सार्द्धेन गृहवर्णनम्। दर्शनं पूजनं कृष्णस्योद्धवस्य सभाजनम् ।। प्रसाधनं च कुब्जायाः रमणं हरिणा समम्। तापनाशो याचनं च चिरं रमणप्रार्थना ।। प्रत्यापत्तिर्वरं दत्वा कुब्जायाः निदनं शुकैः। रामोद्धवाभ्यामक्रूरभुवने गमनं हरेः ।। दृष्ट्वा मोदपरिष्वंगो नमनं पूजनं हरेः। अलंकृतिः पादसेवा अक्रूरेण हरेः स्तुतिः ।। दशभिः स्तुतिरुक्ता हि प्रार्थनैकेन दोषनुत् ।। तत्र-"भगवत्कृत-कार्याणामभिनन्दनमेकतः। स्वरूपं भेदनिर्हारो दृष्टान्तेऽनेकवर्णनम् ।। निवारणं च दोषाणां वन्धाभावोऽवतारेपि अवतारप्रयोजनं विशेषः कृष्णावतारे स्वगृहा-गमनस्तुतिः। हरिप्रपत्तेः स्तवनं प्रार्थना मोहछेदस्य मोहोद्योगो हरेःस्वतः ।। सप्तैव हरिवाक्यानि त्रिभिर्मोहानि योजनम्। त्रिभिरेकेन कर्त्तव्याऽज्ञापनं स्वगृहागतिः ।। **(एवं षट्त्रिंशत् श्लोकाः ।। ३६ ।। इति पंचचत्वारिंशाध्यायसङ्ग्रहः ।। ४५ ।।)**

षट्चत्वारिंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति——

पाण्डवेषु च वैषम्यं धृतराष्ट्रस्य बोधनम्।
इत्येवं दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धविनिरूपितम् ।। ३१ ।।

'पाण्डव' इति । **वैषम्यं** पंचदशभिः । तत्र "षड्भिः कार्यं हरेर्दिष्टं नवभिः कुंतिभावनम् । पृथार्तिसांत्वने द्वाभ्यां दशभिः राजबोधनम् ॥ १ ॥ एकेन कुंतीसामीप्यं षड्भिः कुंतीवचांसि हि । स्मृतिसंभावना ह्याद्ये द्वितीये कृष्ण-रामयोः ॥२॥ तृतीये सांत्वनं कांक्षा साक्षात्कारश्चतुर्थके । पंचमेन्यनिषेधोक्तिः षष्ठे तु शरणागतिः । ३ ॥ सप्तमे रोदनं कुन्त्या अष्टमे सांत्वनं मुदा ।" "यास्यन्. . ." इति एकेन बोधनार्थम् । "भोः भोः. . ." इति त्रिभिः पद्यै रजः सत्वतमोभिदा। **धृतराष्ट्रस्य बोधनम् ।** "पुनस्तथैव शास्त्रेण रजस्तामससत्वकैः । तृतीये धृतराष्ट्रस्य ततो वाक्यचतुष्टयम् ॥ प्रशंसा स्थित्यभावश्चाशक्यत्वं भगवन्नतिः । प्रत्यापत्तिर्निवेदश्च पूर्वार्द्धस्य समापनम् ॥ ३॥" इत्येवमिति । **॥ इति श्रीमद्गोस्वामि-मथुरानाथात्मज-गोस्वामि-द्वारिकेश्वर-विरचिता दशम-पूर्वार्द्धानुक्रमणिका व्याख्या ॥**

॥ श्रीकृष्णाख्याय नमः ॥

चंपकारण्यसंभूतमरेलग्रामवासिनम् ।
चरणाद्रौ समासीनं वन्दे श्रीवल्लभाधिपम् ॥ १ ॥

अथ उत्तरार्द्धानुक्रमणिका व्याख्यास्ये । सप्तचत्वारिंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति——

जरासन्ध-समानीत-सैन्यस्य बहुशो वधः ।
जामातुर्वधसंतप्त-जरासन्धचमूवधः ॥ ३२ ॥
बहुशः सेनयोद्वेगो द्वारकादुर्गकारणम् ॥

जामातुः कंसस्य **वधः** स्वपुत्रीभ्याम् उक्तः तेन **तप्तस्य जरासन्धस्य** सम्बन्धिनां **चमूनां वधः** मारणं, उत्तरार्द्धे एकचत्वारिंशद् अध्यायाः तत्समसंख्याकैः एकचत्वारिंशद्भिः । तत्र सुबोधिन्याम्—"उत्तरार्द्धसमैः श्लोकैरतिदेशस्ततः परम् । द्वाभ्यां कलाभिरपरः साधिकाभिरिति स्थितिः ॥" (का.) "कंसस्त्रियोर्जरासन्धगेहे गमनमेकतः । द्वितीये दुःखविज्ञप्तिस्तृतीये, संगरोद्यमः ॥ १ ॥ मथुरारोधनं तुर्ये पंचमे कृष्णवीक्षणम् । षष्ठे भगवतश्चिन्ता चतुर्भिवचनं हरेः ॥ २ ॥ द्वाभ्यां संगरसंपत्तिः सार्द्धेन बलबोधनम् । द्वाभ्यां युद्धाय गमनं

सार्द्धाभ्यां शत्रुभाषणम् ॥ ३ ॥ एकेन शत्रुहननं निषेधो दशभिश्च युत् । एकैकतो बंधमोक्षौ त्रिभिः शत्रुनिवर्तनम् ॥ ४ ॥ हरिप्रवेशः स्वपुरि पंचभिर्वित्तदापनम् । एकेन राज्ञे एवं हि चत्वारिंशत्तथैककः ॥ ५ ॥ द्वाभ्यां युद्धस्यातिदेशो द्वयेन यवनागतिः । चत्वारि हरिवाक्यानि पंचभिर्द्वारिकाकृतिः ॥ ६ ॥ "**बहुशः** सप्तदशकृत्वा जरासन्ध**सेनयोद्वेगः** तन्निवृत्तये **द्वारिकादुर्ग-कारणम् ।**" त्रिभिः समृद्धिर्लोकानां सार्द्धेन गमनं हरेः । अर्द्धाधिकाष्टपंचाशच्छ्लोका अस्मिन् प्रकीर्तिताः ॥ ७ ॥ **(एवम् अर्द्धाधिकाष्टपंचाशत् श्लोकाः ॥ ५८$\frac{१}{२}$ ॥ इति सप्तचत्वारिंशाध्यायसङ्ग्रहः ॥ ४७ ॥)**

अष्टचत्वारिंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति——

यवनस्य वधो दृष्टया मुचुकुन्दस्य संस्तुतिः ।
वरं दत्वा

'यवनस्य वध' इति । **यवनस्य वधः मुचुकुन्दस्य दृष्टया** स च उक्तः "तं विलोक्य. . ." इत्यादि एकविंशत्या । तत्र एवं विभागः—आद्यैः त्रिभिः भगवत्स्वरूपवर्णनम् । "वासुदेव. . ." इति द्वाभ्यां भगवन्निश्चयः । "इति निश्चित्य . . ." इति त्रिभिः हरेः पलायनम् । "एवं क्षिप्त. . ." इति द्वाभ्यां कन्दराप्रवेश-मुचुकुन्दताडने । "स उत्थाय. . ." इति द्वाभ्यां मुचुकुन्दोन्मीलन-यवनदाहौ । एवं द्वादशः । "को नाम. . ." इति पंचप्रश्नाः एकेन पद्येन । "स इक्ष्वाकुकुले . . ." इति सप्तभिः मुचुकुन्दवृत्तान्तः । "एवमुक्तः. . ." इति मुचुकुन्दशयनम् । षट्त्रिंशता **मुचुकुन्दस्य संस्तुतिः** "यवने भस्मसाद्. . ." इति पंचभिः मुचुकुन्दाय हरिणा स्वरूपं दर्शितम् । "को भवान्. . ." इति चतुर्भिः मुचुकुन्द-प्रश्नः । चतुर्भिः स्ववृत्तान्तकथनम् । "एवम्. . ." इति भगवद्वचनोद्यमः । "जन्म कर्म. . ." इति सार्द्धाष्टभिः भगवद्वचनानि । "इत्युक्तः. . ." इति मुचुकुन्दवचनोद्यमः । "विमोहितोऽयं जनः. . ." इति त्रयोदशभिः मुचुकुन्देन हरिः स्तुतः । तत्र आद्यैः त्रिभिः तामस-राजस-सात्विक-मोहाः । ततः त्रिभिः परमं दोषत्रयम् । "ततो निर्जित्य. . ." इति त्रिभिः राजस-तामस-सात्विक-धर्मनिरूपणम् । "मन्ये मम. . ." इति त्रिभिः फलनिरूपणम् । "चिरमिह. . ."

इति रक्षाप्रार्थनम् । **वरं दत्वा**–"ततः सार्वभौमः..." इति षड्भिः वरदानम् । **एवं त्रिषष्टि (श्लोकाः) ॥ ६३ ॥ (इति अष्टचत्वारिंशाध्याय-सङ्ग्रहः ॥ ४८ ॥)**

एकोनपंचाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति––

ततो म्लेच्छवधं कृत्वा धने ततः ॥ ३३ ॥
नीयमाने धनैर्दृप्तजरासन्धात् पलायनम् ।
रैवताद्रेवतीकन्या-बलदेवसमर्पणम् ॥ ३४ ॥
रुक्मिणीप्रियसंदेशश्रवणात्

'ततो म्लेच्छवधम्' (इति) । "इत्थं सोऽनुगृहीतः..." इति श्लोक-चतुष्टये मुचुकुन्दवृत्तान्तः पूर्वशेषः । "भगवान् पुनः..." इति पद्ये **म्लेच्छवधः ।** "नीयमाने धने गोभिः..." इत्यादि नवभिः **दृप्तजरासन्धात् पलायनम् ।** तत्र आद्ये जरासन्धागमः । "विलोक्य..." इति द्वाभ्यां भगवत्पलायनम् । "पलायमानौ..." इत्यनेन जरासन्धात् पलायनम् । "प्रद्रुत्य..." इति राम-कृष्णयोः पर्वतारोहणम् । "गिरौ निलीनौ..." इति जरासन्धेन गिरिदाहः । "तत उत्पत्य..." इति हर्योः पर्वताद् उत्फालः । "अलक्ष्यमाणौ..." इति भगवतः द्वारिकाप्रवेशः । "सोऽपि..." इत्यनेन जरासन्धप्रत्यापत्तिः । "आनर्त्ताधिपतिः..." इति पद्येन बलभद्रोद्वाहः । **रैवताद्** इति अपादाने पंचमी । 'असमर्थसमासो ज्ञापकसिद्धः' । **रेवत्येव कन्या तस्याः बलदेवाय समर्पणम् ।** "भगवानपि गोविन्दः..." इति पद्याभ्यां संक्षेपेण श्रीकृष्णोद्वाहः । त्रिभिः विस्तारप्रश्नः । **रुक्मिणीप्रियसंदेशश्रवणं** चतुर्विंशतिभिः तत्वसंख्याकैः । तत्र-"द्वाभ्यां श्रीरुक्मिणीजन्म गांधर्वोद्वाह एव च । उद्वाहोद्धारणं ज्ञानमेकैक-स्मिन् द्विजागतिः ॥ १ ॥ भगवद्दर्शनं पूजा भोजनांघ्रिनिषेवणम् । षड्-वाक्यानि हरेर्धर्मबोधकानि शुकोक्ति...॥ २ ॥ सप्तभिः रुक्मिणीवाक्यानु-वादो ब्राह्मणेन च । चत्वारिंशश्च चत्वारि पद्यान्यत्र स्थितानि हि ॥ ३ ॥ **(एवं चतुश्चत्वारिंशत्त् श्लोकाः) ॥ ४४ ॥ (इति एकोनपंचाशत् अध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ४९ ॥**

पंचाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति––

अखिलान् रिपून् ।
निर्जित्य निर्गमो गेहादंबिकाया हृतिर्बलात् ॥ ३५ ॥

'अखिलान्' इति । अत्र एवं विभागः–**अंबिकायाः गेहाद् निर्गमो रुक्मिण्याः । अखिलान् रिपून् निर्जित्य** बलाद् **आहृतिः** श्रीकृष्णकृता । "एकेन मैत्री द्वाभ्यां श्रीकृष्णवाक्यं रथानतिः । द्वाभ्यामारुह्य गमनमेकेनैकेन तत्कृतिः ॥ १ ॥ पुरस्य वर्णनं द्वाभ्यां पित्रादीनां समर्चनम् । कन्यालंकरणं रक्षादानं चैकैकत-स्ततः ॥ २ ॥ षड्भिः कुंडिनवृत्तान्तो द्वाभ्यां बलसमागमः । रुक्मिणीचिन्तनं सार्द्धैस्त्रिभिः चिंताफलं ततः ॥ ३ ॥ शकुनं सफलं द्वाभ्यां द्विजदर्शनमेकतः । आवेदनं सरामस्य कृष्णस्यागमनस्य च ॥ ४ ॥ एकनैकेन नमनं त्रिभिः श्रीकृष्णसत्कृतिः । एकेन सर्वसत्कारः पौरोत्साहस्त्रिभिस्ततः ॥ अतिदेशोर्द्धतो यानं रुक्मिण्याः पूजनाय हि ॥ ५ ॥ पंचभिर्नमनं त्रिभ्यः चतुर्भिर्देविपूजनम् । रुक्मिणीहरणं षड्भिः सप्तपंचाशदेव हि ॥ ६ ॥ **(एवं सप्तपञ्चाशत् श्लोकाः ॥ ५७ ॥ इति पंचाशद् अध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ५० ॥**

एकपंचाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति––

चैद्यसांत्वनमुर्वीशैः ततो रुक्मिसमागमः ।
युद्धाक्षेपापराधौ च मुण्डनं तस्य कृष्णतः ॥ ३६ ॥
रुक्मिणीदुःखशमनं रामवाक्यं च मोक्षणम् ।
ततो विवाहो रुक्मिण्याः विधिवत् स्वपुरे मुदा ॥ ३७ ॥

'चैद्य' इति । **चैद्यस्य** शिशुपालस्य **सांत्वनम् उर्वीशैः** जरासन्धादिभिः सप्तदशभिः "इति सर्वे..." इत्यादिभिः । तत्र एवं विभागः–एकेन **युद्धोद्यमः ।** एकेन युद्धाय यादवस्थितिः । एकेन शत्रुकृतः प्रहारः । एकेन **रुक्मिणीविषादः ।** एकेन भगद्वाक्यम् । एकेन गदादिकृतः जरासन्धादिभिः संगरः । एकेन **अवयविवधः ।** एकेन अवयववधः । एकेन शत्रुसेनापलायनम् । एकेन **सांत्वनोद्यमः ।** षड्भिः उर्वीशैः चैद्यसांत्वनम् । एकेन शिशुपालप्रत्यापत्तिः । तथा च **उक्तम्**–

"युद्धं च सप्तदशभिः प्रजापतिजयाय हि। मुंडनं सप्तदशभिः सार्द्धैः साम्यनिवृत्तये। बोधनं सर्वविद्याभिरैश्वर्येण परिग्रहः ॥ १½ ॥" सात्विकं युद्धम्। मुण्डनं तामसम्। **रुक्मिसमागमः** "रुक्मि तु..." इति पंचभिः सार्द्धैः। "रथैनेकेन..." इति एकेन **युद्धम्।** "आह चात्र क्षणम्..." इति द्वाभ्याम् **आक्षेपः।** "स्मयन्..." इति सार्द्धैः चतुर्भिः **अपराधः।** "तस्य चापतत..." इति सार्द्धैः चतुर्भिः कृष्णेन **रुक्मिमुण्डनम्।** "तावद्." इति अर्द्धेन रुक्मिसेनावधः। "कृष्णान्तिकम्..." इति सार्द्धेन रुक्मिमोचने **रुक्मिणीदुःखशमनम्।** "असाध्विदम्..." इति त्रयोदशभिः **रामवाक्यानि।** "एवं भगवता तन्विः..." इति सार्द्धैस्त्रिभिः रुक्मि**मोक्षणम्।** "भगवान् भीष्मकसुताम्..." इति अष्टभिः **विधिवद् विवाहः।** तत्र एवं विभागः "रुक्मि तु राक्षसः..." इत्यनेन रुक्मिणः मत्सरः। "रुक्म्यमर्षी..." इति संरंभेण प्रतीज्ञोद्यमः। "अहं त्वा..." इति प्रतीज्ञा। "इत्युक्त्वा..." इति द्वाभ्यां सूताज्ञापनम्। "विकत्थमान" इति गमननिषेधः। "धनुर्विकृष्य..." इति युद्धम्। "कुत्र यासि..." इति द्वाभ्याम् आक्षेपः। "अष्टभिः..." इति त्रिभिः भगवद्वीर्यम्। "ततो रथाद्..." इति भगवन्निकटगमनम्। "तस्य च..." इति रुक्मिहननोद्यमः। "दृष्ट्वा..." इति रुक्मिणीविषादः। "योगेश्वर..." इति भगवत्प्रार्थना। "तथा..." इति वधनिवृत्तिः। "चैलेन..." इत्यर्द्धेन रुक्मिमुण्डनम्। "तावद्..." इत्यर्द्धेन रुक्मिसेनावधः। "कृष्णान्तिकम्..." इत्यादि अष्टादशभिः बोधनं राजसम्। "कृष्णान्तिक..." इति सार्द्धेन बलभद्रकृते रुक्मिबन्धदर्शन-मोचने। त्रयोदशवचनानि संकर्षणस्य। तत्र आद्येन कृष्णोपालम्भः। "मैवास्मान्...." इति रुक्मिणीसांत्वनम्। "बंधुर्वधार्ह..." इति चतुर्भिः कृष्णोपालम्भः। तत्र आद्येन वधनिषेधः। द्वाभ्यां क्षत्रियधर्मनिरूपणम्। "तव..." इति स्वोपालम्भस्य स्थापनम्। "आत्ममोहः..." इति सप्तभिः ज्ञानेन बोधनं रुक्मिण्याः। तत्र कारिकात्रयम्– "स्वरूपाज्ञाननानात्वे देहादीनां च शत्रुता। दोषत्रयं निरूप्यादौ आत्मधर्मनिरूपणम् ॥ १ ॥ स्वप्रकाशोयमात्मा हि असंगश्च निरूप्यते। जन्मादिदोषास्त्वन्यस्य ह्यतस्तैर्नैव दुष्यति ॥२॥ असंसर्गाग्रहो भ्रान्तदृष्टान्तै र्विनिरूप्यते। ततोपसंहृतिर्युक्ताज्ञानेनाज्ञाननुत्तये ॥३॥" "एवं भगवत..."

इति बोधनफलम्। "प्राणावशेष..." इति पद्येन रुक्मिमोचनम्। "चक्रे..." इति सार्द्धेन रुक्मिणः भोजकटे निवासः। "ततो भगवान्..." इति अष्टभिः गुणातीतं रुक्मिण्युपयमनम् अष्टविधैश्वर्येण। तत्र आद्ये विवाहः। द्वितीये महोत्सवः सर्वेषाम्। तृतीये पारिबर्होपाहारः। चतुर्थपंचमाभ्यां पुरीश्रृंगारः। षष्ठे षड्विधभक्तानां मोदः। सप्तमे विस्मयः। अष्टमे महामोदः। **(एवम् एकषष्ठिः श्लोकाः) ॥ ६१ ॥ (इति एकपंचाशत् अध्यायसङ्ग्रहः) ॥५१॥**

द्विपंचाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति–

प्रद्युम्नोत्पत्तिकथनं हरणं सूतिकागृहात्।
मायावत्योक्तवृत्तान्तः शंबरस्य वधस्ततः ॥ ३८ ॥
पुनरागमनं गेहे संतोषो द्वारकौकसाम्।

'**प्रद्युम्न**' इति। **प्रद्युम्नोत्पत्ति कथनं** "कामस्तु..." इति द्वाभ्याम्। प्रद्युम्नस्य शंबरेण **सूतिकागृहाद् हरणं** "तं शम्बर..." इत्यादि **नवभिः।** "भवान्नारायणसुत..." इत्यादि चतुर्भिः **मायावत्योक्तवृत्तान्तः।** "स च शंबरमभ्येत्य..." इति नवभिः **शंबरस्य वधः।** "आकीर्यमाण..." इति द्वाभ्यां **पुनः गेहे आगमनम्। ततः** इति शंबरवधानन्तरम्। "तं दृष्ट्वा..." इति पंचदशभिः **संतोषः द्वारकौकसाम्।** तत्र एवं विभागः–आद्याभ्याम् अनङ्गस्य सांगत्वम् आद्ये पितृद्वारा द्वितीयेस्मिन् मातृतः। नवसु प्रथमे प्रद्युम्नस्य हरण-समुद्रप्रक्षेपौ। द्वितीये मीनेन प्रद्युम्ननिगरण-मीननिग्रहौ। तृतीये शंबराय मीनोपाहरण-मीनविदारणे। चतुर्थे सार्द्धे मायावत्यै प्रद्युम्ननिवेदन–नारदवचने। पंचमषष्ठ... रतिवृत्तान्तः पत्यौ स्नेहश्च। सप्तमे प्रद्युम्नस्य यौवनधारणम्। अष्टमे रत्याः प्रद्युम्नेन केलिः। नवमे प्रद्युम्नेन रतिः पृष्टा। चतुर्षु आद्येषु प्रथमे हरिसुतत्वज्ञापनम्। द्वितीये शंबरवधप्रार्थना। तृतीये वधावश्यकत्वाय मातृदुःखनिवेदनम्। चतुर्थे मायादानम्। नवसु प्रथमे कामेन युद्धाय शंबराह्वानम्। द्वितीये शंबरागमनम्। तृतीये शंबरेण गदाप्रक्षेपः। चतुर्थे प्रद्युम्नेन गदा प्रतिक्षिप्ता। पंचमे शंबरेण मायया अश्मवर्षणम्। षष्ठे प्रद्युम्नेन सर्वमायोपमर्दनम्। सप्तमे गौह्यकादि-मायाप्रयोजन–प्रदर्शने। अष्टमे शंबरस्य शिरः–

छेदः । द्वयोः गमनागमने । पंचदशसु– "दर्शनं कृष्णमननं वैलक्षण्यावधारणम् । रुक्मिणीस्तन्यसंस्रावः कस्यायामिति संशयः ॥१॥ स्वात्मजस्मरणं कृष्णसारूप्ये संशयो महान् । स्वात्मजाध्यवसायः श्रीकृष्णस्यागमनं ततः ॥२॥ तूष्णींभावो हरेर्वीणापाणिना सर्वभाषणम् । श्रुत्वाश्चर्यं महानंदः सर्वेषां परिरम्भणम् ॥३॥ आनन्दो द्वारकास्थानां माहात्म्यं शंबरद्विषः । सार्द्धा ह्येकोनचत्वारिंशच्छ्लोकाऽत्र संमताः ॥४॥" **(एवं सार्द्धैकोनचत्वारिंशत् श्लोकाः ॥ ३९$\frac{1}{2}$ ॥ इति द्विपंचाशत् अध्यायसङ्ग्रहः ॥ ५२ ॥)**

त्रिपंचाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति–

सूर्यात् स्यमंतकप्राप्तिर्याचनं तस्य वै हरेः ॥३९॥
तत्सम्बन्धात्प्रसेनस्य वधाऽकीर्तिर्हरेस्तथा ।
तन्मार्जनाय ऋक्षस्य गेहे गमनमेतयोः ॥४०॥
युद्धं ज्ञात्वा स्वऋषभं जांबुवत्याः समर्पणम् ।
सत्राजितस्य प्राप्तस्य सतो दानं मुरारिणा ॥४१॥
विवाहः सत्यभामायाः दत्तायाः प्रीतये हरेः ।

'सूर्यात्स्यमंतक' इति । सत्राजितः भक्तस्य स्वसेव्यात् **सूर्यात् स्यमंतकस्य प्राप्तिः** "सत्राजितः स्वतनयाम्. . ." इति सार्द्धैकादशभिः । तत्र आद्ये संक्षेपः । द्वितीये प्रश्नः । तृतीये सूर्येण सत्राजिते मणिदानम् । चतुर्थे द्वारकास्थानां सत्राजितः अज्ञानम् । पंचमे भगवते सूर्यशंकितानां शंसनम् । षष्ठे पंचसम्बोधनैः भगवन्नमनम् । सप्तमे सूर्यागमनशंसनम् । अष्टमे विरंच्यागमनशंसनम् । नवमे भगवत्कृतः निषेधः । दशमे सत्राजिता देवसदने मणिः निवेशितः । मणिप्रभावः सार्द्धे एकादशे । **हरेः** सत्राजितः **मणियाचनं** द्वादशे । **मणिसम्बन्धात् प्रसेनस्य वधः** व्याघ्रकृतः "तमेकदा . . ." इति सार्द्धाभ्याम् । "अपश्यन् . . ." इति सार्द्धेन **हरेः अकीर्तिः । अकीर्त्तिमार्जनाय हरेः ऋक्षस्य गेहे गमनं** "भगवाँस्तदुपाकर्ण्य..." इति पंचभिः । आद्ये गमनम् । द्वितीये हतानां दर्शनम् । तृतीये भगवतः बिले प्रवेशः । चतुर्थे तत्र मणिदर्शनम् । पंचमे धात्र्या आक्रोशः । "स वै भगवता..." इति चतुर्भिः **एतयोः** हरिजांबवतोः **युद्धम्** । "जानेताम्..."

इति षड्भिः ऋक्षस्य **स्वऋषभज्ञानम्** । आद्यैः त्रिभिः स्तुतिः । भगवद्वचनोद्यमः चतुर्थे । पंचमे भगवत्कराभिमर्षणेन ऋक्षस्य व्यथापनोदनम् । षष्ठे भगवद्वाक्यम् । "इत्युक्तः स्वाम्..." इत्यादि षड्भिः **जांबवत्याः समर्पणम्** । तत्र आद्ये मणिकन्यादानम् । द्वितीये बहिः स्थितानां द्वारकागमनम् । तृतीये देवक्यादिविषादः । चतुर्थे सत्राजितं शपतां दुर्गोपस्थानम् । पंचमे भगवत्प्रादुर्भावः जांबवत्या साकम् । षष्ठे सर्वेषां महोत्सवः । सत्राजिते मणिदानं "सत्राजितम्..." इति द्वाभ्याम् । **सत्राजित्सम्बन्धिनः** सूर्यात् **प्राप्तस्य सतो** मणेः **मुरारिणा दानम्** अर्थात् सत्राजिते । आद्ये मणिदानम् । द्वितीये सत्राजितः गृहे गमनम् । **हरेः प्रीतये दत्ताया सत्यभामायाः विवाहः** "सोनुध्यायन्..." इति षड्भिः । तत्र आद्यैः त्रिभिः सत्राजित्परितापः । त्रिभिः विवाहः । तत्र आद्ये मणिकन्यादानम् । द्वितीये विवाहः । तृतीये मणिप्रतिदानम् । **(एवं सार्द्धपञ्चचत्वारिंशत् श्लोकाः)** ॥४५$\frac{1}{2}$॥ **(इति त्रिपंचाशत् अध्यायसङ्ग्रहः ॥५३॥)**

चतुःपंचाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति–

रामेण सह कृष्णस्य गमनं गजसाह्वये ॥४२॥
अक्रूरकृतवर्मभ्यां प्रेरिताच्छतधन्वनः ।
सत्राजितवधो मध्ये कृष्णाच्छतधनोर्वधः ॥४३॥
रामस्य मिथिलायात्रा गदाशिक्षा सुयोधने ।
अक्रूरमणिदानं च

'रामेण सह' इति । "विज्ञातार्थोपि..." इति द्वाभ्याम् । तत्र आद्ये **गमनम्** । द्वितीये लौकिककरणम् । "लब्ध्वैतदंतरम्. . ." इति सप्तभिः **सत्राजिद्वधः** । तत्र आद्याभ्यां **कृतवर्माक्रूराभ्यां शतधनुप्रेरणम्** । तृतीये सत्राजिद्वधः । चतुर्थे मणिम् आदाय शतधन्वनः गमनम् । पंचमे सत्यभामायाः पितृमृतिज्ञानम् । षष्ठे सत्राजितः तैलद्रोण्यां प्रासनं सत्यभामायाः हस्तिनापुरगमन-भगवद्विज्ञापनानि । सप्तमे भगवतः प्राकृतानुकृतिः । **'शतधनोर्वधः मध्ये** सत्राजितो **मरण**-सांपरायिकयोःअतरा । "आगत्य भगवान्..." इत्यादि सार्द्धैश्चतुर्दशभिः **अविद्या**-रूपस्य शतधनोः वधः । तत्र एवं विभागः– आद्ये भगवदागमनम् । द्वितीये शत-

धन्वनः कृतवर्मणः सहायप्रार्थनम् । तृतीयचतुर्थाभ्यां कृतवर्मणः अनंगीकारः । पंचमे अक्रूरप्रार्थनम् । षष्ठसप्तमाष्टमैः अक्रूरकृतं प्रत्याख्यानम् । नवमे अक्रूरे मणिं न्यस्य शतधन्वनः पलायनम् । दशमे भगवतः अनुयानम् । एकादशे मिथिलोपवने पद्भ्यां हरेः अनुद्रवणम् । द्वादशे शतधनुवधः । त्रयोदशे रामाग्रे मण्यप्राप्तिकथनम् । चतुर्दशे वलेन हरेः द्वारकाप्रेषणम् । "इत्युक्त्वा..." इति द्वाभ्यां **रामस्य मिथिलायात्रा** । एकेन **सुयोधनस्य बलेन गदायुद्धशिक्षा** । "केशवो द्वारकामेत्य..." इत्यादि षोडशभिः **अक्रूराय मणिदानम्** । "तत्राद्ये स्वपुरे यानम् द्वितीये सांपरायिकं । सत्राजितः तृतीयेऽक्रूरस्य काशीपलायनम् ।।१।। उपद्रवाश्चतुर्थे पंचमे विस्मरणं हरेः । अक्रूरपूर्ववृत्तान्तो द्वाभ्यां स्थविर वक्तृतः ।।२।। अक्रूराकारणं दूतैः सप्तमे तु प्रियाः कथाः । चतुर्भिः कृष्ण-वाक्यानि सामदानादिभेदतः ।।३।। चतुर्दशे मणिप्राप्तिः सर्वेषां दर्शितं मणेः । अक्रूराय पुनर्दानं षोडशे तु फलस्तुतिः ।। ४ ।। द्विचत्वारिंशताच्छ्लोकैस्सा-र्द्धैरध्यायपूरणम् ।" **(एवं सार्द्धद्विचत्वारिंशत् श्लोकाः ।। ४२½ ।। इति चतुः पंचाशत् अध्यायसङ्ग्रहः ।।५४।।)**

पंचपचाशतमाध्यायम् अनुक्रामन्ति–

इन्द्रप्रस्थे हरेर्गति ।।४४।।
कालिंद्या संगतिः शौरेर्विवाहः स्वपुरे ततः ।
मित्रविंदाहृतिर्नाग्नजित्युद्वाहनमेव च ।।४५।।
भद्राया लक्ष्मणयाश्च विवाहः

'इन्द्रप्रस्थे हरेर्गति :' इति सप्तदशभिः । तत्र आद्यैः द्वादशभिः भक्तिः द्वादशांगस्य पुरुषस्य । पंचभिः कर्म । द्वादशसु प्रथमे **भगवतः शक्रप्रस्थगमनम्** । द्वाभ्यां भक्तानां कृत्यम् । चतुर्थे भगवत्कृतिः । पंचमे द्रौपद्यभिवन्दनम् । षष्ठे भगवदीयपूजा । सप्तमे पृथाभिरम्भणम् । अष्टमे पृथाप्रेम । द्वाभ्यां पृथास्तुतिः । एकादशे युधिष्ठिरविज्ञप्तिः । द्वादशे सुखेन वासः । पंचसु प्रथमाभ्यां खांडव-वनप्रवेशः । तृतीये व्याघ्रादिवेधः । तुरीये अर्जुनस्य यमुनातटे गतिः । पंचमे जलपानम् । "तामासाद्य..." इति एकादशभिः **कालिंद्याः संगतिः** "एकादशेंद्रियैः

कामः ।" तत्र आद्ये अर्जुनसंप्रेषो द्वितीये प्रश्नपंचकम् । त्रिभिः कालिंदीविज्ञप्तिः षष्ठे कृष्णाय वन्दनम् ।।१।। रथारोपश्च कन्यायाः सप्तमे पुरनिर्मितिः । अष्टमे सारथिः कृष्णो जिष्णोः खाण्डवदाहने ।।२।। नवमे वाह्निसंतोषो धनुः प्रभृति-दापनम् । मयस्य मोचनं पङ्क्तौ तेन सख्ये सभा कृता ।।३।।" **'शौरि'** पदं देहली-दीपक-न्यायेन संगतौ विवाहे संबध्यते । **शौरेः** कालिंद्या सह **विवाहः । द्वारिकायां तिष्ठतः** सतः "स तेन..." इति द्वाभ्याम् । पूर्वस्मिन् कालिंद्या सह द्वारिकागमनम् । उत्तरस्मिन् उपयमः । "विन्दानुविन्दौ..." इति द्वाभ्यां सांख्य-वैराग्यरूपाभ्यां **मित्रविन्दाविवाहः** । तत्र पूर्वस्मिन् प्रतिबन्धनिवृत्तिः । अपर-स्मिन् हृत्वा विवाहः द्वारिकायाम् इति पूर्वस्मात् अनुवर्तते । **नाग्नजित्युद्वाहः** चतुर्विंशत्या सफलभक्तेः चतुर्विंशतिविधत्वात् । तत्र आद्ये सत्योत्पत्तिः । द्वितीय-स्मिन् सत्यायाः अन्याशक्तत्वम् । तृतीये अयोध्यागमनं हरेः । चतुर्थे भगवत्स-त्कारः । पंचमषष्ठयोः सत्यामनोरथः । सप्तमे नग्नजिन्मनोरथः । अष्टमे हरेः आसनपरिग्रहः । नवमे भगवद्याञ्चा । दशमे हरिप्रशंसा । एकादशे स्वसमयवि-ज्ञापनम् । द्वादशे वृषवीर्यवर्णनम् । त्रयोदशे भगवते वाग्दानम् । चतुर्दशे भगवतः परिकरवन्धनम् । पञ्चदशे वृषदमनम् । षोडशे सत्याविवाहः । सप्त-दशे अन्तःपुरे परमोत्सवः । अष्टादशे वादित्रवादनादयः महोत्सवाः । एकोन-विंशति-विंशतितमयोः षड्विधपारिवर्हदानम् । एक विंशतितमे दंपत्तीप्रेषणम् । द्वाविंशतितमे राजपुत्ररोधः । त्रयोविंशतितमे प्रतिवन्धनिवारणम् । चतुर्विंशति-तमे श्रीकृष्णस्य द्वारिकाप्रत्यापत्तिः । भक्तिप्रकार (त?) स्तु २३ तः (?) । देवीजननाद् राज्ञः देवप्रसादः प्रथमे । नृपाणाम् अज्ञेयत्वेन देवरूपता द्वितीये । गृहे भगवदागमनेन देवपोषकता तृतीये । भगवद्-दास्य-करणेन शंभुसमता चतुर्थे । सत्यायाः भगवदर्द्धांगत्वकामनया कृष्णसमता पंचमे । अब्जजस्य शीर्षिण पादरजोधारणकथनेन ब्रह्मसमता षष्ठे । अर्चितस्य पुनः प्रार्थनेन धैर्य-युक्तता सप्तमे । भगवतः आसनपरिग्रहेण स्थितत्वेन स्थिरकार्यकारितम् अष्टमे । भगवतः स्वयम् उद्यम्य सौहृदेच्छया लोकोद्धारकत्वं नवमे । राज्ञा भगवतः सर्वाधिकत्वकथनेन क्रियाशक्तिमत्वं पङ्क्तौ । दीनतया स्वकृतसमयविज्ञापनेन भक्तिनिष्ठा एकादशे । गोवृषनृपात्मनत्वकथनेन वंशो द्वादशे । भगवतैव वृषद-

मनज्ञानेन ज्ञानशक्तिः त्रयोदशे । भगवता समयं श्रुत्वा परिकरबन्धनेन सानुभावभक्तिः चतुर्दशे । सप्तोक्षदमनेन हविर्नाशकहननभक्तिः पंचदशे । वेदमन्त्रोक्तविधिना सत्योपयमेन मन्त्रनाशकहननभक्तिःषोडशे । राजपत्नीनां परमोत्सवेन वैदिकभक्तिः सप्तदशे । शंखादिवादित्रनादेन भगवता संबद्धा भक्तिः अष्टादशे । भगवते पारिवर्हदानेन संसारान्मोचनभक्तिः एकोनविंशे । शतगुणाधिकदानेन अतिभक्तिः विंशे । दंपत्योः प्रेषणे हृदये स्नेहविक्लेदेन धैर्ययुक्ताभक्तिः एकविंशे । दुष्टैः मार्गप्रतिबन्धेन रंतिदेवसमा भक्तिः द्वाविंशे । अर्जुनेन प्रतिबन्धनिराकरणेन परमाभक्तिः त्रयोविंशे । द्वारकाम् एत्य सत्यया रमणेन सकलभक्तिफलरूपः प्रादुर्भावः चतुर्विंशे । "श्रुतकीर्तेः . . ." इति पद्ये **भद्राविवाहः** । "सुतां च मद्राधिपते...." इति पद्ये **लक्ष्मणाविवाहः** । "अन्याश्चैवम्..." इति पद्ये **चकारेण** समुच्चितः षोडशसहस्रनायिकाविवाहः । **(एवम् अष्टपञ्चांशत् श्लोकाः ।। ५८ ।। इति पंचपचाशत् अध्यायसङ्ग्रहः ।। ५५ ।।)**

षट्पंचाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

मुरघातिना ।

पीठतत्तनयानां च नरकस्य च घातनम् ।। ४६ ।।
भूमिस्तुतो राजकन्याप्रेषणं स्वपुरे ततः ।
गत्वा महेन्द्रभवनं पारिजातहृतिर्बलात् ।। ४७ ।।
उद्वाहो राजकन्यानां

'मुर' **इति** । इदं पदम् उभयत्र संबध्यते । प्रश्नः एकेन । नवभिस्सार्द्धैः मुरविघातनम् । तत्र एकेन प्रश्नः । सार्द्धेन हरेः प्राग्ज्योतिषपुरगमनम् । "गिरि दुर्गैः ...." इत्यनेन पुरदार्ढ्यम् । "गदया..." इति द्वाभ्यां दुर्गभेदः । "पांचजन्य.." इति मुरोत्थानम् । "त्रिशूल...." इति मुरस्याभिद्रवणम् । "आविध्य शूलम्..." इति मुरस्य अपराधः । "तदापतद्..." इति हरिणा मुरताडनम् । "तामापतंतीम्..." इति सार्द्धैः **मुरघातः । 'घातिना'** इति पूर्वाग्रिमाभ्यां संबध्यते । "घातनम्" इति पाठस्तु सुगमः ।.. "तस्यात्मजाः सप्त पितुर्वधातुराः ..." इति त्रिभिः ताम्रादिप्राणहाणं **पीठहननं** च । "स्वानीकपान..." इत्यादि सार्द्धैः नवभिः

नरकस्य घातनम् । चकारौ सैन्यघातनसूचकौ । तदुक्तम्–" ...पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे..." । "दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यम्..." "तद्भौमसैन्यं **भगवान्** गदाग्रजः..." इत्यादि । "ततश्च भूः कृष्णमुपेत्य कुंडले..." इति भूम्या छत्रकुंडलादिदानं स्तुत्युद्यमौ । "नमस्ते देवदेवेश..." इत्यादि सप्तभिः **भूमिस्तुतिः ।** तत्र आद्यैः चतुर्भिः **नमनम्** । "त्वं वै सिसृक्षू..." इत्यनेन **माहात्म्यम्** । "अहं पदोज्योतिः..." इति स्वरूपम् । "तस्यात्मजोऽयम्..." इति **प्रार्थना** । **राजकन्याप्रेषणं** पंचभिः । "इति भूम्या..." इति पद्ये **भौमगृहप्रवेशः** । "तत्र राजन्य..." इति राजकन्यादर्शनम् । "तं प्रविष्टम्..." इति राजकन्याभिः कृष्णवरणम् । "भूयात्पतिरयम्..." इति तासां हरौ भावेन हृदयधारणम् । "ताः प्राहिणोद्..." इति तासां **द्वारिकाप्रेषणम्** । "ऐरावतकुल.." इति ताभिः सह चतुःषष्टि राजप्रेषणम् । षोडशकलस्य भगवतः एकैकस्याः कलायाः **सहस्र-सहस्र**रूपाः ताः । 'गीतं वाद्यम्...' इत्यादि कलारूपाः गजाः । **ततः तत्प्रेषणानन्तरं बलात् पारिजातहरणं** "गत्वा सुरेन्द्र..." इति चतुर्भिः । **आद्ये स्वर्गगमनं** छत्रकुंडलदानम् । "नोदितः. . ." इति परिजातहरणम् **इन्द्रादिजयश्च । तृतीये** सत्यभामागृहोद्याने पारिजातस्थापनम् । "ययाच. . ."इति **देवाढ्यतानिन्दनम् ।** चतुर्भिः **राजकन्योद्वाहः** । "अथो मुहूर्ते. . ." इति विवाहः । "गृहेषु. . ." इति ताभिः रमणार्थं तासां गृहेषु प्रत्येकरूपेण स्थितिः । "इत्थं रमापतिम्. . ." इति तासां कामकृतम् । "प्रत्युद्गमासन. . ." इति तासां भक्तिकृता **द्वादशधा** सेवा । **(एवं सार्द्धषट्चत्वारिंशत्** श्लोकाः ।। ४६½ ।। **इति षट्पंचाशत् अध्यायसङ्ग्रहः** ।। ५६ ।।)

सप्तपंचाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

रुक्मिणीकृष्णकौतुकम् ।

'रुक्मिणी' इति । **रुक्मिणीकृष्णयोः कौतुकम्** परिहासः इति यावत् । स च समस्ताध्यायेन । तत्र **कौ** पृथिव्यां **तुकं** सुखं जलं वा शिरो वा । **सुखे**– "अयं हि परमो लाभः. . ." (श्लो. ३१) जले– ". . .समुद्रं शरणं गतान्. . ." (श्लो. १२) शिरसि– "यद्वाञ्छयानृपशिखामणयः . . ." (श्लो. ४१) । तत्र

एवं विभाग:–"प्रथमे सप्तमी सेवा त्रिभिर्मंदिरवर्णनम् । वीजनोपासना द्वाभ्यां रुक्मिणीरूपवर्णनम् ।। १ ।। एकेन कृष्णवीक्षा परिहासवचांसि तु । एकादशभिरत्रैव द्वाभ्यामनुचितिः कृतेः ।। २ ।। चतुर्भिः दूषणं वस्तु . . त्र हेतुचतुष्टयम् ।" तथाहि सुबोधिन्याम्– रूपतः फलतश्चैव संमत्या युक्तिभिस्तथा । चतुर्भि दूषणं प्राह चतुर्विधमिहाच्युतः ।। अज्ञानमग्रिमकृतिस्ततो द्वाभ्यां निरूपिता । अतः परं यत्कर्त्तव्यं द्वाभ्यां तद्रूप्यते पुनः ।। ३ ।। हेतुः स्वहरणे द्वाभ्यामेकेन स्वानपेक्षता ।। ४ ।। हरेर्निवृत्तिरेकेन रुक्मिण्याः प(?)तनं त्रिभिः । सम्यग् ज्ञानेन किंचिज्ज्ञानेन मोहेन तत्त्रिधा ।। ५ ।। चतुर्भिः सांत्वनं पू(?)र्वैस्त्रिभिर्वाक्येन सांत्वनम् । हर्यभिप्रेतकरणं द्वाभ्यामुत्तरदापनम् ।। ६ ।। रुक्मिण्याः पंचदशभिर्भगवद्वचसां ततः । उत्तराण्येकादशभिः द्वयेन प्रार्थना ततः ।। ७ ।। भावस्य वर्णनं द्वाभ्यां नवभिस्तत्प्रशंसनम् । अतिदेशस्ततो द्वाभ्यामन्यास्वध्यायपूरणम् ।। ८ ।। एकोनषष्टिः पद्यानि ह्यध्यायेस्मिन्स्थितानि हि ।। ८½ ।। **(एवम् एकोनषष्टिः श्लोकाः ।। ५९ ।। इति सप्तपंचाशत् अध्याय सङ्ग्रहः ।। ५७ ।।)**

अष्टपंचशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति––

कृष्णभार्याकथा पुत्रनामान्युद्वाहपर्वणि ।। ४८ ।।

रामाद्रुक्मिवधो द्यूते

'कृष्ण' इति । वैदिकं रमणं ह्याद्ये प्राकृतत्वं च पंचभिः । एवं षड्भिः कृष्णभार्याणां कथा सर्वतोधिका ।। तत्र मोहकषड्धर्मा दोषाभावो हरेस्ततः । ब्रह्माद्यगम्यपदवेः सेवादास्यं द्विषड्विधम् ।। २ ।। "तासां या दशपुत्राणाम् . . ." इत्यादि सार्द्धत्रयोदशभिः **पुत्रनामानि ।** तत्र अयं क्रमः–"प्रतिज्ञा प्रथमे द्वाभ्यां रुक्मिणीसुतवर्णनम् । सार्द्धेन सत्यभामायाः जांबुवत्यास्तथैव हि ।। १ ।। सत्यायाः सूर्यजातायाः लक्ष्मणामित्रविंदयोः । भद्रायश्च सुता एकैकेनार्द्धेन सुता हरेः ।। २ ।। रोहिण्याः पौत्रतत्पुत्रा द्वाभ्यां सर्वत्र मातृता । सार्द्धाभ्यां राजप्रश्नश्च चकाराः पुत्रिसूचकाः ।। ३ ।। प्रद्युम्नोपयमे द्वाभ्यामुक्तं हेतुद्वयं शुकैः । कन्यादानं तथैकेनानिरुद्धोद्वहनं त्रिभिः ।। ४ ।। **उद्वाहे** पंचदशभिर्वर्णनं

रामरुक्मिणो । तत्राद्ये रुक्मिणा कन्या भागिनेयाय दापिता ।। ५ ।। द्वितीयेऽपहृतातेन जित्वा राज्ञः स्वयंवरे । कामोपयमने हेतुद्वयं द्वाभ्यामुदीरितम् ।। ६ ।। तृतीये रुक्मिणीकन्यादानं भगवता कृतम् । दौहित्रायानिरुद्धाय चतुर्थे रोचनामदात् ।। ७ ।। पंचमे गमनं कृष्णदीनां भोजकटेपुरे । षष्ठे निवृत्त उद्वाहेऽक्ष द्यूतं रामरुक्मिणोः ।। ८ ।। द्यूतक्रीडाष्टभिः श्लोकैस्तत्राद्ये **रुक्मिशिक्षणम् ।** कलिङ्गराजा द्वितीये बलाह्वनं तृतीयके ।। ९ ।। . . . जितवान् **रुक्मी कालिंगः** प्राहसद्बलम् । तुर्ये रामजये रुक्मी मृषा स्वजयमुक्तवान् ।। १० ।। **पंचमे** रामसंरंभः षष्ठे रामजयः पुनः । सप्तमे त्वाकाशवाणी ह्यष्टमे तदनादरः **।। ११ ।।** आक्षिप्तः पंचदशके रुक्मिणा मुशलायुधः । अतः परं **रुक्मिवधो रामेण परिघेण** हि ।। १२ ।। द्वितीये तु कलिंगस्य राज्ञो रदनपातनम् । अन्येषां छिन्नभिन्नानां राज्ञामाशु पलायनम् ।। १३ ।। तृतीयेऽथ चतुर्थे तु तूष्णींभावो हरेस्ततः । प्रत्यापत्तिः कुशस्थल्यां रथेन वरकन्ययोः ।। १४ ।। अध्यायेऽस्मिन्द्विचत्वारिंशच्छ्लोकाः व्यासैरुदीरिताः ।। १४½ ।।" **(एवं द्विचत्वारिंशत् श्लोकाः ।। ४२ ।। इति अष्टपंचाशत् अध्यायसङ्ग्रहः)** ।। ५८ ।।

एकोनषष्टित्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति––

बाणस्य हरसंकथा ।

उषास्वप्नकथा चित्रलेखाया हरणं हरेः ।। ४९ ।।

पौत्रस्य बन्धनं चापि

'बाणस्य हरसंकथा' इति–"बाणः पुत्रशत. . ." इति नवभिः । "बाणः पुत्र. . ." इति द्वाभ्यां बाणे महादेवसंतोषः । "स एकदा. . ." इति चतुर्भिः बाणेन रुद्रप्रार्थना । "तच्छ्रुत्वा. . ." इति रुद्रक्रोधः । "इत्युक्तः. . ." इति बाणस्य स्ववीर्यनाशप्रतीक्षा । **उषास्वप्नकथा** "तस्योषा. . ." इति दशभिः । "तस्योषा. . ." इति पद्ये उषायाः स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिः । "सा तत्र. . ." इति उषायाः विह्वलता । "बाणस्य मंत्री. . ." इति चित्रलेखोषोपाख्यानम् । "कांतं मृगयसे. . ." इति चित्रलेखायाः प्रश्नः । "दृष्टः. . ." इति द्वाभ्याम् उषावचनम् । "व्यसनं ते. . ." इति चित्रलेखाप्रतिज्ञा । "इत्युक्त्वा. . ." इति

त्रिभिः दैत्यमनुजोनिरुद्धलेखनम् । "चित्रलेखा तम्..." इति पंचभिः **हरेः** अनिरुद्धस्य **हरणम्**। तत्र आद्ये चित्रलेखायाः विहायसा द्वारकागमनम्। "तत्र सुप्तं स्व..." इति अनिरुद्धहरणम्। "सा च तं सुन्दरवरम्..." इति त्रिभिः रमणम् उषानिरुद्धयोः। "तां तथा..." इति नवभिः **अनिरुद्धबन्धनम्**। "तां तथा..." इति भटानाम् अनिरुद्धज्ञानम् "भटाः..." इति बाणाय आवेदनं द्वाभ्याम्। "ततः प्र..." इति बाणस्य कन्यागारगमनम्। "कामात्मजम्..." द्वाभ्यां बाणस्य दर्शनविस्मयौ। "स तं प्रविष्टम्..." इति द्वाभ्याम् अनिरुद्धेन बाणसैन्यविद्रावणम्। "तं नाग..." इति अनिरुद्धबन्धनम्। **'चापि'** इति अव्यययुगेन दर्शन-विस्मय-सैन्यविद्रावणं संगृहीतम्। एवं चैतस्मिन् अध्याये एकत्रिंशत् श्लोकाः। पुस्तकान्तरेषु क्वचित् चत्वारः अधिकाः विगीताः दृश्यन्ते। सुबोधिनीस्वारस्येन सद्भिः उपेक्ष्याः ते। **(एवम् एकत्रिंशत् श्लोकाः) ॥ ३१ ॥ (इति एकोनषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ५९ ॥**

षष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति–

बाणयादवसंयुगः (गे?) ।
कृष्णशंकरयोर्युद्धे ज्वरसंस्तवनं ततः ॥५०॥
बाणबाहुच्छिदा रुद्रस्तुतिर्बाणभयं वरः ।
उषा प्राप्तिः

'बाणयादव' इति। "अपश्यताम्..." इति पंचभिः पद्यैः **बाणयादवयोः संयुगः**। तत्र आद्ये बन्धूनाम् अनिरुद्धशोचनम्। द्वितीये नारदात् अनिरुद्ध-वृत्तान्तज्ञानं शोणितपुरगमनं च। तृतीये अष्टमहारथानां नामानि। "अक्षौहिणीभिः..." इत्यनेन शोणितपुररोधः। "भज्यमान..." इति बाणागमनम्। **कृष्णशंकरयोः युद्धं** "बाणार्थे..." इत्यादि षोडशभिः। तत्र आद्ये रुद्रागमनम्। "आसीत् सुतुमुलम्..." इति शिवकृष्णयोः युद्धम्। "कुम्भाण्डकूपकर्ण..." इति पर्यन्तं चत्वारि द्वंद्वानि। "ब्रह्मादयः..." इति देवानां युद्धदर्शनार्थम् आगमनम्। "शंकरानुचरान्..." इति द्वाभ्यां शिवानुचरानुद्रावणम्। "पृथग्विधानि..." इति

त्रिभिः अस्त्रयुद्धम्। "स्कन्दः..." इति गुहपलायनम्। "कुम्भाण्डः..." इति बलभद्रेण बाणामात्यहननं सैन्यद्रावणं च। "विशीर्यमाणम्..." इति त्रिभिः कृष्णबाणयोः युद्धम्। "तन्माता..." इति कोटराऽगमनम्। "ततस्तिर्यङ..." इति बाणपलायनम्। "विद्राविते..." इत्यादि दशभिः श्रीकृष्णयुद्धार्थं **ज्वरागमनम्**। "अथ नारायणः..." इति ज्वरयोः युद्धम्। "माहेश्वरः..." इति सार्द्धेन ज्वरस्य कृष्णशरणागतिः। "नमामि..." इत्यादि चतुर्भि **ज्वरसंस्तवनं** स्वरूप-बल-कार्य-रक्षाप्रार्थनाभेदेन। "त्रिशिरस्ते..." इत्यस्मिन् ज्वरानुशासनम्। "इत्युक्तः..." इति ज्वरगमनबाणागमने। "ततो बाहुसहस्रेण..." इति त्रिभिः **बाणबाहु-कृन्तनम्**। शस्त्रमोकः करछेदो रुद्रस्तुत्युद्यमस्तथा"। "त्वं हि ब्रह्म..." **इत्यादि** द्वादशभिः **रुद्रस्तुतिः** संवत्सरात्मककालातिक्रमार्थम्। तत्र सुबोधिन्याम्–"यादृशो भगवान्कृष्णः संयोगेनैव गम्यते। दृश्यमानस्तु शास्त्रेण विसंवादी हि दृश्यते॥१॥ इति ज्ञापयितुं प्रोक्ता भूम्यादीनां तथा गता। अंगान्यपि हरेर्लोके भिन्नानीति विदुर्यतः ॥२॥ अस्मदर्थं च भगवान् समागत इति श्रुतिः। निर्दोषपूर्णगुण-कोऽप्यस्मदादिभिरीर्यते ॥३॥ यथाधिकारं तत्रापि हेतुर्हि भगवान्परः। अन्तरायस्तदज्ञाने यदासीत्तस्य च स्वयम् ॥४॥ प्रकाशको महान्साक्षादतोऽस्माकं हितो भवेत्। कृष्णेच्छयैव सर्वेषामेवं बुद्धिविपर्ययः ॥५॥ अन्यथा धनपुत्रादौ कथं मुग्धाः विवेकिनः। तस्मात्पूर्वापराधानां क्षमा नित्या हरौ परे ॥६॥ तथापि चेन्न सेवन्ते व्यर्थजीवास्तु ते मताः। अनेन भजनं प्रोक्तं बाणोपि भजते यतः ॥७॥ प्राक्ताभजने हेतुर्दुरदृष्टं निरूप्यते। वयं तु लोकरीत्यैव भक्त उत्कर्षहेतवः ॥८॥ युद्धार्थमागताः किन्तु भक्ता एव न संशयः। प्रकटेन प्रकारेण शरणागतिरुच्यते ॥९॥ तादृशस्य हितं यस्मात्कर्त्तव्यमिति सार्थता ॥ **बाणाभयं** चतुर्भिर्हि अंगीकारेण पूर्वतः। दत्ताभयेन दर्पस्य शान्त्या शिष्टस्य रक्षणात् ॥१॥ उषानिरुद्धानयनं द्वाभ्यामेकेन मोदतः। स्वलंकृतद्वारकायां प्रवेशेन फलेन च ॥२॥ **उषाप्राप्तिश्चतुर्भिर्हि** त्रिःपंचशत्तयार्द्धकम्। **(एवं सार्द्धत्रिपंचाशत् श्लोकाः) ॥५३½॥ (इति षष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः ॥६०॥)**

एकषष्टितमाध्यायार्थम् अनुक्रामन्ति—

नृगाख्यानम्

'नृग' इति। **नृगस्य आख्यानं** चतुःचत्वारिंशद्भिः। तत्र एवं विभागः—"कृकलाशत्वापगमः षड्भिः प्रश्नो द्वयेन ह। उत्तरोद्यम एकेन नृगवाक्यानि विंशतिः ॥१॥ पूर्वोदांतः षोडशभिरेकेनाश्चर्यमेव हि प्रार्थना त्रिभिरेवा....... एकेन गमनं हरेः ॥२॥ शिक्षोद्यमस्तथैकेन शिक्षा द्वादशभिः कृता। निजागारे प्रवेशश्चतुश्चत्वारिंशदेव हि ॥३॥

(एवं चतुश्चत्वारिंशत् श्लोकाः ॥४४॥ इति एकषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः॥६१॥)

द्विषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

बलभद्रव्रजागमः ॥५१॥

गोपीविलापो रामस्य रतिर्गोपीभिरेव च।

यमुनाकर्षणम्

'बल' इति। **बलभद्रस्य व्रजागमः** "बलभद्रः कुरुश्रेष्ठः..." इत्यादि अष्टभिः। तत्र एवं विभागः—प्रथमे भगवदाविष्टबलस्य गोकुले आगमनम्। द्वितीये परिष्वंगाभिवादनाशिषः। तृतीये नन्दयशोदयोः नेत्रजलेन बलभद्रसेचनम्। गोपवृद्धादिभिः यथायोग्यं हास्य-हस्तग्रहादिकं चतुर्थ-पंचमयोः। षष्ठे अनामयादिप्रश्नः। सप्तमे बन्धूनां कुशलप्रश्नः। अष्टमे अभिनन्दनम्। "गोप्यो हसन्त्यः..." इत्यादि अष्टभिः **गोपीविलापः**। तत्र आद्ये द्वे प्रश्नोद्योगः। "कच्चिदास्त (?)..." इति सार्द्धैः पंचभिः गोपीनां श्रीकृष्ण-कुशलप्रश्नः। कुशलः हरिकृति-स्वकृति-हरिकृति-नागरीकृति-निषेधकृतिभेदेन। सप्तमे गोपीविलापः। अष्टमे गोपीसांत्वनम्। गोपीभिः **गोपीभिः रामस्य रतिः** "द्वौ मासो... "इत्यादि षड्भिः। वास-रमण-वारुणीपतन-तद्गन्धाघ्राण-पानोपगान-रूपवर्णनभेदेन। **यम्**—बलभद्रम् उ वितर्के श्रीकृष्णेतरं वितर्क्य **न**—आयातायाः आसमन्तात् **कर्षणम्** "स आजुहाव..." इति दशभिः। आह्वानाकर्षण - निर्भर्त्सन - पादपतन - स्तवन - प्रार्थनावगाहनोत्तीर्य - नरवसन-

भूषण-परिधान-शोभाखण्डमाहात्म्य-स्थापनातिदेश-भेदेन ॥ **(एवं सार्द्ध द्वात्रिंशत् श्लोकाः)** ॥३२½॥ **(इति द्विषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः ॥६२॥)**

त्रिषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

काशीपतिपौंड्रकघातनम् ॥५२॥

काशीदाहः

'काशीपति' इति। **काशीपतेः पौंड्रकस्य च घातनम्**। सहार्थेन गौणता-सूचनात् पूर्वं पौंड्रकस्य घातनम्। पश्चात् काशीपतेः। तत्र एवं क्रमः-षड्विंशत्या काशीपति-पौंड्रक-घातनम्। सप्तदशभिः **काशीदाहः**। षड्विंशतौ "पूर्वानुवादः प्रस्तोभो हरये दूतयापनम्। दूतागमनमेकैकस्मिन्द्वाभ्यां दूतकत्थनम् ॥ १ ॥ हासः प्रत्युत्तरं द्वाभ्यामाक्षेपाहरणं ततः। हरेः काश्यागमो मिथ्यावासुदेवस्य निष्क्रमः ॥२॥ अक्षौहिणीभिस्तिसृभिः काशिराजस्य निष्क्रमः। हरिणा पौंड्रको दृष्टो द्वाभ्यां तद्वेषवर्णनम् ॥ ३३॥ हरेर्हासो प्रहरणमरिभिः पूर्वमायुधैः। द्वाभ्यां युद्धं त्रिभिः क्षेपहनने पौंड्रकस्य हि ॥ ४ ॥ पतत्रिभिः काशिराजशीर्ष्णः काश्यां निपातनम्। द्वारकागमनं चक्रपाणेः पौंड्रकमोचनम् ॥५ ॥ संशयः काशिसंस्थानां रोदनं साम्परायिकम्। सुदक्षिणस्य दुर्भावो देवविश्वेश्वरार्चनम् ॥ ६ ॥ शिव प्रीतिर्वरोयाञ्चा शिववाक्यं तथाकृतिः। वह्न्युत्थानं ततो द्वाभ्यां वह्निरूपस्य वर्णनम् ॥ ७ ॥ भयं कुशस्थलस्थानां क्रीडतः प्रार्थना हरेः। प्रहस्याभयदानं तद्दाहार्थं चक्रमादिशत् ॥ ८ ॥ कृत्यार्द्दनं स्वचक्रेण कृत्यया भग्नवक्त्रया। सुदक्षिणस्य दहनं ह्यरिणा काशिदाहनम् ॥९॥ दग्ध्वा वाराणसीं भूयश्चक्रस्य समुपस्थितिः। फलमेतस्य श्रवणे चत्वारिंशत्त्रयस्तथा ॥ १० ॥ **(एवं त्रिचत्वारिंशत् श्लोकाः ॥ ४३ ॥) (इति त्रिषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः ॥ ६३ ॥)**

चतुःषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति——

सकृत्पातः द्विविदस्य बलाद्वधः।

"स्वकृत्यात्" इतिपाठे स्वकृत्यात् स्वकृतापराधेन **द्विविदस्य बलाद् वधः**। **'सकृत्पात '** इति **सकृत्** एकवारं **पातेन** "स बाहू तालसंकाशौ. . ."

इति द्विविदकृतेन अपराधरूपेण मारणहेतुभूतेन । अथवा "यादवेन्द्रोऽपि..." इति बलभद्रकृतेन सकृत्पातेन **बलाद्** बलभद्राद् **द्विविदस्य वधः।** अथवा "व्यदूषयञ्छकृन्मूत्रैः..." इत्युक्तेन शकृत्पातेन मारणहेतुभूतेन अपराधेन । तत्र एवं क्रमः-आद्यैः सप्तभिः सह्यः अपराधः । "एवं देशान् विप्रकुर्वन्..." इत्यादि सार्द्धाष्टभिः असह्यापराधः । "... तं तस्याविनयम्..." इति सार्धाष्टभिः युद्धम् । "यादवेन्द्रोऽपि..." इति पद्ये द्विविदहननम् । अग्रे श्लोकत्रये द्विविदपात-पुष्पवृष्टि-प्रत्यापत्तयः । श्लोक(१)स्तु– "प्रश्नो द्विविदचिह्नानि कपिना पुरदाहनं । शैलोत्पातो जलोत्पातः शकृत्पातोग्निषु स्वतः ।। १ ।। योषित्पुरुषरोधसः सह्योपद्रव उच्यते । रैवते गमनं तत्र बलभद्रस्य दर्शनम् ।। रामसौन्दर्यकथनं स्त्रीषु शिश्नप्रदर्शनम् । तरुणीनां विहासश्च कपिना गुददर्शनम् ।। रामेण ग्रावप्रक्षेपः कपिना वस्त्रपाटनम् । कपेश्च विप्रकरणं क्रोधो रामस्य वानरे ।। ४ ।। रामेण शालतरुक्षेपो मुशलेन कपेर्हतिः । पुनः शालतरुक्षेपः शतधा तस्य छेदनम् ।। ५ ।। वननिर्वृक्षकरणं शिलावर्षणवर्णनम् । मुष्टिपातो रामवक्षस्याक्षेपः कपिजत्रुणि ।। ६ ।। कपिपाताद् गिरेः कम्पो देवानां पुष्पवर्षणम् । अष्टाविंशतमे पद्ये रामप्रत्यागतिः पुरे ।। ७ ।। **(एवम् अष्टाविंशतिः श्लोकाः) ।। २८ ।। (इति चतुःषष्टि अध्यायसङ्ग्रहः ।। ६४ ।।)**

पंचषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति––

लक्ष्मणाहरणं रामविक्रमो गजसाह्वये ।। ५३ ।।

'लक्ष्मणा' इति । **लक्ष्मणायाः** दुर्योधनसुतायाः सांबेन **हरणं** द्वादशभिः । तत्राद्ये लक्ष्मणाहारस्त्रिभिः कौरवभाषणम् । बन्धनोद्यमनं सांवस्याभिमुख्ये व्यवस्थितिः ।। १ ।। सांवस्याकिरणं बाणैः सांवस्यामर्षणं ततः । सांबेन वेधनं...तैः सांवस्याभिपूजनम् ।। २ ।। रथादिच्छेदः सांबस्य बन्धनं गमनं पुरे । एवं द्वादशभिः पद्यैर्लक्ष्मणाहरणं मतम् ।। ३ ।। द्विचत्वारिंशता पद्यैः विक्रमो रामकर्तृकः । तत्राद्ये नारदाच्छ्रुत्वा यदूनामुद्यमः कुरून् ।। ४ ।। सांत्वयित्वा यदून् रामगमनं हस्तिनापुरे । रथेन ब्राह्मणैः सार्द्धमुद्धवप्रेषणं पुरे ।। ५ ।। रामागमस्य

कथनं गतिर्मंगलपाणिनाम् । गवार्घ्यदान...नान्यनामयशिवंवचः ।। ६ ।। रामस्य वाक्ययुगलं कुरूणां वाक्यपंचकम् । देहेन्द्रियप्राणमनआत्मोत्कर्षत्वबोधकम् ।। ७ ।। कुरूणां गेहगमनं क्रोधो रामस्य दुर्घटः । दशवाक्यानि रामस्य प्रतिज्ञा नवभिः कृता ।। ८ ।। दशमेऽध्यवसायोहि द्वाभ्यां नगरकर्षणम् । एकेनागतिरेकेन सांबलक्ष्मणया समम् ।। ९ ।। पंचभिर्भगवत्स्तोत्रं दैन्येन कुरुभिः कृतम् ।। सुबोधिन्याम्– बुद्धिर्न शुद्धा नो शास्त्रं नापि ज्ञानं स्वतः क्वचित् । प्रभुः स्वामी भवाँश्चापि धारकः क्षांतिमर्हति ।। १ ।। एकेनाभयदानं च पारिबर्हयुगेन हि ।। १० ।। अंगीकाराभिगमने... स्वकृतस्य प्रशंसनम् । अद्यापि रामकार्यस्य सूचनं हस्तिनापुरे ।। ११ ।। चतुःपंचाशतापद्यैरध्यायपरिपूरणम् ।। **(एवं चतुःपंचाशत् श्लोकाः ।। ५४ ।। इति पंचषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः ।। ६५ ।।)**

षट्षष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति---

नारदेन हरेर्लीलादर्शनं गृहमेधिनाम् ।

'नारदेन' इति । कृतमिति शेषः । वहूद्वहनमेकेन श्रुत्वाऽद्ये दर्शनेषणा । नारदस्य महच्चित्रं दर्शनायागतिः पुरेः ।। १।। एतत्त्रयं तु सार्द्धाभ्यां वर्णनं सार्द्धकैर्हरेः । कुशपुर्यामुपवनजलस्थलविभेदतः ।। २ ।। आन्तरं वर्णनं षष्ठे सप्तमेऽन्तःपुरं बहिः । सामान्यतो वर्णयितुं प्रत्येकं गृहवर्णन(म्?) ।। ३ ।। अष्टमे त्वेकभवने प्रवेशो नारदस्य ह । चतुर्भिर्वर्णनं तस्य तत्र त्रिभिरमुष्य हि ।। ४ ।। शोभोक्ता सर्वकालीना रात्रिशोभा तथैकतः। नारदातिथ्यकरणं हरिणा त्रिभिरुच्यते ।। ५ ।। मनसावपुषा वाचा नारदप्रार्थनं युगे । इत्यष्टादशभिः पद्यैर्गमनं प्रथमे गृहे ।। ६ ।। द्वितीये भवने यानं चतुर्भिर्नारदस्य हि । तृतीयादिगृहे यानं चतुर्दशभिरुच्यते ।। ७ ।। अत्र गृहाः अष्टाविंशतिः द्वात्रिंशत् चतुश्चत्वारिंशत् वा मतभेदेन ज्ञेयाः । वचनोद्यम एकेन प्रार्थना युगलेन हि ।। ८ ।। तत एकेन हरिणा बोधितो नारदो मुनिः । द्वाभ्यां स्वेनाऽध्यवसितं प्राह केशवसन्निधौ ।। ९ ।। शुकस्ततो विस्मितस्य स्मरतः केशवं हृदि । सकौतुकस्य देवर्षेरेकेन गमनं पुनः ।। १० ।। लीलासमाप्तिरेकेन तथैकेन फलश्रुतिः ।

चत्वारिंशत्पंचपद्यान्यत्राध्याये सुसम्मता: ।। ११ ।।" **(एवं पंचचत्वारिंशत् श्लोकाः) ।।४५।। (इति षट्षष्टिः अध्यायसंग्रहः ।।६६।।)**

सप्तषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामयन्ति—

आह्निकं वासुदेवस्य राज्ञां विज्ञापनं हरेः ।।५४।।

'**आह्निकम्**' इति । **वसुदेवगृहे अवतीर्णस्य आह्निकम्** अहोनिर्वृत्तं दिनकृत्यं सार्द्धद्वाविंशत्या पद्यैः । "अथोषसि..." इत्यारभ्य... "कथाः" इत्यन्तम् । तत्र एवम् अवान्तरविभागः—आद्ये कामपराणां भगवत्कृत-धर्मासहिष्णुत्वम् । द्वितीये अन्तरंगबहिरंगानाम् अलिवयसां बोधकत्वम् । तृतीये रुक्मिण्यमर्षः । चतुर्थे भगवतः उत्थानाचमनध्यानानि । पंचमे ध्यानविषयनिरूपणम् । षष्ठे श्रीकृष्णस्य स्नान-वासःपरिधान-संध्योपगमादिकरण-तिलकादिधारण-होम-ब्रह्मजप-मौनानि । सप्तमे सूर्योपस्थान-देवर्षिपितृतर्पण-वृद्धविप्रार्चनानि । अष्टमनवमयोः गवां दानानि । दशमे गो-विप्र-देवता-वृद्ध-गुरु-भूत-नमस्कार-मंगलस्पर्शने । एवं दशभिः धर्मपरिष्कारः कृतः । अतः परं सार्द्धैः त्रिभिः धर्मिपरिष्कारः । तत्र एकादशे वस्त्राभरण-स्वीय-दिव्य-स्रग्गन्धानुलेपादि-स्वीकारः । द्वादशे आज्यावेक्षणादर्श-गो-वृष-द्विज-देवता-दर्शनानि अर्द्धे । द्वादशत्रयोदशयोः सर्वेषाम् इष्टं दापयित्वा स्रक्ताम्बूलानुलेपनानि सर्वेभ्यः विभज्य अंगीकृतवान् । ततः चतुर्भिः सुधर्मागमनम् । तत्र आद्ये रथम् आनीय सूतस्य प्रणम्यावस्थानम् । द्वितीये भगवतःरथारोहः । तृतीये सर्वेषां हरि-दर्शनम् । तुर्ये हरिगमनम् । एकोनविंशे सुधर्मायाम् उपवेशः । विंशे उपमन्त्र्यादिनाम् उपस्थानम् । एकविंशे षड्विधवाद्यनृत्यगीतादि । पूर्वराज-कथाकथनं द्वाविंशे । एवं चतुर्भिः सुधर्मोपवेशः । तावता वासुदेवाह्निकं समाप्तम् । एतावत्कार्यं भगवता क्रियते । **अह्ना निर्वर्त्यम् आह्निकम् ।** "तत्रैकः पुरुषः..." इति षड्विंशत्या **राज्ञां विज्ञापनम्** । तत्र त्रिभिः प्रस्तावना । तत्र आद्ये दूतागमनम् । द्वितीये नमस्कृतिः । तृतीये राजदुःखावेदनम् । "कृष्णकृष्ण..." इति षड्भिः ऐश्वर्यादिक्रमेण राजवचनकथनं दूतेन । अत्र '**ऋषेः**' '**हरेः**' '**रिपोः**' इति पाठत्रयं पुस्तकभेदेन दृश्यते । 'ऋषेः' इति पाठे

विज्ञापनपदं पूर्वापरयोः संबध्यते । उभयत्र कर्त्तरि षष्ठी। '**रिपोः**' जरासन्धस्य संबंधिविज्ञापनं हरेः अग्रे इति अध्याहार्यम् । एकत्रिंशे **दूतवचनम् ।** ऋषेः नारदस्य कृतं विज्ञापनं "राजदूते..." इत्यारभ्य आसमाप्तिः **षोडशभिः ।** तत्र आद्ये नारदागमनम् । द्वितीये भगवदुत्थानम् । तृतीये हरिणा नारदसभाजनम् । भगवद्वचने द्वे । तत्र आद्ये जगद्वृत्तान्तप्रश्नः । द्वितीये पाण्डव-वृत्तान्तप्रश्नः । अष्टवचनानि नारदस्य । तत्र त्रिभिः मायाऽभावप्रार्थनम् । "अथाप्याश्रावये..." इत्यादि त्रिभिः युधिष्ठिर-चिकीर्षित-श्रावणम् । "श्रवणात्कीर्तनाद्..." इति द्वाभ्यां सर्वशुद्धिः चरणोदकमाहात्म्यं च । एकेन भगवद्वचनोद्यमः । एकेन भगवद्वचनम् । एकेन उद्धवविचारः । **(एवम् अष्टचत्वारिंशत् श्लोकाः) ।।४८।। (इति सप्तषष्टिः अध्यायसंग्रहः ।।६७।।)**

अष्टषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामयन्ति—

मन्त्रणादुद्धवस्येन्द्रप्रस्थे गमनमीशितुः ।

'**मन्त्रणाद्**' इति। तत्र एवं क्रमः—**मन्त्रणं ह्युद्धवस्यै**कादशभिर्निष्क्रमो हरेः । षड्भिस्त्रिभिर्देवर्षेः द्वाभ्यां दूतस्य निष्क्रमः ।। १।। द्वाभ्यां हरेर्मार्गगतिः द्वाभ्यां राज्ञः समुद्रगतिः । षड्भिः समागमः कृष्णराज्ञोरष्टभिरेतयोः ।। २ ।। राजमार्गेण नगरप्रवेशः कृष्णपूजनम् । अष्टभिः षट्चत्वारिंशच्छ्लोकाः समुदाहृताः ।। ३ ।। तत्र आद्येषु एकादशसु प्रथमे उद्धवस्य **सर्वमताज्ञानम् ।** सार्द्धेन ऋषिवाक्यप्रशंससा । सार्द्धेन स्वकार्यसिद्धिः । एकेन जरासन्धबलप्रशंसा । द्वाभ्यां जरासन्धवधोपायः । अष्टमे भगवतः **सर्वकर्तृत्वम् ।** नवमे सहजयशस्वित्वम् । दशमे जरासन्धवधस्य भूर्यर्थत्वम् । एकादशे उद्धव-वाक्यप्रशंसा । "अथादिशत्..." इति सार्द्धैः षड्भिः हरेः निर्गमनोत्सव-निरूपणम् । तत्र आद्यैः सार्द्धैः त्रिभिः हरेः निष्क्रमः । "नृवाजि..." इति द्वाभ्यां प्रयाणप्रकारः । तत्र आद्ये असाधारणीनां प्रयाणप्रकारः । द्वितीये साधारणीनाम् । "बलं बृहद्..." इति भगवत्कटकवर्णनम् । "अथो मुनि..." इति एकेन नारदस्य अग्रे गमनम् । "राजदूतम्..." इति दूतसमाधानम् । "इत्युक्त..." इति दूतगमनम् । भगवतः इन्द्रप्रस्थपर्यन्तम् आगमनम् "आनर्त

..." इति द्वाभ्यां स्थलजलोत्तरण-प्रयत्न-भेदात्। ततः निकटे समागमने युधिष्ठिरस्य स्नेहपूर्वकं कृत्यं "तमुपागतम्..." इति चतुर्भिः। तत्र द्वाभ्यां प्रत्युद्गमः। द्वाभ्यां भक्तिः। एकेन भीमादिकृत्यं प्रेम्णा। "अर्जुनेन..." इति द्वाभ्यां लौकिककृत्यं सर्वेषाम्। "मृदंग..." इति षड्विध-वाद्य-स्तुति-नृत्य-गीतानि। "एवं सुहृद्भिः..." इत्यादि अष्टभिः पुरप्रवेशः। तत्र आद्ये दर्शनस्थानात् चलनम्। भगवत्प्रविष्टपुरवर्णनं "संसिक्त..." इति द्वाभ्यां प्रजाराजगृहभेदेन। "प्राप्तं निशम्य..." इति प्रजानाम् औत्सुक्यम्। "तस्मिन्..." इति तत्रत्यानां भगवद्दर्शनम्। "तत्र तत्र..." इति पुरुषाणां भावः। "ऊचुः स्त्रियः..." इति इन्द्रप्रस्थस्थस्त्रीकृतं मुकुन्दपत्नीनां सभाजनम्। "अन्तःपुरजनैः..." इति अन्तःपुरवासिकृत्यम्। "पृथाविलोक्य..." इति कुन्तीकृत्यम्। "गोविन्दं गृहम्..." इति युधिष्ठिरकृत्यम्। "पितृष्वसुः..." इति भगवत्कृत्यम्। "श्वश्वा सं..." इति भगवत्पत्नीपूजा द्वाभ्याम्। "सुखं निवासयामास..." इति राज्ञः स्थिरकृत्यम्। "तर्पयित्वा..." इति द्वाभ्यां भगवतः स्थिरकृत्यम्। **(एवं सार्द्धषट्चत्वारिंशत् श्लोकाः)** ॥ ४६½ ॥ **(इति अष्टषष्टिः अध्यायसंग्रहः ॥ ६८ ॥)**

एकोनसप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति––

जरासन्धवधः

'जरा' इति। **जरासन्धस्य वधः** सप्तचत्वारिंशद्भिः। तत्र एवं क्रमः- विज्ञापनार्थप्रसंगे द्वाभ्यां प्रार्थनमुच्यते। चतुर्भिर्नर्थसिद्धयर्थं पंचभिः कृष्ण-वाचनम् ॥ १ ॥ सार्द्धैस्त्रिभिर्दिग्विजयः त्रिभिर्ब्राह्मण्यधारणम्। मगधे गमनं चापि चतुर्भिस्तस्य याचनम् ॥ २ ॥ भीमकृष्णार्जुनैः राज्ञः पंचभिर्दाननिश्चयः। दानप्रतिज्ञा चैकेन भगवद्वाक्ययुग्मकम् ॥ ३ ॥ त्रिभिर्जरासन्धवाक्यैः तिरस्कारो मनीषिणाम्। युद्धप्रतिज्ञा भीमेन पुराद् गमनमेकतः ॥ ४ ॥ चतुर्भिर्गदया युद्धं मुष्टियुद्धं तु युग्मतः। तेज आप्यायनं द्वाभ्यां त्रिभिःधातो जराजने ॥ ५ ॥ भीमपूजनमेकेन सार्द्धेन ह्यभिषेचनम्। सहदेवस्य मोक्षश्च राज्ञां यस्मै कृतं महत् ॥ ६ ॥ सप्तोपरिष्टाच्चत्वारिंशच्छलोका ह्यत्र कीर्तिताः।" **(एवं सप्त-**

चत्वारिंशत् श्लोकाः ॥४७॥ इति एकोनसप्ततिः अध्यायसंग्रहः ॥६९॥)

सप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति––

स्तोत्रं राज्ञां सत्कृतिरेव च ॥ ५५ ॥

'स्तोत्रम्' इति। 'राज्ञाम्' इति पदं देहलीदीपन्यायेन उभयत्र अन्वेति। पूर्वान्वयित्वे कर्तरि षष्ठि। उत्तरान्वयित्वे कर्मणि षष्ठी। तत्र "अयुते द्वे शतानि..." इत्यारभ्य षोडशभिः **स्तोत्रम्**। "संस्तूयमान..." इत्यारभ्य एकोनविंशत्या **सत्कृतिः**। तत्र षोडशसु सार्द्धेन राज्ञां निष्क्रमणम्। त्रिभिः राज्ञां हरिदर्शनम्। सार्द्धेन प्रेमप्रणामौ। एकेन स्तुत्युद्यमः। नवभिः स्तुतिः प्रार्थना मत्सराभावो गतराज्यानुमोदनम्। युक्तिस्तत्र दोषोक्तिः स्वराज्य-स्याभिनन्दनम् ॥ वैराग्यस्युपदेशस्य प्रार्थना स्वाधिकारिता। एकोनविंशे–आद्ये हरिवचनोद्यमः। षड् हरिवचनानि। भक्तिदानं बुद्धिशंसा राज्यदोषः क्रियाकृतिः। ऋणत्रयं निराकृत्य तत्र चित्ताविरागता ॥ सप्तभिः राजस्तुतिः। पंचभिः प्रत्यापत्तिः ॥ ३५ ॥ **(एवं पंचत्रिंशत् श्लोकाः ॥ ३५ ॥ इति सप्ततिः अध्यायसंग्रहः ॥ ७० ॥)**

एकसप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति––

राजसूये हरेः पूजा शिशुपालवधस्तथा।

अत्र त्रिंशता पूजा। पंचविंशत्या शिशुपालवधः। तत्र त्रिंशति पंचभिः भक्तिविरोधपरिहारः। सार्द्धैकादशभिः यज्ञसमृद्धिः। द्वाभ्यां **पूज्यविमर्शः**। षट् सहदेववचनानि। पंचभिः **कृष्णपूजा**। एकेन शिशुपालरोषः। सप्तभिः परुषवचनानि। नवभिः **शिशुपालवधः**। एकेन यज्ञपूर्तिः। पंचभिः **सर्वेषां** प्रतियानम्। एकेन दुर्योधनमानभङ्गः। एकेन फलस्तुतिः। **(एवं ५४½ सार्ध चतुःपंचाशत्) श्लोकाः। (इति एकसप्ततिः अध्यायसंग्रहः ॥ ७१ ॥)**

द्वासप्ततितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति––

दुर्योधनाभिमानस्य भङ्गः

तत्र एवं विभागः द्वाभ्यां राजप्रश्नः। पंचभिः बान्धवानां कार्याधिकारः।

एकेन वैदिकं कर्म । दशभिः अवभृथस्नानार्थं गमनम् । त्रिभिः अवभृथस्नानम् । त्रिभिः यजमानपुरःसराणाम् अलंकारः । त्रिभिः सर्वेषां प्रतियानम् । द्वाभ्यां सुहृदां निवासनम् । एकेन युधिष्ठिरमनोरथपूर्तिः । त्रिभिः दुर्योधनपरितापः । द्वाभ्यां युधिष्ठिरसमृद्धिः । द्वाभ्यां दुर्योधनस्य जलस्थलभ्रमः। सार्द्धैस्त्रिभिः **दुर्योधनमानभङ्गः** । सार्द्धचत्वारिंशत् श्लोकाः । **(एवं सार्द्धचत्वारिंशत् श्लोकाः ।। ४०½ ।। इति द्वासप्ततिः अध्यायसंग्रहः ।। ७२ ।।)** *

---

*ननु अत्र "अर्हति ह्यच्युतश्रैष्ठ्यम्. . . . ." इत्यादि वाक्यानां वक्ता सहदेवः मागधोः पांडवो वा इति बहूनां संशयः । तत्र मागधः इति केचित् पाण्डवः इत्येके । तत्र आद्यपक्षिणां स्वकीयेन कृता प्रशंसा न उत्कर्षाय भवतीति मागधः एव । ननु तस्य पिता भगवता इदानीमेव छलेन मारितः स कथं साम्प्रतम् अपृष्टः भगवदुत्कर्षं वदेत् ? सत्यम्, प्रह्लादावतारत्वात् भगवदुत्कर्षं वदेदपि । प्रह्लादावतारत्वं च अस्य नृसिंहावतारलीलायाः कृतत्वात् । गर्भस्तुतौ देवैः "मत्स्याश्वकच्छप. . . ." इति श्लोके दशावतार-लीलानुकरणस्य यथा एतेषु कृतावतारः नः पासि तथा अधुना इति प्रार्थितत्वात् । न च अस्य पिता भीमेन हतः न भगवता, सहदेवाभिषेकः भगवता कृतः न ब्रह्मणा कृतः इति कथं नृसिंह लीलानुकरणम्, कर्तुः भिन्नत्वात् । सत्यम्, "नकुलो द्रव्यसाधने इति" "नकुलमाप्याययत्स्वेन तेजसा" इति वाक्येन "यास्यंत्यदर्शनमलं बलपार्थबभीम व्याजाह्वयेन हरिणा" इति वाक्येन च सर्वस्यापि सर्वत्र भगवतैव कृतत्वेन वैलक्षण्याभावात् सहदेवः मागधः एव इति प्राप्ते । वयं ब्रूमः सहदेवः पाण्डवः एव । "सहदेवस्तु पूजायाम्. . . .,, इति पूजाधिकृतस्यैव अस्य सहदेवस्य अग्रे पूज्यनिर्णयस्य कर्त्तुम् उचितत्वात् । न च पूजाधिकारोऽपि मागधस्यैव अस्तु इति वाच्यम्, "बांधवाः परिचर्यायां तस्यासन्. . . ." इति वचनेन च पाण्डवत्वस्यैव निश्चयात्, मागधस्य बांधवत्वाभावात् । किंच सहदेवस्य मागधत्वे "तत्र सहदेवः साक्षात् पूर्णपरब्रह्मत्वं सर्वदोषरहितत्वं हेतुं मन्यमानः कृष्णो भगवति तत्साधयितुम् अब्रवीत् । स हि ज्ञानकलावतारः सर्वज्ञः द्वादशवार्षिक्यमेवं जानाति तथापि अपृष्टः न वदति । अत्र तु जिज्ञासायां सर्वे पृष्टा भवन्तीति भगवत्प्रेरणया

त्रिसप्ततितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति––

प्रद्युम्नशाल्वयोः ।। ५६ ।।

युद्धं त्रिनवरात्रं च:

'प्रद्युम्न' इति । शाल्वस्य अल्पाच्त्वेऽपि प्रद्युम्नस्य पूर्वनिपातः अभ्यर्हितत्वात् जयसूचकः । तत्र एवं विभागः आद्यपद्ये शुकेन राज्ञः प्रोत्साहः । द्वितीयतृतीययोः शाल्वस्य पूर्ववृत्तान्तः । तुरीये शिवाराधन-धूलिभक्षणे । पंचमे रुद्रसंतोषः । षष्ठे यानवरणम् । [illegible]मे सौभ. . . । अष्टमे शाल्वस्य

अब्रवीत्" इति सहदेववचनारंभे सुबोधिनी । वचनान्ते च "एवं युधिष्ठिरम् उक्त्वा स्वयम् उद्यमम् अकृत्वा तूष्णींभूतः । अन्यथा पूजार्थं स्वयम् उद्यम्य बलादेव सामग्रीं संपादयेत् । तत्र हेतुः कृष्णानुभाववित्" इति सुबोधिनी न संगच्छते । तस्मात् पाण्डवः एव सहदेवः पूजाधिकारी । स एव वक्ता च । अपरंच मागधत्वे शिशुपालोऽपि स्वपक्षपातिजरासन्ध-पुत्रवाक्यं श्रुत्वा "वृद्धानामपि यद्बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते" । ". . . . .मा मन्ध्वं बालभाषितम्. . . . ." इति न निन्देत् । किं च देशदोषेण दुष्टो मागधो भगवन्माहात्म्यज्ञो न भवितुम् अर्हति । तथा च श्रीमदाचार्यचरणाः–"ननु भगवतं दृष्ट्वा भक्तिः कथं न उत्पन्ना वस्तुसामर्थ्यात् कथम् अवहेला इति आशङ्कायाम् आह 'मागधः' इति देशदोषात् न सद्बुद्धिः इति सहदेवेऽपि स दोषः तदवस्थः । ननु पूर्वम् उक्तं नृसिंहलीलानुकरणत्वात् प्रह्लादत्वम् एतस्य तेन भगवन्माहात्म्यज्ञोऽपि इति चेत्, तत्रापि उच्यते अत्र वामन-नृसिंहावतारलीला-द्वयानुकरणं हि अत्र ब्रह्मवेषेण याचनं वामनावतारलीला । तथा च जरासन्धे बलित्वमपि संभाव्येत । तच्च न सर्वथा । भगवदादीनां मन्दाः इति सम्बोधनेन "न त्वया भीरुणा" इति भगवन्निन्दनवाक्याच्च । तन्न्यायेन न अस्य पुत्रस्यापि प्रह्लादत्वम् । तेन लीलानुकरणे लीलाप्रदर्शनमेव न तदुपयोगिनां तत्वम् । अत एव पूतनायन्ती शकटायन्ती इत्यादीनां गोपीनां न दैत्यत्वं भक्तत्वमेव निर्बाधम् । तेन न कोऽपि शङ्कालेशः इति दिक् । नच वक्तव्यं "बान्धवा परिचर्यायाम्" इति वाक्येन बांधवाग्रहात् न सहदेवो मागधः । तत्र उच्यते अत्र न बांधवाग्रहः "परिवेषणे

द्वारवतीगमनम् । नवमे पुर्युद्यानभंजनम् । दशमे सर्वत्र शस्त्रवृष्टिः। एकादशे शिलादि-सप्तक-वृष्टिः। द्वादशे नगरीसंतापः। त्रयोदश-चतुर्दश-पंचदशषु सुप्रजां सांत्वयित्वा प्रद्युम्नादीनां युद्धाय गमनम् । षोडशे युद्धप्रवृत्तिः । सप्तदशे मायानाशः । अष्टादशे पंचविंशत्या शरैः शाल्वसैन्यपालताडनम् । एकोनविंशे ससैन्यशाल्वताडनम् । विंशे शत्रुमित्रैः प्रद्युम्नप्रशंसा । एकविंशद्वाविंशयोः सौभवर्णनम् । त्रयोविंशे सात्वतयूथपैः सौभे शरमोकः । चतुर्विंशे शाल्वस्य मोहः । पंचविंशे यादवानां युधिस्थैर्यम् । षड्विंशे द्युमता प्रद्युम्नपीडनम् । सप्तविंशे सूतेन प्रद्युम्नापोवाहनम्। चतुर्भिः प्रद्युम्नेन सूतोपालम्भः ।

द्रुपदजा (कर्णो दाने महामनाः!). "युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्यो विदुरादयः । बाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ये च संतर्दनादयः ॥" एतस्मिन् वाक्ये भिन्नानामपि कर्माधिकारकथनात् । न हि द्रुपदजा पत्नी, पितृव्यो विदुरः । युयुधानो यादवः हार्दिक्यश्च संतर्दनादयो अन्ये युधिष्ठिरबान्धवाः भवितुम् अर्हन्ति । तर्हि वाक्यं कथं योजनीयम् ? बान्धवाः तस्य प्रेमबन्धनाः आसन् । अन्ये तु प्रेमरहिताः आसन् एवं योजनीयम् । तस्मात् पूजाधिकारी वक्ता च मागध एव सहदेवः इति चेत् न, अत्र पूजाधिकारो बान्धवानामेव द्रौपद्याः पंचबन्धुपत्नीत्वेन बन्धवर्धाङ्गितया बन्धुत्वमेव । कर्णस्य मातृपुत्रत्वात् बन्धुत्वम् । सुबोधिन्यामत्र "योधानः सात्यकिः यादवोऽपि अर्जुनशिष्यः। विकर्णादयोऽपि बान्धवाः । ब्राह्लीकः शन्तनोः भ्राता । तस्य पुत्राः भूरिश्रवादयः सन्तर्द्दनादयश्च गोत्रजाः ।" इति । अत्र श्रीमदाचार्यैः बन्धुत्वमेव सर्वेषां प्रतिपादितम् । यादवानां पांडवानां च बन्धुत्वव्यवहारो भगवत्कृतः कृपया स्फुटः एव । पितृव्यपितामहादीनां भातृबन्धुव्यवहारो लोकसिद्धः एव । तेन पाण्डव एव सहदेवः पूजाधिकारी वक्ता च, न मागधः सर्वथैवेति अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । भारतेऽपि भीष्मो युधिष्ठिरेण पृष्टः श्रीकृष्णमेव आदौ पूजनीयम् आह "तदा तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान् । उपाजह्लेव विधिवत् वार्ष्णेयायार्घ्यमुत्तमम् । प्रतिजग्राह तं कृष्णः शास्त्रद्रष्टेन कर्मणा ।" एतेनापि सहदेवः पाण्डव एव निश्चितः । **(ग्रन्थकृतैव पश्चाद् योजितोंशः)**

द्वात्रिंशस्त्रयस्त्रिंशता सूतप्रतिवचनम् ॥ **(एवं त्रयस्त्रिंशत् श्लोकाः ॥ ३३ ॥ इति त्रिसप्ततिः अध्यायसंग्रहः)** ॥ ७३ ॥

चतुः सप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति---

हरेरागमनं ततः

शाल्वस्य–

'लीलया वधः' इत्यपकृष्यते । हरेः इति **ततः** इन्द्रप्रस्थाद् **हरेः** द्वारकायाम् आगमनम् । उद्धवमंत्रणाद् इन्द्रप्रस्थं गतस्य । श्लोकपंचकस्तु पूर्वाध्यायशेषः । तत्र आद्ये देशितस्य प्रद्युम्नस्य सूतं प्रति द्युमत्समीपनयनाज्ञापनम् । द्वितीये शरैः द्युमद्वेधः । तृतीये अष्टभिः शरैः द्युमद्वाहादिवेधपूर्वकः मस्तकच्छेदः । चतुर्थे गदादिभिः सौभपतेः वलघातः । पंचमे त्रिनवरात्रं युद्धपरिसमाप्तिः । षड्भिः भगवदागमनम् । द्वाभ्याम् इन्द्रप्रस्थाद् निष्क्रमः । एकं (?) भगद्वाक्ये । नवमे कदनवीक्षण-पुररक्षे । दशमे सूताज्ञापनम् । एकादशे गरुडप्रवेशदर्शनम् । द्वादशे श्रीकृष्णसूतोपरि शक्तिक्षेपः । त्रयोदशे तस्याः शतधा छेदः । चतुर्दशे षोडशशरैः शाल्ववेधः । पंचदशे शार्ङ्गधनुःपातः । षोडशे भक्तानां खेदः । सप्तदशे शाल्वदुर्वाक्ये । अष्टादशैकोनविंश[illegible]तमयोः भगद्वाक्यम् । विंशे गदया शाल्वजत्रुच्छेदः । एकविंशे शाल्वांतर्द्धानम् । द्वाविंशतिसार्द्धेन मायापुरुषवाक्यम् । त्रयोविंशे हरेः मानुषीप्रकृतिगमनम् । चतुर्विंशे भगवतः विस्मयवाक्यम् । पंचविंशे शाल्वेन मायिकं वसुदेवानयनम् । षड्विंशे शाल्वदुर्वचनम् । सप्तविंशे मायिक-वसुदेवापराधः । अष्टविंशे भगवदुद्बोधः । नवविंशे शाल्वहननोद्यमः । त्रिंशे परमतकथनम् । द्वाभ्यां भगवति मोहासंभवः । त्रयस्त्रिंशति शाल्वस्य वर्म-धनुः-शिरोमणिच्छेदः । चतुस्त्रिंशति सौभस्य तोये पातः । पंचत्रिंशति शाल्वस्य बाहुछेदः । षट्त्रिंशति शाल्वशिरच्छेदः । सप्तत्रिंशति देवानां हर्षः । अष्टत्रिंशति दन्तवक्त्रागमनम् । अष्टत्रिंशच्छलोकाः । **(एवम् अष्टात्रिंशत श्लोकाः ॥३८॥ इति चतुःसप्ततिः अध्यायसंग्रहः ॥७४॥)**

पंचसप्ततितमाध्यायम् अनुक्रामयन्ति—

दंतवक्त्रस्य तद्भ्रातुर्लीलया वधः ॥५७॥
तीर्थयात्राथ रामस्य मध्ये सूतवधस्ततः।
तत्पुत्रस्थापनं तत्र

'दन्तवक्त्र' इति। "शिशुपालस्य..." इति द्वाभ्यां दन्तवक्त्रगमनम्। तृतीये श्रीकृष्णप्रतिगमनम्। त्रीणि दन्तवक्त्रस्य दुर्वचनानि। सप्तमे श्रीकृष्णे गदाक्षेपः। अष्टमे दन्तवक्त्रस्तनान्तरे गदया हननम्। नवमे दन्तवक्त्रस्य व्यसोः पातः। दशमे दन्तवक्त्रज्योतिषः श्रीकृष्णे आवेशः। एकादशद्वादशयोः **विदूरथवधः।** त्रिभिः द्वारवतीप्रवेशः श्रीकृष्णस्य देवमनुष्यस्तुतस्य। षोडशे उपसंहारः कथायाः **अथ** शब्दः स्वरूपपरावृत्तिबोधकः। **रामस्य तीर्थयात्रा** "श्रुत्वा युद्धोद्यमम्..." इति चतुर्विंशत्या। तन्मध्ये "रोमहर्षणम्..." इति सप्तभिः **सूतवधः।** सार्द्धसप्तभिः **तत्पुत्रस्य** उग्रश्रवसः **स्थापनम्।** द्वाभ्यां बल्वलवध प्रार्थनम्। एकेन तीर्थयात्राप्रार्थनम्। सप्तदशे यात्रारंभः। अष्टादशे प्रभास यात्रा। एकोनविंशे तीर्थाष्टकम्। विंशे नैमिषगमनम्। एकविंशे शौनकादिकृते प्रणामार्चने। द्वाविंशे सूतेक्षणम्। त्रयोविंशे सूतोपरि कोपः। चत्वारि कोपवाक्यानि। अष्टाविंशे कुशाग्रेण सूतवधः। एकोनत्रिंशे ऋषीणां खेदः। त्रिभिः ऋषिकृतप्रार्थनम्। त्रयस्त्रिंशच्चतुस्त्रिंशतयोः रामस्य ऋषिप्रार्थितकरण-प्रतिज्ञा। पंचत्रिंशति विधेयप्रार्थना। षट्त्रिंशे सूतसुतस्थापनम्। सप्तत्रिंशे रामेण पुनः ऋषयः प्रार्थिताः। त्रिभिः बल्वलवध-प्रार्थनम्॥ **(एवं चत्वारिंशत् श्लोकाः) ॥४०॥ (इति पंचसप्ततिः अध्यायसंग्रहः ॥५२॥)**

षट्सप्ततितमाध्यायम् अनुक्रामयन्ति—

बल्वलस्य वधस्ततः ॥५८॥
यात्रा समस्ततीर्थानां ऋषिभिर्याजनं बलेः।

'बलेः', बलभद्रस्य। 'बल् प्राणने, 'सम्वधातुभ्यः इन्' छन्दानुरोधात्। **'बल्वलस्य'** इति। "अष्टाभिर्बल्वलवधश्चतुर्दशभिरेव तु। तीर्थयात्रा बलकृता कुरुक्षेत्रे तु सप्तभिः॥ गर्तिनिवारणं युद्धाद्याजनं सार्द्धपंचभिः।" तत्र एवं

विभागः—आद्ये बल्वलागमनम्। द्वितीये यज्ञशालायाम् अमेध्यवृष्टिः। तृतीये बलेन बल्वलः दृष्टः। तुर्ये हलमुशलस्मरणम्। पंचमे बलेन हलेन बल्वलम् आकृष्य तन्मूर्ध्नि मुशलेन हननम्। षष्ठे मृतबल्वलस्य पातः। सप्तमे ऋषिभिः बलभद्रस्य स्तुत्याशीरभिषेकाः कृताः। अष्टमे ऋषिभिः बलदेवाय वैजयन्ती-दिव्यवासाभरणादि-दानम्। नवमादि सार्द्धत्रयोदशश्लोकैः **समस्ततीर्थयात्रा।** चतुश्चत्वारिंशत् तीर्थानि। कौशिकी-मानसरोवर-सरयु-प्रयाग-पुलहाश्रम-गोमती-गंडकी-विपाशा-शोण-गया-गंगासागर-महेन्द्राचल-सप्त-गोदावरी-वेणा-पंपा-भीमरथी-स्कन्द-श्रीशैल-वेंकटाद्रि-कामकोष्ण्यः। कांची-कावेरी-श्रीरंग-ऋषभाद्रि-दक्षिणमथुरा-समुद्रसेतु-कृतमाला-ताम्रपर्णी-मलयदक्षि-णार्णव-कन्यादेवी-फाल्गुन-पंचाप्सरस-केरल-त्रिगर्त्तक-गोकर्ण-आर्याद्वैपायनी-शूर्पारक-तापी-पयोष्णी-निर्विन्ध्या-दंडक-रेवा-महिष्मतिपुरी-मनुतीर्थ-प्रभासाः। सप्तभिः कुरुक्षेत्रगमनम्। तत्र आद्ये भूभारहरणमननम्। द्वितीये कुरुक्षेत्रगमनम्। तृतीये युधिष्ठिरादिनां रामदर्शनाद् भयम्। चतुर्थे रामेण गदायुद्धं दृष्टम्। पंचमषष्ठयोः द्वे निवारणवाक्ये। सप्तमे रामवाक्य-ग्रहणम्। एकोनविंशे रामस्य द्वारवतीगमनम्। **याजनं बलेः सार्द्धपंचभिः।** त्रिंशे नैमिषे ऋषिभिः बलस्य याजनम्। एकत्रिंशे। **ज्ञानदक्षिणा। द्वात्रिंशे** ज्ञातिबंधु-सुहृद्भिः स्वपत्न्या अवभृथस्नानम्। त्रयस्त्रिंशे रामचरित्रानन्त्यम्। चतुस्त्रिंशे विष्णुदयितत्वं फलम्। **(एवं सार्द्धचतुस्त्रिंशत् श्लोकाः) ॥३४½॥ (इति षट्सप्ततिः अध्यायसंग्रहः ॥७६७॥)**

सप्तसप्ततितमाध्यायम् अनुक्रामयन्ति—

भक्तानां जन्मसाफल्यम्

'भक्तानाम्' इति। पंचचत्वारिंशता **भक्तानां** सुदाम्नः परिकराणां **जन्मनः साफल्यम्** भगवत्कृपया। तत्र विभागः एवम्—चतुर्भिः राजप्रश्नः। एकं सूतवाक्यम्। द्वाभ्यां सुदाम्नः पूर्ववृत्तान्तः। एकेन पतिव्रतायाः पति-समीपगमनम्। सार्द्धत्रिभिः स्त्रीवचनानि। सार्द्धेन द्वारिकागमननिश्चयः। सार्द्धेन उपायनसम्पादनम्। सार्द्धत्रिभिः सुदाम्नः हरिमंदिरप्रवेशः। पंचभिः

सुदाम्नः **पूजा** । एकेन हरिपत्न्या चामरव्यजनकरणम् । एकेन अन्तःपुरजन-विस्मयः । द्वे तेषां वचने । एकेन भगवत्सुदाम्नः वार्ताकिरणोद्यमः । सप्तभिः साधारणवार्ता । पंचभिः इन्धनानयनप्रसंगः । त्रीणि गुरुवाक्यानि । एकम् अतिदेशवाक्यम् । द्वाभ्यां सुदाम्नः प्रार्थना । **(एवं पंचचत्वारिंशत् श्लोकाः) ॥४५॥ (इति सप्तसप्ततिः अध्यायसंग्रहः) ॥७७॥**

अष्टसप्ततितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

पृथुकाख्यानमेव च ॥२८॥

'पृथुक'–इति । "वाक्योद्यमो हरेर्वाक्यंमदानं चिन्तनं हरेः । स्वयं च हरणं तृप्तिवाक्यं श्रीप्रतिषेधनम् ॥१॥ सुखं स्वगेहगमनं स्वयं कृष्णान्नयाचनम् । मार्गे विचारो मनसि निजमंदिरदर्शनम् ॥२॥ मीमांसा प्रत्युद्गमनं स्वपत्नी-दर्शनं गतिः । पदार्थवर्णनं गेहे समृद्धेरवलोकनम् ॥३॥ तर्को विषयभोगाश्च प्रशंसा चक्रपाणिनः । विप्रस्य मोक्षः श्रवणे फलं बन्धविमोचनम् ॥४॥ द्वाभ्यां वाक्यं च सार्द्धाभ्यामेकेन द्व्येकमेकतः । द्वाभ्यामेकत्रिकात्षड्भिः सार्द्धाभ्यामेकमेकतः ॥५॥ त्रिभिरेकेन पंचभ्यश्चतुर्भ्यः परिपूरणम् ॥ **(एवम् एकचत्वारिंशत् श्लोकाः) ॥४१॥ (इति अष्टसप्ततिः अध्यायसंग्रहः) ॥ ७८ ॥**

एकोनाशीतितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति–

सूर्योपरागे निखिलैः कुरुक्षेत्रे समागमः ।
बन्धुभिर्वसुदेवस्य गोपिका परिसांत्वनम् ॥२९॥

'सूर्य'– इति । **सूर्यस्य समीपे रा** राहोः **आगे** आगमने निर्मिते सति **कुरुक्षेत्र-**समीपे सन्निहितसरसि **वासुदेवस्य** मोक्षदातुः **निखिलैः बन्धुभिः** सह **सभ्यगागमनं** द्वारवत्याः। मिलापो वा । वासुदेवस्य इति देहलीदीपकन्यायेन गोपिकाभिरपि संबध्यते । कर्त्तरि षष्ठी च । पूर्वान्वये सम्बन्धे षष्ठी । तत्र एवं स्थूलविभागः एकत्रिंशता सर्वसमागमः । 'त्रिशल्लक्षणवान्राज्ञ... सर्वात्मा' इति वाक्यात् । अष्टदशविद्याभिः **गोपिकापरिसांत्वनम्** । मध्यमविभागःस्तु– सार्द्धैकादशभिः कुरुक्षेत्रागमन-स्नान-दान-भोजन-उपवेशनानि । सार्द्धैः षड्भिः सर्वबन्धु-दर्शनं,

परिष्वंगाभिवादनाशीर्वाद-कुशलप्रश्नादीनि । त्रयोदशभिः परस्परसंभाषणो-पालम्भ-दुःखनिवेदनार्चन-नामप्रशंसादयः । अष्टाभिः– नन्दयशोदादि-वसुदेवदेवकीरोहिण्यादि-समागमाश्लेष-भाषण-प्रशंसादयः । दशभिः गोपिका-श्लेषानामयप्रश्न-रहस्यवार्ता-ज्ञानदानप्रार्थनादयः। सूक्ष्मविभागस्तु– आद्ये सूर्योपरागसंभवः माघे अमावास्यायाम् । द्वितीये तं ज्ञात्वा मनुजानां समंतपं-चकयानम् । तृतीये परशुरामेण तत्र महारुद्रकरणम् । तुरीये परशुरामयागः । पंचमषष्ठयोः भारतीप्रजायाः सवृष्ण्याद्यायानम् । सप्तमे अनिरुद्धादीनां रक्षा-द्यधिकारः । अष्टमे गजादीनां रोचिः । नवमे तत्र स्नानादिकम् । दशमे दान-मोक्ष-स्नानादि । एकादशद्वादशयोः स्वर्णदानानुज्ञा-भोजनोपवेशन-दर्शनानि । त्रयोदशचतुर्दशयोः मत्स्यादि-नन्दगोप्यादीनां दर्शनम् । पंचदशे पुरुषाणां पर-स्परम् आश्लेषः षोडशे स्त्रीणाम् । सप्तदशे अभिवादनादयः । अष्टादशे पृथायाःसुहृद्दर्शनम् । एकोनविंश-विंशयोः वसुदेवोपालम्भः । एकविंशद्वाविंशयोः वसुदेवस्य दैन्यम् । त्रयोविंशे वसुदेवोग्रसेनाद्यैः नृपार्चनम् । त्रिषु भीष्मादीनां नामानि । सप्तविंशे राज्ञां श्रीकृष्णदर्शनं कृष्णप्रशंसोद्यमः । त्रिषु कृष्णपरि-ग्रहप्रशंसा । तत्र आद्ये हरिदर्शनदौर्लभ्यम् । त्रिंशे हरियशः आदीनां माहा-त्म्यम् । एकत्रिंशे यादवानां कृतकृत्यता। द्वात्रिंशे नन्दस्य सपरिकरस्य वसुदेवा-वमोचने आगमनम् । त्रयोत्रिंशे वृष्णीनां नन्दपरिष्वंगः । चतुस्त्रिंशे वसुदेव-नन्दपरिष्वंगः । पंचत्रिंशे श्रीकृष्णरामयोः नन्दयशोदापरिष्वंगः । षट्त्रिंशे यशो-दया श्रीकृष्णरामयोः उत्संगारोपणपरिरंभौ । सप्तत्रिंशे रोहिणीदेवक्योः यशोदा-परिष्वंगः । अष्टात्रिंशदेकोनचत्वारिंशत्योः रोहिणीदेवकीभ्यां यशोदाप्रार्थना। चत्वारिंशे घोषसीमंतिनीनां श्रीकृष्णदर्शनेन भगवद्भावः । एकचत्वारिंशे श्रीकृष्णेन एकान्ते आश्लेषानामयप्रश्न-प्रहासवचनानि । द्विचत्वारिंशे स्मृति-प्रश्नः । त्रिचत्वारिंशे असूयाप्रश्नः । चतुःचत्वारिंशे पारतन्त्र्यम् । पंचचत्वा-रिंशे भक्तिमाहात्म्यम् । षट्चत्वारिंशे स्वमाहात्म्यम् । सप्तचत्वारिंशे अध्यात्म-शिक्षा । अष्टचत्वारिंशे गोपीनां श्रीकृष्णाधिगमनम् । एकोनपंचाशत्यां चरणारविन्दस्य मनस्युदयप्रार्थना । पूर्त्तिः अध्यायस्य । **(एवम् एकोनपंचाशत्**

श्लोकाः) ॥४९॥ (इति एकोनाशीतिः अध्यायसङ्ग्रहः ॥७९॥)

अशीतितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति–

कृष्णभार्याविवाहानां कथनम्

'कृष्णभार्या' इति। **कृष्णस्य भार्या** गोपिका महिष्यश्च। भर्तुं योग्या युधिष्ठिरादयश्च। **भार्याणां विवाहानां च कथनम्।** यद्वा– कृष्णभार्याभिः विवाहानां कथनम्। 'विवाहो वरणं' परमानुग्रहः इति यावत्। तदुक्तम्– "तथानुगृह्य भगवान्..." इत्यादि त्रिचत्वारिंशता। आद्ये अनुग्रहः गोपिकासु, कुशलप्रश्नः युधिष्ठिरादिषु। द्वितीये सर्वेषां हर्षः। तृतीयचतुर्थयोः राज्ञां प्रार्थना। पंचमे विवाहकथाप्रसंगः। द्वाभ्यां द्रौपद्याः प्रश्नः। अष्टमे रुक्मिणीविवाहवार्ता "...ममार्चनाय" इत्युक्तत्वात् इयम् अर्चनभक्तिरूपा। नवमे सत्यभामायाः श्रवणरूपं...... कर्णे कर्णे जपन्..."। दशमे जांबुवत्याः स्मरणरूपा सीतापतिं स्मृत्वा दत्तत्वात्। एकादशे कालिन्द्याः पादसेवनरूपायाः... "स्वपादस्पर्शकाम्यया" इत्युक्तत्वात्। द्वादशे मित्रविन्दायाः कीर्तनरूपायाः कीर्त्यमाने "स्वयंवरे उपेत्य" नीतत्वात्। द्वयोः सत्यायाः दास्यरूपायाः "....तद्दास्यमस्तु मे" उत्युक्तत्वात् द्वयोः भद्रायाः वन्दनरूपायाः "...अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेत्..." इति वंदने मस्तके पादसंस्पर्शस्य जातत्वात्। चतुर्दशभिः लक्ष्मणायाः सख्यरूपायाः सख्यस्य साप्तपदीनस्य जीवद्वयसाध्यत्वात्। तत्र आद्ये लक्ष्मणायाः मुकुंदे चित्तस्थितिः। अष्टादशे बृहत्सेनेन उपायः कृतः। एकोनविंशे द्रौपदी-स्वयंवर-स्मारणम्। विंशे सर्वभूपागमनम्। एकविंशे सर्वेषाम् अर्चनम्। द्वाविंशे धनुर्हतानां राज्ञां पातः। त्रयोविंशे मागधादिबलिष्ठानां मत्स्यावस्थित्यज्ञानम्। चतुर्विंशे अर्जुनशरेण मत्स्यस्पर्शः। द्वयोः भगवता मत्स्यच्छेदः। सप्तविंशे देवानां हर्षः। अष्टाविंशे लक्ष्मणायाः रंगप्रवेशः। एकोनत्रिंशे मुरारेः अंसे मालानिधानम्। त्रिंशे पंचशब्दवाद्यवादनम्। एकत्रिंशे नृपाणाम् असहनम्। द्वात्रिंशे चतुर्भुजस्य सूर्यया सह रथे स्थितिः। त्रयस्त्रिंशे दारुकेण रथप्रेरणम्। चतुस्त्रिंशे मार्गे राजपुत्रैः संरोधः। पंचत्रिंशे भगवता तेषां निपातः। षट्त्रिंशे भगवतः कुशस्थली-

समावेशः। सप्तत्रिंशे बृहत्सेनेन सुहृत्सम्बन्धिनां पूजनम्। अष्टात्रिंशे बृहत्सेनेन भगवते आयुधादिदानम्। एकोनचत्वारिंशे लक्ष्मणया भगवत्प्रार्थना। चतुर्भिः षोडशसहस्रमहिषी प्रार्थना। तत्र आद्ये सर्वासां विवाहवार्ता। एकचत्वारिंशे साम्राज्याद्यकामना। द्विचत्वारिंशे चरणरजःकामना। त्रिचत्वारिंशे व्रजस्त्रीणां प्रशंसा। अध्यायपूर्तिः। **(एवं त्रिचत्वारिंशत् श्लोकाः) ॥४३॥ (इति अशीतिः अध्यायसंग्रहः) ॥८०॥**

एकाशीतितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति–

विस्मयो नृणाम्।

ऋषीणां गमनं तत्र कृष्णेन प्रतिपूजनम् ॥६१॥
वसुदेवस्य संप्रश्नो नारदोक्तिस्तथोत्तरम्।
याजनं तस्य ऋषिभिः प्रमोदोऽखिलदेहिनाम् ॥६२॥

'विस्मय' इति। प्रथमे पृथादि..........यादि गोपिकान्तानां **नृणां विस्मयः।** चतुर्भिः **तत्र** विनशने **ऋषीणां गमनम्।** तत्र आद्ये ऋषीणां गमनम्। त्रिभिः ऋषीणां नामानि षड्विंशतिः। षष्ठादि-त्रयोदशांतैः अष्टभिः **श्रीकृष्णेन ऋषीणां प्रतिपूजनम्।** तत्र आद्ये उत्थानप्रणामौ। सप्तमे सप्तोपचारैः ऋषीणाम् अर्चनम्। अष्टमे वाचनिकोद्यमः। पंच भगवद्वचनानि। तत्र आद्ये स्वप्राकट्य साफल्यम्। दशमे अस्य फलत्वे तर्कः। एकादशे तीर्थदेवापेक्ष्या साधुप्रशंसा। द्वादशे अग्न्याद्यपेक्षया साधुप्रशंसा। त्रयोदशे साध्वपेक्षया सर्वेषां निन्दा। चतुर्दशे मुनीनां धीभ्रमः। पंचदशे विचार्य वचनोद्यमः। एकादशभिः मुनीनां प्रतिवचनम्। तत्र आद्ये भगवन्मायया विश्वसृजामपि मोहः। सप्तदशे भगवच्चरित्रस्य परस्परविरोधः। अष्टादशे स्वजनगुप्तये सत्वधारणम्। एकोनविंशे ब्राह्मणोत्कर्षः। विंशे भगवतः ब्रह्मरक्षकत्वम्। एकविंशे स्वकृतकृत्यता। द्वाविंशे पंचरूपाय भगवते नमनम्। त्रयोविंशे भगवदज्ञानं भूपवृष्णीनाम्। द्वयोः दृष्टान्त–दार्ष्टान्तिकौ। षड्विंशे कृष्णप्रार्थनम्। सप्तविंशे मुनीनां जिगमिषा। **वसुदेवस्य संप्रश्नः** द्वाभ्याम्। आद्ये वसुदेवस्य मुनीनां समीपे गमनम्। द्वितीये प्रश्नः। **नारदोक्तिः** चतुर्भिः। तत्र आद्ये वसुदेवस्य कृष्णे अर्भकभावः।

एकत्रिंशे सन्निकर्षस्य अनादरकारणता । युगलेन कृष्णमाहात्म्यवसुदेवदोषौ । चतुःत्रिंशे वचनोद्यमः । **अथ** भिन्नप्रक्रमेण ऋषिदत्तः वसुदेवप्रश्नो**त्तरः** सप्तभिः । तत्र आद्ये विष्णुयागेन कर्मनिर्हारः । षट्त्रिंशे यागस्य धर्मत्वम् । सप्तत्रिंशे यागस्य सुमार्गत्वम् । अष्टात्रिंशे दूषणत्रयपरित्यागः । एकोनचत्वारिंशे ऋणत्रयापाकरणस्य आवश्यकत्वम् । चत्वारिंशे ऋणत्रयापाकरणोपायः । एकचत्वारिंशे पुत्रार्चनाज्ञा **तत्र** कुरुक्षेत्रे । **तस्य** वसुदेवस्य **ऋषिभिः याजनं** चतुर्दशभिः विद्यारूपैः । तत्र आद्ये वसुदेवस्य ऋत्विग्वरणम् । द्वितीये याजनम् । तृतीये राजवृष्णीनाम् अलंकारः । षट्चत्वारिंशे महिषीणाम् अलंकारः । सप्तचत्वारिंशे वाद्यनृत्यानि । अष्टचत्वारिंशे गानाभिषेकौ । नवचत्वारिंशे वसुदेवश्रृंगारः । पंचाशति ऋत्विक्श्रृङ्गारः । एकपंचाशति श्रीरामकृष्णयोः सपरिवारयोः श्रृंगारः । द्विपंचशति प्राकृतविकृतयागैः यजनम् । त्रिपंचाशति ऋत्विग्भ्यः दक्षिणादानम् । चतुःपंचाशति अवभृथस्नानम् । पंचपंचाशति वन्दिभ्यः वस्त्रादिदानम् । **अखिलदेहिनां प्रमोदः** सप्तदशभिः प्रजापतिरूपैः । सार्द्धेन वन्धुपूजनम् । अर्द्धे प्रशंसतां बन्धूनां गमनम् । द्वयोः धृतराष्ट्रादीनां गमनम् । एकादशभिः नन्दवृत्तान्तः । तत्र आद्ये वसुदेवेन नन्द.................. । षष्ट्यां वसुदेवेन नन्दकरग्रहणम् । एकषष्टितः चत्वारि वसुदेववाक्यानि । तत्र आद्ये स्नेहपाशस्य दुस्त्यजत्वम् । द्वितीये नन्दमैत्र्याविफलत्वम् । त्रिषष्ट्यां स्वस्य प्रत्युपकारकरणे असामर्थ्यम् । चतुर्थे– श्रीमदनिन्दनम् । षट्षष्टितमे वसुदेवरुदनम् । सप्तषष्टितमे नन्दस्य मासत्रयं वासः । अष्टषष्टिनवषष्ट्योः नन्दस्य गृहीतपारिबर्हस्य गोकुले गमनम् । सप्ततौ गोपगोपीनां गमनम् । एकसप्ततौ वृष्णीनां द्वारवतीप्रवेशः । द्वासप्ततौ द्वारकास्थेभ्यः कथनम् । अध्यायपूर्त्तिः । **(एवं द्वासप्ततिः श्लोकाः ।।७२।। इति एकाशीतिः अध्यायसंग्रहः)** ।।८१।।

द्व्यशीतितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति–

वसुदेवस्य विज्ञानं देवक्याः षट्सुतागमः ।
बलिकृष्णस्तुतिकथाः षडागमननिर्गमौ ।।।६३।।

'वसुदेवस्य' इति । **वसुदेवस्य विज्ञानं** पंचविंशत्या । तत्र द्वे शुकवाक्ये । तत्र प्रथमे संकर्षणाच्युतयोः वसुदेवसमीपगमनम् । द्वितीये मुनीनां वचः स्मृत्वा

वसुदेवभाषणम् । द्व्यारभ्य अष्टादशपर्यन्तं वसुदेववचनानि । स्तोत्रं कृत्वाऽष्टादशभिः सर्वविद्यानिरूपकैः । शरणागतिपर्यन्तमुभयोरात्मनस्तथा ।। स्वरूपमाह सर्वासां विद्यानामभिवाञ्छितम् ।। तत्र आदौ भगवत्कारणता । द्वितीये जगद्रूपता । तृतीये सृष्टेषु भगवदनुप्रवेशः । चतुर्थे स्थितेः आधिदैविकं रूपम् । कर्ता सर्वप्रविष्टात्मा नानारूपस्तथा परः । चतुर्धा वेदरक्षार्थं चतूरूपो निरूपितः ।।१।। सप्तमे भगवद्विभूतिरूपनिरूपणम् । अष्टमे जलवाय्वोः हरिरूपता । नवमे आकाशवाह्याभ्यन्तरभेदेन हरिरूपता । दशमे भगवतः इन्द्रियरूपता । एकादशे भगवतः कारणकारणता । द्वादशे हरेः कार्यस्य कार्यता । त्रयोदशे भगवतः सर्वाधारत्वम् । चतुर्दशे भगवद्व्यतिरिक्तानाम् अभावः । पंचदशे एतत्सिद्धान्ताज्ञानां निन्दा । षोडशे भगवति आत्मत्वेन ज्ञानं भक्त्यभावे दोषः । सप्तदशे स्नेहपाशेन सर्वजगबन्धनम् । अष्टादशे भगवति अवतारज्ञानम् । एकोनविंशे वसुदेवस्य भगवच्छरणागतिः । विंशे सूतीगृहे वार्तास्मरणम् । एकविंशे भगवद्वचनोद्यमः । चत्वारी भगवद्वचनानि । तत्र आद्ये वसुदेवोक्ताभिनन्दनम् । त्रयोविंशे बोधोपदेशः । चतुर्विंशे अखण्डात्मत्वबोधः । पंचविंशे व्यवस्थया नानात्वबोधनम् । षड्विंशे भगवदुक्तस्य वसुदेवहृदि स्थितिः । अथ त्रयस्त्रिंशता **देवक्याः षट्सुतागमः** । तत्र आद्ययोः देवकीस्मरणवचनोद्यमौ । पंचसु देवकीवचनानि : ... त्रिभिः स्तुतिः । स्वस्य याथार्थ्यज्ञानेन भारावतारणाय अवतीर्णत्वेन उत्पत्ति-लयादिकर्तृत्वेन च । द्वाभ्यां गुरुपुत्रातिदेशेन स्वपुत्रानयनप्रार्थना । एकेन हरिबलयोः सुतलगमनम् । चतुर्भिः बलिना द्वौ समतया पूजितौ नमन-पादप्रक्षालन-समर्हण–चरणधारणादिभेदेन । ततः अष्टभिः **बलिना उभौ स्तुतौ** षड्गुणप्रतिपादकैः भगवत्प्रतिपादकेन प्रार्थनया च । तत्र आद्ये सप्तरूपाय भगवते नमनम्, ईश्वरो हि नमस्यः । द्वितीये भगवद्दर्शनस्य दौर्लभ्यम्, वीर्यवतां समागमः दुर्लभः । तृतीये दैत्यादिद्वादशानां नामानि । शंखचूडरावणादिमारणे ते हि भगवद्यशोगायकाः । बलि-प्रह्लाद-वृषपर्वाणः नलकूबर-मणिग्रीव-विभीषण-महादेवादयः भगवद्यशोगातारः । यद्वा हिरण्यकशिपु-शंवर-गन्धर्वाः... "गन्धर्वान् कोटिशो जघ्ने भरतो विजये दिशाम् (भा० ९-११-१३) इति गन्धर्वाः अपि मारणीयाः । एतयोः मारणे

न गन्धर्वादय: यश: गायन्ति। चत्वार: सप्तसाधारणा:। चतुर्थे स्वस्य अन्येषां च नित्यनिबद्धवैरत्व-कथनेन भगवत: श्री: निरूपिता। यस्य श्री भवति तमेव सर्वे द्विषन्ति। नि:श्रीकं कोऽपि न द्वेष्टि। पंचमे देव-ज्ञानापेक्षया दैत्यज्ञानोत्कर्ष:। षष्ठे प्राय: सर्वेषाम् इदमित्थतया योगमाया-ज्ञानाभावेन रागाभाव: वैराग्यम्। सप्तमे परित्यागाज्ञाप्रार्थना। अष्टमे शिक्षाप्रार्थना। पंच भगवद्वचनानि। तत्र त्रिभि, अग्रजानां त्रिजन्मीनं वृत्तान्तम्। चतुर्थे स्वकर्त्तव्यम्। पंचमे नामानि स्मर: मानस:, उद्गीथ: प्राण:, परिष्वंग: श्रोत्रम्, पतंग: नेत्रम्, क्षुद्रभृद् जिह्वा, घृणि: स्पर्श: तेषां स्वप्रसादेन ऋषिलोकप्रापणम्। **बलिश्च कृष्णश्च बलिकृष्णौ स्तुतिश्च कथा च स्तुतिकथे**। अत्र यथासंख्यम्। बलिकृता स्तुति: अष्टभि:। कृष्णकृता कथा पंचभि:। इत्युक्त्वा..." इत्यादि षड्भि: **षण्णां** कीर्तिमदादीनाम् **आगमन-निर्गमौ**। तत्र आद्ये मात्रे स्वाग्रजदानम्। देवक्या: स्वपुत्रमूर्द्धाघ्राणं त्रिपंचा-शति। तेभ्य: स्तनदानं चतु:पंचाशति। हरि-पीत-शेषामृतपय:पानेन तेषां ज्ञानशक्त्युदय: पंचपंचाशति। हरि-देवकी-वसुदेव-बलान् नमस्कृत्य विहायसा ऋषिधामगमनं षट्पंचाशति। देवक्या: विस्मय: सप्तपंचाशति। भगवच्चरित्रा-नन्त्यम् अष्टपंचाशति। सूतवाक्येन फलस्तुति: नवपंचाशति। **(एवम् एकोनषष्टि: श्लोका:)॥५९॥(इति द्व्यशीति: अध्यायसंग्रह:)॥८२॥**

त्र्यशीतितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति--

सुभद्राविजयोद्वाहो मिथिलागमनं हरे:।
मैथिलश्रुतदेवस्य पूजनं गतिरेतयो: ॥६४॥

'सुभद्रा' इति। **सुभद्राविजययो: उद्वाह:** द्वादशभि:। तत्र आद्ये राजप्रश्न:। द्वितीये अर्जुनस्य प्रभासे गमनम्। तृतीये अर्जुनस्य त्रिदंडी भूत्वा द्वारकागमनम्। तुरीये पौरै: जिष्णुसभाजनम्। पंचमे बलभद्रेण जनता च यतये भैक्षभोजनम्। षष्ठे अर्जुनस्य सुभद्रादर्शनम्। सप्तमे सुभद्राया: अर्जुनकामना। अष्टमे अर्जुनस्य चित्तभ्रम:। नवमे अर्जुनेन सुभद्राया: हरणम्। दशमे शूरविद्रावणम्। एकादशे बलभद्रकोप:। द्वादशे अर्जुनाय पारिबर्हदानम्। **हरे: मिथिलागमनं** चतुर्दशभि:

"कृष्णस्यासीत्..." इत्यादिभि:। तत्र आद्यै: त्रिभि: श्रुतदेवब्राह्मणवृत्तान्त: **प्रसिद्धि-**निवास-निर्वाह भेदेन। षोडशे राज्ञ: भक्त्यतिदेश:। सप्तदशे भगवत: **मिथिला-**गमनम्। अष्टादशे द्वादशमुनीनां नामानि। एकोनविंशे मार्गे **पौरजानपदानाम्** उपस्थानार्घ्यौ। विंशे द्वादशदेशस्थानां नृनारीणां श्रीमुख-लावण्य-पानं **दृशिभि:**। एकविंशे तेभ्य: भगवता क्षेमदान-स्वयश:श्रवणे। द्वाविंशे भगवत: **विदेहगमनं** तेषां गृहीतार्हणानाम् अभिगमनं च। त्रयोविंश विदेहानां **हरिदर्शनप्रणामौ**। चतुर्विंशे मैथिलश्रुतदेवयो: पादपात:। पंचविंशे उभाभ्यां **भगवन्निमन्त्रणं** युगपत्। षड्विंशे भगवत: सपरिकरस्य सह मुने: द्विरूपस्य **उभयगेहगमनम्**। मैथिलश्च श्रुतदेवश्च तयो: समाहार:। मैथिलपूर्वक: वा। **मैथिलसहित:** वा। कर्तरि षष्ठी। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं प्रत्येकं संवध्यते। तथाच-- **मैथिलकृतं** भगवत्**पूजनम्** एकादशभि: पूजनस्य इन्द्रियावच्छिन्नसाध्यत्वात्। तत्र **चतुर्भि:** कायिकमानसिके। षड्भि: वाचनिकम्। एकेन फलम्। तत्र आद्ये **आसनदानम्**। द्वितीये नत्वा चरणक्षालनम्। तृतीये मूर्ध्ना चरणोदकवहनं **पूजनं** षोडशोपचारै:। उपचारास्तु- आसनं-नमनम्-अंघ्रिक्षालनं-गन्ध:-**कुसुमानि-**वस्त्राणि -- भूषणानि - धूपदीपम् - अर्घ्यम्-गोवृष:-- मधुरावाक् - **नैवेद्यं-पादसेवनं** स्तुति:-प्रार्थना-तांबूलं-विश्राम:-शयनम्। तुरीये वचनोद्यम:। **स्तुतौ** आद्ये ऐश्वर्यम्। द्वितीये वैराग्यम्। तृतीये ज्ञानम्। तुर्ये यश:। **पंचमे श्री:**। षष्ठे वीर्यम्। भगवन्निवास: फलम्। **श्रुतदेवकृतं पूजनं** विंशत्या। तत्र **षड्भि:** कायिकमानसिके। षड्भि: वाचनिकम्। एकेन हरिहस्तग्रह:। **सप्त भग-**वद्वाक्यानि। तत्र कायिकषट्के प्रथमे नृत्यम्। द्वितीये **आसनांघ्रिक्षालने**। तृतीये पादोदकवहनम्। तुरीये फलार्हणोपचारा:। पंचमे तर्क:। **पादसेवन-**स्तुत्युद्यमौ षष्ठे। स्तुतिषट्के प्रथमे सदा दर्श....। द्वितीये **सृष्टेषु अनुप्रवेश:**। तृतीये भक्तिपंचकबद्धहृदये हरे: सदा भास:। तुरीये बहिर्मुखानाम् **अदर्शनम्**। पंचमे पंचरूपाय नभ:। षष्ठे शिक्षाप्रार्थनम्। पंचाशति भगवत्करग्रह:। सप्त हरिवचांसि। तत्र आद्ये मुनिमाहात्म्यम्। द्वितीये देवादीनां **शनै: पावकत्वम्**। तृतीये ब्राह्मणोत्कर्ष:। तुर्ये द्विजानां स्वतुल्यता। द्विजान् अवजानतां **दुष्प्रज्ञत्वं** पंचमे। विप्रहृदये स्वस्थिति:। द्विज[illegible]नाज्ञा। एकेन **बहुलाम्बश्रुतदेवयो:**

गतिः भगवत्प्राप्तिः । चरमे भगवतः द्वारका प्रत्यापत्तिः : **(एवम् एकोनषष्टिः श्लोकाः)** ।।५९।। **(इति त्र्यशीतिः अध्यायसंग्रहः ।।८३।।)**

चतुरशीतितमध्यायम् अनुक्राम्यन्ति–

वेदस्तुतिः

'वेदः' इति । **वेदकृता** हरेः **स्तुतिः** पंचाशता । तत्र एवं विभागः– प्रथमे राजप्रश्नः । द्वितीये कार्यचतुष्टयार्थं चतुर्धा सृष्टिः । तृतीये हृदि उपनिषद्धारिणां क्षेमगतिः । चतुर्थे पूर्वेतिहासप्रक्षेपः । पंचमे नारदवृत्तान्तः । षष्ठे नारायणवृत्तान्तः । सप्तमे नारदप्रश्नानुवादे नारायणस्य सुगमावस्था । अष्टमे संक्षेपेण उत्तरदानम् । नवमे तेन संदेहानपगमे नारायणेन पुरावृत्तकथनम् । सार्द्धे दशमे नारदस्य अज्ञानकारणम् । एकादशे श्रोतृ-पृच्छक-वक्तृत्वाधिकारः । द्वादशे भगवच्छयनम् । त्रयोदशे श्रुतिप्रबोधोद्यमः । अतः परम् अष्टाविंशतिभिः वेदस्तुतिः । तत्र आद्ये प्रकृतिप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः । द्वितीये पुरुषप्रतिपादिकानाम् । तृतीये साधनव्यवस्था । तुरीये देवतान्तर-कर्मान्तरविधिनिर्णयः । पंचमे बहुविध भगवदुपासकफलनिर्णयः । षष्ठे अनुप्रवेशश्रुतीनां निर्णयः । सप्तमे जीवस्वरूपवर्णनम् । भगवत्कथया जीवानाम् आनन्दः अष्टमे । नवमे जीवानां हरिसेवाऽवश्यकता । दशमे भगवत्सेवाप्रकारः । एकादशे शास्त्रद्वयविरोध-परिहारः । द्वादशे भगवद्भजनासहिष्णु-निषेधः । त्रयोदशे अन्यसिद्धान्त-परिहार-पूर्वक-दोषद्वय-परिहारः । चतुर्दशे भक्तदोषनिराकृतिः । पंचदशे अभजननिषेधः । षोडशे कार्यद्वारा प्राप्तदोषनिराकृतिः । सप्तदशे भगवदधीनत्वम् । अष्टादशे जीवसंघातयोः भगवदात्मकता । एकोनविंशे भगवत्सेवकानां कालभयाभावः । विंशे योगनिन्दा । एकविंशे स्वजनादि-त्याग-पूर्वकं हरिभजनम् । द्वाविंशे भजने क्रमः । त्रयोविंशे लौकिकसत्त्व-निराकरणम् । चतुर्विंशे लौकिके असत्स्थापनं च । पंचविंशे लौकिके चित्त्व-निराकरणम् । षड्विंशे लोके अचित्स्थापनम् । सप्तविंशे लोके आनन्द-निराकरणम् । अष्टाविंशे लोके भगवदानन्दस्य देशकालापरिच्छेद्यत्वम् । एतदुपसंहारः अस्य प्रवृत्तिश्च नवभिः । तत्र पंचभिः उपसंहारः ।

तत्र आद्ये गुरुपूजनम् । द्वितीये आत्मानुशासन–माहात्म्यम् । तृतीये **नारदं प्रति** एतद्-धारणाज्ञा । एतावद् नारायणवाक्यम् । तुर्ये नारदस्य **एतद्धारणम् ।** पंचमे नारदेन श्रीकृष्णाय नमनम् । द्वाभ्यां प्रवृत्तिः । तत्र **आद्ये नारदस्य** द्वैपायनाश्रमे गतम् । द्वितीये व्यासाग्रे एतद्वर्णनम् । एकोनपंचाशति श्रीशुकेन राज्ञे उत्तरदानसमर्थनम् । पंचशति श्रीशुकैः संक्षेपेण श्रुतिगीतार्थकथनम् । **(एवं पंचाशत् श्लोकाः)** ।।५०।। **(इति चतुरशीतिः अध्यायसंग्रहः)** ।।८४।।

पंचाशीतितमाध्यायमर्थम् अनुक्राम्यन्ति––

हरेर्भक्त्या दारिद्र्यविनिरूपणम् ।
आशुतोषकथा शंभोरनर्थोऽसौ न तस्य च ।।६५।।
वृकासुरवधो बुद्धेः मोचनं गिरिजापतेः ।

'हरेर्भक्त्या दारिद्र्य' इति । हरेः श्रीकृष्णस्य **भक्त्या** सेवा-भावाभ्यां **दारिद्र्यस्य** दरिद्रभावस्य **विशेषेण निरूपणं** प्राप्तिः । यद्वा 'दरिद्रस्य विनिषूदनं नाशः । अत एव मूले 'प्रायः' पदं ध्रुव-अंबरीष-प्रह्लाद-विभीषणादयः धनिनः भोजाश्च । इयं कथा एकादशभिः । तत्र आद्याभ्यां राज्ञः प्रश्नः । ततः द्वाभ्यां शिववृत्तान्तः । एकेन हरेः । ततः षड्भिः श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर-संवादः । तत्र आद्ये युधिष्ठिर-प्रश्नातिदेशः । द्वितीये उत्तरोद्यमः । चत्वारि श्रीकृष्णवाक्यानि । तत्र आद्ये हृतधनस्य स्वजनपरित्यागः । द्वितीये भगवदीयैः सह मैत्री । तृतीये अनुग्रहः । चतुर्थे बहिर्मुखानाम् अवज्ञा । **आशुतोषस्य कथनं** नारदेन वृकं प्रति एकादशभिः । तत्र आद्ये शापप्रसाद-दातृनिर्णयः । द्वितीये उपाख्यानोपक्षेपः । तृतीये नारदं प्रति वृकासुरप्रश्नः । तुरीये हरस्य आशुतोषकोपौ । पंचमे दशास्यबाणयोः वरं दत्वा हरस्य संकटकथा । षष्ठे नारदोपदेशेन वृकस्य क्रव्यहोमः । सप्तमे वृकस्य स्वमूर्द्धच्छेदोद्यमः । अष्टमे शिवेन निवारणम् । नवमे वराय अभिमन्त्रणम् । दशमे वरयाचनम् । एकादशे वरदानम् । **शंभोः अनर्थः** सार्द्धाभ्याम् । **असौ** आमुष्मिकः विप्रकृष्टो वा । **च** पुनः । **तस्य न** ईश्वरत्वाद् अनर्थः न तस्य शिवस्य । तत्र आद्ये वरपरीक्षार्थं शिवमूर्ध्नि वृकस्य हस्ताधारणोद्यमः । द्वितीये शिवस्य कंप-पलायनौ । **अर्द्धे**

सुरेश्वराणां तूष्णींभावः। **वृकासुरवधः बुद्धया** उपायचातुर्येण एकादशभिः। तत्र आद्यसार्द्धे शिवस्य बदरिकाश्रमगमनम्। द्वितीये तं दृष्ट्वा भगवतः वटु-वामनभावः। तृतीये रूपवर्णनाभिवादने। तुर्यपंचमाभ्यां वाक्पेशलेन वृका-सुरबुद्धिमोहः। षष्ठे हरये वृकेण पूर्वानुष्ठानकथनम्। त्रितयेन शिवनिंदया वृकबुद्धिभेदः। सार्द्धेन वृकवधः। सार्द्धत्रयेण **शिवमोचनम्**। सार्द्धेन देवा-दीनाम् उत्सवः। द्वाभ्यां महादेवप्रशंसा। एकेन श्रवणफलम्। **(एवं चत्वारिंशत् श्लोकाः)** ।।४०।। **(इति पंचाशीतिः अध्याय संग्रहः)**।।८५।।

षडशीतितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

हरेरेव सुदेवत्वं भृगुवाक्यैश्च निश्चयः ।।६६।।
मृतपुत्रप्रदानं च विप्रस्य स्वालयाद्धरेः।

'हरेरेव' इति। **हरेः** श्रीकृष्णस्यै**व सुदेवत्वं** पूज्यदेवत्वम्। 'सु पूजने'। सार्द्धविंशत्या। तत्र आद्ये ऋषीणां 'त्रिषु कः महान्?' इति तर्कः। द्वितीये तद्ज्ञानाय भृगुप्रेषणम्। तृतीये ब्रह्मातिक्रमः। तुरीये क्रोधोद्भवप्रशमौ। पंचमे भृगोः कैलासगमनम्। षष्ठे शिवातिक्रम-शिवक्रोधौ। सप्तमे देव्याः शिवसांत्वन-भृगुवैकुण्ठगमने। अष्टमे भृगुणा जनार्दनवक्षसि पदा संताडनम्। नवमे विष्णुना उत्थाय भृगुक्षमापनम्। दशमे स्वपाविव्यप्रार्थना। सार्द्धेन एकादशे विष्णोः स्वकृतार्थत्व-भावना। **भृगोः वाक्यैः चकारेण** भक्त्यनुभावेन श्रीकृष्णे महाधीशत्व**निश्चयः** नवभिः। तत्र आद्ये भक्तिप्रसारः। द्वितीये स्वसत्वे आवृज्य स्वानुभववर्णनम्। तृतीये मुनीनां विष्णौ महत्वश्रद्धा। चतुर्भिः भगवन्माहात्म्यम्। अष्टमे मुनीनां हरिसेवया तद्गतिगमनम्। नवमे श्री-शुकोक्ति-श्रवणफलम्। मृतपुत्रप्रदानं षट्चत्वारिंशता। **हरेः** इति कर्त्तरि षष्ठी। हरिणा **स्वालयाद् विप्रस्य मृतानां** दश **पुत्राणां प्रदानम्**। इदम् अनिरुद्ध-चरित्रम्..... "अंजसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः" इति उपसंहारात्। कृष्णावतारे पूर्णे सर्वत्र भगवद्धामसु हरिदर्शनाभावात् कालपुरे पूर्वं पुरुषोत्तमः स्थित्वा अनिरुद्धांशेन अर्जुनेन सह गतवान् इति लक्ष्यते। अतएव तत्र प्रणा-माज्ञापनादि सर्वं सङ्गच्छते। अन्यथा परात्परतमस्य श्रीकृष्णस्य अन्यत्र

प्रणामादिकम् अनुपपन्नं भवेत्। तत्र एवम् अनुक्रमः— आद्ये विप्रसुतस्य स्वालय-प्रापणम्। द्वितीये सुतदेहस्य विप्रेण राजद्वारि उपाधानम्। द्वाभ्यां विप्रेण राजदोषवर्णनम् प्रकृताप्रकृतभेदात्। पंचविंशे अष्टकृत्वा अतिदेशः। षड्विंशे नवमपर्यायें अर्जुनेन उत्तरदानम्। त्रीणि अर्जुनवचांसि प्रश्न-राजदोष-प्रतिज्ञा-भेदात्। द्वे विप्रवचसी निषेध-प्रश्न-भेदात्। द्वे फाल्गुनवाक्ये स्वश्लाघा-प्रतिज्ञाभेदात्। चतुस्त्रिंशे विप्रस्य गृहे गतिः पार्थवीर्यं कथयतः। पंचत्रिंशे प्रसूतिकाले विप्रेण जिष्णुप्रार्थनम्। षट्त्रिंशे अर्जुनेन अस्त्राणि स्मृत्वा गांडीव-सज्जीकरणम्। सप्तत्रिंशे प्रसूतिस्थाने शरपंजरकरणम्। अष्टत्रिंशे विप्र-कुमार-देहस्यापि अदर्शनम्। त्रीणि अर्जुनवचांसि स्वनिन्दन-प्रद्युम्नादिनिषेधा-र्जुनधिक्करण-भेदात्। द्विचत्वारिंशे फाल्गुनस्य संयमनीगमनम्। त्रिच-त्वारिंशे अमरावत्यादि-गमनम्। चतुश्चत्वारिंशे रसातलादि-गमनम्। पंच-चत्वारिंशे अर्जुनस्य अग्निप्रवेशोद्योगः। षट्चत्वारिंशे श्रीकृष्णेन निवारणम्। सप्तचत्वारिंशे अर्जुनेन सह प्रतीच्यां गमनम्। अष्टचत्वारिंशे लोकालोकात् परं तमः प्रवेशः। नवचत्वारिंशे भगवदश्वानां गतिभ्रंशः। पंचशत्तमे अग्रे सुदर्शनप्रक्षेपः। एकपंचाशत्तमे सुदर्शनेन तमोविदारणम्। द्विपंचाशत्तमे अर्जुनस्य नेत्रविधानम्। त्रिपंचाशत्तम सलिलप्रवेशः तत्र अद्भुतभवनदर्शनम्। चतुःपंचाशत्तमे तस्मिन् महाभीम-सर्पदर्शनम्। त्रिभिः भगवद्दर्शनं तत्स्वरूप-वर्णनं च। अष्टपंचाशत्तमे तत्र स्थितं वदनं तदाज्ञापनं च। द्वे भगवद्वाक्ये कार्यं कृत्वा शीघ्रागमन-धर्माचरणभेदात्। एकषष्टे भूमानम् आनम्य द्विज-दारकादानम्। द्विषष्टे गगनमार्गेणैव द्वारकागमन-विप्रपुत्रदाने। त्रिषष्टे पार्थस्य विस्मयः कृष्णानुकंपया पौरुषमननं च। चतुःषष्टे अनेकवीर्याणि दर्शयतः हरेः ग्राम्यविषय-भोगात्युजित-मखजातकरणे। पंचषष्टे प्रजासु कामवर्षण-श्रैष्ठ्यास्थाने। षट्षष्टे अर्जुनादिद्वारा दुष्टघातः युधिष्ठिरादिद्वारा धर्मा-वर्त्तने। **(एवं षट्षष्टिः श्लोकाः)** ।।६६।। **(इति षडशीतिः अध्यायसंग्रहः)** ।। ८६ ।।

सप्ताशीतितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति--

क्रीडा स्त्रीभिर्हरेः पूजा विरहस्त्र्यभिभाषणम् ।।६७।।
महाराथानां नामानि हरेर्वंशावलिस्तथा ।
यादवानेक इत्येवमुत्तरार्धे निरूपितम् ।।६८।।

।। इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता दशमस्कन्धानुक्रमणिका समाप्ता ।।

'क्रीडा' इति । षोडशसहस्र**स्त्रीभिः हरेः** बुद्धिहर्तुः **क्रीडा** द्वादशभिः । तत्र चतुर्भिः द्वारिकावर्णनम्, पुरुषजुष्ट-स्त्रीजुष्ट-चतुरंगसेनाजुष्ट-उद्यानाढ्य भेदात् । पंचमे प्रत्येकरमणम् । सप्तभिः समुदायेन रमणम् । तत्र आद्ये जल-वर्णनम् । द्वितीये श्रीकृष्णवर्णनम् । तृतीये गीतवाद्यादिवर्णनम् । चतुर्थे हरि-महिषीणां सेकप्रतिसेकौ । पंचमे महिषीभिः कृष्णोपगूहनम् । षष्ठे मुख्यं रमणम् । सप्तमे उभयैः नटादिभ्यः वस्त्रालंकारदानम् । **विरहस्त्र्यभिभाषणम्** अष्टा-दशभिः । तत्र त्रयोदशे स्त्रीणां बुद्धिहरणम् । चतुर्दशे स्त्रीणाम् उन्मत्तवचना-रम्भः । दश स्त्रीणां वचांसि । कुररीचक्रवाकोऽब्धिश्चन्द्रमा मलयानिलः । मेघकोकिलबालाद्रिस्तन्नद्यो हंस एव च ।। १ ।। दशधा भगवत्स्नेहैरुक्तास्त्रीभिः स्वभावतः । मनसैव तिरोधानमुक्तं चोक्तं न पूर्ववत् ।। २ ।। पंचभिः उप-संहारः । प्रथमे इति भावेन स्त्रीणां परमगतिप्राप्तिः । द्वितीये भगवन्माहा-त्म्यम् । तृतीये महिषीणां माहात्म्यम् । चतुर्थे हरेः वेदोक्तधर्मानुष्ठानम् । (पंचमे) षोडशसहस्रस्त्रीभावः । पंचभिः **महारथानां नामानि** । तत्र प्रथमे पूर्वकथानुवादः । द्वितीये पुत्रसंख्या । त्रिभिः महारथानां नामानि । पंचभिः **हरेः वंशावली** । पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र-प्रति (श्रुति) बाहु-सुबाहु-शान्तिसेन-श्रुतसेन-प्रशंसाभेदात् । षड्भिः **यादवानेकत्वम्** मूले 'अनेक' पदं भावप्रधानम् । तत्र आद्ये संख्यायाः अशक्यता । द्वितीये आचार्यसंख्या । तृतीये भृत्यसंख्या । तृतीये कंस-जरासन्धादीनाम् असुरत्वम् । पंचमे यदूनां देवत्वम् । षष्ठे तेषां प्रमाणे प्रभुत्वम् । **इत्येवमिति** । पंचभिः उपसंहारः । तत्र आद्ये षट्कर्मसु यादवानां कृष्णचित्तता । द्वितीये श्रीकृष्णमाहात्म्यम् । तृतीये श्रीकृष्णस्य लीलोपयोगि-पदार्थसहितस्य नित्यं वर्तमानता । तुर्ये श्रीकृष्णानुवृत्तिम्

इच्छूनाम् एतत्कथाश्रवणावश्यता । पंचमे पूर्वभगवदीयानुचरितम् **उत्तरार्द्धे-निरूपितम्** । (एवं पंचाशत् श्लोकाः ।। ५० ।। इति सप्ताशीतिः अध्याय-संग्रहः ।। ८७ ।।)

।। इति श्रीमद्वल्लभाचार्यवंशीय-गोस्वामि-मथुरानाथसूरिसूनु-द्वारिकेशसूरि-विरचिता दशमस्कन्धानुक्रमणिकाव्याख्या "सुगमबोधिनी" समाप्ता ।।

"श्रीमद्वल्लभविट्ठलौ विजयतः श्रीमान्महानादिमः
प्रोद्यद्वंशधुरंधरो गिरिधरो दामोदरो विट्ठलः ।
श्रीमद्वल्लभ आदिमो गिरिधरः श्रीविट्ठलो द्वारिका-
धीशप्रेष्ठसुतः स्वयं गिरिधरो श्रीमाथुरेशो गुरुः ।। १ ।।
एतेषामनुकंपया लघुमतिः श्रीवल्लभाचार्यजिद्–
वाचं गूढतमां सदा सुखकरीं व्याख्यातवानस्म्यहम् ।
सा पुष्पांजलिरर्पिता गिरिधरांघ्र्यब्जे मया चैतया
श्रीमद्वल्लभवंशजाः मदुपरि प्रीताः सदा सन्तु वै ।। २ ।।
पंचोत्तरैकोनविंशे माघे शुक्लाष्टमी तिथौ ।
कुजेऽकार्षीद्द्वारिकेशो रासस्थल्यामिमां मुदा ।। ३ ।।"